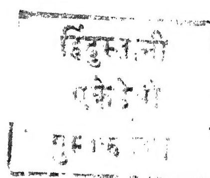
आधुनिक मनोविज्ञान

(असाधारण मनोविज्ञान और मानसिक चिकित्सा तत्व)



लेखक

लालजीराम शुक्ल, एम० ए०

लेक्चरर—टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज, काशी विश्वविद्यालय,

संचालक—काशी मनोविज्ञानशाला

(सरल मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, मानसिक चिकित्सा नीतिशास्त्र, बाल-मनोविज्ञान प्रभृति ग्रन्थों के लेखक)

प्रकाशक

साहित्य-सेवक-कार्यालय

जालिपादेवी, वाराणसी

द्वितीय संस्करण] १९५७ ई० [मूल्य ७)

प्रकाशक
गोपालचन्द्र गुप्त
साहित्य-सेवक-कार्यालय, वाराणसी १

मुद्रक—
बजरंगबली गुप्त, 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, वाराणसी

प्राक्कथन

वर्त्तमान समय में हमारे देश में मनोविज्ञान के अध्ययन में रुचि बढ़ रही है। यह हमारे देश की सर्वतोमुखी जागृति का एक लक्षण है। हमारे देश के नवयुवक अपने देश को संसार के अन्य देशों के समान उन्नत बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं। इसके लिये राष्ट्र में सभी प्रकार की ज्ञान-वृद्धि की आवश्यकता है। हमें एक ओर अपने प्राचीन दर्शनों का अध्ययन करना है और उस ज्ञान को संस्कृत के ग्रन्थों से निकालकर सरल, सुबोध रूप में अपने देश की प्रचलित विभिन्न भाषाओं में रखना है और दूसरी ओर पाश्चात्य देशों के विभिन्न प्रकार के वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों को भी देशी भाषाओं में लाना है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक बाह्य जगत सम्बन्धी और दूसरा अंतर्जगत संबंधी। मनुष्य के समुचित विकास के लिये दोनों प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। पदार्थ-विज्ञान हमें बाह्य जगत का ज्ञान कराता है और मनोविज्ञान तथा दर्शन अन्तर्जगत का ज्ञान कराते हैं। विभिन्न प्रकृति के लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञानों में होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति पदार्थ-विज्ञान की किसी शाखा में स्वभावतः विशेष रुचि दिखाता है और अन्तर्मुखी व्यक्ति मनोविज्ञान अथवा दर्शन की किसी विशेष शाखा में। जिस प्रकार संसार के विभिन्न व्यक्तियों में अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता की स्वभावतः प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार राष्ट्रों में भी किसी राष्ट्र की प्रवृत्ति बहिर्मुखी और किसी की अन्तर्मुखी होती है। भारतवर्ष की स्वाभाविक प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। यहाँ के सर्वोत्कृष्ट विद्वान् अन्तर्मुखी हुए हैं, और जिस प्रकार इङ्गलैंड, फ्रांस और जर्मनी के विद्वानों ने पदार्थ-विज्ञान के अन्वेषणों से संसार को चकित कर उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया है, इसी प्रकार भारतवर्ष के विद्वानों ने आभ्यन्तरिक वस्तुओं का अन्वेषण करके संसार की भारी सेवा की है, उसे पाशविकता के स्तर से उठाकर मानवता के स्तर पर लाये हैं और इस प्रकार संसार के

शिष्ट लोगों के पूज्य बने हैं। कुछ समय से भारतवर्ष अपनी इस प्रतिभा का विस्मरण कर चुका था। अतएव इस देश के विद्वान् केवल दूसरों के कहे हुए—चाहे वे प्राच्य विद्वान् रहे हों अथवा पाश्चात्य—विचारों को दुहराने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते थे। सदियों तक हमारी विद्या रटन्त विद्या बनी रही। इसके कारण हमारी मानसिक जड़ता और गुलामी बढ़ती रही। अंग्रेजों के आने पर हमारे देश में विचारों का जो संघर्ष हुआ उसके परिणाम-स्वरूप हमारा पुराना अभ्यास अपने आप छूट गया और हमें नये ढंग से सोचने की आवश्यकता पड़ी। अब भारतवर्ष में एक नई प्रतिभा का जागरण हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। जब मनुष्य में विचार की स्वतन्त्रता आती है तभी वह राजनीतिक तथा अन्य प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त करता है।

मनोविज्ञान एक ऐसा विषय है जिसमें पूर्व और पाश्चात्य ज्ञान का भली प्रकार से समन्वय होता है। मनोविज्ञान विज्ञान है, अतएव इस विज्ञान की विधि वही है जो दूसरे विज्ञानों की है। मनोविज्ञान में मान्यता के लिये, किसी प्रकार के आप्त वचन के लिये, हठधर्मी के लिये कोई स्थान नहीं है। जो बात प्रयोगों द्वारा ठीक सिद्ध होती है उसी को मनोवैज्ञानिक मानता है, जो प्रयोगों के द्वारा ठीक नहीं उतरती उसे वह अपने विचार में स्थान नहीं देता। मनोविज्ञान का ज्येष्ठ प्रमाण आप्त वचन नहीं, अपितु अपनी निजी अनुभूति है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान भौतिक विज्ञान के समान ही विज्ञान है। परन्तु इसके अध्ययन का विषय कोई बाह्य पदार्थ नहीं, इसके अध्ययन का विषय अपना स्वत्व ही है। अतएव मनोविज्ञान नीति-शास्त्र, दर्शन आदि के समान दार्शनिक विषय भी है। मनोविज्ञान का स्थान दर्शन की विद्याओं में वैसा ही है जैसा कि पदार्थ-विज्ञान-सम्बन्धी विद्याओं में है। इसलिये यह एक ऐसी विद्या है जिसकी आवश्यकता हमारे देश के लिये सबसे अधिक है। इसका अध्ययन न केवल भारतवर्ष की प्रतिभा के अनुकूल है वरन् भारतवर्ष की अनेक प्रकार की सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिये भी आवश्यक है।

प्रत्येक मनुष्य की वैयक्तिक समस्याएँ समाज की समस्याओं की अपेक्षा उसके लिये अधिक महत्व रखती हैं, अतएव मनोविज्ञान का उद्देश्य सबसे पहले इन्हीं समस्याओं को हल करना रहता है। हम देखते हैं कि संसार में चारों ओर दुःख फैला हुआ है। कुछ दुःख तो ऐसा होता है जो विशेष प्रकार की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न होता है; परन्तु अधिक दुखों का कारण मनुष्य के मन में ही होता है। यदि मनुष्य के कल्पित दुःखों का अन्त हो जाय तो संसार के अधिक दुःख नष्ट हो जायँगे।

इस पुस्तक में हमने मनोविज्ञान सम्बन्धी नवीन खोजों को सरल भाषा में रखने की चेष्टा की है। इस पुस्तक में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है उन पर हमने स्वयं प्रयोग किये हैं। जहाँ पर संसार के किसी मान्य मनोवैज्ञानिक से लेखक का मतभेद हुआ है, वहाँ उसे स्पष्ट बताया गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान के जन्मदाता सिगमंड फ्रायड महाशय हैं। संसार उनकी देन का सदा ऋणी रहेगा। वे एक महान् प्रतिभावान व्यक्ति थे और उन्होंने अपनी नई खोजों से मानव समाज के सारे सांस्कृतिक जीवन में विप्लव कर दिया है। परन्तु जिस प्रकार अन्य प्रतिभावान व्यक्तियों के विचारों में किसी न किसी प्रकार की एकाङ्गिता रहती है, इसी प्रकार फ्रायड महाशय के विचारों में एकाङ्गिता थी। उन्होंने मनुष्य की विभिन्न प्रकार की समस्याओं का मूल कारण कामवासना को ही माना है। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है, जैसा कि इस ग्रन्थ के गवेषणापूर्ण अवलोकन करने से स्पष्ट होगा। परन्तु यह विचार अन्त में एकाङ्गी ही है। इस कमी की पूर्त्ति बहुत कुछ फ्रायड के अनुयायी और आलोचक चार्ल्स युंग महाशय ने की है। ये आधुनिक काल के संसार के सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक माने जाते हैं। युंग, विलियम ब्राऊन और हेडफील्ड के विचारों का कई स्थानों पर हमने उल्लेख किया है। इनके विचार भारतीय दार्शनिक विचार-परंपरा से मिलते-जुलते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मन के स्वरूप, उसकी शक्ति, इस शक्ति की पुरोगामी

और प्रतिगामी क्रियाओं तथा इन क्रियाओं के परिणामों पर विचार किया गया है और यह दर्शाने की चेष्टा की गई है कि एक बार मानसिक साम्य बिगड़ जाने पर उसे पुनः कैसे प्राप्त किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख रचयिता मानसिक रोगों के चिकित्सक हैं। स्वयं फ्रायड महाशय मानसिक रोगों के भी विशेषज्ञ थे। अतएव आधुनिक मनोविज्ञान में मानसिक रोगों का वर्णन और उनके निराकरण के उपायों का प्रमुख स्थान रहता है। परन्तु जिस व्यक्ति को स्वयं न कोई मानसिक रोग हुआ हो और न जिसे किसी मानसिक रोगी की चिकित्सा का अनुभव हो, वह आधुनिक मनोविज्ञान पर कोई उपयोगी पुस्तक नहीं लिख सकता। ठोस ज्ञान का आधार सदा अपनी ही अनुभूति रहती है। इसलिये किसी सिद्धान्त का निरूपण करते समय अपने अनुभव में आये हुए दृष्टान्तों का उल्लेख किया गया है।

आशा है कि जिस प्रकार लेखक की अन्य पुस्तकों को हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों ने अपनाया है, उसी प्रकार वे इसे भी अपनावेंगे। जिन महानुभावों ने इस ग्रन्थ के लिखने में लेखक को प्रोत्साहन दिया है उनका मैं आजीवन ऋणी रहूँगा। इनमें से श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर, श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन और श्रीजगदीश कश्यप के नाम विशेष प्रकार से उल्लेखनीय हैं। पहले दो सज्जनों ने हिन्दी का भंडार भरने की दृष्टि से लेखक को अपने कार्य में प्रोत्साहित किया और श्रीजगदीश कश्यप ने पातंजल योग और बुद्ध भगवान की शिक्षा का तुलनात्मक ज्ञान देकर इस पुस्तक में उपस्थित पूर्व और पाश्चात्य विचारों के समन्वयात्मक ज्ञान को बनाने में सहायता दी।

काशी-विश्वविद्यालय
माघ मकर संक्रान्ति २००५
ता० १४-१-१९४९ } **लालजीराम शुक्ल**

द्वितीय संस्करण की भूमिका

जब से इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ तब से मनोविज्ञान का व्यापक प्रसार हिन्दी भाषाभाषी जनता में हो गया है। अब इस पुस्तक की माँग देश के चारों कोनों से हो रही है। इस बीच काशी मनोविज्ञानशाला की स्थापना भी हुई। इससे हमें हजारों मानसिक रोगियों की चिकित्सा का अनुभव प्राप्त हुआ। अतएव द्वितीय संस्करण का आकार पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। अब इस पुस्तक का उपयोग बी० ए० कक्षा के मनोविज्ञान के विद्यार्थी कर रहे हैं। उनकी आवश्यकताओंको ध्यान में रखकर यह द्वितीय संस्करण जनता के समक्ष आ रहा है। हमें आशा है यह संस्करण पहले से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

काशी मनोविज्ञानशाला
सिद्धगिरि, बनारस
६ जून १९५७



लालजीराम शुक्ल

विषय सूची



शब्दावली

अंतर्दर्शन—Introspection
अचेतन मन—unconscious mind
अध्यात्मवाद—Spiritualism
अहंकार—Ego
अनुमान—Inference
अंतर्द्वंद्व—conflict
असाधारण—Abnormal
अर्द्ध चेतन—Subconscious
अकारण भय—phobia
अकारण भूतभय—ghostphobia
अकारण सर्पभय—Snakephobia
अंतर्हित अवस्था—latent stage
असाधारण व्यवहार का सञ्चालन
Mechanism of abnormal behaviour
अपराधी मनोवृत्ति—
Guilt consciousness
अतिपूर्त्तिकरण—
Over compensation
अकारण चिंता—
Neurotic anxiety
अनुभव—Experience
अंतर्दृष्टि—Insight
अनिद्रा—Insomnia
अदूरदृष्टि—Short-sightness

अधिनायकवाद—Dictatorship
अंतर्मुखी—Introvert
अर्थबोधन—Interpretation
आत्मतत्व—Self
आचरण—Conduct
आत्मभर्त्सना-Self-condemnation
आत्मसम्मान का स्थायी भाव—
Sentiment of self regard
आरोपण—Projection
आदर्शीकरण—Idealisation
आत्मप्रकाशन—Self-display
आत्मप्रेम—Narcissism
आत्म-साक्षात्कार—Self realisation
आत्महीनता की ग्रन्थि—
Inferiority complex
आदर्शनिर्माण—Idealism
आंतरीकरण—Introjection
आत्महत्या की प्रवृत्ति—
Suicidal mania
आत्मस्वीकृति—Self-acceptance
आवेग—Emotion
आह्लाद शोकातुर—
Maniacdepression
आत्मविश्लेषण—Self analysis
आत्मनिर्देश—Auto-suggestion

आकुंचन—Condensation
इच्छाशक्ति—Will-power
इच्छा—Desire
एकांतवादी—Extremist
उन्माद—Hysteria
उपस्थाश्रित अवस्था–phallic stage
उदात्तीकरण-Sublimation
उद्वेग—Emotion
उपचार—Treatment
उत्तेजना—Stimulus
उत्तर—Response
कार्य-कारण भाव–Causality
क्रियात्मक—Conative
कामप्रवृत्ति—Sex instinct
कल्पना-रमण–Fantasy making
कल्पना—Imaginatiou
गन्दगी से भय—Dirt-phobia
ग्रन्थि – Gland
ग्रन्थिसूचक शब्द–Nodal Idea
चेतना—Consiousness
चेतनावादी—Spiritualist
चेतन मन—Conscious mind
चिंता—Anxiety
चलित स्वप्न—Somnombulism
चित्त की एकाग्रता—Concentration of attention
चिंतन—Thinking
चेतना के स्तर—Layers of Consciousness
जड़वादी—Materialist
जाग्रत प्रमाता–Conscious mind
जन्मजात—Inborn
जननाश्रित अवस्था–reproductive stage
झक – Obsession
डिमेन्सिया प्रीकाक्स—Dementia praecox
तत्वदर्शन—Self-realisation
तत्वविज्ञान—Metaphysics
तादात्मीकरण—Identification
दमन—Repression
द्वैव्यक्तित्व—Dual personality
द्विविधा—Ambivalent
दमा—Asthema
दिवास्वप्न—Day dream
धर्म—Religion
धारणा—Concept
धार्मिक पारानोइया—Religious paranoia
ध्रुवीकरण—Polarity
नैतिक कारण—Moral cause
निराशावाद—Pessimism
नियतिवाद—Fatalism, determinism

नैतिक मन—Moral mind
नैतिक स्वत्व—Moral self (super ego)
नपुंसकता—Impotancy
नैतिक बुद्धि—Conscience
निर्देश—Suggestion
निष्क्रिय—Inactive
निन्दाभ्रम-delusion of reference
न्यूरस्थेनिया—Neuresthenia
न्यायालयात्मक पारानोइया—Litigatory peranoia
प्रदत्त—Data
प्रयोग—Experiment
प्रवृत्ति—Urge
पाशविक प्रवृत्ति—Animal urge
प्रतिक्रिया—Reaction
प्रतिहारी—Censor
प्रतीक—Symbol
पायूषाश्रित अवस्था—Anal stage
प्रजनन शक्ति—Procreative power
प्रक्रिया—Process
पितृद्वेष की भावना ग्रन्थि—Oedipus Complex
प्रतिगमन—Regression
पुरोगमन—Progression
पैरानोइया—Paranoia
प्रत्यक्ष पदार्थ—Percept

पाप भावना—guilt consciousness
पूर्त्तिकरण—Compensation
प्रतिबंध व्यवस्था—Censor
पागलपन—Psychosis
प्राकृतिक स्वत्व—natural self(Id)
पलायनताका रोग—Fugue
प्रतीक स्थूल भय—Symbolic-concrete phobia
प्रतीक सूक्ष्मभय—Symbolic Abstract phobia
प्राकृतिक चिकित्सा—Naturopathy
प्रतीकीकरण—Symbolisation
प्रभावविधि—Dominant method
बाध्यविचार-Obsessional neurosis
बाध्यक्रिया—Compulsion Neurosis
बधिया किया जानेका भय—Castration fear
बुद्धि—Intellect
बौद्धिक—Intellectual
बहुव्यक्तित्व-Multiple personality
बहिर्मुखी—Extrovert
भावात्मक—Affective
भावना—Feeling
स्थायी भाव—Sentiment
संवेदन—Sensation
साधारण—Normal
सर्वव्यापी मन—Cosmic mind

समलिंगी—Homosexual
संवेग—Emotion
साम्य—Harmony
स्किजोफ्रेनिया—Schizophrenia
सुस्वत्व—Superego
स्मृति—Memory
सम्मोहक—Hypnotiser
समीकरण—Complementariness
समीकरण का नियम—law of complementariness
शक्तिसन्तुलन—Balance of power
सांकेतिक चेष्टाएँ—Automata
सामाजिक भावना—Social feeling
संशय—Doubt
सामान्य स्थूल भय—Simple concrete phobia
सामाजिक स्वत्व—Social self
सुधारात्मक पैरानोइया—Reformatory paronoia
सहज सम्बन्ध विधि—Free association method
स्थानांतरीकारण—Transference
स्वप्नरचनाप्रणाली—Dream mechanism
सहयोग विधि—Cooperative method
शक्तिसन्तुलन—balance of power
शब्द-सम्बन्ध—word-association
शोध—Sublimation
हस्तमैथुन—Masturbation
हेत्वावरण—Rationalisation
हकलाहट—Stammering
क्षय रोग—Consumption, Phthysis
त्रासभ्रम—delusion of persecution
ज्ञानात्मक—Cognitive
भोगवादी—Hedonist
भाव—Feeling
भ्रम—Illusion
मनोविज्ञान—Psychology
मन—Mind
मस्तिष्क—Brain
मूल प्रवृत्ति—Instinct
मनोविश्लेषण—Psychoanalysis
मानसिक ग्रन्थि—Complex
मानसिक खिंचाव—Mental tension
मुखाश्रित अवस्था—Oral stage
मूर्छारोग—Fit
मातृद्वेष की भावनाग्रन्थि—Electra complex
मेलांकोलिया—Melancholia
मूर्त्तिकरण—Concretion
मनोवृत्ति—Tendency
मेस्मरिज्म—Mesmerism
माता का प्रेम—Maternal love

मैनिक डिप्रेसन—Manic depression
मानसिक गठन—Mental structure
मानसिक विघटन—
Mental dissociation
मानसिक क्षोभ—Psychesthenia
मानसिक शैथिलीकरण—
Mental relaxation
मानसिक नपुंसकता—
Mental impotancy
मार्गान्तरीकरण—Redirection
मतिभ्रम—Hallucination
योग्यता—Ability
यौनिक विकास—
Sexual development
रूपांतरित उन्माद—
Conversion hysteria
रुचि—Interest
रेचन—Catharsis
रूपांतरण—Conversion
रूपांतरित चिंता—
Conversion anxiety
व्यवहारवादी—Behaviourist
विज्ञान—Science
विक्षिप्तता—Insanity
वैयक्तिक मन—Individual mind
व्यक्तित्व—Personality
विच्छेद—Dissociation
व्यवहार—Behaviour
वातावरण—Environment

विभाजन—Dissociation
वंशानुक्रम—Heredity
विकृत यौनिक चेष्टाएँ—
Perverse sex activities
विकृत—Perverse
विक्षिप्त—Insane
विवेकपूर्ण चिंतन—
Rational thinking
विषमलिंगी—Hetro-sexual
विक्षिप्तता—Neurosis
वैयक्तिक स्वत्व—Personal self
(ego)
विवेक—Insight
विभ्रम—Delusion
विक्षिप्त भय—Phobia
विक्षिप्त चिंता—Neurotic anxiety
विषाद रोग—Melancholia
विकृत महानता—Paranoia
विकेन्द्रित मन—Scizophrenia
विस्तारण—Elaboration
स्वप्न—Dream
सामान्य मनोविज्ञान—
General psychology
सम्मोहन—Hypnotism
स्वार्थवादी—Egoist
समष्टि मन—Collective mind
समष्टिगत अचेतन मन—Collective
unconscious mind

पहला प्रकरण

मन का स्वरूप

मनोविज्ञान का प्रारंभ

मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः स्मृतः
स्वरूपं सर्वं कर्तृत्व स तत्वं मनसो मुने—योगवासिष्ठ

भारतवर्ष में मन का अध्ययन बहुत पुराने समय से होता आया है। योगवासिष्ठ और बौद्ध-दर्शन की विभिन्न शाखाओं में अभी तक जो विचार किया गया है, वह इतना गंभीर और मौलिक है कि संसार की सभी आध्यात्मिक चिन्तन करनेवाली जातियों को उनसे महत्व का प्रकाश मिल सकता है। पश्चिम में मन का अध्ययन यूनानी लोगों ने किया था। इस अध्ययन का नाम उन्होंने मनोविज्ञान अथवा आत्मज्ञान (साइकालोजी) रखा था। पर मध्यकालीन यूरूप में इस अध्ययन का ह्रास हो गया। यूरूप में फिर से मनोविज्ञान का अध्ययन आधुनिक युग के साथ-साथ होना प्रारंभ हो गया। इस अध्ययन को आगे बढ़ानेवाले प्रारंभिक व्यक्ति दार्शनिक थे। दर्शन की बातों को समझने के लिये ही उस समय मनोविज्ञान का जानना आवश्यक समझा जाता था। लाक, बर्कले, ह्यूम आदि महाशयों ने मौलिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रचलन किया। पर ये लोग दार्शनिक, थे और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये उन्होंने मन की क्रियाओं का अध्ययन करके उनपर प्रकाश डाला है।

हम जिस रूप में मनोविज्ञान को देखते हैं, वह लगभग दो सौ वर्ष ही पुराना है। कहा जाता है कि यह विज्ञान सभी प्रकार के विज्ञानों में नया

विज्ञान है। यह विज्ञान जब तक दर्शन का अंग बना रहा, तब तक इसकी अधिक वृद्धि नहीं हुई। इस विज्ञान की अनेक शाखाएँ तब निकलीं, जब कि मन का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन होने लगा। मन के वैज्ञानिक अध्ययन के दो परिणाम हुए—एक तो मन की शक्तियों का अधिक ज्ञान हुआ; जिसके कारण व्यावहारिक जीवन में मनोविज्ञान की मौलिकता बढ़ गई, और दूसरी ओर मन को संसार के एक सामान्य पदार्थ के समान मान लिया गया और उसकी क्रियाओं का उसी प्रकार से अध्ययन किया जाने लगा, जिस प्रकार जड़ पदार्थ अथवा किसी प्राणी की क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। वैज्ञानिक अध्ययन में सभी प्रकार की क्रियाओं को कार्य-कारण-भाव के अन्तर्गत माना जाता है। विज्ञान चेतन सत्ता, अथवा स्वतंत्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इस तरह मन के व्यापारों को उसी प्रकार से माना गया; जिस प्रकार जड़ पदार्थों के व्यापारों को माना जाता है।

मन के स्वरूप के विषय में मनोवैज्ञानिकों की एक राय नहीं है। प्रत्येक प्रतिष्ठित मनोवैज्ञानिक मन के स्वरूप के विषय में अपना नया मत प्रवर्त्तित करता है; और इस प्रकार एक नये मनोविज्ञान की सृष्टि हो जाती है। प्रत्येक मनोवैज्ञानिक अपने मत को ठीक, और दूसरे के मत को भूल समझता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिकों के इतने अधिक मत हो गये हैं, कि उन सब मतों का उल्लेख करने पर एक खासी मोटी पुस्तक बन सकती है। प्रत्येक वर्ष कोई न कोई ऐसी नई पुस्तक मनोविज्ञान पर लिखी जाती है, जिसमें मन का नया स्वरूप बताया जाता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के भेद

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में पहला भेद इस बात पर है, कि मन एक सामान्य जड़ पदार्थ के सदृश है अथवा उससे कोई विलक्षण वस्तु है। कोई-कोई मनोवैज्ञानिक मन अथवा चेतना को जड़ पदार्थ का एक विशेष प्रकार का रूप मानते हैं। जिस प्रकार आमाशय से पाच्य रस की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उनके कथनानुसार मस्तिष्क से चेतना की उत्पत्ति होती है। चेतना का उदय शरीर की वृद्धि के साथ होता है और उसका

अस्त शरीर के नष्ट हो जाने पर हो जाता है। चेतना शारीरिक क्रियाओं को भली प्रकार से चलाने के लिये ही उत्पन्न होती है, और इसकी क्रियाओं का मुख्य हेतु शारीरिक आवश्यकताओं की भली प्रकार से पूर्ति करना है। इस दृष्टि से मनुष्य की चिन्ता अथवा विचार का मुख्य विषय शरीर की रक्षा और उसकी वृद्धि के उपायों को ढूँढ़ निकालना है। मनुष्य स्वभावतः नई बातों को अनुभव से सीखता है। नई बातों के सीखने में दुःख और सुख विनियमन का नियम काम करता है। अर्थात् जिस काम के करने में मनुष्य को सुख होता है, उसे मनुष्य बार बार करने की इच्छा करता है; और जिसमें उसे दुःख होता है, उसे वह फिर दूसरी बार नहीं करना चाहता। इस मत के प्रवर्त्तक व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक हैं, जिसके प्रमुख पंडित अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वाट्सन और थार्नडाइक महाशय हैं। रूस के सभी मनोवैज्ञानिक मन को जड़ पदार्थ के सदृश मानते हैं और जिस प्रकार जड़ पदार्थों के व्यवहारों को वैज्ञानिक ढंग से कार्य-कारणवाद की व्यापकता मानकर समझाने की चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार वे मन की क्रियाओं को विज्ञान की परंपरागत-विधि के अनुसार समझाने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक काल में संसार में मनोविज्ञान में रुचि रखनेवाले लोग व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों के ही अनुयायी होते हैं। जिस प्रकार हरबर्ट स्पेन्सर के विचारों ने संसार के प्रमुख बौद्धिक युक्तियों पर चलनेवाले लोगों को दर्शन में जड़वादी बना दिया है, उसी प्रकार व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने मन की क्रियाओं में रुचि रखनेवाले लोगों को जड़वादी बना दिया है। साधारणतः मन क्या है—इस विषय में व्यवहारवादी अधिक जानने की चेष्टा नहीं करते। उनके अध्ययन का मुख्य विषय मन क्या कर सकता है, यही रहता है। उनके विचारों के अनुसार उसकी बाह्य क्रियाओं के अतिरिक्त मन के विषय में जानने की अधिक चेष्टा करना ही व्यर्थ है।

व्यवहार-वादियों के विरोधी चेतनावादी हैं। इनके कथनानुसार मन चेतन-रूप है, और मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय व्यवहार नहीं वरन् मनुष्य की चेतना है। चेतना को मस्तिष्क का विकार नहीं माना जा सकता। यह एक विशेष प्रकार का तत्व है। चेतनावादी शरीर के अस्तित्व

को स्वीकार करते हैं, और यह भी मानते हैं कि मनुष्य की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में घनिष्ट सम्बन्ध है, किन्तु यह सम्बन्ध कैसा है और वह कहाँ होता है इसके विषय में कोई निश्चित मत नहीं है। कितने ही लोगों के कथनानुसार चेतना मस्तिष्क में रहती है, और कितनों के कथनानुसार वह सारे शरीर में फैली रहती है। कितने ही मनोवैज्ञानिक मन और शरीर को दो न मानकर, एक ही वस्तु मानते हैं। उनका कथन है कि जब हम एक बार चेतना को शरीर से पृथक् कोई विलक्षण वस्तु मान लेते हैं, तो फिर उसके किसी प्रकार के संयोग को युक्तिसंगत बनाना असंभव हो जाता है। स्टाउट महाशय अपनी माइण्ड एण्ड बाडी (मन और शरीर) की एकता के सिद्धान्त को प्रवर्तित करते हैं। मन शरीर से कोई विलक्षण वस्तु है, इस सिद्धान्त का समर्थन मेकडूगल महाशय ने किया है, पर उनका आपस का सम्बन्ध क्या है; इस कठिनाई को वे पार नहीं कर सके हैं। उनके कथनानुसार मन और शरीर में परस्पर कारण-कार्य का सम्बन्ध है। शारीरिक क्रियाएँ मानसिक क्रियाओं पर और मानसिक क्रियाएँ शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव डालती हैं। मन और शरीर के संबंध में चेतनावादियों को इतना ही ज्ञान है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

चेतनावादी और व्यवहारवादी मन के उस भाग का अध्ययन करते हैं, जो हमें अपनी जाग्रत अवस्था में ज्ञात होता है। व्यवहारवादी अधिकतर शारीरिक क्रियाओं में प्रकाशित होनेवाले मन के व्यापारों का अध्ययन करते हैं, और चेतनावादी चेतन मन में होनेवाली सभी क्रियाओं का भली प्रकार से अध्ययन करते हैं। व्यवहार-वादियों का अध्ययन चेतनावादियों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक होता है, किन्तु वे मन के भीतरी स्वभाव के विषय में अधिक चिन्तन नहीं करते। व्यवहारवादियों में मनोवैज्ञानिक प्रयोगों का बाहुल्य पाया जाता है। चेतनावादी अन्तर्दर्शन की विधि के द्वारा पाये प्रदत्तों पर ही अधिकतर अपने सिद्धान्त स्थिर करते हैं। चेतनावादी मन की सभी क्रियाओं को ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक विभागों में विभक्त करते हैं, और इस तरह मन की विभिन्न प्रकार की चेष्टाओं का अध्ययन करते हैं।

डा० फ्रायड की देन

फ्रायड महाशय के पूर्व मनोविज्ञान का विस्तार चेतन मन की शक्ति का परिचय प्राप्त करने तक ही हो पाया था। उन्होंने मन के स्वरूप के विषय में नया ही प्रकाश डाला है। उन्होंने देखा कि मनुष्य का मन कई ऐसी बातें करता है, जिसका मनुष्य के चेतन मन को कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। मनुष्य प्रतिदिन स्वप्न देखता है, किन्तु स्वप्न के विषय में हमारे सामान्य मनोविज्ञान की पुस्तकों में बहुत कम चर्चा रहती है। मन के स्वरूप को समझने के लिये स्वप्नावस्था की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन उतना ही आवश्यक है, जितना कि जाग्रतावस्था की मानसिक क्रियाओं का अध्ययन। इसी प्रकार संमोहन, विक्षिप्तता और अपने आप चलनेवाली अथवा आकस्मिक क्रियाओं के विषय में सामान्य मनोविज्ञान कोई भी प्रकाश नहीं डालता। दूसरे साधारण मनोवैज्ञानिक मन की अनेक प्रकार की क्रियाओं के अनेक कारण बताते हैं; इन सब प्रकार के कारणों में सामंजस्य स्थापित करने तथा सभी क्रियाओं को एक ही तत्व से समझाने की चेष्टा कोई भी मनोवैज्ञानिक नहीं करता। उदाहरणार्थ, मेकडूगल महाशय ने मानसिक क्रियाओं के मूल स्रोत तेरह मूल प्रवृत्तियाँ बताई हैं जिन्हें उन्होंने इन्स-टिंक्ट कहा है। क्या इन मूल प्रवृत्तियों में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता और उनका स्रोत किसी एक ही प्रवृत्ति में नहीं ढूँढ़ा जा सकता? फ्रायड महाशय ने एक तत्व खोजने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उनका प्रयास बड़े ही महत्व का रहा।

फ्रायड महाशय एक डाक्टर थे। उन्हें कई ऐसे रोगी मिले, जिनके रोगों का कारण शारीरिक नहीं वरन् मानसिक था। मनुष्य की भावनाएँ उसके शरीर पर इतना प्रभाव डाल सकती हैं, कि जिससे शारीरिक रोग की उत्पत्ति हो जाय, इस प्रकार की कल्पना पहले से ही चली आई है। किन्तु इसका वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया था। फ्रायड महाशय ने वैज्ञा-निक ढंग से मन के अन्तःपटल का अध्ययन करके रोग के मानसिक कारणों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उनके कथनानुसार हम मन को साधारणतः जितना जानते हैं, वह हमारे सम्पूर्ण मन का एक क्षुद्र भाग है। फ्रायड

महाशय ने सम्पूर्ण मन को एक बर्फ के समुद्र पर तैरते हुए पहाड़ (आइस वर्ग) के समान माना है। आइस वर्ग का छोटा सा हिस्सा ही पानी के ऊपर रहता है, उसका अधिक भाग पानी की सतह के नीचे रहता है। पानी के ऊपर रहनेवाला भाग चेतन मन है, और पानी की सतह के नीचे रहनेवाला भाग मनुष्य का अचेतन मन है। मनुष्य की क्रियाओं का मूल स्रोत उसके अचेतन में रहता है, तथा उसके रोगों का कारण भी उसके अचेतन मन में रहता है। मनुष्य के अचेतन मन को समझे बिना उसे मानसिक रोगों से मुक्त नहीं किया जा सकता। इस अचेतन मन को समझने के लिये मनुष्य के स्वप्न, भूलों, आकस्मिक क्रियाओं, तथा विक्षिप्तता और संमोहित अवस्थाओं की क्रियाओं को जानना आवश्यक है। फ्रायड महाशय ने इनका अध्ययन करके हमारा अचेतन मन सम्बन्धी ज्ञान बढ़ाया है।

फ्रायड महाशय ने सभी प्रकार की मूल प्रवृत्तियों का समावेश एक ही प्रवृत्ति में किया है—यह प्रवृत्ति काम-प्रवृत्ति है। सभी प्राणी बाह्य सुख की इच्छा से प्रेरित होकर सभी प्रकार के कार्य किया करते हैं। बाह्य सुखों में सबसे प्रगाढ़ सुख काम-वासना की तृप्ति का सुख है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार जब भी किन्हीं दो व्यक्तियों में स्वाभाविक प्रेम देखा जाता है, तो उस प्रेम के नीचे काम-वासना कार्य करती है। प्रेम काम-वासना का आवरण मात्र रहता है। माता और पुत्र, पिता-पुत्री तथा मित्रों और बंधुओं में अथवा भाई-बहिनों में जो प्रेम देखा जाता है, उसका मूलाधार काम-वासना ही है। इस बात को प्रमाणित करने के लिये वे मनुष्य तथा इतर प्राणियों के व्यवहारों की ओर हमारी दृष्टि ले जाते हैं। उचित-अनुचित का विचार मनुष्य-समाज में ही पाया जाता है। फिर मनुष्य-समाज में भी कहीं एक प्रकार का काम-सम्बन्ध अनुचित समझा जाता है, और दूसरी जगह उसी प्रकार के सम्बन्ध को उचित समझा जाता है। मनुष्य का मन बहुमुख है, अर्थात् वह सभी तरह के भोग भोगना चाहता है और सभी प्रकार के सम्बन्धियों से उसका काम-सम्बन्ध हो सकता है। समाज इस प्रकार मनुष्य को स्वच्छन्दता नहीं देना चाहता, अतएव नैतिक प्रतिबंध बनाये गये हैं। समाज के भय के कारण मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं

का दमन करता है। फ्रायड महाशय के अनुसार जिस प्रकार मनुष्य का मन अत्यन्त कामी है, उसी प्रकार वह अत्यन्त स्वार्थी भी है। उसके स्वार्थीपने को समाज नियंत्रित करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य समाज के सम्पर्क में आता है, त्यों-त्यों उसका स्वार्थीपन और उसकी काम-प्रवृत्ति नियंत्रित होती जाती है।

काम-प्रवृत्ति और स्वार्थीपन के नियंत्रण में दो अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था में मनुष्य बाह्य दण्ड के डर के कारण ही अपने आपका नियंत्रण करता है। दूसरी अवस्था में स्वयं मनुष्य में ही आत्म-नियंत्रण का भाव आ जाता है। समाज के दण्ड का भाव मनुष्य की नैतिक भावना बन जाता है। यह नैतिक भावना एक ओर मनुष्य के चेतन मन में रहती है, और दूसरी ओर यह उसके अचेतन मन में काम करती है। जो विचार अथवा इच्छाएँ नैतिक दृष्टि से अनुचित होती हैं, उनको मनुष्य की नैतिक भावना चेतना की सतह पर नहीं आने देती। इस प्रकार मनुष्य की चेतना और अचेतन मन में भारी विषमता उत्पन्न हो जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य जीवन में आगे बढ़ता है, और जैसे-जैसे वह समाज के सम्पर्क में अधिकाधिक आता है; तैसे-तैसे उसकी नैतिक धारणा कड़ी होती जाती है। इसके कारण उसके अचेतन मन के ऊपर रखा हुआ नैतिक प्रतिबंध भी कठोर होता है। यह प्रतिबंध एक पहरुआ का काम करता है। वह चेतना के द्वार पर खड़ा रहता है, और अचेतन मन से आनेवाले भावों अथवा विचारों की छानबीन किया करता है। जो भाव अथवा विचार नैतिक दृष्टि से उचित समझे जाते हैं, उन्हें वह चेतना की सतह पर आने देता है; दूसरों को वह आने से रोक देता है।

रोकी गई इच्छाएँ, भाव अथवा विचार अचेतन मन में वापस चले जाते हैं। वे प्रकाशित होने से रोके जाने के कारण नष्ट नहीं होते, वरन् और भी प्रबल हो जाते हैं। दमन की गई वासनाएँ अब एक दूसरे के साथ मिल जाती हैं, और इस प्रकार मनुष्य के मन में षड़यंत्रकारी अनेक गिरोह बन जाते हैं। इन दलित वासनाओं के समुच्चय को 'मानसिक ग्रंथि' कहा जाता है। वासनाएँ चेतन मन की क्रियाओं में अनेक प्रकार का विघ्न

उत्पन्न किया करती हैं, और स्वतन्त्रतापूर्वक बाहर विचरने का अवसर ढूँढ़ा करती हैं। मनुष्य की स्वप्नावस्था में वासनाएँ छिपे रूप से प्रकाशित होती हैं, और इस तरह उनकी आंशिक तृप्ति होती है। जब दलित वासनाओं का बल अधिक बढ़ जाता है, तो वे मनुष्य के नैतिक प्रतिबंध को तोड़कर बाहर आ जाती हैं। इस समय मनुष्य विक्षिप्त अवस्था में हो जाता है। जिस मनुष्य के जीवन में जितना ही कड़ा नैतिक नियंत्रण होता है, उसके विक्षिप्त होने की उतनी ही अधिक संभावना होती है।

फ्रायड महाशय का एक मौलिक सिद्धान्त यह था कि मनुष्य का जन्म-जात स्वभाव बड़ा ही स्वार्थी है, और वह भय के कारण ही परोपकारी बनता है। उसका अचेतन मन स्वार्थीपन और भोग की इच्छाओं से भरा पड़ा है। मनुष्य का आन्तरिक मन इतना गंदा और क्रूर है, कि वह उसे स्वीकार ही नहीं करना चाहता। उसमें जो भलाई हम देखते हैं, वह उसके स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती वरन् समाज के भय से उत्पन्न होती है; अर्थात् मनुष्य के मन में सभी सद्विचार बाहर से आते हैं। ये सद्विचार मनुष्य के गंदे और स्वार्थी स्वभाव को छिपाते हैं।

फ्रायड की धारणा का परिणाम

फ्रायड महाशय ने मनुष्य के आन्तरिक मन का जो चित्र खींचा है, उसके कारण संसार के विद्वान् मनोविज्ञान के अध्ययन से ही विमुख हो गये। यदि मन के आन्तरिक पटल के अध्ययन से मनुष्य अपने और दूसरों के स्वभाव के विषय में नीची ही धारणा बनावे, तो वह इस प्रकार के अध्ययन को करे ही क्यों। लेखक के बहुत से मित्र मनोविश्लेषण - विज्ञान का अध्ययन इसीलिए नहीं करते, कि उसके कारण मनुष्यमात्र के प्रति मनुष्य अपना एक ऐसा दृष्टि-कोण बना लेता है; जिससे वह किसी व्यक्ति में कोई मौलिक भलाई नहीं देखता। नवयुवक इस प्रकार के ज्ञान से नैतिकता के प्रति उदासीन हो जाते हैं। वे किसी प्रकार की भोग-इच्छा को अनुचित नहीं समझते। नैतिकता जब समाज द्वारा लादी गई एक धारणा मात्र है और उसकी भित्ति समाज का भय है, तो मनुष्य उसे क्यों माने? निर्भीकता में ही तो मनुष्य का मनुष्यत्व अथवा पुरुषार्थ है। इस स्थिति के कारण

राष्ट्र के शुभचिन्तक अधिकारियों के लिये यह आवश्यक हो जाता है, कि वे फ्रायड महाशय और उनके अनुयायियों की कृतियों पर प्रतिबन्ध लगावें।

फ्रायड के अनुयायी

फ्रायड के अनुयायी-अलफ्रेड एडलर और चार्ल्स युंग ऐसे हुए, जिन्होंने फ्रायड के सिद्धान्तों का अनेक प्रकार से विरोध किया। एडलर महाशय ने फ्रायड के मन के स्वरूप-सम्बन्धी मूल सिद्धान्त को स्वीकार किया, किन्तु मनुष्य की मूल वासना को काम-वासना न मानकर मान-प्रतिष्ठा की वासना माना है। मानसिक रोग इसी वासना के दमन से उत्पन्न होते हैं। फ्रायड महाशय के समान एडलर महाशय भी मन को स्वार्थी ही मानते हैं।

फ्रायड और एडलर दोनों ही व्यक्ति जड़वादी हैं। मन का निर्माण शरीर के साथ-साथ होता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर मन भी नष्ट हो जाता है, इस जड़वाद के मौलिक सिद्धान्त के प्रतिकूल वे नहीं गए। अचेतन मन की उत्पत्ति बालक के जन्म-काल से होती है। छोटी अवस्था में व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन में वैषम्य नहीं रहता; समाज के सम्पर्क में आने पर यह विषमता उत्पन्न होती है क्योंकि समाज से ही मनुष्य नैतिक भावनाओं को ग्रहण करता है।

युंग का आध्यात्मवाद

युंग महाशय ने फ्रायड के जड़वादी, स्वार्थवादी और भोगवादी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। वे मन के अचेतन भाग को फ्रायड महाशय से कहीं अधिक महत्व देते हैं। किन्तु उनका कथन है, कि मन के जिस भाग को हम मनोविश्लेषण द्वारा साधारणतः जानते हैं; वह मन के सच्चे आन्तरिक रूप की छाया मात्र है। यह छाया कुरूप और भयावनी दिखाई देती है, किन्तु हमें इसे ही मन का तात्विक रूप न जान लेना चाहिए। अचेतन मन की छाया से वही व्यक्ति घबड़ाते हैं, जो मन के चेतन भाग से ही परिचित हैं; और जिन्होंने मन के चेतन भाग को ही जानकर संपूर्ण मन के विषय में बड़ी सुन्दर धारणा बना ली है। जब ऐसे लोगों को चेतन मन की सतह के नीचे का भाग दिखाया जाता है, तो वे घबड़ा

उठते हैं, क्योंकि उसमें उन्हें स्वार्थीपन, भोगलिप्सा और वीभत्सता के अतिरिक्त और कुछ भी नजर नहीं आता। इसके कारण वे आत्म-ज्ञान से वंचित ही रहते हैं।

किन्तु जो व्यक्ति अचेतन मन की वीभत्सता से न घबड़ा कर अपनी खोज को आगे ही बढ़ाते जाते हैं, और मन के अन्तःपटल को और अधिकाधिक जानने की चेष्टा करते हैं; उन्हें उन सभी प्रकार की खूबियों का स्रोत मिल जाता है, जिनका आभासमात्र हम अपने चेतन मन में देखते हैं। हमें अपने चेतन मन में भलाई, सौन्दर्य और सत्य का ज्ञान है। यह ज्ञान हमें तात्विक भलाई, सौन्दर्य और सत्य को भले ही न दर्शावें, किन्तु इससे यह तो प्रामाणित होता है कि कहीं पर तो ये पदार्थ तात्विक रूप में हैं। युंग महाशय के कथनानुसार जिस प्रकार मनुष्य की सभी प्रकार की बुराइयों की जड़ उसके अचेतन मन में है, उसी तरह उसकी सभी प्रकार की भलाइयों की भी जड़ उसके अचेतन मन में है। चेतनातीत मन में न केवल दमन की गई वासनाएँ रहती हैं, वरन् उसमें हमारे समस्त जीवन का मूल स्रोत पाया जाता है। हमारे शरीर का निर्माण इसी मन ने किया है। यह मन नैतिक धारणाओं का भी मूल स्रोत है। युंग महाशय के कथनानुसार मनुष्य की नैतिक धारणाएँ उसके ऊपर बाहर से नहीं लादी गईं, वरन् उनकी जड़ मनुष्य के अचेतन स्वभाव में ही है।

युंग महाशय के कथनानुसार मनुष्य की अनैतिक भावनाओं के दमन से ही मानसिक रोगों की उत्पत्ति नहीं होती, वरन् उसकी नैतिक भावनाओं के दमन से भी मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। युंग महाशय ने अपने वैयक्तिक मन के परे समष्टि मन की कल्पना की है। यह मन चेतना के परे है। मनुष्य को इसका ज्ञान नहीं रहता, किन्तु उसकी प्रेरणा के अनुसार मनुष्य अनेक काम करता है। जिस व्यक्ति के जीवन में जितनी ही अधिक समष्टि और वैयक्तिक अचेतन मन में साम्य रहता है, वह उतना ही सुखी रहता है। उसकी प्रतिभा और भले काम करने की शक्ति उतनी ही अधिक रहती है। जब मनुष्य का अहंकार बढ़ जाता है, तो वह अपना आचरण समष्टि मन की इच्छाओं के विरुद्ध बनाने लगता है। ऐसा करने पर उसके

व्यक्तित्व में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है; और वह विक्षिप्तता की अवस्था में पहुँच जाता है।

हमारी साधारण धारणा है कि जो व्यक्ति जितना ही अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेता है, वह उतना ही चरित्र में सुगठित और स्वस्थ व्यक्तित्व का होगा। आगे-पीछे की सभी बातों को सोचकर समयानुकूल तथा वातावरण के अनुसार जो अपना आचरण बनाता है, वह स्वस्थ मनुष्य समझा जाता है। युंग महाशय के कथनानुसार वही मनुष्य स्वस्थ है, जो अपने आचरण को समष्टिगत अचेतन मन की प्रेरणा के अनुसार बनाता है। समष्टिगत मन ही मनुष्य की शक्ति और उसकी प्रतिभा का मूल स्रोत है। समष्टि-मन से एकता स्थापित करने में ही मनुष्य स्वस्थ बनता है।

इस समष्टि-मन को जानने के लिये मनुष्य को बाहरी ज्ञान के बढ़ाने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि अपने आपको अन्तर्मुखी बनाने की। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने आपको जानने की चेष्टा करता है वह उतना ही अधिक समष्टि मन के समीप पहुँचता है। सांसारिक ज्ञान तथा सांसारिक व्यवसायों से अति सम्पर्क न रखना इसके लिये आवश्यक है।

युंग महाशय मन को अमर मानते हैं। शरीर नष्ट हो जाता है पर मन बना रहता है। युंग महाशय ने मन के स्वरूप का वैसा ही वर्णन किया है, जैसा कि साधारणतः आत्मा का वर्णन उपनिषदों में किया गया है। † सभी प्रकार के अनुभव मन में ही होते हैं। हमारे कुछ अनुभव

† The psyche may be regarded as a Mathematical point and at the same time as a universe of fixed stars. It is small wonder, then, if, to the unsophisticated mind, such a paradoxical being borders on the divine. If it occupies no space, it has no body. Bodies die, but can some thing invisible and incorporeal disappear? What is more, life and psyche existed for me before I could say "I" and when this "I" disappears, as in sleep or unconsciousness, life and psyche still go on. as our observa-

कल्पना कहे जाते हैं, और कुछ अनुभव वास्तविक वस्तुओं के कहे जाते हैं, पर तात्विक दृष्टि से दोनों प्रकार के अनुभवों में भेद कुछ भी नहीं है। किसी भी अनुभव की सत्यता की कसौटी इसी बात में होनी चाहिए, कि उससे दुःख और सुख उत्पन्न होते हैं। ये दुःख और सुख काल्पनिक कहे जानेवाले पदार्थों से वैसे ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि सत्य कहे जानेवाले पदार्थों से। यदि हम किसी जड़ पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करना चाहें, तो हम उसे अपने ज्ञान के प्रकार के अतिरिक्त कुछ भी न पावेंगे। कोई भी व्यक्ति बाह्य जगत की तात्विक सत्यता और उसकी स्वतंत्र सत्ता को प्रमाणित नहीं कर सकता। युंग महाशय का कथन है, "आग मुझे जलाती है, और भूत मुझमें भय उत्पन्न करता है। मैं एक को सत्य पदार्थ मानता हूँ, और दूसरे को मन की कल्पना मानता हूँ। किन्तु आग के तात्विक स्वरूप को मैं उतना ही कम जानता हूँ, जितना कि भूत के तात्विक स्वरूप को। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दोनों ही पदार्थ अनुभव मात्र हैं, और वस्तु को एक प्रकार के अनुभव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?' †

---

tion of other people and our own dreams inform us. Why should the simple-minded deny, in the face of such experiences, that the soul lives in a realm beyond the body. I must admit that I can see as little norsense in this so called superstition as in the findings of research regarding heredity or the basic instincts."

The Modern Man in Search of a Soul, P. 213.

† 'If fire burns me I do not question the reality of the fire, where as if I am beset with the fear that a ghost will appear. I take refuge behind the thought that it is only an illlusion. But just as the fire is the psychic image of a physical process whose nature is unknown, so my fear of the ghost is a psychic image from a mental source; it is just as real as the fire, for my fear is as real as

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि युंग महाशय जड़वाद से विरत हो चुके हैं। वे मन को शरीर में स्थित किसी विशेष प्रकार की कार्यशील शक्ति नहीं मानते, वरन् उसे सब प्रकार के अनुभवों का आधार मानते हैं। मन देश और काल के परे है, और शरीर के मर जाने पर उसकी मृत्यु नहीं होती। जीवन के अनुभव के साथ-साथ मनुष्य की चेतना में विकास होता है, किन्तु स्वयं चेतन तत्व में कोई विकास नहीं होता। यह चेतना एक अंग मात्र है। इसे युंग महाशय ने दूसरे मनोविश्लेषकों की भाँति अचेतन मन कहा है, पर उसे चेतना का मूल स्रोत भी माना है। मनुष्य का अचेतन मन इस प्रकार दो तत्वों का बना है—एक वैयक्तिक और दूसरा सामष्टिक। वैयक्तिक अचेतन समष्टिगत अचेतन से उत्पन्न होता है, और उसी में वह आश्रित है। वैयक्तिक अचेतन सामष्टिक अचेतन की छाया मात्र है। यह छाया कुरूप और भयंकर दिखाई देती है, इसे देखकर कोई-कोई मनोवैज्ञानिक मन के आन्तरिक स्वभाव को भी कुरूप और भयंकर ही समझ लेते हैं। जब कोई व्यक्ति मनुष्य के वैयक्तिक अचेतन भाव के परे जाने की चेष्टा करता है, तब उसे मन के ऐसे स्तर का ज्ञान होता है; जो बड़ा ही शक्तिशाली और ज्ञानी है तथा भलाई और सौन्दर्य का स्रोत है। इसे युंग महाशय ने सामष्टिक अचेतन मन कहा है।

पश्चिम में आत्मा और मन का व्यतिरेक नहीं किया गया है। मन से पृथक् आत्मतत्व की कल्पना इमेनुअल काण्ट और आर्थर-शोपनहावर महाशय ने अवश्य की है, किन्तु यूरोप के अधिक दार्शनिक हीगिल महाशय अथवा जड़वादियों के विचारों से प्रभावित हुए हैं। हीगिल महाशय

---

the pain caused by the fire. As for the mental process that finally underlies my fear of the ghost...it is as unknown to me at the ultimate nature of matter. And just as it never occurs to me to account for the nature of fire except by the concept of chemistry and physics, so I would never think of trying to explain my fear of ghosts except in term of mental processes'.—I bid P. 220, 221

ने आत्मा और मन के भेद को, जिसे इमेनुअल काण्ट ने बड़ी कुशलता के साथ दर्शाया था, मिटा दिया। हीगिल महाशय चेतनवादी समझे जाते हैं, अतएव सभी चेतनवादी दार्शनिक हीगिल महाशय का अनुकरण करते आये हैं। मनोवैज्ञानिक साधारणतः दार्शनिक नहीं होते। वे अधिकतर वैज्ञानिक होते हैं, और सभी प्रकार का विज्ञान जड़वादी है। अतएव संसार के अधिक मनोवैज्ञानिक जड़वादी ही हैं। युंग महाशय एक विलक्षण मनोवैज्ञानिक हैं, जो अपने प्रयोगों में तो वैज्ञानिक विधि को काम में लाते हैं, किन्तु विज्ञान के अन्तिम निष्कर्ष को सत्य नहीं मानते। उनके विचारानुसार अभी तक मन के स्वरूप के विषय में पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ। अभी पश्चिम के मनोवैज्ञानिक अपने अध्ययन के आरम्भ काल में ही हैं; और मनोविज्ञान अपने बचपन की अवस्था में ही है। अतएव जितना मन के विषय में अभी तक ज्ञान हुआ है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि मन का वास्तविक रूप क्या है? अभी तक जो कुछ मन के विषय में ज्ञात हुआ है, उससे यही प्रमाणित होता है कि हमने मन के विषय में जो कुछ अध्ययन किया है; वह उसकी सतह का ही अध्ययन है। उसके अन्तःपटल को अभी और भी जानना है।

(१) जड़वाद और चेतनवाद

डाक्टर फ्रायड और डा० युंग के भेदों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। परन्तु इस विषय पर अधिक विचार करना आधुनिक मनोविज्ञान के समझने के लिये नितांत आवश्यक है।

फ्रायड और युंग महाशय का पहला मौलिक भेद यह है कि फ्रायड महाशय अन्य वैज्ञानिकों की तरह जड़वादी थे, और युंग चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वे चेतन सत्ता के अस्तित्व के विषय में कुछ प्रमाण भी देते हैं। फ्रायड महाशय एक डाक्टर और वैज्ञानिक थे, युंग मानसिक चिकित्सक और वैज्ञानिक होने के अतिरिक्त एक दार्शनिक भी हैं। वे वर्तमान विज्ञान की विधि को कुछ दूर तक स्वीकार करते हैं; पर विज्ञान बहिर्मुखी है, वह इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही सर्वोच्च प्रमाण मानता है। बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के वह किसी तत्व का अस्तित्व स्वीकार करने को तैयार

नहीं। विज्ञान अनुमान को मानता है, पर उसका आधार भी प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना गया है। दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त अन्तर्दर्शन को भी प्रमाण मानता है। अन्तर्दर्शन से हमारे मन का जो ज्ञान होता है, उससे हम मन को एक ओर अनेक प्रकार की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का आगार पाते हैं; और दूसरी ओर हम किसी एक ऐसी सत्ता का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो कि इन प्रवृत्तियों को अपने बश में करके रखती है। जहाँ वैज्ञानिक विचार हमें अपने आपमें प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं दर्शाता, वहाँ अन्तर्दर्शन के द्वारा हम अपने आपमें दो तत्व पाते हैं—एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति चंचल है और पुरुष स्थिर। युंग महाशय ने पुरुष अथवा चेतन तत्व की सत्ता को स्वीकार किया है; और इस तरह मनोवैज्ञानिक प्रमाणों से जड़वाद का खंडन करने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि हम अपनी आन्तरिक अनुभूति में न केवल प्राकृतिक उद्वेगों अथवा प्रवृत्तियों के प्रवाह का अनुभव करते हैं, वरन् हम अपने आपमें एक ऐसी सत्ता का भी अनुभव करते हैं[1], जो इस प्रवाह को रोकती अथवा मोड़ देती है। प्राकृतिक प्रवाह को रोक देनेवाली अथवा उस पर नियंत्रण रखनेवाली सत्ता को चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

---

१ युंग महाशय का निम्नलिखित कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

"I do not doubt that the natural instincts or desires are forces of propulion in human life, whether we call them sexuality or the will to power; but I also do not doubt that these instnicts come into collusion with something, and why should not this some thing be not called spirit ? I am far from knowing what spirit is in itself, and eqully far from knowing what instnicts are. The one is as mysterious to me as the other, yet I am unable to dismiss the one by esep cauiing it in terms of the other. That would be to treat it as a mere misunderstanding"—*The Modern Man in Search of a Soul P.* 136.

युंग के अतिरिक्त कोई भी मनोवैज्ञानिक ऐसा नहीं है, जो प्राकृतिक प्रवृत्तियों से सर्वथा पृथक, चेतन सत्ता के अस्तित्व में विश्वास करता हो। जिस प्रकार फ्रायड महाशय चेतन स्वत्व को प्रवृत्तियों का विकार मात्र मानते हैं, उसी प्रकार मेक्डूगल महाशय भी चेतन स्वत्व को मूल प्रवृत्तियों के बाह्य संसार से संघर्ष द्वारा उत्पन्न स्थायी भाव मानते हैं। मेक्डूगल महाशय का कथन है कि चेतना के उदय होने पर उसके कुछ ज्ञान को मनुष्य अपना आप कहने लगता है, और बाकी को विषय अर्थात् बाह्य पदार्थ मानने लगता है। अहंकार एक प्रकार का स्थायी भाव है। इन स्थायी भावों का आधार एक ओर मूल प्रवृत्तियाँ हैं, और दूसरी ओर बाह्य संसार। दोनों के संघर्ष से स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है। यह अहंभाव पीछे प्राकृतिक प्रवृत्तियों के प्रकाशन का नियंत्रण करने लगता है।

युंग महाशय का विचार इस विचार के प्रतिकूल है। उनके कथनानुसार मूल प्रवृत्ति प्रकृति ही का एक रूप है; और जो मूल प्रवृत्ति का विरोध करती है और उसको अपने नियंत्रण में लाने की चेष्टा करती है; वह प्राकृतिक पदार्थ नहीं है। इस प्रकार चेतना प्राकृतिक पदार्थ नहीं, वरन् उसके अतिरिक्त कोई विशेष पदार्थ है।

(२) नैतिकता

युंग महाशय के विचार मनुष्य के अचेतन मन और उसकी नैतिक धारणाओं के विषय में फ्रायड के विचारों से भिन्न हैं। मनुष्य का अचेतन मन बुरा नहीं है, अपितु सभी प्रकार की भलाइयों की जड़ मनुष्य के अचेतन मन में ही रहती है। जिस भलाई की जड़ मनुष्य के स्वभाव में होती है, वही भलाई स्थायी रहती है। यदि मनुष्य की नैतिक भावनाएँ समाज के द्वारा ही लादी गई होतीं और मनुष्य के आन्तरिक स्वभाव में उसकी कोई जड़ न होती, तो वे नैतिक भावनाएँ स्थायी न रहतीं। युंग महाशय के अनुसार मनुष्य की नैतिक भावनाओं की जड़ उनके अचेतन मन में है; अचेतन मन से ही इन भावनाओं का विकास चेतना में होता है। इन्हें अचेतन मन चेतना में लाने के लिये सहायता करता है। यदि मनुष्य स्वयं भला न होता, तो न तो समाज में कोई भलाई पाई जाती और न कोई

मनुष्य अपने में किसी भले काम करने की प्रेरणा पाता[1] । समाज किसी भी मनुष्य को बुरे से बदलकर भला इसीलिये बना सकता है कि स्वयं उस समाज में भलाई की जड़ है । उसमें आकर मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का नियंत्रण करना, अपने सद्‌गुणों को प्रकाशित करना सीखता है ।

युंग महाशय के कथनानुसार मनुष्य का अचेतन मन राक्षसी नहीं है । जहाँ तक नैतिक एवं सौन्दर्य की भावनाओं और विवेक का सम्बन्ध है, वह निरपेक्ष है । वह तभी भयावना हो जाता है, जब कि उसके प्रति हमारा गलत दृष्टिकोण होता है । उसे बुरा समझकर जब हम उसका दमन करते हैं, तो हम उसे वास्तव में बुरा बना देते हैं । किन्तु जब मनुष्य अपने अचेतन मन को स्वीकार करके उसे प्रकाशित होने का अवसर देता है, और जब वह चेतन और अचेतन मन में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करने लगता है, तो उसका अचेतन मन उसका शत्रु होने के बदले उसका मित्र बन जाता है । मनुष्य अपने चेतन और अचेतन मन में जितना ही अधिक

इस प्रसंग में युंग महाशय के विचार उल्लेखनीय हैं—

1 As to value and significance of unconscious in general, very mistaken views are abroad. It is well known that the Freudian school presents the unconscious in a thoroughly depreciatory light, just as also it looks on primitve man a little letter than a wild beast. Its nursery tales about the terrible old man of the tribe and its teachings about the "infantile-perverse-criminal" in the unconocious have got peeple to make a dangerous monster out of the unconscious, that really very natural thing. as if all that is good, reasonable, beautiful and worth living for had take up its abode in conseiousness ! Now have the horrors af the world wareally not opened our eyes ? Are we still unable to see that a man's conscious mind is even more devilish and perverse than the unconscious."—Ibid, P. 19.

सामञ्जस्य स्थापित करता है, उतने ही शीघ्र उसके व्यक्तित्व के विच्छेद का अन्त हो जाता है। उसका मानसिक बल बढ़ जाता है; और उसका अचेतन मन चेतन मन के सभी काम में सहायता करता है। विक्षिप्तता और अनेक प्रकार के मानसिक रोग तभी अधिक होते हैं, जब मनुष्य अपने अचेतन स्वभाव को ठीक से नहीं समझता और उसे घृणा की दृष्टि से देखकर उसका दमन करता है।[1] फ्रायड महाशय का अचेतन मन के प्रति वही नैतिक दृष्टिकोण है, जो कि मध्यकालीन यूरुप के पादरियों का था। इस प्रकार के दृष्टिकोण का परिणाम अचेतन मन के दमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

(३) मुख्य वासना

फ्रायड और युंग महाशय में तीसरा मौलिक भेद मन की मुख्य वासना के विषय में है। फ्रायड महाशय के अनुसार जीवन की मुख्य वासना काम-वासना है। दूसरी वासनाएँ काम-वासनाओं का भिन्न-भिन्न रूप मात्र हैं। यह काम-वासना शिशु काल से लेकर मृत्यु तक मनुष्य के जीवन में अपना

1 The unconscious is not a demonic monster, but a thing of nature, that is perfectly neutral so for as moral sense, aesthetic taste, and intellectual judgments go. It is dangerous only when our conscious attitude towards it becomes hopelessy false. And this danger grows in the measure that we practise supressions. But as soon as the patient begins to assimilate the contents that were previously unconscious, the danger from the side of the unconscious diminishes. As the process of assimilation goes on it puts an end to the dissociation of the person-lity and to the anxiety that attends and inspires the separation of the two realms of the psyche. That which my critics feared, I mean the overwhelming of conscious-ness by unconscious is most likely to occur when the unconscious is excluded from life by repression. or is misunderstood and depreciated—Ibid, P. 20.

प्रभाव दिखाती है। माता-पिता और शिशु के सम्बन्ध में काम-वासना ही काम करती है; इसी प्रकार काम-वासना-द्वारा समाज के विभिन्न प्रकार के लोगों से सम्बन्ध स्थापित होते हैं। जिसे हम प्रेम के रूप में प्रकाशित होते देखते हैं, वह काम-वासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। काम-वासना का दमन ही अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियों का कारण होता है। विक्षिप्तता का एकमात्र कारण काम-वासना सम्बन्धी विकार है।

युंग महाशय काम-वासना को मनुष्य की अनेक वासनाओं में से एक मानते हैं। काम-वासना मनुष्य की मानसिक शक्ति का एक रूप है। शक्ति दूसरे रूप में भी प्रकाशित हो सकती है। मनुष्य की अनेक प्रकार की इच्छाएँ उसकी मानसिक शक्ति का प्रकाशन मात्र हैं। फ्रायड महाशय का विचार, युंग के कथनानुसार, एकांगी था। उन्होंने रोगी मनुष्यों को देख-कर ही यह निष्कर्ष मान लिया कि मनुष्य की मुख्य वासना काम-वासना है और उसके जीवन के अनेक व्यापार काम-वासना से प्रेरित होकर होते हैं। पर रोगी व्यक्ति की मानसिक स्थिति अथवा उसके व्यवहारों को देखकर सामान्य पुरुष के स्वभाव के विषय में कल्पना करना एक भारी भूल है।

(४) चेतन और अचेतन का सम्बन्ध

युंग महाशय मन के चेतन और अचेतन भागों में विरोध की स्थिति देखते थे, और वे मन के दोनों भागों की क्रियाओं को एक दूसरे का पूरक मानते थे। जब मनुष्य के चेतन मन में एक प्रकार की भावनाएँ अथवा मानसिक व्यापार प्रबल होते हैं, तो उसके अचेतन मन में उनकी विरोधी और पूरक भावनाएँ अथवा मानसिक व्यापार प्रबल हो जाते हैं। इस प्रकार मन के दो भागों में आपस में समता बनी रहती है। यदि कोई मनुष्य चिंतन में अधिक समय व्यतीत करता है और अपने भावों के प्रकाशन में कोई समय नहीं देता, तो एक समय उसके लिए मानसिक संकट उत्पन्न होगा। उसके मन की अवस्था विषम हो जाने के कारण उसमें विक्षिप्तता उत्पन्न हो जावेगी। ऐसी अवस्था में उसका विचार समाप्त हो जावेगा; और उसकी भावनाएँ (उद्वेग) बाहर निकल आवेंगी। जिस प्रकार अब तक उसके जीवन का व्यापार विचार के द्वारा चलता था, उसी प्रकार अब भावनाएँ

उसके जीवन का व्यापार चलावेंगी। किन्तु पहले से ही तैयार न रहने के कारण वे योग्यतापूर्वक जीवन के व्यवहारों को चला नहीं सकतीं। इसके कारण मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है।

मनुष्य के मन में चार प्रकार की शक्तियाँ हैं—विचार, भाव, संवेदन और अन्तर्दर्शन। कोई मनुष्य एक प्रकार की शक्ति से काम लेता है और कोई दूसरी से। विचार और भाव का पारस्परिक विरोध है, इसी प्रकार संवेदन और अन्तर्दर्शन का भी विरोध है। जब मनुष्य एक शक्ति से अधिक काम लेता है, तो उसकी विरोधी शक्ति का दमन होता है। इस प्रकार के दमन से यह विरोधी शक्ति बिना खर्च हुए मनुष्य के अचेतन मन में रह जाती है, और पहली शक्ति का अधिक व्यय हो जाता है। कुछ काल के पश्चात् अपने आप ही शक्तियों के कार्य में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है। जब मनुष्य की चेतना में किसी शक्ति की कमी हो जाती है, और वह जीवन के कार्य को संचालन करने में समर्थ नहीं होती; तो विरोधी शक्ति अचेतन मन से चेतना की ओर प्रवाहित हो जाती है। यही कारण है कि बड़े ही विचारवान व्यक्ति किसी समय बालकों जैसा व्यवहार करने लगते हैं; अथवा सदा वैज्ञानिक व दार्शनिक विचार में पड़े रहनेवाले व्यक्ति पागल-खाने के निवासी बन जाते हैं। पागलपन का मुख्य कारण विषम-जीवन है। स्वस्थ मनुष्य अपने जीवन को इस प्रकार व्यतीत करता है, जिसमें उसकी विभिन्न प्रकार की मानसिक शक्तियों का सम्यक् भाव से उपयोग हो। स्वस्थ रहने के लिये मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार बनाना चाहिए कि उसकी सभी शक्तियों का विकास ठीक-ठीक रूप से हो, और किसी शक्ति का अत्यधिक दमन न हो।

युंग महाशय की उक्त मानसिक शक्ति की कल्पना उनकी एक विशेषता है। शक्ति का ज्ञान विरोध के रहने पर ही होता है। फ्रायड महाशय ने कोई इस प्रकार की शक्ति की कल्पना नहीं की। युंग महाशय के अनुसार मनुष्य में काम-शक्ति अवश्य है, पर उसकी विरोधी शक्ति भी है; जो कि उसका दमन करती है। फ्रायड इस प्रकार के विरोध में विश्वास नहीं करते थे। विक्षिप्तता काम-शक्ति के दमन से उत्पन्न होती है—यह फ्रायड

महाशय का विचार है। इस विचार में कुछ मौलिक सत्य है। पर काम-शक्ति का दमन क्यों होता है? इस प्रश्न का जो उत्तर युंग महाशय ने दिया है, वह फ्रायड महाशय के उत्तर से बहुत ही भिन्न है। फ्रायड महाशय का उत्तर हमें उतना संतोषजनक नहीं दिखाई देता, जितना कि युंग महाशय का उत्तर दिखाई देता है। फ्रायड के अनुसार उसका दमन विरोधी शक्ति अर्थात् विचार को अधिक काम में लाने से अपने आप ही होता है; और विक्षिप्तता इस दमन के कारण नहीं उत्पन्न होती वरन् विचार-शक्ति के अधिक खर्च हो जाने के कारण उत्पन्न होती है। जब विचार को ही सब काम करना पड़ता है, तो उसकी शक्ति का ह्रास हो जाता है और फिर उसके विपरीत स्वभाव की शक्ति अपने आप ही काम करने लगती है।

(५) संसार के प्रति दृष्टिकोण

युंग और फ्रायड महाशय में एक मौलिक भेद सांसारिक जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण था। फ्रायड महाशय जीवन के अन्त में हरबर्ट स्पेन्सर के समान निराशावादी हो गये थे। जड़वाद निराशावाद की ओर ले जाता है, यह इन महान व्यक्तियों के जीवन में देखा जाता है। जड़वादी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। जिस ओर प्रकृति मनुष्य को ले जा रही है, उससे रोकने के लिये नियतिवाद में कोई उपाय नहीं रह जाता। अब यदि जड़वादी के विचार किसी भले परिणाम की ओर न होकर, किसी बुरे परिणाम की ओर केन्द्रित हो जावें, तो फिर उसे इन विचारों से मुक्त करना असम्भव हो जाता है।

फ्रायड महाशय के कथनानुसार मानसिक रोग कामप्रवृत्ति के दमन का परिणाम है। पर यदि काम-प्रवृत्ति का दमन न किया जाय, तो न तो व्यक्ति का और न समाज का ही कल्याण होगा। काम-शक्ति के दमन से ही सभ्यता का विकास होता है। यदि काम शक्ति को मनमाने ढंग से प्रकाशित होने दिया जाय, तो मानव जीवन पशुवत् हो जायगा। जिस समय मनुष्य अपनी मूल प्रवृत्तियों को स्वच्छन्दतापूर्वक काम करने देगा, उस समय समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न हो जायगी और उसके कारण समाज के अस्तित्व

का रहना ही कठिन हो जावेगा। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य पशुओं से भी अधिक विनाश करने की योग्यता रखता है।

मानव-जीवन के प्रति युंग महाशय का दृष्टिकोण उक्त दृष्टिकोण के विरुद्ध था। वे आत्मा की सत्ता में विश्वास करते थे। पशु-जीवन में प्रकृति जीव के व्यवहारों को संचालित करती है, मानव-जीवन में स्वयं मनुष्य अपने जीवन को संचालित करता है। मनुष्य में विचार और स्वतंत्र इच्छा-शक्ति है। वह अपने आपको पशु अथवा देवता बना सकता है। अपने स्वभाव को भली प्रकार समझकर जो व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाओं का संचालन करता है, वह कदापि दुःखी न होगा। उसके निराशावादी होने का कोई कारण नहीं। जिस प्रकार एक मनुष्य अपने स्वभाव का भली प्रकार से अध्ययन करके अपने को स्वस्थ और सुखी बनाये रख सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण मानव-समाज भी अपने आपको सुखी और स्वस्थ बना सकता है। समाज को योग्य मार्ग पर चलाने की जिम्मेदारी समाज के नेताओं पर है। समाज की क्रियाओं में प्राकृतिक शक्तियाँ मात्र ही काम नहीं करतीं, मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा-शक्ति भी काम करती है। अपने विवेक के द्वारा मनुष्य समाज की प्राकृतिक शक्तियों का इस प्रकार उपयोग कर सकता है, जिससे कि समाज सुखी और समृद्धिशाली हो।

(६) अचेतन मन की पाशविकता

फ्रायड महाशय के कथनानुसार मनुष्य का अचेतन मन पाशविक है। मनुष्य के जीवन में जो भी उदारता और भलाई पाई जाती है, वह उसके चेतन मन तक सीमित रहती है। सदाचार की भावना चेतन मन में ही रहती है। मनुष्य के अचेतन मन में अनैतिकता, पाशविकता, स्वार्थभाव और भोग की इच्छाएँ रहती हैं। इस प्रकार के विचार मनुष्य के स्वभाव का चित्रण ऐसा करते हैं, जिससे वह वीभत्स दिखाई दे। इन विचारों के अनुसार जो मनुष्य अपने जीवन में जितना ही उदार और परमार्थी है, उसका अचेतन मन उतना ही अधिक स्वार्थी होता है। संत-महात्माओं का अचेतन मन एक साधारण मनुष्य के अचेतन मन से कहीं अधिक पाशविक होता है, क्योंकि संत लोग अपनी पाशविक भावनाओं का सदा दमन

किया करते हैं। फ्रायड महाशय के कथनानुसार मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव अथवा अचेतन मन नहीं, वरन् समाज के दंड का भय है। समाज के विचार ही मनुष्य की नैतिक भावनाएँ बन जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य की विवेक-बुद्धि का आधार सामाजिक भावनाएँ ही हैं। ये मनुष्य को बाहर से प्राप्त होती हैं। इन भावनाओं के कारण मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के मानसिक झंझट उत्पन्न होते हैं। बाहर से लादी जाने के कारण ये भावनाएँ मनुष्य की स्वतंत्रता का अनेक प्रकार से अपहरण करती हैं। फ्रायड की इस शिक्षा के कारण फ्रायडवादी सामाजिक बंधनों को व्यर्थ देखता है, और उसकी नैतिक भावनाओं के प्रति भी उपेक्षा का भाव रखता है।

(७) स्वप्न का अर्थ

युंग और फ्रायड महाशय में एक मौलिक भेद स्वप्न के अर्थ के विषय में है। फ्रायड महाशय ने स्वप्न का अर्थ लगाने के लिये एक विशेष प्रकार का विज्ञान बनाया है। स्वप्न दबी हुई वासना को सांकेतिक रूप में प्रगट करता है। इन संकेतों का अर्थ मनुष्य के अचेतन मन की दूसरी अवस्थाओं के प्रकाशन को देखकर लगाया जा सकता है। मनुष्य की बर्बर अवस्था में वे ही संकेत अचेतन भावना को प्रगट करने के लिये काम में लाये जाते हैं, जो स्वप्न में प्रकाशित होते हैं। फ्रायड महाशय के अनुसार स्वप्न का कारण व्यक्ति के पिछले अनुभवों में पाया जाता है। अर्थात् स्वप्न का सम्बन्ध मनुष्य के भूतकाल से रहता है। युंग महाशय का विचार इसके प्रतिकूल है। स्वप्न का अर्थ किसी एक वैज्ञानिक कोश के द्वारा नहीं जाना जा सकता। विभिन्न स्वप्न, विभिन्न प्रकार के संकेत काम में लाते हैं। एक संकेत को सदा अचेतन मन काम में नहीं लाता। कभी-कभी स्वप्न में अचेतन वासना अथवा भाव प्रत्यक्ष रूप से ही प्रगट होता है। दूसरे, स्वप्न का सम्बन्ध मनुष्य के पिछले अनुभव से ही नहीं रहता, उसका अर्थ भविष्य से ही अधिक रहता है। स्वप्न में मनुष्य को भावी जीवन के लिये आदेश मिलता है। यदि मनुष्य अपने स्वप्नों का भली प्रकार से अध्ययन करता रहे, तो वह जीवन में होनेवाली अनेक अवांछनीय घटनाओं से अपने

आपको बचा सकता है। आदेशात्मक स्वप्नों के महत्व को फ्रायड महाशय ने स्पष्ट नहीं किया। स्वप्न के द्वारा न केवल हम रोगी के अतीत जीवन और दलित भावना को जानते हैं, वरन् यह भी जानते हैं; कि उसे नीरोग बनाने के लिये किस उपाय को काम में लाना चाहिए। मनुष्य के सभी स्वप्न अस्पष्ट नहीं होते, कितने ही स्वप्नों का अर्थ सामान्य बुद्धि से लगाया जा सकता है। जो स्वप्न मनुष्य को बार-बार होते हैं,उनका मनुष्य के प्रतिदिन के व्यवहार और उसके जीवन की धारा के प्रवाह से विशेष संबंध रहता है। ऐसे स्वप्न हमें भूल से बचाने के लिये और कल्याणकारी मार्ग पर लाने के लिये होते हैं।

(८) मानसिक रोग

युंग और फ्रायड महाशय के मानसिक रोगों के प्रति भी भिन्न-भिन्न प्रकार के दृष्टि-कोण हैं। रोगों के प्रति फ्रायड महाशय का दृष्टि-कोण डाक्टरी दृष्टि-कोण है, युंग महाशय का दृष्टिकोण दार्शनिक है। डाक्टरों के अनुसार रोग से रोगी को कोई लाभ नहीं होता, वरन् उसके स्वास्थ्य को स्थायी हानि हो जाती है। दार्शनिक दृष्टि से रोग मनुष्य को अपनी भूलें स्वीकार कराने के लिये उत्पन्न होता है। जिस मनुष्य में आत्म-निरीक्षण की शक्ति नहीं होती, और जो अपने कुकृत्य को अपने आप नहीं सुधार सकता, उसे प्रकृति पीड़ा देकर ठीक मार्ग पर ले आती है। रोग गुमराह व्यक्ति को दंड देने के रूप में उत्पन्न होते हैं। उनका उद्देश्य मनुष्य को सच्चा मार्ग दर्शाना होता है। जब मनुष्य ठीक मार्ग पर चलने लगता है तो रोगों का अन्त हो जाता है। जिस प्रकार भारतीय दार्शनिक पुराने दुष्कर्म को वर्तमान कष्टों का कारण बताते हैं, उसी प्रकार युंग महाशय भी पुराने विचार-हीन जीवन को मानसिक रोगोंका कारण बताते हैं;और जिस प्रकार भारतीय दार्शनिकों के अनुसार भोग के द्वारा पुराने कर्मों के संस्कार नष्ट होते हैं, उसी प्रकार युंग महाशय स्वयं रोगों को भी स्वास्थ्य-लाभ का एक उपाय मानते हैं। मानसिक रोगों के द्वारा प्रकृति मनुष्य के मन में छिपे हुए मानसिक विकार को बाहर ले आती है। यह मानसिक विकार ही रोग है। जब तक यह मन के भीतर रहता है, तब तक मन में अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था रहती

है। जब यह बाहर आता है, तो भीतरी रोग अर्थात् मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तो नष्ट हो जाता है, पर मनुष्य का व्यवहार असाधारण हो जाता है। यही मानसिक रोग समझा जाता है। पर इस तरह रोग की उपस्थिति रोगी की विषम अवस्था को दूर कर देती है; और फिर रोगी अपनी साम्यावस्था में पहुँच जाता है। साम्यावस्था ही स्वास्थ्य है। इस तरह मानसिक रोग भी सभी को स्वस्थ बनाने का प्राकृतिक मार्ग है।

फ्रायड महाशय की अचेतन मन संबंधी खोजें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। पर उनका ढंग वैज्ञानिक था। अतएव आध्यात्मिक दृष्टि से उनके विचारों का महत्व इतना नहीं है, जितना कि युंग महाशय की खोजों और विचारों का है। सच्चे दार्शनिक को विज्ञान का सम्यक् ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है, पर विज्ञान तत्व-दर्शन नहीं करा सकता। विज्ञान से अन्ध-विश्वास नष्ट होता है, पर तत्व के विषय में वह हमें संशय की अवस्था में ही छोड़ देता है। तत्व-ज्ञान के लिये अन्ध-विश्वास का नष्ट होना आवश्यक है, पर संशय का नष्ट होना भी उतना ही आवश्यक है। एक अचल तत्व पर हम दर्शन के बिना नही पहुँच सकते।

(९) धर्म की उपयोगिता

फ्रायड और युंग महाशय में एक मौलिक भेद धर्म की मौलिकता और उपयोगिता के विषय में है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार धर्म एक प्रकार का भ्रम है। इसका अस्तित्व वैज्ञानिक ज्ञान के अभाव में ही रहता है, जब विज्ञान का प्रकाश आता है; तो धार्मिक विश्वासों का अन्त हो जाता है। मानव-जीवन में धर्म की कोई उपयोगिता नहीं। धार्मिक विश्वास मनुष्य को उन्नतिशील न बनाकर उसकी उन्नति में बाधक होते हैं। जिन लोगों में जितने ही अधिक धार्मिक विश्वास पाये जाते हैं, वे सभ्यता में उतने ही पिछड़े हुए होते हैं।

युंग महाशय के विचार इन विचारों के प्रतिकूल हैं। उनके कथनानुसार, धर्म मनुष्य की एक मौलिक भावना के ऊपर आधारित है। वह उसके स्वभाव के एक अंग की पूर्ति करता है। धर्म के द्वारा मनुष्य की एक ऐसी आवश्यकता की पूर्ति होती है, जो अन्य प्रकार से नहीं हो सकती।

मनुष्य के अनेक प्रकार के दुःखों का नाश धर्म से ही हो सकता है। शारीरिक दृष्टि से मनुष्य एक ओर अपने माता-पिता से बद्ध है और दूसरी ओर अपने बच्चों से। उसका सुख विषयानन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य परमात्मा से सम्बन्धित है, और परमात्मा के प्राप्त करने में ही उसे सांसारिक भोगों और तज्जनित दुःखों से मुक्ति मिल सकती है[1]। मनुष्य के अनेक प्रकार के मानसिक क्लेशों का कारण उसके जीवन में धार्मिक भावनाओं का अभाव होता है। कई प्रकार की मानसिक बीमारियाँ सर्वव्यापी चेतन सत्ता की शरण में जाने से नष्ट हो जाती हैं। इस सत्ता के अस्तित्व को हम विज्ञान के द्वारा भले ही प्रमाणित न कर सकें, तो भी हमें उसे मानना पड़ेगा। युंग महाशय के अनुसार वैज्ञानिक विचार ज्ञान का एक अंग है, उसके दूसरे अंग भी हैं और इनके द्वारा चेतन सत्ता का अस्तित्व प्रमाणित होता है[2]।

फ्रायड महाशय आत्मा और धर्म में विश्वास के साथ पुनर्जन्म में विश्वास को भी व्यर्थ समझते थे। युंग महाशय पुनर्जन्म में विश्वास का मूल्य करते थे। इस प्रकार का विश्वास मनुष्य के जीवन को शान्त और सुखी बनाने के लिये आवश्यक माना गया है। जब मनुष्य को पुनर्जन्म का

---

1 "It is not the children of the flesh, but 'the children of God' who know freedom" Ibid 140.

2 "Scientific thought, being one of its faculties, can never exhaust all the possibilities of life. The psychotherapist must not allow his vision to be viciated by the glasses of pathology; he must never allow himself to forget that the ailig mind is a human mind and that, for all its ailments, it shares in the whole of psychic life of man. The psychotherapist must even be able to admit that the ego is ill for the very reason that it is cut off from the whole, and has lost contact with mankind, as well as, with the spirit"—

The Modern Man in Search of the Soul p. 141

निश्चय होता है, तो वह मृत्यु को भयावने रूप में नहीं देखता, वरन् उसे वह स्वाभाविक जीवन की एक स्थिति मानता है; जो कि आत्मा के खेल के लिये आवश्यक है। पुनर्जन्म का विश्वास मनुष्य को अपनी रुग्णावस्था से मुक्त करने में सहायक होता है[1]। मनुष्य पुनर्जन्म का विश्वास होने पर मृत्यु को भुलाने की चेष्टा नहीं करता वरन् उसका शान्ति के साथ सामना करता है। पुनर्जन्म में विश्वास करनेवाला व्यक्ति इस बात के लिये उत्सुक नहीं रहता कि वह संसार के सभी सुखों का उपभोग इसी जन्म में ही कर ले। इसके प्रतिकूल जो व्यक्ति मृत्यु के होने में अपना सर्वस्व खो जाना मान बैठता है, वह विषय-भोग से कभी भी विरत नहीं होना चाहता। वास्तव में विषय-भोग के इच्छुक व्यक्ति इस संसार को सत्य, और मृत्यु के होने पर मनुष्य का सर्वनाश होना मानते हैं। जिन व्यक्तियों की ऐसी मनोवृत्ति होती है, वे मृत्यु का विचार भी अपने मन में नहीं आने देते।

---

1. As a physician I am convinced that it is hygienic, if I may use the word, to discover in death a goal towards which one canstrive; and that shrinknig away from it is something unhealthy and abnormal which robs the second half of life of its purpose. I therefore consider the religious teaching of a life hereafter consonant with the stand point of psychic hygiene. When I live in a house which I know will fall about my head within the next two weeks, all my vital functions will be impaired by this thought; but if on the contray I feel myself to be safe, I can dwell there in a normal and comfortable way. From the stand-point of psychotherapy it would therefore be desirable to think of death as only a transition from one part of a life process to another whose extent and duration escape our knowledge.

The modern Man in Search of a Soul.-ibid" p.129.

दूसरा प्रकरण

मन के स्तर

पुराने समय में सम्पूर्ण मन को एक-सा पदार्थ मान लिया गया था। इसके विभिन्न स्तर नहीं माने गये थे। पर आधुनिक मनोविज्ञान में मन के अनेक स्तर माने गये हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की सबसे महत्व की खोजें मनोविश्लेषण विज्ञान की हैं।

मन के दो भाग

मनोविश्लेषण विज्ञान के जन्मदाता फ्रायड ने मनुष्य के मन को दो विभागों में विभक्त किया है—एक दृश्य अथवा चेतन मन; और दूसरा अदृश्य अथवा अचेतन मन। मन के उन दोनों भागों के बहुत से लक्षण एक दूसरे के विपरीत हैं। चेतन मन, अथवा दृश्य मन जाग्रत-प्रमाता का नाम है। यह अहंकारमय है। उसे मान-प्रतिष्ठा तथा भले-बुरे का ज्ञान रहता है। यही मन समाज तथा बाह्य जगत से हमारा सम्बन्ध जोड़ता है, और इसी के द्वारा व्यक्ति समाज में योग्य व्यवहार करता है। पाप-पुण्य का करनेवाला यही मन है। सुख और दुख का भोक्ता भी यही मन है।

चेतन मन के परे अचेतन मन है। इस मन का स्वरूप स्वप्नावस्था अथवा उन्माद की अवस्था में देखा जाता है। यह मन अत्यन्त स्वार्थी है। यह नैतिकता का कोई प्रतिबन्ध नहीं मानता। यह सभी पाशविक प्रवृत्तियों का मूल स्रोत है। जैसे पशुओं को भले-बुरे का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही इस मन को भी भले-बुरे का विचार नहीं होता। यह बड़ा शक्तिशाली है। यह चेतन मन को अपना नौकर बनाकर अनेक प्रकार के काम उसके द्वारा कराता है। साधारणतः चेतन मन इस मन के बस में न रहने की चेष्टा करता है; पर यदि चेतन मन उसकी इच्छाओं की पूरी अवहेलना करे तो यह मन उसे शांत नहीं रहने देता। चेतन और और अचेतन मन में झगड़ा लग जाने से अनेक प्रकार की मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ

उत्पन्न हो जाती हैं। जब चेतन मन में अपनी तृप्ति के लिये किसी प्रकार की प्रबल वासना आती है, और वह उस मन-द्वारा दबा दी जाती है; तो वह अचेतन मन में ही वापस आ जाती है। ये वासनाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व को सदा अशान्त बनाये रखती हैं। अनेक प्रकार की असाधारण भूलें मनुष्य इन्हीं के कारण करता है। ये मनुष्य की अचेतनावस्था में निकल पड़ती हैं। यदि चेतन और अचेतन मन में संघर्ष अधिक प्रबल हो, तो मनुष्य का व्यक्तित्व निर्बल हो जाता है। ऐसे मनुष्य को अनेक प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं।

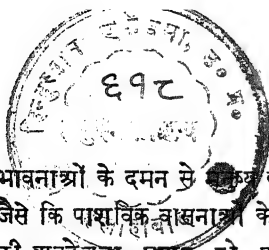
प्रतिहारी

चेतन और अचेतन मन के बीच अर्धचेतन नैतिक मन है। यह प्रतिहारी कहलाता है। अचेतन मन की अनैतिक वासनाओं को चेतन मन में आने से यह अर्धचेतन मन, जिसे सेंसर अथवा सुपरईगो कहा जाता है, रोकता है। अचेतन मन बहुमुख है, इसकी तृष्णा का अन्त नहीं है। यदि इस मन को मनमाना करने दिया जाय, तो मनुष्य का जीवन पशुवत् हो जाय। मनुष्य को इस प्रकार नीचे गिरने से उसका नैतिक मन बचाता है। फ्रायड महाशय के अनुसार अचेतन मन की प्रधान वासना काम वासना है। यही वासना रूपान्तरित होकर अनेक तरह से अपनी तृप्ति के लिये चेतन मन के समक्ष आती है। मनुष्य की सुपरईगो (नैतिक मन) इस वासना को उसे नग्नरूप में चेतना के समक्ष नहीं आने देती। इस सुपरईगो का कार्य स्वप्नावस्था में भी होता रहता है। इसीलिये स्वप्न बे-सिर-पैर के-से दिखाई पड़ते हैं। वास्तविक स्वप्न प्रत्यक्ष स्वप्न से भिन्न रहता है। हमारी जाग्रतावस्था में दबी हुई वासनाएँ गुप्त रूप से अपनी तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं; जिससे मनुष्य के जीवन में नैतिक प्रतिबन्ध अत्यधिक होने पर उसकी अनेक वासनाएँ अतृप्त ही रह जाती हैं। ये वासनाएँ मनुष्य को शान्त नहीं रहने देतीं। उसका मन सदा विक्षिप्त-सा रहता है। वह हरएक काम में कुछ-न-कुछ भद्दापन कर देता है। उससे अनेक साधारण भूलें होती हैं। दूसरी तरफ जिस व्यक्ति के जीवन में नैतिक प्रतिबन्ध का अभाव रहता है, वह समाज-द्वारा तिरस्कृत हो जाता है। वह अपनी कोई भी आध्यात्मिक

उन्नति कर ही नहीं सकता। सभ्यता का विकास अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को विवेक से रोकने में ही है। व्यक्तित्व-विच्छेद से बचने के लिये अपनी पाशविक इच्छाओं को मनमानी करने देने की सलाह देना, मनुष्य को पशुवत् बनाना है। कितने ही नवयुवक मनोविश्लेषण-विज्ञान की पुस्तकें पढ़कर अपने चरित्र का नाश कर डालते हैं। इसका कारण यही है कि इस विषय पर लिखी हुई बहुत सी पुस्तकें, काम-भावना का अप्रत्यक्ष रूप से उद्दीपन करती हैं; और उस वासना की तृप्ति के लिए साधारण नैतिकता-द्वारा वर्जित मार्ग को ग्रहण करने से नहीं रोकतीं। इन लोगों के कथनानुसार नैतिकता के समस्त प्रतिबन्ध समाज-संस्कार-जन्य हैं। समाज के दंड का भय ही सुपरईगो बन जाता है; और मनुष्य को स्वेच्छानुसार वासनाओं की तृप्ति में बाधा डालता है। एकान्तवादी मनोविश्लेषकों के अनुसार इस प्रकार के भय से अपने आपको मुक्त करना बुरा नहीं है, अपितु वांछनीय है।

अचेतन मन के दो भाग

युंग महाशय के अनुसार अचेतन मन के दो भाग हैं; एक व्यष्टि-संबंधित और दूसरा समष्टि-संबंधित। व्यष्टि अचेतन मन अनैतिक है, किन्तु समष्टि अचेतन मन नैतिक है। समष्टि अचेतन मन समाज की उन सब प्रवृत्तियों का आश्रय है, जिनसे कि समाज जीवित रहता है। जन्म से ही प्रत्येक व्यक्ति में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती हैं एक वे जो उसे स्वार्थी बनाती हैं और दूसरी वे जो उसे परमार्थी बनाती हैं। यदि मनुष्य में दूसरे की सेवा का भाव जन्म से ही न हो, तो वह किसी तरह पैदा नहीं किया जा सकता। दूसरे के हित को चाहने का भाव उतनी ही दृढ़ता से प्रत्येक मनुष्य में है, जितना कि स्वार्थचिन्तन का भाव। मनुष्य के जीवन के लिये इन दोनों प्रकार के भावों की आवश्यकता है। अतएव जो मनुष्य नैतिकता की अवहेलना करता है वह अपने स्वभाव के ही प्रतिकूल जाता है। ऐसे व्यक्ति से समाज बदला तो लेता ही है; स्वयं उसके मन में भी अंतर्द्वन्द्व चलने लगता है। उसका वैयक्तिक अचेतन मन, जो कि पाशविक है, और सामष्टिक अचेतन मन, जो कि नैतिक है, आपस में झगड़ते हैं। यह संग्राम ही देवासुर-संग्राम के नाम से पुराणों में वर्णित होता है। अपनी नैतिक



भावनाओं के दमन से मनुष्य का व्यक्तित्व उसी प्रकार विक्षिप्त होता है, जैसे कि पाशविक वासनाओं के दमन से। इतना ही नहीं, नैतिक भावनाओं की अवहेलना मनुष्य को परावलम्बी, असहाय और मनुष्यत्वहीन कर देती है।

सर्वव्यापी मन

उपर्युक्त मन का भाग, जो सामष्टिक भावनाओं से संबंध रखता है, मन की तीसरी तह है। आधुनिक मनोविज्ञान यहीं तक पहुँचा है। उसके परे सब शक्तियों का मूल-केन्द्र, सृष्टि का रचयिता, सबका हित चाहनेवाला सर्वव्यापी मन है। जो मनुष्य इसकी आवाज को पहचानता है, वह कदापि किसी प्रकार की भूल नहीं करता। भविष्य में होनेवाली घटनाएँ बीजरूप से इस मन में वर्त्तमान रहती हैं। यह मन एक ओर हमारे वैयक्तिक मन में किसी विशेष प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न करता है, और दूसरी ओर उस सृष्टि को रचता है; जिसमें वह प्रेरणा फलित होती है। यही विराट् पुरुष के नाम से भारतीय शास्त्रों में विख्यात है। अर्जुन ने इसीका साक्षात्कार महाभारत-युद्ध के समय किया था। जब हमारा व्यक्तिगत मन विराट् मन से एकरस रहता है, तो हमारा जीवन शान्तिमय रहता है; और हमारी शक्ति भी अपार रहती है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय हम अद्भुत काम करनेमें समर्थ होते हैं, तो इसी मन की कृपा से होते हैं। जो मनुष्य जितना अधिक अहंभाव को मारता है, वह उतना ही अधिक इस मन के समीप पहुँचता है। योगी लोग इसका साक्षात्कार अपनी योग-क्रियाओं से करते हैं। इसका साक्षात्कार होने पर योगियों को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

सर्वव्यापी मन सब का हित चाहनेवाला है। अतएव मैत्री-भावना का अभ्यास इस मन के समीप पहुँचने का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मैत्री-भावना से हम अपने व्यक्तित्व को सामष्टिक जीवन में मिला देते हैं। जो मनुष्य जिस समय जैसी भावना करता है, वह उस समय उसी रूप में हो जाता है। जिस समय हम अपने मन में दृढ़ता से सबके सुख की भावना को धारण करते हैं, उस समय हम सर्वात्मा में लीन हो जाते हैं, अथवा तदनुरूप बन जाते हैं।

हिंसक जन्तु भी मैत्री-भावना से पूरित व्यक्ति के मित्र बन जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति मैत्री-भावना के समय हमें मारने आवे, तो वह मारने का अवसर ही न पावेगा। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण सर्वात्मा ही है, जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है।

ऊपर बताये मन के परे प्रपंच-शून्य शान्त स्थिति है। यहाँ न कोई क्रिया है, न विचार। ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ का भेद यहाँ नहीं है। इसको चाहे आत्मा कहा जाय, चाहे सच्चिदानन्द अथवा मन की सबसे ऊँची सीढ़ी। यह मन वैयक्तिक मन नहीं है। हमारी धारणा साधारणतः यह रहती है कि प्रत्येक व्यक्ति का मन उसके शरीर के अन्दर है। शरीर से मुक्त मन का विचार पश्चिमी विद्वानों में अभी तक आया ही नहीं। पश्चिमी तत्वविज्ञान अवश्य यह कहता है कि मन शरीर में नहीं है, शरीर मन में है। परन्तु इस निष्कर्ष पर अभी तक वहाँ का मनोविज्ञान नहीं पहुँचा है। भारतवर्ष में मनोविज्ञान तत्वविज्ञान से उतना भिन्न नहीं है, जितना पश्चिम में देखा जाता है। वे दोनों एक ही हो जाते हैं। जो सिद्धान्त तत्वविज्ञान विचार-मात्र से स्थिर करता है उसे मनोविज्ञान अनुभव द्वारा सिद्ध करता है। वे एक दूसरे के पूरक हैं। भारतवर्ष का तत्वविज्ञान सर्वात्मा, एक ब्रह्म की सिद्धि करता है। वह ब्रह्म हमारी आत्मा ही है। मनोविज्ञान के द्वारा अपने अनुभव से हम इस तत्व को समाधि-अवस्था में देख सकते हैं। पश्चिम के विद्वानों के लिये यह अवस्था एक नशे जैसी विचित्र मन की अवस्था है। इसके संबंध में सर्वव्यापी तत्व की बात करना पागलपन है। इस प्रकार का कथन उनके मन के भीतरी स्तरों के अज्ञान का परिचायक है। पर वह समय अवश्य आवेगा जब हम इस मन के पंचम स्तर की भी खोज वैज्ञानिक रूप से कर लेंगे। इस खोज के करने पर मनुष्यों का कितना कल्याण होगा—इसे कह सकना यहाँ सम्भव नहीं है।

तीसरा प्रकरण

मानसिक प्रतिक्रियाएँ

साधारण और असाधारण प्रतिक्रियाएँ

मनुष्य सदा वातावरण के ऊपर अपनी प्रभुता स्थापित करने की चेष्टा करता रहता है। उसकी उन्नति प्रकृति के ऊपर विजय प्राप्त करने में ही है। जो व्यक्ति जितनी दूर तक बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है, वह उतना ही बलवान होता है। इसी प्रकार मनुष्य को अपनी आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना आवश्यक होता है। स्वस्थ पुरुष एक ओर अपना सामञ्जस्य बाह्य प्रकृति से स्थापित करने में समर्थ होता है और दूसरी ओर वह अपनी आन्तरिक प्रकृति से भी सामञ्जस्य स्थापित करने में समर्थ होता है।

किसी प्रकार के सामञ्जस्य का अभाव अस्वास्थ्य का लक्षण है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये बाह्य जगत से सामञ्जस्य स्थापित करना उतना आवश्यक नहीं, जितना कि आन्तरिक-जगत से सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक है। बाह्यजगत की असफलता प्रायः आन्तरिक असफलता का परिणाम होता है। जो व्यक्ति अपने आपमें सन्तुष्ट नहीं है, वह अपने से बाहर के वातावरण में भी असन्तोष के अनेक कारण पाता है। वातावरण पर विजय प्राप्त करने अथवा सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा करना, अपने आप पर विजय प्राप्त करने अथवा सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा का व्यक्त रूप है। मानसिक विषमता का कारण अपने आपसे सामञ्जस्य स्थापित न कर सकना है।

साधारणतः मानसिक विषमता अथवा असाधारणता उन्हीं लोगों में पाई जाती है, जो सांसारिक जीवन में भी असफल होते हैं। किन्तु कुछ लोग सांसारिक जीवन में सफल होते हुए भी अपने आन्तरिक जीवन में

असफल रहते हैं, अतएव उनमें असाधारणता पाई जाती है। इसी प्रकार कुछ लोग सांसारिक दृष्टि से असफल रहते हुए भी आन्तरिक जीवन में सफल रहते हैं। संसार के लोग उन्हें असफल व्यक्ति कहते हैं, पर उनमें किसी प्रकार की असाधारणता नहीं आती।

असाधारणता उन लोगों में नहीं आती, जो अपनी त्रुटियों अथवा सीमाओं को समझकर उनसे पार हो जाने की चेष्टा करते हैं। अपनी असफलता को स्वीकार कर लेने पर मनुष्य में कुछ समय के लिये नैराश्य का भाव अवश्य आ जाता है, परन्तु उसमें मानसिक असाधारणता नहीं आती। ऐसा व्यक्ति अपनी त्रुटियों को पार कर जाता है, और अपनी असफलता को सफलता की सीढ़ी बना लेता है। असाधारणता अपने आपको मिथ्या संतोष देने से उत्पन्न होती है। जब मनुष्य अपने आपको ही किसी प्रकार से धोखा देने की चेष्टा करता है, तो वह मानसिक विषमता की स्थिति को उत्पन्न कर लेता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य के मन के दो भाग हैं— एक आन्तरिक और दूसरा बाहरी। आधुनिक मनोविज्ञान ने आन्तरिक मन को अचेतन मन, और बाहरी मन को चेतन मन कहा है। जब तक मन के इन दोनों भागों में सामञ्जस्य रहता है, तब तक मनुष्य के आचरण तथा मानसिक प्रतिक्रियाएँ साधारण होती हैं; किन्तु जब मन के इन भागों में विषमता उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य के आचरण और विचार विलक्षण हो जाते हैं। जब मनुष्य का भीतरी मन अहंकारवश अपनी वास्तविक स्थिति को स्वीकार करना नहीं चाहता, तो मनुष्य के जीवन में अनेक प्रकार की असाधारणता उत्पन्न हो जाती हैं।

मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को अपनी गरीबी को स्वीकार करना बुरा लगता है; वह इस दुःखद स्थिति को भुलाने की चेष्टा करता है। उस व्यक्ति का बाहरी मन बार-बार प्रयत्न करने पर अपनी दुःखद स्मृति को भूल जाता है। परन्तु मनुष्य को अपने आन्तरिक मन में अपनी गरीबी का ज्ञान रहता है, और उसकी गरीबी की स्मृति बार-बार चेतना पर

कमी थी। सिकन्दर की गर्दन टेढ़ी थी; चिंगेज खाँ, जूलियस सीजर और अकबर मिर्गी के रोगी थे; नेपोलियन नाटा था।

जिस प्रकार शारीरिक कमी की आन्तरिक अनुभूति मनुष्य को विलक्षणता का कारण बन जाती है, उसी प्रकार मनुष्य की नैतिक कमी की आन्तरिक अनुभूति भी अनेक प्रकार की मानसिक विलक्षणता का कारण हो जाती है। इस प्रकार की विलक्षणता के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य में वास्तविक कमी है अथवा नहीं। यह कमी कल्पित ही क्यों न हो, पर उसकी अनुभूति को स्वीकार करने की अनिच्छा मात्र पर्याप्त है। जब मनुष्य का मन अपनी वास्तविक योग्यता से सन्तुष्ट नहीं रहता, तो वह अपने आपमें विशेष योग्यना की कल्पना करता है; और इससे मिथ्या आत्म-सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कभी-कभी अपनी कल्पित नैतिक कमी मनुष्य को घोर तपस्वी अथवा नैतिक क्षेत्र में सबका अनुशासक बनने के लिये बाध्य करती है। दूसरे के सुधार की मनोवृत्ति का आधार अपनी विस्मृत नैतिक कमी की भावना होती है।

जब कोई मनुष्य समाज में प्रचलित नैतिक नियमों के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है तो उसमें आत्म-भर्त्सना की भावना उत्पन्न हो जाती है; अर्थात् नैतिकता मनुष्य को अपने पाप के लिये प्रायश्चित्त करने के लिये हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करती है। यह प्रेरणा पश्चात्ताप की भावना के रूप में भूल करनेवाले व्यक्ति के मन में उदय होती है। यह पहली क्रिया की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त के द्वारा मनुष्य अपनी खोई हुई शान्ति को फिर से प्राप्त कर लेता है; अर्थात् उसका नैतिक स्वत्व फिर पहले जैसा ही प्रबल हो जाता है और उसकी पाशविक मनोवृत्तियाँ निर्बल होकर नैतिक बुद्धि के नियंत्रण में आ जाती हैं। पर साधारणतः मनुष्य अपनी भूलों की दुःखद स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है। वह प्रयत्न करने पर इस स्मृति को भूल जाता है। पर इस विस्मरण के प्रयत्नस्वरूप उसके चेतन मन में विलक्षण प्रतिक्रियाएँ होने लगती हैं। वह जितना ही अपनी आन्तरिक अनुभूति में अपने आपको दूसरों से कम पाता है, वह उतना ही अधिक अपने प्रत्यक्ष आचरण द्वारा

अपने आपको दूसरों से नैतिकता में अधिक उच्च सिद्ध करने की चेष्टा करता है। अपने पुराने कुकृत्य की वेदनापूर्ण अनुभूति को भुलाने के लिये इस प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया का होना नितान्त आवश्यक है। कठोर तपस्या की प्रवृत्ति उन्हीं लोगों में पाई जाती है, जिनके जीवन में अति विलासिता की प्रवृत्ति का दमन रहता है। ऐसे लोग विलासिता के कारण नैतिकता के प्रतिकूल कोई आचरण अपने प्रारम्भिक जीवन में कर बैठते हैं। इससे उनके मन में आत्म-भर्त्सना उत्पन्न होती है। इसकी स्मृति बड़ी दुःखद होती है। इसे भुलाने के लिये अनेक प्रकार की मानसिक विलक्षणता मनुष्य के व्यवहार में आ जाती है। इसके कारण कभी-कभी मनुष्य नैतिकता के प्रति ही उदासीन हो जाता है और नैतिकता को व्यर्थ वस्तु मानने लगता है। कभी वह अति-नैतिक बन जाता है। कभी विस्मृत आत्म-सन्ताप की भावना शारीरिक रोग के रूप में अथवा किसी प्रकार के उन्माद के रूप में प्रगट होती है। कनवर्सन हिस्टीरिया (रूपान्तरित उन्माद) इसी प्रकार की मानसिक प्रतिक्रिया का परिणाम है।

दमन

मानसिक प्रतिक्रियाओं में प्रमुख दमन की प्रतिक्रिया है। आधुनिक मनोविज्ञान ने दमन की प्रतिक्रिया पर जितना प्रकाश डाला है उतना पहले कभी नहीं डाला गया था। मानसिक प्रवृत्तियों का दमन एक ओर मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का कारण होता है और दूसरी ओर इसके कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। संसार के सभी महान् पुरुषों में अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का अति दमन साधारण-तया पाया जाता है। इसी प्रकार समाज के विक्षिप्त पुरुषों में भी प्राकृतिक प्रवृत्तियों का दमन पाया जाता है।

मनुष्य में वे सभी प्रवृत्तियाँ हैं जो पशुओं में पाई जाती हैं। इन प्रवृत्तियों में कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जिनका अनियंत्रित प्रकाशन समाज में बुरा नहीं समझा जाता और कुछ ऐसी हैं जिनका प्रकाशन समाज में निन्द्य है। समाज कामवासना के प्रकाशन को निन्द्य समझता है, अतएव मनुष्य के जीवन में अधिकतर काम-प्रवृत्ति का ही दमन होता है।

कामवासना-संबंधी बातचीत करना भी अनुचित समझा जाता है। समाज का यह भाव मनुष्य के भीतरी मन में स्थान पा लेता है। इसके कारण काम-वासना की तृप्ति की कोई भी क्रिया, बातचीत आदि शर्म के कारण बन जाते हैं। यदि किसी व्यक्ति से काम-वासना के क्षेत्र में अनुचित बात हो जाय तो उसके लिये उसे आत्मग्लानि होती है। फिर यह अनुभव एक नये प्रकार के दमन का कारण बन जाता है। अब मनुष्य उस प्रवृत्ति के दमन के बदले उसकी तृप्ति के अनुभव की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करने लगता है।

समाज में रहने से मनुष्य में आत्म-सम्मान का भाव आता है। यही उस मनुष्य का नैतिक स्वत्व कहलाता है। जब कोई व्यक्ति अपने नैतिक स्वत्व के प्रतिकूल आचरण करता है तो वह ऐसे आचरण को भुलाने की चेष्टा करता है। ऐसे आचरण की स्मृति उसके मन में आत्मग्लानि उत्पन्न करती है। इस आत्मग्लानि की पीड़ा से बचने की इच्छा ही पुराने अनुभव को भुलाने का कारण होती है।

हमारी मानसिक प्रवृत्तियों का दमन दो प्रकार से होता है—एक जान-बूझकर और दूसरे अनजाने। जान-बूझकर जो मानसिक प्रवृत्तियों का नियंत्रण किया जाता है साधारणतः उसे ही दमन कहा जाता है। पश्चिम में और भारतीय दर्शन में इसी प्रकार के दमन को दमन की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार का दमन उपादेय है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपनी मानसिक प्रवृत्तियों को अपने नियंत्रण में रख सकता है वह उतना ही महान् व्यक्ति कहलाता है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति जान-बूझकर अपनी प्रवृत्तियों को दबाने से दृढ़ होती है। चरित्र-गठन अपनी प्रबल पाशविक प्रवृत्तियों के दमन से होता है। सांसारिक-जीवन की सफलता भी इसी प्रकार के दमन पर निर्भर करती है।

जान बूझकर दमन से भिन्न मानसिक प्रवृत्तियों का अज्ञात् दमन है। यह दमन मानसिक स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होता है। अज्ञात् दमन में मनुष्य न तो उस प्रवृत्ति को जानता है जिसका वह दमन करता है और न दमन करनेवाली सत्ता को ही जानता है। दमन करनेवाली वस्तु मनुष्य

की कोई पाशविक प्रवृत्ति होती है। यह अधिकतर काम-वासना ही होती है और दमन करनेवाली सत्ता मनुष्य का नैतिक स्वत्व होता है जिसे हमने प्रतिहारी (सेन्सर) के नाम से पुकारा है। मनुष्य का नैतिक स्वत्व उसी प्रकार अनेक प्रकार की भावनाओं का बना है जिस प्रकार उसका प्राकृतिक स्वत्व अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों का बना हुआ है। मनुष्य अपने नैतिक स्वत्व को स्वीकार करता है। वह उसे अपना आदर्श स्वत्व मानता है। परंतु उसे अपने पूरे नैतिक स्वत्व का ज्ञान नहीं रहता। वह कभी-कभी किसी पुरानी भावना को भी अपने नैतिक स्वत्व का अंग बनाये रखता है। उसे इस भावना का ज्ञान नहीं रहता। यह भावना उसकी किसी प्रवृत्ति का अथवा उससे संबंधित स्मृति का दमन करती है। यह दमन अज्ञात रूप से होता है। ऐसा दमन ही अनेक प्रकार के मानसिक झंझटों का कारण बन जाता है।

मान लीजिए कोई बालक आम की चोरी करने के लिये पीटा जाता है। उसे इसके कारण भारी आत्म-संताप होता है। पीछे वह इस घटना को भुलाने की चेष्टा करता है। वह उक्त घटना को भुलाने में तो समर्थ होता है, परंतु उसे युवावस्था में अकारण भय उत्पन्न हो जाता है। आम को देखते ही उसे डर लगने लगता है अथवा आम खाने से उसे उलटी हो जाती है। उक्त बालक का वर्तमान आचरण अब उच्च कोटि का है। उसमें चोरी करने की प्रवृत्ति नहीं है और वह पुरानी घटना के ऊपर हँस सकता है, पर यह घटना स्मृति-पटल पर नहीं आती, अतएव वह अनेक प्रकार के मानसिक झंझटों का कारण बन जाती है।

हमारे पास मानसिक चिकित्सा के लिये आये हुए एक नवयुवक को अकारण भूत का डर था। वह इस डर के मारे रात को अपने कमरे के बाहर नहीं निकल सकता था। इस युवक के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे समलिंगी व्यभिचार से भय हो गया था। इसका कारण उसका बचपन का अनुभव था। इस अनुभव को उसकी आत्म-सम्मान की भावना स्मृति-पटल पर नहीं आने देती थी। जब यह भावना स्मृति-पटल पर लाई गई तो उसके भूत के भय का निवारण हो गया। यहाँ भूत का भय

समलिंगी प्रेम के दमन के कारण उत्पन्न हुआ था। यह दमन का कार्य मनुष्य के अचेतन मन में होता था। समलिंगी प्रेम पुराने अप्रिय अनुभव के कारण घृणा में परिणत हो गया था और फिर यही घृणा भूत का भय बन कर मनुष्य की चेतना के समक्ष आती थी। यह व्यक्ति एक ओर उन सभी लोगों से घृणा करता था जो उसके साथ समलिंगी कृत्य करनेवाले व्यक्ति से मिलते जुलते थे और दूसरी ओर उसे भूत का भय था।

लेखक के एक छात्र को अकारण सर्प का भय हो गया था। इस भय का कारण खोजने से पता चला कि उसके अचेतन मन में काम-वासना के प्रति प्रबल घृणा का भाव वर्तमान था। इस छात्र का नैतिक मन काम-वासना के प्रति घृणा के द्वारा छात्र के अनजाने ही उसकी इस वासना का दमन करता था। फिर यह वासना सर्प के भय के रूप में उसकी चेतना के समक्ष प्रगट हुई। जब भी उसकी काम-वासना उत्तेजित होने की अवस्था में आती थी तो उसका सर्प का भय प्रबल हो जाता था। इस तरह किशोरावस्था में समलिंगी व्यभिचार में फँसनेवाले अथवा हस्त-मैथुन करने वाले बालकों में प्रौढ़ावस्था में कीड़ा-मकोड़ा, गन्दगी या साँप छछूँदर का असाधारण भय उत्पन्न हो जाता है। इन युवकों का आत्म-सम्मान का भाव अपनी पुरानी आत्मग्लानि के कारण अनैतिक अनुभूतियों को चेतना की सतह पर नहीं आने देता। फिर इस प्रकार दमित वासना प्रतीक रूप से चेतना की सतह पर आती है। साँप से डरने का अर्थ काम-वासना से डरना है। इसी के उद्गम से मनुष्य के स्वाभिमान को धक्का लगा था। और जब भी यह धक्का लगने की संभावना फिर से होती है तो युवक को डर लगता है। परन्तु अब वह काम-वासना से सीधे डरने की अपेक्षा उसके प्रतीक से डरता है।

एक युवक को इसी प्रकार का अकारण भय साँप का था। उसकी बाल्य काल की जीवनी के अध्ययन से पता चला कि एक युवक ने उसकी किशोवस्था में कामोत्तेजित करके अपनी जननेन्द्रिय पकड़ा दी थी। इससे इस बालक को काफी आत्म-ग्लानि हुई थी। अब बालक अपनी पुरानी स्मृति को तो भूल गया, परन्तु उसे युवावस्था में अकारण साँप का भय उत्पन्न

हो गया। पुरानी स्मृति के मानस-पटल पर आ जाने पर उसका यह भय जाता रहा। इस प्रकार के दमन को समाप्त करने के लिये मनुष्य की पुनः शिक्षा करनी पड़ती है और उसे अपनी वासना के प्रति दृष्टिविन्दु परिवर्तित करना पड़ता है।

कितने ही नव-युवकों को अकारण आत्म-भर्त्सना के विचार आते रहते हैं और कितनों को अकारण भय, चिन्ताएँ और अप्रिय विचार त्रास दिया करते हैं। इन सबका कारण किसी अज्ञात मानसिक प्रवृत्ति का अज्ञात रूप से दमन होता है। आधुनिक मनोविज्ञान का मुख्य उद्देश्य इस अज्ञात दमन को स्पष्ट करना है।

मनुष्य के अधिक दुःख अपने विचारों के वश में न रहने के कारण ही होते हैं। परंतु हम अपने विचारों को तब तक वश में नहीं कर सकते जबतक हम उन नियमों को नहीं जानते जो हमारी मानसिक क्रियाओं का संचालन करते हैं। प्रकृति पर विजय तभी प्राप्त की जा सकती है जब हम प्रकृति के नियमों को जानें। जिस प्रकार बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिये बाह्य प्रकृति के नियमों का जानना आवश्यक है, इसी प्रकार अपनी आन्तरिक प्रकृति के नियमों को जानना अपने विचारों को काबू में लाने के लिये आवश्यक है। जो मनुष्य जितना ही अधिक बाह्य जगत् के बारे में सोचता है वह उतना ही बाह्य जगत् के व्यवहारों में सफल होता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति जितना ही अधिक मानसिक क्रियाओं के बारे में सोचता है वह उतना ही अधिक अपने को शान्तिमय बनाने में सफल होता है।

दमन और मानसिक ग्रन्थि

किसी वासना का दमन मानसिक ग्रन्थि का कारण बन जाता है। प्रत्येक वासना एक मानसिक शक्ति है। इस मानसिक शक्ति का सदुपयोग होने से वह मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ाती है। जब उसकी शक्ति का दमन अथवा दुरुपयोग होता है तो मनुष्य का मानसिक बल नष्ट हो जाता है। दलित वासनाएँ राज्य के विद्रोही व्यक्तियों के समान होती हैं। यदि राज्य इन लोगों को सदा नष्ट करने की चेष्टा ही करता रहे तो वे राज्य के अधिकारियों की आँख बचाकर राज्य के विनाश के लिये षड्यंत्रकारी काम

करने लग जावेंगे। जब किसी राज्य में ऐसे विद्रोही व्यक्ति थोड़े ही होते हैं तो राज्य उन्हें दबाकर काम चला सकता है अन्यथा उनकी उपेक्षा कर सकता है, किन्तु जब इनकी संख्या अधिक हो जाती है तो वे आपस में संगठित हो जाते हैं। फिर वे राज्य के विभागों में उसके अनजाने घुस जाते हैं और राज्याधिकारियों को उलटे मार्ग पर चलने की सलाह देने लगते हैं। राज्य के कामों में बाधा डालना, तथा देश में अराजकता फैलाना ये राज्य के असंतुष्ट व्यक्तियों का कार्य है।

जिस प्रकार राज्य में असंतुष्ट लोग राज्य के विनाश का प्रयत्न करते रहते हैं, इसी प्रकार मनुष्य की दलित वासनाएँ भी अनेक प्रकार से मनुष्य के व्यक्तित्व को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करती रहती हैं। इनके षड्यन्त्र-कारी कार्यों के परिणाम स्वरूप जब मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बहुत घट जाता है तो मनुष्य विक्षिप्त हो जाता है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व की अराजकता की स्थिति है। आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि वासनाओं को निर्मूल करने की चेष्टा सदा व्यर्थ और हानिकारक होती है। वास-नाओं की शक्ति का सदुपयोग करने से ही मनुष्य को आन्तरिक शान्ति और बाहरी सफलता मिलती है।

प्रबल मानसिक प्रवृत्तियों के अज्ञात दमन से मनुष्य की मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। मानसिक प्रवृत्तियों के दमन करने से एक ओर मनुष्य के जीवन में असाधारणता आ जाती है और दूसरी ओर उसमें अपने आपको सम्हालने की शक्ति की कमी हो जाती है। यदि कोई मनुष्य जान-बूझकर अपनी पाशविक प्रवृत्तियों का दमन करता है तो उन प्रवृत्तियों की शक्ति ही उसके नैतिक स्वत्व की शक्ति बन जाती है। इसके कारण उसका आत्म-विश्वास बढ़ता है, उसका चरित्र सुगठित होता है और उसके विचार अपने नियंत्रण में आते हैं। पर दमन का जो कार्य अनजाने होता है उसमें मानसिक शक्ति व्यर्थ खर्च हो जाती है। ऐसा मनुष्य सदा मानसिक बेचैनी की अवस्था में रहता है और वह अपने ही सिद्धान्तों के प्रतिकूल एकाएक आचरण कर बैठता है। फिर इस आचरण से अपने आपको छिपाने के लिए वह या तो उसकी स्मृति ही भुला देता

है अथवा झूठे बहाने देकर अपने कामों का औचित्य सिद्ध करने लगता है। कभी-कभी अपनी कमियों को भुलाने के लिये वह दूसरे व्यक्ति को दोष देने लगता है अथवा उनका दोषान्वेषण करने लगता है।

मानसिक विभाजन

मनुष्य के अचेतन मन में वर्तमान मानसिक ग्रन्थियाँ उसके मन का विभाजन कर देती हैं। वे स्वयं अपना व्यक्तित्व निर्माण कर लेती हैं। इस प्रकार मनुष्य में दो प्रकार के व्यक्तित्व वर्तमान हो जाते हैं—एक मनुष्य का ज्ञात व्यक्तित्व और दूसरा अज्ञात व्यक्तित्व। मनुष्य का सामान्य व्यक्तित्व सदाचारी और भला हो सकता है और उसका अज्ञात व्यक्तित्व ठीक इसका उलटा हो सकता है। साधारणतः हम सभी लोगों में अपने ज्ञात व्यक्तित्व के नीचे कोई अज्ञात व्यक्तित्व भी रहता है। परन्तु यह व्यक्तित्व निर्बल रहने के कारण हमारे सामान्य कार्यों में बाधा नहीं डालता। हाँ, इसके कारण हम कभी-कभी अकारण ही मानसिक बेचैनी और थकावट का अनुभव करते हैं। इसी के कारण हम उपयोगी बातों को भूल जाते हैं और अनेक प्रकार की व्यावहारिक भूलें कर देते हैं। जब हमारा दमित व्यक्तित्व प्रबल होता है तो वह बात-बात में हमारे कामों में बाधा डालने लगता है। इस व्यक्तित्व का बल बहुत बढ़ जाने पर वह मनुष्य की सामान्य चेतना को अलग करके अपने कार्यों का प्रदर्शन करने लगता है। यह अवस्था हिस्टीरिया के रोग में देखी जाती है। हिस्टीरिया के रोगी में यह दमित व्यक्तित्व सुगठित होने के कारण उसका अभिनय व्यर्थ सा दिखाई देता है। सोम नेत्र ब्यूलिज्म (चलित स्वप्न) के रोगी में यह व्यक्तित्व कुछ और सुगठित होता है अतएव इस अवस्था में रोगी नींद में ही दूर-दूर तक जाकर अनेक प्रकार के काम अपने साधारण चेतना के अनजाने ही कर डालता है। हमारे पास आया हुआ एक बालक आधी रात को अपने पिता के घर से उठकर एक मील पर अपने मित्र के घर जाकर उसी के पास बिना उसे जनाये सो जाता था। सवेरे उसकी खोज होती थी तो वह मित्र के घर में पाया जाता था। जागने पर वह अपने आपको मित्र की चारपाई पर सोता देखकर चकित होता था।

चौथा प्रकरण

मानसिक-विकास

मानव स्वभाव विकासात्मक है। वह अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रगतिशील है। मनुष्य स्वयं एक विकास का परिणाम है। विकास के क्रम के अनुसार निम्नकोटि के प्राणियों से विकसित होकर मानव शरीर का निर्माण हुआ है। अतएव एक ओर मनुष्य में वे सभी पाशविक प्रवृत्तियाँ पाई जाती है जो पशुओं में हैं, दूसरी ओर उसमें इन शक्तियों को परिवर्तित करने की अधिक से अधिक क्षमता भी है। मनुष्य की शक्तियों का विकास एक प्राकृतिक तथ्य है।

मानसिक विकास का उपकरण

मानसिक विकास के दो उपकरण माने जाते हैं एक वंशानुक्रम और दूसरा वातावरण। वंशानुक्रम के अनुसार प्रत्येक बालक जन्म से ही कुछ शरीर की विशेषताएँ और कुछ मानसिक विशेषताएँ लेकर आता है। बालक जैसे-जैसे अवस्था में बढ़ता है उसके जन्मजात गुणों का प्रस्फुरण होता है और वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं। वातावरण बालक के जन्मजात स्वभाव को विकसित होने में सहायक होता है। बालक की शिक्षा-दीक्षा वातावरण का विशेष रूप है। प्रत्येक बालक जन्म से बहुत कुछ शारीरिक और मानसिक योग्यता में अपने माता-पिता जैसा ही होता है, परन्तु वह शिक्षा को प्राप्त करके उनसे योग्यता में बहुत आगे बढ़ जाता है। योग्य शिक्षा में बालक की जन्मजात रुचियों और योग्यता का ध्यान रखा जाता है। जब इनका ध्यान नहीं रखा जाता तो बालक के व्यक्तित्व की भारी क्षति होती है।

मेगडूगल का सिद्धान्त

मेगडूगल के अनुसार प्रत्येक मनुष्य की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन मूल प्रवृत्तियों में से कुछ आत्मरक्षा सम्बन्धी हैं, कुछ प्रजनन-सम्बन्धी

और कुछ सामाजिक हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का स्वभाव विकसित होता है मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्तियाँ स्वार्थमय प्रवृत्तियों से अधिक प्रबल हो जाती हैं और ये प्रवृत्तियाँ स्वार्थमय प्रवृत्तियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेती हैं। मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ शिक्षा के द्वारा इस प्रकार परिवर्तित हो जाती हैं कि वे सभी समाज के लिये कल्याणकारी बन जाती हैं।

प्रत्येक मूल प्रवृत्ति के साथ साथ एक संवेग रहता है। जब मूल प्रवृत्ति और संवेग में परिवर्तन होता है तो स्थायी भाव का जन्म होता है। स्थायी भाव किसी विशेष पदार्थ अथवा विचार से सम्बन्धित रहता है। कई स्थायी भाव आपस में संगठित होकर व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के मन में वस्तुओं और विचारों के प्रति स्थायी भाव रहते हैं, उसी प्रकार अपने आपके प्रति भी स्थायी भाव रहते हैं। अपने आपके प्रति स्थायी भाव को आत्म-सम्मान का स्थायी-भाव कहा जाता है। यह स्थायी भाव ही मनुष्य के चरित्र का आधार है। इसे मनोविश्लेषण विज्ञान में सुपरईगो कहा जाता है। जिस व्यक्ति का यह स्थायी भाव जितना सुदृढ़ रहता है उसका चरित्र उतना ही सुगठित समझा जाता है। इस प्रकार मनुष्य का चरित्र एक अर्जित वस्तु है जिसमें अनेक प्रकार की मूल प्रवृत्तियों और स्थायी भावों का समावेश होता है। सुगठित चरित्र के व्यक्ति में उसकी विभिन्न प्रकार की इच्छाओं में आपस का साम्य पाया जाता है। जब मनुष्य की सभी इच्छाएँ उसके आत्म-सम्मान के भाव के अनुकूल चलती हैं तभी मनुष्य आत्म-संतोष और सुख का अनुभव करता है। जब मनुष्य की विशेष प्रकार की इच्छाएँ अत्यन्त प्रबल हो जाती हैं तो मनुष्य का आत्म-सम्मान का स्थायी भाव अथवा स्वत्व उनको नियन्त्रित नहीं रख पाता। ऐसी अवस्थामें मनुष्य अविवेकपूर्ण आचरण करता है। वह अपराधी, हठी अथवा झक्की बन जाता है। जिन लोगों का आत्म-सम्मान का भाव सुगठित नहीं है उनमें विवेकपूर्ण आचरण करने की क्षमता नहीं रहती। इसे बली बनाने के लिये बचपन से ही व्यक्ति को उचित शिक्षा देनी पड़ती है।

कभी-कभी मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाओं को बलपूर्वक दबा देता है।

जो इच्छा बिना पूरा विचार किये दबाई जाती है वह मनुष्य के चरित्र के गठन में बाधा डालती है। वह एक ओर मनुष्य के आत्म-सम्मान के स्थायी भाव से दूर रहती है और दूसरी ओर वह अनेक प्रकार के मानसिक खिंचाव को उत्पन्न करती है। इस प्रकार बलपूर्वक दबाई गई किसी प्रकार की इच्छा मनुष्य के मानसिक विकास में बाधक हो जाती है। इसी प्रकार की इच्छाएँ मनुष्य में अनेक प्रकार की असाधारणता उत्पन्न करती है।

फ्रायड का सिद्धान्त

डा० फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य का समस्त जीवन कामवासनामय है, अर्थात् यौनिक है। व्यक्ति के समुचित यौनिक विकास पर मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास निर्भर करता है। जब उसका यौनिक विकास ठीक से नहीं होता तो उसके जीवन में अनेक प्रकार की असाधारणता आती हैं। यौनिक सिद्धान्त के ऊपर डा० फ्रायड ने मानव व्यवहार की अनेक ऐसी बातें समझाई हैं, जो कि अन्यथा नहीं समझाई जा सकती थीं। विकृत यौनिक चेष्टायें, समलिंगी यौनिक व्यवहार, नपुंसकता आदि डा० फ्रायड अपने यौनिक सिद्धान्त के द्वारा समझाने की चेष्टा करते हैं मानसिक रोगियों की सांकेतिक चेष्टायें, तथा रोगों के विशेष प्रकार जैसे हठी विचार, हिस्टीरिया, अकारण भय आदि इसी से समझाये जा सकते हैं। फ्रायड महाशय इन सभी प्रकार की असाधारणताओं का कारण यौनिक विकास की रुकावट बताते हैं। यदि मनुष्य का यौनिक विकास ठीक से हो तो न तो उसके व्यवहार में किसी प्रकार की असाधारणता आवे, न उसे विभिन्न प्रकार के मानसिक रोग हों और न वह समाज से अपना समन्वय स्थापित करने में असमर्थ हो।

डा० फ्रायड ने यौनिक विकास की पाँच भिन्न-भिन्न अवस्थायें बताई हैं। इन पाँचों अवस्थाओं में यौनिक क्रियाओं का उद्देश्य और आश्रय भिन्न-भिन्न होता है। सभी यौनिक क्रियाओं का अंतिम लक्ष्य सुख की प्राप्ति होती हैं। यह सुख मानसिक विकास की भिन्न अवस्था में शरीर के भिन्न-भिन्न केन्द्रों से और भिन्न-भिन्न क्रियाओं से मिलता है। डा० फ्रायड की बताई हुई यौनिक विकास की निम्नलिखित पाँच अवस्थायें हैं।

(१) मुखाश्रित अवस्था[1] (२) पायूस्राश्रित अवस्था[2] (३) उपस्था-श्रित अवस्था[3] (४) अन्तर्हित अवस्था[4] (५) जननाश्रित अवस्था[5]।

यौन विकास की पहली अवस्था अर्थात् मुखाश्रित यौवनास्था में बालक यौनिक आनंद मुख से पाता है। इस समय वह माँ का दूध पीता है। इससे एक ओर उसे दूध के रस का सुख मिलता है और दूसरी ओर माँ का स्तन मुँह में लेने से उसकी यौनिक वासनायें तृप्त होती हैं। जो बालक माँ का दूध पर्याप्त समय तक पीता रहता है उसका मुखाश्रित यौनिक विकास समुचित होता है। इस विकास के उचित रूप से होने से बालक के यौनिक सुख का केन्द्र मुख न होकर स्वभावतः शरीर का दूसरा कोई अंग बन जाता है। और उसका बाह्य आधार भी बदल जाता है। जब बालक की मुखाश्रित यौनिक तृप्ति में बाधा पड़ती है तो बालक का मानसिक विकास रुक जाता है और बालक आंतरिक मन से सदा मुखाश्रित यौनिक सुख का इच्छुक बना रहता है। वह शरीर से बढ़ता है परन्तु आन्तरिक मन से छै महीने का बालक बना रहता है। जिन व्यक्तियों का मानसिक विकास इसी अवस्था में रुका रहता है, वे सीजोफ्रेनिया के रोग के भागी होते हैं। सीजोफ्रेनिया मनुष्य को शरीर अथवा मन से प्रौढ़ होते हुए भी शिशुकाल की उस अवस्था में ले जाता है जिसमें उसके यौनिक सुखका आधार मुख था।

मानसिक विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य के यौनिक सुख का आधार पायूस बन जाता है। इस समय बालक मल त्यागने की क्रिया में विशेष प्रकार के आनंद का अनुभव करता है। उसे अपने शरीर से त्यागे हुए पदार्थ से भी विशेष ममता रहती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बालक अपने मलको स्वर्ण समझता है। अतएव वह उसे हाथ में ले लेता है और उससे खेलता है। जिस बालक की यह अवस्था पार होती है वह स्वस्थ और प्रसन्न चित्त वाला व्यक्ति बनता है। जिस बालक की यह अवस्था ठीक से नहीं गुजरती, वह मानसिक रोगी और अविकिसित रह जाता है। बालक को मल से खेलते समय डाँटने-डपटने से वह मल को

---

1 Oral stage, 2 Anal stage, 3 phalic stage, 4 Latent stage, 5 Reproductive stage.

त्यागना ही नहीं चाहेगा। इस तरह वह जीवन भर कोष्ठ-बद्धता के रोग से पीड़ित रहता है। ऐसे व्यक्ति को त्यागने की प्रवृति होने की अपेक्षा सभी वस्तुओं के संग्रह करने की झख सवार रहती है। ये स्वभाव से कंजूस हो जाते हैं। दूसरे रोग जो इस अवस्था के समुचित रूप से पार नहीं करने के कारण पैदा होते हैं, वे हठी विचार[1] अथवा बाध्य क्रिया[2] का रूप लेते हैं। पायूषाश्रित सुख की इच्छा के दमन से बालक हठी हो जाता है। प्रौढ़ होने पर मनुष्य अपनी हठ की व्यर्थता तो समझने लगता है, परन्तु अब उसी के मन में विभाजन हो जाता है। उसके मनका एक भाग बड़ा समझदार और न्यायोचित कार्य करने वाला होता है और उसके मन का दूसरा भाग हठी रहता है। ऐसे लोगों को अनेक प्रकार की झखें सवार रहती हैं। वे इन झखों को व्यर्थ समझते हैं, फिर भी उन्हें छोड़ नहीं सकते। जब माता-पिता अपने बच्चों को बहुत ही साफ रखने की इच्छा से मल छूने के कारण अत्यधिक डाँट देते हैं तो वे उसके उपर्युक्त मानसिक रोगों की तैयारी कर देते हैं।

मानसिक विकास की तीसरी अवस्था उपस्थाश्रित अवस्था अथवा जननेन्द्रियावस्था है। इस अवस्था में बालक को अपने जननेन्द्रिय के विषय से विशेष रुचि हो जाती है। वह उसे अपने हाथ से छूता, उसका अनेक प्रकार से निरीक्षण करता और दूसरों को उसे दिखाना चाहता है। वह दूसरे व्यक्ति की भी जननेन्द्रिय देखना चाहता है। इस अवस्था की इच्छा का दमन होने पर व्यक्ति में अपने आपको हर समय दूसरे के समक्ष प्रदर्शन करने की इच्छा बनी रहती है। इसी के कारण लोग नागा बन जाते हैं। बालक को जब जननेन्द्रिय दिखाने के लिये अत्यधिक डराया जाता है तो उसे बधिया किये जाने का भय[3] उत्पन्न हो जाता है। बालक को इस प्रकार का भय अपने पिता से अधिक होता है। इसके कारण पिता पुत्र में स्थायी भय और शत्रुता का भाव उत्पन्न हो जाता है। बालक की यौनिक चेष्टाओं से जब पिता उसे अनेक प्रकार से रोकना चाहता है, तब बालक पिता

---

1 Obsessional neurosis, 2 Compulsion neurosis,

3 Castration fear.

की इस चेष्टा को बड़े सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। इस समय बालक अपनी माँ को अत्यधिक प्यार करता है। वह रात के समय उसी के पास सोना चाहता है। जब बालक को पिता सोते समय हटाकर अलग विस्तर पर कर देते हैं, और जब बालक को इसका ज्ञान हो जाता है, तब बालक की माँ के पास सोने की इच्छा भयानक रूप धारण कर लेती है। बालक पिता को एक शैतान या राक्षस के रूप में मानने लगता है। पिताके प्रति शत्रुता का यह भाव बालक के अचेतन मन में उस समय भी रहता है, जब बालक बौद्धिक और शारीरिक प्रौढ़ता प्राप्त कर लेता है। अचेतन मन में पिता के प्रति शत्रुता का भाव रहने पर बालक में अनिश्चयात्मक मनोवृति बढ़ती है। इसके कारण उसे भूत का भय, साँप का भय तथा अनेक प्रकार के अकारण भय होते हैं। उसे भयानक स्वप्न भी होते हैं। ये स्वप्न बचपन से ही प्रारंभ हो जाते हैं। नपुंसक बनाये जाने अथवा बधिया किये जाने का भय कभी-कभी बालक में मानसिक नपुंसकता उत्पन्न कर देता है। जब नौकर-चाकर बालक से मजाक करते हुए उसकी जननेन्द्रिय काट लेने का भय दिखाते हैं, तो उसे एक प्रकार का मूर्च्छा-रोग हो जाता है। जो माता-पिता बालक को यौनिक व्यवहार-संबंधी जितनी भी शिक्षिता दिखाते हैं और जो इसमें अतिक्रमण दिखाते हैं, वे बालक को इस अवस्था को पार करने में रुकावट डालते हैं। बालक जब इस अवस्था को ठीक से पार नहीं करता है, तो वह ऊपरी मन में एक प्रकार का व्यक्ति बन जाता है और आन्तरिक मन में दूसरे प्रकार का।

पिता के द्वारा मिली हुई यौनिक व्यवहार - संबंधी शिक्षा बालक में एक ऐसी मानसिक धारणा को उत्पन्न करती है, जो बालक के जननेन्द्रिय संबंधी सुख का सदा दमन करती रहती है। यह बालक के आन्तरिक मन में निवास करनेवाला पिता है। जब बालक उम्र में बढ़ जाता है, तब उसे बाहरी पिता का भय नहीं रहता, परन्तु अब उसे अपने आन्तरिक मन में उपस्थित पिता का भय हो जाता है। इसी पिता के भय के कारण बालक को अनेक प्रकार की अकारण चिन्तायें और भय उत्पन्न होते हैं।

इस आन्तरिक पिताको डाक्टर फ्रायडने सुपरईगो[1] अथवा सुस्वत्व कहा है। नीतिशास्त्र में इसे नैतिक बुद्धि (कान्सेन्स)[2] कहा जाता है।

मानसिक विकास की चौथी अवस्था मनुष्य की काम-चेष्टायें अन्तर्हित हो जाती है। इस अवस्था में बालक काम-चेष्टाओं से उदासीन हो जाता है। इस समय वह अपने से भिन्न पदार्थों और वातावरण के बारे में ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करता है। यह अवस्था सात वर्ष से तेरह वर्ष की अवस्था तक रहती है। इस अवस्था में बालक के मन में किसी प्रकार की मानसिक झंझटें नहीं उत्पन्न होतीं और उसकी मानसिक ग्रन्थियाँ बहुत कुछ अन्तर्हित रहती हैं। यह अवस्था न तो काम-सम्बन्धी सुख के विशेष प्रकार की आशाओं की अवस्था है, और व निराशाओं की।

इस अवस्था के पार होने पर बालक की किशोरावस्था आती है। यह जीवन की सच्ची तैयारी की अवस्था है। जीवन की सच्ची तैयारी और यौनिक जिम्मेदारियों की तैयारी एक ही तथ्य के दो नाम हैं। इस अवस्था को जननाश्रित[3] अवस्था कहा गया है। स्वभावतः इसका अन्त यौनिक प्रौढ़ता में होता है। सम्पूर्ण प्रौढ़ता प्राप्त करने के पूर्व इस समय व्यक्ति को जीवन की प्रथम तीन अवस्थाओं का फिर से अभिनय करना पड़ता है। यदि शैशवकाल में पहली तीन यौनिक अवस्थायें ठीक से व्यतीत हुई हैं, तो बालक के जीवन में किसी विशेष प्रकार की मानसिक अड़चने नहीं उत्पन्न होतीं, अन्यथा जिस प्रकार के यौनिक सुख की इच्छा का दमन हुआ है, वे किशोर बालक के व्यवहार को विशेष प्रकार के असाधारणता की ओर ले जाते हैं। इस समय बालक को उचित मानसिक सहायता देकर शैशव काल के दमन के कुपरिणाम से मुक्त किया जा सकता है। यह कार्य बालक की दमित इच्छाओं के उदात्तीकरण अथवा शोध[4] के द्वारा होता है। व्यक्ति के जीवन के विकास में दमित इच्छाओं के शोध अथवा उदात्तीकरण का बड़ा ही महत्व है, और किशोरावस्था में यह शोध-कार्य अधिक-से-अधिक हो सकता है। जिन व्यक्तियों को किशोरा-

---

1 Super Ego, 2 Conscience, 3 Reproductive Stage.
4 Sublimation.

वस्था में उचित शिक्षा नहीं मिलती, वे अपने शैशव कालकी प्रबल प्रवृ-
तियों का शोध न करने के कारण एक प्रकार के मानसिक रोगी बनते हैं।

डा० फ्रायड के अनुसार यौनिक विकास का अन्तिम लक्ष्य जीव को प्रजनन की ओर ले जाना है। यदि इस लक्ष्य की प्राप्ति में व्यक्ति समर्थ होता है, तो वह सामान्य और स्वस्थ व्यक्ति बनता है, अन्यथा वह असाधारण और रोगी बन जाता है। यौन-विकास की प्रत्येक अवस्था का उद्देश्य आगे की दूसरी अवस्था के लाने में सहायता देना है। प्रत्येक अवस्था में मानव की शक्तियों का संगठन होता है, और यह संगठन धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण प्रजनन-शक्ति में प्रस्फुरित होता है। यदि मानसिक विकास की किसी अवस्था में मनुष्य को उस अवस्था के यौनिक सुख की प्राप्ति में कमी रही, तो व्यक्ति में किसी-न-किसी प्रकार की यौनिक कमी उसकी प्रौढ़ावस्था में भी रह जाती है। वह फिर अपने ऊपरी मन से तो विकसित होता है, परन्तु आंतरिक मन से बच्चा बना रहता है। इसलिये अपने अनजाने अथवा अपनी इच्छा के प्रतिकूल वह अनेक प्रकार की निरर्थक चेष्टायें करता है। उसमें चित्त की एकाग्रता की कमी रहती है, और वह जीवन की सामान्य जिम्मेदारियों का वहन ठीक से नहीं कर पाता। जीवन के सभी प्रकार की जिम्मेदारियों में सफल होने की क्षमता प्राप्त करने के लिये मनुष्य का समुचित यौनिक विकास होना, तथा प्रौढ़ावस्था में योग्य प्रजनन की क्षमता प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है।

डा० फ्रायड ने मनुष्य के विशेष प्रकार के चरित्र और रुचियों के आधार को भी यौनिक विकास पर आश्रित किया है। मानसिक रोगियों में तीन प्रकार के चरित्र वाले लोग पाये जाते हैं। मुखाश्रित चरित्रधारी[1], पायूषाश्रित चरित्रधारी[2] और उपस्थाश्रित चरित्रधारी[3]। इस प्रकारके चरित्र का निर्माण बाल्यावस्था में विशेष प्रकार के यौनिक सुख के दमन के कारण होता है। यह दमन सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी होता है; पर वह इतना अधिक नहीं होता कि विशेष प्रकार का चरित्र ही इस दमन का कारण बन जाय। हाँ, कुछ प्रवृतियों की जड़ उक्त विशेष प्रकार के चरित्र

1 Oral characters, 2 Anal characters, 3 Phalic characters.

में अवश्य पायी जाती है। इस तरह निरर्थक बकवास करनेवाले लोगोंमें मुखाश्रित यौनिक प्रवृति दमित अवस्था में रहती है। हठी, कंजूस, झक्की आदि लोगों में पायूषाश्रित चरित्र की प्रवृत्ति रहती है। प्रदर्शन, अभिनय और सजधज में रुचि रखनेवाले लोगों में उपस्थाश्रित प्रवृति दमित अवस्था में रहती है। ऐसे लोग उपस्थाश्रित चरित्र के कहे जाते हैं।

इस प्रकार डा० फ्रायड ने मनुष्यों के चरित्र का वर्गी-करण यौन-संबंधी सुख की इच्छाओं के आधार पर कर दिया है। समाज में अनेक प्रकार के चरित्र के लोग पाये जाते हैं। फ्रायड ने इन लोगों का वर्गी-करण नये प्रकार से कर दिया है। समाज के विभिन्न प्रकार की हलचलों का कारण डा० फ्रायड मनुष्यों के व्यक्तित्वके विशेष प्रकार की बनावट में देखते हैं, और उनके कथनानुसार व्यक्तित्व की यह बनावट मनुष्य के विशेष प्रकार के यौनिक अनुभव और यौनिक सुख में निराशा के ऊपर निर्भर है। इसी से मनुष्य में अन्तर्विरोध उत्पन्न होता है, जो बाह्य जगत में प्रकाशित होने पर अनेक प्रकार के सामाजिक द्वन्द्व का रूप धारण कर लेता है। आन्तरिक मन में असन्तुष्ट व्यक्ति जिस समाज का निर्माण करते हैं, वह भी आन्तरिक असन्तोष से व्याप्त रहता है। इस प्रकार का आन्त-रिक असन्तोष मनुष्य के उचित यौनिक विकास में बाधाओं के कारण उत्पन्न होता है। मनुष्य का सामाजीकरण तथा उसका एक दूसरे से विशेष प्रकार का संबंध भी उसके विशेष प्रकार की यौनिक प्रेरणाओं के कारण होता है।

फ्रायड महाशय का यौन-संबंधी उक्त सिद्धान्त उनकी मनोविश्लेषण-पद्धति का आधार है। अब मनोविश्लेषण में बतायी गयी अनेक प्रकार की प्रक्रियाओं की व्यापकता समाज की अनेक तरह की हलचलों में देखी जाने लगी है। इसके कारण संसार के सभी चिन्तकों का ध्यान फ्रायड की शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ है; और इसके परिणाम-स्वरूप संसार में जितने ही उनके मत के अनुयायी लोग हैं, उतनी ही संख्या में त्रुटि बतानेवाले विद्वान उपस्थित हो गये हैं। फ्रायड के सिद्धान्तों में निम्न-लिखित त्रुटियाँ बताई जाती हैं।

(१) जो सिद्धान्त मानसिक रोगियों के व्यवहार को समझाने के

लिये पर्याप्त है, उसका उपयोग सामान्य मनुष्य के व्यवहारों को समझाने में करना उसका अनावश्यक प्रसार है।

(२) मनुष्य के जीवन के विकास के अन्तिम लक्ष्य को प्रजनन मान लेना मानव-जीवन की विशेषता को ही समाप्त कर देना है। यदि मानव-जाति के विकास का लक्ष्य संतानोत्पत्ति मात्र ही है, तो वह अन्य प्राणियों से किस प्रकार भिन्न है?

(३) डा० फ्रायड ने मनुष्य के सभी प्रकार की चेष्टाओंका प्रेरक कामवासना को माना है। उन्होंने प्रेम और कामवासना का एकत्व कर दिया है। यह भी दोषयुक्त सिद्धान्त है।

(४) डा० फ्रायड ने वासना का नियंत्रक वातावरण जन्य संस्कारको बताया है। नैतिकताका आधार समाज का भय है। परन्तु यह नैतिकता को अनैतिक बनाना है। नैतिकता की भित्ति यदि अन्तः-प्रेरणा नहीं है, तो वह नैतिकता घोर अनैतिकता है।

डा० फ्रायड के मानसिक विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त की उक्त आलोचना उस सिद्धान्त को निर्मूल नहीं करती। डा० फ्रायड ने जो कुछ कहा है, वह वैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर कहा है। विज्ञान मनुष्य के अनुभव को श्रेष्ठ प्रमाण मानने के लिये प्रेरित करता है। यह बात सत्य है कि असाधारण लोगों के व्यवहार को देखकर ही मन के गम्भीर स्वभाव को समझने की चेष्टा फ्रायड ने की है। परन्तु मनुष्य के मन की सूक्ष्म बातों को जानने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें बढ़े-चढ़े रूप में देखा जाय। असाधारण व्यक्तियों के व्यवहार को देखकर साधारण लोगों की उन प्रवृत्तियों के विषय में अन्दाज लगाया जा सकता है, जो कि साधारण लोगों के व्यवहार में निरर्थक दिखाई देती हैं, अथवा जिनका कारण हमें समझ में नहीं आता।

मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य प्रजनन नहीं है, परन्तु यह उसके भौतिक जीवन का महत्वपूर्ण लक्ष्य अवश्य ही है। प्रजनन की इच्छा तभी समाप्त होती है, जब मनुष्य अपनी आत्मा का प्रसार सभी प्राणियों में कर देता है। जब मनुष्य के प्रेम का प्रसार प्राणिमात्र से हो जाता है, तो

उसका संतोष अपनी स्त्री-पुत्र आदि के प्रेम से ही सीमित नहीं रहता। वह सभी लोगों को उसी प्रकार प्यार करता है, जिस प्रकार अपने शरीर से सम्बन्धित लोगों से वह प्यार करता है। यह मानसिक विकास की आगे की अवस्था है। इसे हम मानसिक विकास की छठीं अवस्था कह सकते हैं।

वैज्ञानिक विचार पर आधारित होने के कारण डा० फ्रायड के सिद्धान्त में कामवासना और प्रेम का एकत्व पाया जाता है। साधारणतः कामवासना और प्रेम सहगामी हैं। यह बात सत्य है कि हम किसी भी ऐसे व्यक्ति को प्यार करते हैं, जो हमारी किसी मौलिक इच्छा को तृप्त करे। इन इच्छाओं में प्रधान भोजन अथवा आत्मरक्षा की और काम-सुख की इच्छा है। डा० फ्रायड के अनुसार काम-वासना ही जीवन की प्रधान वासना है। यह बात उन्होंने अपने डाक्टरी अनुभव के आधार पर कही है। जहाँ तक मानसिक रोगों की बात है, उनकी उपस्थिति में ६० प्रतिशत कामवासना का ही दमन पाया जाता है। इसी के साथ-साथ प्रेम का दमन पाया जाता है। अतएव प्रेम और काम का एकीकरण करना डा० फ्रायड के लिये स्वाभाविक था। यह बात सही है कि प्रेम कामवासना से अधिक व्यापक है। एक प्राणी दूसरे को उसकी किसी प्रकार की उपयोगिता के लिये प्यार करता है। हम कुत्ते और बिल्ली को भी प्यार करते हैं, परन्तु इनके प्यार में कामवासना की तृप्ति की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है। जो व्यक्ति हमें भोजन देता है, घातक प्राणी से हमारी रक्षा करता है, और जो हमें अपने आत्म-प्रदर्शन की सुविधाएँ देता है, उसे हम प्यार करते हैं। यह प्रेम कामवासना-जन्य प्रेम नहीं कहा जा सकता। ऐसे तो मनुष्य की सभी मूल प्रवृत्तियाँ एक ही श्रोत से निकली हैं। परन्तु इस श्रोत को काम-प्रवृत्ति ही नहीं मान लिया जा सकता। यह एक प्रबल प्रवृत्ति अवश्य है, परन्तु इसके अतिरिक्त दूसरी प्रवृत्तियाँ भी हैं। किसी भी मूल प्रवृत्ति के प्रकाशन में सुविधा देनेवाले व्यक्ति से हम प्यार करते हैं। अतएव प्रेम और कामवासना का एकीकरण करना पूर्णतः युक्तिसंगत नहीं है। दो व्यक्तियों के प्रेम में कामवासना प्रायः कार्य करती है, और वह इस प्रेम से अपनी तृप्ति पाती है, परन्तु दूसरी प्रवृत्तियाँ भी इस

प्रकार के प्रेम से तृप्त होती हैं।

(४) यह बात सत्य है कि नैतिकता का मूल स्रोत मनुष्य का जन्म-जात स्वभाव अथवा अन्तःकरण है, परन्तु प्रारंभ में यह नैतिकता बीज रूप से मनुष्य में रहती है। उसका विकसित होना अथवा विशेष रूप धारण करना वातावरण के ऊपर निर्भर है। पिता जिन बातों को बुरा समझता है और बालक को डर बताकर उनसे रोकता है, वे बालक के मन में अनैतिकता के प्रतीक बन जाती हैं। इस प्रकार पिता के मन के संस्कार शिक्षा और दण्ड के द्वारा बालक के मन में उसकी शैशवावस्था में ही बैठ जाते हैं। यही बालक की नैतिक बुद्धि बन जाती है। पीछे इसका परिवर्तन करना कठिन होता है, क्योंकि यह मनुष्य के अचेतन मन का अंग बन जाती है। प्रयत्न के द्वारा इसमें परिवर्त्तन किया जा सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि नैतिकता स्वयं मनुष्य की मान्यताओं के ऊपर निर्भर है। उसका अपना आधार है।

ईडीपस काम्पलेक्स (भावना-ग्रंथि[1])

जब हम डाक्टर फ्रायड के मानसिक विकास के सिद्धान्त की चर्चा कर रहे हैं, तो हमें उनके उस सिद्धान्त का परिचय कराना भी आवश्यक है; जो उनके दर्शन की आधार-शिला है। डाक्टर फ्रायड के कथनानुसार प्रत्येक बालक के मन में पितृद्वेष की एक भावना-ग्रन्थि उसकी पाँच वर्ष की अवस्था में ही बन जाती है और यही ग्रन्थि उसकी जीवन-धारा को विशेष ओर ले जाने में प्रेरक बन जाती है। जिस प्रकार लड़के में पितृ-द्वेष की भावना-ग्रन्थि रहती है, उसी प्रकार लड़कियों में मातृ-द्वेष की भावना-ग्रन्थि रहती है। लड़के के अचेतन मन में उपस्थित पितृ-द्वेष की भावना-ग्रन्थि को ईडीपस काम्पलेक्स और लड़की के मन में उपस्थित भावना-ग्रन्थि को एलेक्ट्रा काम्पलेक्स कहा जाता है। डाक्टर फ्रायड ने इस शब्द को यूनानी भाषा से लिया है। एडीपस ने अपने पिता को अनजाने में मार डाला और उसने अपनी माता से विवाह कर लिया। इस पापके कारण उसे जीवन में अनेक दुःख भोगने पड़े। डाक्टर फ्रायड का कथन है कि जो

1. Oedipus Complese,

प्रवृत्ति ईडीपस में देखी गई, वही प्रत्येक बालक में पाई जाती है। वह अपनी माता से प्रेम करता है, इसके कारण पिता उससे द्वेष करता और वह उसे माँ से अलग रखना चाहता है। इसलिये ही बालक के मन में पिता के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जो भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है। डा० फ्रायड के अनुसार बालक के लिये उसका पिता एक ओर महानता का द्योतक है, क्योंकि माँ उसका आदर करती है और दूसरी वह उससे अन्तर मन से द्वेष करता है। इस प्रकार बालक के मन में पिता के प्रति दो विरोधी भावनायें एक साथ रहती है। पिता के प्रति श्रद्धा होने के कारण बालक का जीवन विकसित होता है, और उसके प्रति द्वेष-भाव रहने के कारण उसके मनमें अनेक प्रकार की उलझने उत्पन्न होती है। प्रत्येक मानसिक रोगी और अपराधी बालक के मन में प्रबल पितृ-द्वेष की भावना-ग्रन्थि रहती है। मानसिंक रोग को समाप्त करने के लिये इस ग्रन्थि को सुलझाना नितांत आवश्यक होता है।

ईडीपस काम्पलेक्स और नैतिकता

डाक्टर फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य की नैतिकता का आधार उसके अचेतन मन में उपस्थित ईडीपस की भावना - ग्रन्थि ही है। बालक में माता को स्नेह करने की अथवा दूसरी काम चेष्टाओं की प्रवृत्ति स्वभाविक रूप से रहती है। पिता उसे इस प्रकार की प्रवृत्तियों से विरत करता है। इसके लिये वह बालक को डाँटता - डपटता है। फिर पिता बालक के सुख की चाह को अनेक प्रकार के भय दिखाकर दबा देता है। बालक की यही प्राथमिक नैतिक शिक्षा है। पिता का यह भय प्रसरित होकर समाज का भय बन जाता है। बचपन में बालक इस प्रकार के बाहरी भय के कारण ही अपने आपको अनुचित व्यवहारों से रोकता है। पीछे वह बाहरी भय उसके आन्तरिक मन में चला जाता है और उचित अनुचित आचरण का यह सम्पूर्ण संस्कार उसकी नैतिक बुद्धि अथवासुस्वत्व (सुपर ईगो) बन जाता है। इस प्रकार पिता के प्रति श्रद्धा और भय का भाव मनुष्य की नैतिक बुद्धि का आधार रहता है।

यह सुस्वत्व (सुपरईगो) मनुष्य के मानसिक विकास के लिये नितांत

आवश्यक है और दूसरी ओर इसी के कारण मनुष्य में विक्षिप्तता तथा दूसरे प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यदि किसी व्यक्ति का सुस्वत्व ढीला-ढाला हुआ, तो उनमें नैतिक आचरण करने की प्रवृत्ति नहीं होती। स्वभावतः यह प्रवृत्ति किसी भी मनुष्य में नहीं होती; यह तो पिता अथवा समाज की शिक्षा से आती है। अतएव यदि किसी बालक को पिता से शिक्षा-ग्रहणका अवसर ही न मिला और न पिता-तुल्य दूसरे अविभावक ने ही उसे शिक्षा दी, तो उसमें सुस्वत्व का विकास नहीं होता। अनुचित कार्य से अपने आपको रोकने की क्षमता ऐसे बालक में नहीं रहती। वह सुखवादी और स्वार्थी बन जाता है।

इसके प्रतिकूल यदि किसी बालक का पिता बड़ा ही कठोर हुआ और अपने बालक को आदर्श व्यक्ति बनाने के लिये उसने उसे कठोर नैतिक शिक्षा दी, तो बड़ा होने पर बालक अपने कार्यों की आलोचना उसी प्रकार करता रहता है; जिस प्रकार बचपन में उसके पिता ने उसकी आलोचना की थी। इसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व दुर्बल हो जाता है। ऐसे लोगों के मनसूबे और सिद्धान्त बड़े ऊँचे-ऊँचे होते हैं, परन्तु आत्म-विश्वास का अभाव रहने के कारण उनमें कार्य क्षमता बहुत थोड़ी रहती है। फिर ये लोग अपने निकम्मेपन को छिपाने के लिये किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग की शरण लेते हैं।

संतुलित व्यक्तित्व उसी व्यक्ति का होता है जिसका पिता न तो अति उदार होता है और न अति कठोर। ऐसे ही व्यक्ति के अचेतन मन में सन्तुलित नैतिक बुद्धि अथवा सुस्वत्व काम करता है। इस तरह बालक के समुचित विकास और उसके जीवन को सफल बनाने के लिये पिता का सावधान होना नितांत आवश्यक है। परन्तु ऐसी सावधानी वही पिता बरत सकता है, जिसके मन में कठोर पितृ-द्वेष की मानसिक ग्रन्थि न हो। अपने पिता से ताड़ना पाये बालक ही अपने बच्चों को ताड़ना देते हैं; और इस तरह पितृ-द्वेष की भावना-ग्रन्थि वंश परंपरागत पिता से पुत्र के मन में प्राकृतिक रूप से चली आती है।

डाक्टर फ्रायड के ईडीपस काम्पलेक्सके सिद्धान्त की आलोचना उतनी

ही अधिक हुई है, जितनी उनकी काम-वासना सम्बन्धी सिद्धान्त की। कुछ आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि डाक्टर फ्रायड का समस्त दर्शन इसी एक सिद्धान्त के ऊपर निर्भर है।

इस सिद्धान्त की एक रचनात्मक आलोचना प्रोफेसर हेडफील्ड ने अपनी "साइकोलाजी एन्ड मेन्टल हेल्थ" नामक पुस्तक में की है। ईडीपस काम्पलेक्स अर्थात् पितृद्वेष की मानसिक ग्रंथि सभी लोगों के मन में नहीं रहती। यह उन्हीं लोगों के मन में रहती है, जिनको प्रारम्भ में पिता का प्रेम तो मिलता है; परन्तु बाद में उसे ताड़ना मिलने लगती है। डा० फ्रायड के अनुसार इडीपस काम्पलेक्स बचपन में ही प्रारम्भ होता है। हेड फील्ड के अनुसार इसका प्रारम्भ किशोरावस्था में उस समय होता है, जब कि काम-वासना अपने सामान्य विकास में रुक जाती है और माता के प्रति आरोपित हो जाती है। ईडीपस काम्पलेक्स न तो जन्मजात तत्त्व है, और न अनिवार्य ही। यह काम-वासना के अवरोध के कारण उत्पन्न होता है। प्रायः यह मानसिक रोग का कारण रहता है, परन्तु सभी समय नहीं। मानसिक रोग के दूसरे कारण भी होते हैं।[1]

प्रो० हेडफील्ड का उपर्युक्त कथन हमारी उस आलोचना का समर्थन करता है, जिसमें हमने डा० फ्रायड के सुस्वत्व (सुपरईगो) के उद्‌गम के विषय में कहा है। सभी व्यक्तियों के मन में यह भावना-गँथि नहीं रहती। जिन लोगों के मन में यह भावना-ग्रन्थि प्रबल रहती है, उन्हीं के व्यवहार में असाधारणता पाई जाती है; और उन्हीं का मानसिक विकास रुक जाता है।

---

1 The typical Oedipus complex, therefore, occurs at the age of adolesence when the desire for sex is frustrated in its normal development by its early fixation to the parent so that the youth has incestuous desires towards the opposite parent. The Oedipus Complex is, in our opinion, therefore, neither innate nor inevitable, but the result of such early experiences and fixation–It is infact a complex. It is commonly found as a cause of neurosis but not universally; nor is it the essential feature in the neurosis.

पाँचवाँ प्रकरण

असाधारण मानसिक प्रतिक्रियाएँ

इस पुस्तक के तीसरे प्रकरण में हमने मनुष्य के मन के साधारण और असाधारण प्रतिक्रियाओं पर प्रकाश डाला है। उस प्रकरण में हमने कुछ ऐसी बातों की चर्चा की है, जो सभी प्रकार की मानसिक असाधारणता में पाइ जाती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान ने मन की असाधारण अवस्था का बड़ा ही गम्भीर और युक्तिपूर्ण विश्लेषण किया है। डा० फ्रायडने न केवल मानसिक चिकित्सा का नया विज्ञान तैयार कर दिया है, वरन् उन्होंने मन की गुप्त क्रियाओं की भी बहुत ही उपयोगी जानकारी प्राप्त की है।

जब मनुष्य के किसी प्रबल प्राकृतिक प्रवृति का दमन होता है, तब विलक्षण मानसिक प्रक्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन प्रक्रियाओं को फ्रायड ने असाधारण व्यवहार का संचालक[1] (मैकानिज्म) माना है। इन संचालकों में निम्नलिखित प्रधान हैं :—प्रतिगमन, आरोपण, आदर्शीकरण, हेत्वाभरण और कल्पना-रमण। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति अपने प्रकाशन का सीधा मार्ग नहीं पाती, तो वह गुप्त मार्ग से प्रकाशित होने की चेष्टा करती है। दमन से मानसिक शक्ति पुरोगामी न होकर प्रतिगामी हो जाती है। यही शक्ति फिर अनेक प्रकार के दुःखों का कारण बनती है। मनुष्य को दुःख इसी लिए होते हैं, कि उसकी मानसिक शक्ति प्रतिगामी न होकर पुरोगामी बन जाती है।

प्रतिगमन[2]

प्रतिगमन अचेतन मन की वह क्रिया है, जिसके अनुसार किसी प्रकार का संकट पड़ने पर मनुष्य अपनी वर्त्तमान स्थिति को भूल जाता है और अपनी मानसिक शक्ति को किसी ऐसे मार्ग से प्रवाहित होने देता है, जो उसके बचपन के अभ्यास के अनुसार तो है, परन्तु वर्त्तमान काल के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। जब बच्चे के ऊपर कोई संकट पड़ता है, तब वह

1 Machanism of abnormal behaviour. 2 Regression.

अपनी रक्षा के लिए माता की गोद में भागता है। वह किसी इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए माता के सामने रोता-पिटता और हाथ-पैर पटकता है। इसके प्रतिकूल जब प्रौढ़ व्यक्ति के सामने संकट आता है, तो वह धैर्य-पूर्वक उसका सामना करता है। वह संकट से निकलने के लिए अनेक प्रकार का प्रयास करता है। अपनी समस्याओं का हल वह स्वयं करता है।

परन्तु जब किसी व्यक्ति का मानसिक विकास समुचित रूप से नहीं होता, जब वह बचपन में अधिक लाड़-प्यार से पाला जाता है; तो उसमें अपने संकट की सामना करने की क्षमता नहीं होती। ऐसी स्थिति में वह संकट से भागने के लिए उन्हीं साधनों का आश्रय लेता है, जो बचपन की अवस्था के लिए शोभनीय हैं। वह अनेक प्रकार के रोगों का आवाहन करता है, और इस प्रकार रोग-ग्रसित होकर समाज के दूसरे लोगोंकी सहानुभूति को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार की मनो-दशा उन्हीं लोगों की होती है, जिन्हें संकटों का सामना करने का अभ्यास बचपन से ही नहीं है। लाड़-प्यार में पले हुए बालक जब अपनी युवा-वस्था में संकटों का सामना करते हैं, तो अपनी शर्म को छिपाने के लिए वे किसी-न-किसी प्रकार के रोग का आवाहन कर ही लेते हैं।

प्रति गमन के विशेष प्रकार की प्रक्रियाएँ काम-वासना के क्षेत्र में होती हैं। बहुत से युवक और युवतियों का विवाह अनचाहे व्यक्ति से हो जाता है। जिन युवतियों का विवाह अनचाहे व्यक्ति से होता है, अथवा जो अनचाहे घर में जाती हैं, वे अनेक प्रकार के मानसिक रोगों में पड़ जाती हैं। इनमें एक प्रधान रोग हिस्टीरिया है। हिस्टीरिया के रोग में रोगी अपने बाहरी वातावरण से असंतुष्ट रहता है। वह उसमें आत्म-प्रकाशन की कोई आशा नहीं देखता। उसे अपने साथी के प्रति सहज प्रेम नहीं होता। इस तरह उसकी काम-शक्ति वर्त्तमान समस्या के हल करने में खर्च न होकर प्रतिगामी हो जाती है। हिस्टीरियाके रोग में रोगी अपने किसी ऐसे पुराने अनुभव का प्रतीक रूप से अभिनय करता है, जो उसके जीवन में अत्यन्त सुखकारी रहा हो, और जिसके सुख के संस्कार इतने प्रबल हैं कि वे उसे उसी ओर खींच ले जाते। वर्त्तमान परिस्थिति इन अनुभवों के

प्रतिकूल होने के कारण ये अनुभव व्यक्ति के चेतन मन के समक्ष नहीं आते, अर्थात् यदि उसे ये अनुभव स्मरण कराए जाएँ, तो ये उसकी स्मृति में नहीं आएँगे। अपनी बेसुध अवस्था में ही वे रोगी से अनेक प्रकार की क्रियाएँ करवाते हैं।

प्रतिगमन किसी भी मानसिक विकास की दशा तक पहुँच सकता है। पैरानोयिया, सीजो फ्रेनिया और मेलेन्कोलिया की विक्षिप्तताकी अवस्था में रोगी नार्सिसस की अवस्था अर्थात् आत्म-प्रेम की अवस्था का अभिनय करता है। हिस्टीरिया में वह किशोरावस्था के प्रेम का अभिनय करता है। जब किसी मानसिक रोग की अवस्था में रोगी बहुत प्रारंभ के अनुभवों का अभिनय करता है, तो उसे फिर से पुरोगामी बनाना बड़ा कठिन होता है। परन्तु जब वह बादकी अवस्था का अभिनय करता है, तो उसे मनोविश्लेषण और निर्देश-द्वारा स्वस्थ बनाया जा सकता है। हिस्टीरिया का रोग इसी लिए साध्य है, क्योंकि इस रोग में काम-शक्ति का प्रतिगमन बहुत प्रारम्भिक अवस्था तक नहीं हो जाता।

प्रतिगमन की क्रिया को समझाते हुए डा० फ्रायड ने बताया है, कि जिस प्रकार एक प्रबल आवेग-युक्त नदी पर बड़ा बाँध बना देने से उसका पानी उलट करके किन्हीं सूखे नालों में बाढ़ उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार जब किसी व्यक्ति की जीवन-शक्ति को आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता, तो वह किसी ऐसे कार्यों में खर्च होने लगती है, जो उस व्यक्ति के विगत जीवन में महत्त्व पूर्ण थे; और जो वर्त्तमान काल में निरर्थक हैं।

आरोपण

आरोपण मन की एक गुप्त क्रिया है। यह अवांछनीय मानसिक प्रवृत्ति के दमन का परिणाम है। प्रत्येक व्यक्ति के चेतन और अचेतन मन में संघर्ष होते रहते हैं। यह संघर्ष जब चेतना की सतह के नीचे होता है, तो अनेक प्रकार की विलक्षण प्रतिक्रियाओं में प्रकाशित होता है। जब हमारे आचरण में कोई आत्मग्लानिकारक घटना हो जाती है, तो हम उसकी स्मृति को भुला देना चाहते हैं। इस प्रकार हम अपने स्वभाव के विषय में भी अनभिज्ञ बना रहना चाहते हैं। जिस आत्मग्लानिकारक भावना को हम

बरबस दबाते हैं,अर्थात् जिसके विषय में हम सोचना नहीं चाहते, वह हमारे अचेतन मनमें चली जाती है। इस तरह वह हमारी दृष्टि से ओझल हो जाती है। परंतु हमारे अदृष्ट मन में पहुँचकर वह निष्क्रिय नहीं रहती। वह विकृत रूप से हमारी चेतना के समक्ष आती है। जिस बात को हम अपनी स्मृति से हटाते हैं, उसीको हम दूसरे लोगों में देखने लगते हैं; अर्थात् हम अपने ऐब दूसरे लोगों में देखने लगते हैं। इसी प्रकार हम उन गुणों को भी, जिन्हें हम अपने ही गुण नहीं जानते, किसी बाह्य पदार्थ पर आरोपित करते हैं। इस प्रकार एक ओर हमारे अचेतन मन-द्वारा पापी, शैतान, दुष्ट और राक्षस लोगों की सृष्टि होती है; और दूसरी ओर महात्माओं, ऋषियों और देवी-देवताओं की। नवीन मनोविज्ञान के एक प्रमुख विद्वान टैन्सले महाशयके निम्नलिखित विचार इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।

"मनुष्य अपने जिस भाव को स्वीकार नहीं करना चाहता, वह उसे भुला देने का प्रयत्न करता है। यह दो प्रकार से होता है; एक दमन के द्वारा, और दूसरे आरोपण के द्वारा। किन्तु दमन और आरोपण में एक मौलिक भेद है। दमनमें मनुष्य भुलाई गई बातोंके ऊपर ध्यानही नहीं देना चाहता, इसके प्रतिकूल आरोपण में वह उनके अस्तित्व को तो स्वीकार करता है; परंतु वह उनके स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता, अर्थात् उन्हें वह अपने में न पहचान कर किसी बाहरी व्यक्ति अथवा पदार्थ पर आरोपित करता है। इस प्रकार के आरोपण का कारण यह है कि आरोपित भावना या तो अति दुखद और आत्मग्लानि-जनक है, अथवा वह इतनी महत्व की है कि मनुष्य अपनी सीमाएँ जानते हुए भी उनका स्वामित्व स्वीकार नहीं करता, इसलिये वह किसी ऐसे बाह्य-पदार्थ को खोज लेता है, जिसके ऊपर वह उन भावों को आरोपित कर सके"। ‡

---

‡ 'In projection, as in repression, the mind refuses to acknowledge part of its own content, but instead of refusing to pay attention to the existence of the content in question, it recognises the existence, while denying the ownership. The ownership of the content in question is too

आरोपण का एक सामान्य उदाहरण मनुष्य की अपनी कमजोरियों को किसी दूसरे व्यक्ति के ऊपर आरोपित करने में पाया जाता है। आरोपण के द्वारा मनुष्य का मन अपने आपको इस धोखे में रखने में समर्थ होता है कि जिस कमजोरी से वह घृणा करता है; वह उसमें नहीं, वरन् किसी दूसरे व्यक्ति में है। कम अथवा अधिक मात्रा में इस प्रकार की प्रवृत्ति सभी मनुष्यों में पायी जाती है, किन्तु असाधारण व्यक्तियों में यह विशेष मात्रा में पायी जाती है। जिन व्यक्तियों में आरोपण की मनोवृत्ति अधिक होती है; वे स्वयं अपने आपमें जिस कमजोरी को रखते हैं दूसरे में उपस्थित उसी प्रकार की कमजोरी को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं[1]। देखा गया है कि अपने घर बर्बाद करने का दोष शराबी अपनी स्त्री के सिर मढ़ता है। जिस स्त्री में प्रबल काम-वासना का दमन होता है, वह कभी-कभी सम्पूर्ण निर्दोष व्यक्ति के ऊपर अपने प्रति दुर्भावना रखने का अथवा उसे जबर्दस्ती भगा ले जाने का दोष मढ़ती है। किसी अनुचित इच्छा का जितना ही अधिक दमन होता है, उतनी ही प्रबल आरोपण की प्रवृत्ति, अर्थात् दूसरों की आलोचना करने की प्रवृत्ति, मनुष्य के मन में होती है। इस प्रकार दूसरों का छिद्रान्वेषण करके मनुष्य की दमित वासना विकृत रूप से अपनी तृप्ति का मार्ग खोज लेती है। वास्तव में आरोपण विकृत रूप से अवांछनीय वासनाओं के तृप्त करने का मार्ग है। हम अपनी दमित वासना का आरोपण बाह्य-व्यक्तियों पर ही नहीं वरन् वस्तुओं पर भी करते हैं। जैसे जिनके मनमें काम-भावना का दमन रहता है, वे गन्दगी देखते ही घबड़ा उठते हैं। वास्तव में उनका यह बाहरी गन्दगी से परेशान होना, उनके भीतरी मनमें वर्तमान गन्दगी से परेशान होने का आरोपण मात्र है।

---

painful or too sublime to be compassed within the limits of human weakness, and an external sabtitute is sought whether as scape-goat or support.'—Tansley, New Psycholoy, P. 55.

1 'People who possess some fault or deficiency of which they are ashamed are notoriously intolterant of the same faults in others—*Psychology of Insanity*, chpter IX.

आरोपण की मानसिक प्रतिक्रिया के अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हम जिस वस्तु से परेशान रहते हैं, वह कोई बाह्य-पदार्थ नहीं, वरन् अपना आप ही होता है। हम अपने आस-पास एक कल्पित जगत का निर्माण कर लेते हैं। प्रत्येक मनुष्य ऐसे वातावरण का निर्माण करता है, जो उसके आन्तरिक मन की स्थिति को दर्शाता है। हम जिस वातावरण में रहते हैं, उसे ऊपरी मन से कितना ही बुरा क्यों न कहें परन्तु भीतरी मन से चाहते हैं; इसीलिए हम उस वातावरण में हैं। कभी-कभी अचेतन मन की इच्छा चेतन मन की इच्छा के ठीक विपरीत होती है। कभी-कभी जिस बात को हमारा चेतन मन घृणा की दृष्टि से देखता है, उसी बात को हमारा अचेतन मन चाहता है। चेतन मन की अत्यधिक घृणा की जड़ वास्तव में मनुष्य के अचेतन मन के घृणित पदार्थ को दृढ़ता से पकड़े रहने में ही होती है। इस प्रसंग में हेडफील्ड महाशय का अपनी मनोविज्ञान और नैतिकता (साइकोलाजी एण्ड मारल्स) नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

यह सभी जानते हैं कि जिन पापों के प्रति किसी धर्मोपदेशक के अचेतन मन में प्रवृत्ति होती है, वह उनके विरुद्ध बड़े जोश के साथ व्याख्यान देता है और जिन पापों के प्रति उसके चेतन मन में प्रवृत्ति होती है, उनकी चर्चा बिल्कुल ही नहीं करता। इससे यह स्पष्ट है कि हम दूसरे लोगों की आलोचना करने में अपने ही गुप्त दुर्गुणों को संसार में विख्यात करते हैं। हम अपने ही बे-पहचाने हुए दोषों को मनुष्यों का रूप दे देते हैं, और जिन दोषों के हम स्वयं गुप्त रूप से आदी हैं, उन्हीं को दूसरों में घृणा के रूप में देखते हैं। हम प्रायः दूसरे लोगों की मूर्खता अथवा अयोग्यता से परेशान होते हैं, इस प्रकार की परेशानी अपने ही अचेतन मन में स्थित मूर्खता और अयोग्यता की परिचायिका है। हमारी अधिक भावनाएँ हमारे ही प्रतिकूल काम करती हैं। जो व्यक्ति सुस्त, फूहड़ और मूर्खता भरे काम के प्रति चिढ़ता है, उसमें स्वयं ऐसी ही प्रवृत्तियाँ उपस्थित रहती हैं। हम दूसरों की धर्मान्धता, नीचता और झक्कीपन की कटु आलोचना करते हैं; इसका कारण यह है कि हम स्वयं

भी अपने अचेतन मन में धर्मान्ध, नीच और झक्की हैं। हम दूसरे आदमी को हठधर्मी को इसलिये नहीं सह सकते कि हम स्वयं अनजाने हठधर्मी बने हुए हैं।'

बाह्य - जगत् वास्तव में एक बड़े दर्पण के समान है, जिसमें हम अपनी अदृष्ट भावना को अपने से किसी बाह्य-पदार्थ पर बृहदाकार में प्रतिविम्बित होते देखते हैं। वास्तव में दुनियाँ में हम जो कुछ भला अथवा बुरा देखते हैं, वह सब हमारे मन में ही उपस्थित है। हमारा मन एक फिल्म के समान है और दुनियाँ सिनेमा के पर्दे के समान। मन-रूपी फिल्म हमें दिखायी नहीं देती, इसीलिये हम अबोध बालक के समान परदे पर देखे जानेवाले चित्रों का वास्तविक कारण पर्दे को ही मान लेते हैं।

आरोपण और स्वप्न

आरोपण की प्रवृत्ति को स्वप्नों के द्वारा भले प्रकार से समझा जा सकता है। अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त हो गया है कि स्वप्न मनुष्य की इच्छा की पूर्ति के लिये ही उत्पन्न होते हैं। इनका निर्माण हमारा मन ही करता है। वर्तमान काल में इस सिद्धान्त को फ्रायड महाशय ने प्रचलित किया है और भारतवर्ष में पुराने समय में इस सिद्धान्त को वाल्मीकि ऋषि ने अपने योगवाशिष्ठ नामक ग्रन्थ में निरूपित किया है। योगवाशिष्ठ का कथन है कि न केवल स्वप्न ही मनुष्य की इच्छा के पूरक हैं, वरन् जाग्रतावस्था की घटनाएँ भी मनुष्य की इच्छा के पूरक हैं। जैसे संसार में हम रहना चाहते हैं, वैसे ही में हम रहते हैं। जिस प्रकार स्वप्न हमारी दलित वासना के आरोपण के परिणाम हैं, उसी प्रकार सांसारिक घटनाएँ भी हमारी दलित और भुलाई हुई वासनाओं के आरोपण के परिणाम हैं।

नवीन-मनोविज्ञान ने स्वप्न और जाग्रत अवस्था के आरोपण में एक मौलिक भेद दर्शाया है। स्वप्न-जगत के पदार्थ हमारे विचार, इच्छा अथवा भावना के आरोपण मात्र ही नहीं, वरन् उनके मूर्तिकरण भी हैं। जाग्रतावस्था के आरोपित पदार्थ इनसे भिन्न हैं। स्वप्न में दलित विचार एक प्रत्यक्ष पदार्थ के रूप में चेतना के समक्ष प्रकाशित होता

है, परन्तु जाग्रतावस्था में दलित विचार और भावना किसी बाह्य पदार्थ के ऊपर आरोपित मात्र होते हैं। वे स्वयं उस पदार्थ को पैदा नहीं करते। यह वैज्ञानिक विचार की मान्यता के प्रतिकूल है कि मनुष्य का मन बाह्य संसार को निर्मित कर सकता है।

आरोपण की उपयोगिता

अब प्रश्न यह आता है कि मन की इस आरोपण-क्रिया से व्यक्ति को क्या लाभ होता है। यदि हम ऊपरी दृष्टि से देखें, तो यही कहेंगे कि इससे कोई लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही होती है। यह मनुष्य की आत्मा को धोखे में डालती है। आरोपित पदार्थ सत्य को विकृतरूप में दर्शाते हैं; परन्तु यदि हम ऊँचे दृष्टि-कोण से देखें, तो हम उन्हें मनुष्य की आत्मशिक्षा और आत्म-साक्षात्कार की क्रिया-प्रक्रिया में सहायक पाएँगे। पहले तो आरोपण के द्वारा मनुष्य में मानसिक शैथिल्य आता है और उसके आन्तरिक मन का खिचाव, जो प्रबल इच्छाओं के दमन से उत्पन्न होता है, कम हो जाता है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था के आरोपण अवरुद्ध मानसिक शक्ति को बाहर निकाल देते हैं, और इस तरह मनुष्य को निद्रा का आराम लेने में सहायक होते हैं, उसी प्रकार जाग्रत अवस्था के आरोपण मनुष्य की जाग्रतावस्था की अवरुद्ध मानसिक शक्ति को निकास का मार्ग देते हैं और इस तरह मनुष्य की मानसिक बेचैनी को कम करते हैं। इन आरोपणों के कारण ही मनुष्य संसार में कम अथवा अधिक शान्ति से रह सकता है। यह बात सत्य है कि उसको तब तक सम्पूर्ण मानसिक शान्ति नहीं प्राप्त होती, जब तक वह अपनी सभी इच्छाओं से मुक्त नहीं हो जाता, परन्तु उसे अपेक्षित शान्ति प्राप्त होती है।

आरोपण से एक और लाभ होता है। आरोप्य पदार्थ हमारे स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। जिस दोष को हम जानते नहीं, उससे हम छुटकारा भी नहीं प्राप्त कर सकते। आरोपण के द्वारा जो दोष प्रकट होता है, वह अपने में न दिखाई देकर दूसरे में दिखाई देता है। दोष बिल्कुल न दिखाई देने से यही अच्छा है कि वह किसी में तो दिखाई दे। हमारा अचेतन मन यहाँ आत्म-सुधार का बड़ा ही घूम-घुमैएवाला मार्ग पकड़ता

है। जिस प्रकार किसी अप्रिय सत्य को एक कहानी अथवा रूपक के द्वारा कहकर उसे हठी व्यक्ति के लिये मान्य बनाया जाता है, उसी प्रकार आरोपण के द्वारा कटु सत्य अहंकार के द्वारा स्वीकार कराया जाता है। दूसरों को दोषी ठहराने में वास्तव में हम अपने आपको दोषी ठहराते हैं, और इस तरह हम अपने दोषों को अचेतन मन से चेतना की सतह पर लाते हैं। इस प्रकार स्वतः हमारा मन ही आत्म-शिक्षा का कार्य सदा करता रहता है।

दोषान्वेषण

दोषान्वेषण की मनोवृत्ति एक प्रकार का आरोपण है। हार्ट महाशय का कथन है कि जिस मनुष्य में जो दुर्गुण होते हैं, वह उसी प्रकार के दुर्गुणों से घृणा करने लगता है। लोभी मनुष्य सदा लोभ की निन्दा किया करता है। हार्ट महाशय के कथनानुसार हमारे प्रत्येक अनुचित विचार या क्रिया हमारे अचेतन मन में आत्म-हीनता की ग्रन्थियाँ उत्पन्न करती है। इन ग्रन्थियों के परिणाम-स्वरूप हम अपने आपसे ही घृणा करने लगते हैं। फिर हमारे मन में एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द आरम्भ हो जाता है। हमारा चेतन मन इस द्वन्द से मुक्त होना चाहता है। अतएव अपने आपके प्रति की घृणा आस-पास रहनेवाले लोगों पर आरोपित हो जाती है। इस प्रकार हम अपने दुर्गुणों को दूसरों पर आरोपित करके तथा अपनी घृणाका लक्ष्य दूसरों को बनाकर आत्मग्लानि से बचने तथा अपने दुर्गुणों को चेतना से छिपाने की चेष्टा करते हैं। अतएव दोषान्वेषण की मनोवृत्ति अपने आपको आत्मग्लानि से मुक्त करने की एक चेष्टा-मात्र है। इस प्रकार के दोषान्वेषण की मनोवृत्ति का एक बड़ा सुन्दर उदाहरण हार्ट महाशय ने दिया है।

एक बार एक अविवाहित युवती की यह धारणा बन गई कि उसके पड़ोस का एक युवक उससे प्रेम करता है, और वह उससे विवाह करना चाहता है। यह युवती अपने आपको बड़ी ही सच्चरित्र और संयमी मानती थी। उसका कहना था कि युवक सदा उसका अनुचित रूप से पीछा किया करता है। कुछ दिन पश्चात् एक साधारण घटना से उसकी धारणा बन गई कि उप-

युक्त युवक उसको जबर्दस्ती भगा ले जाना चाहता है। उसने इसकी रिपोर्ट पुलिस को कर दी और पुलिस ने इसकी छान-बीन की। किन्तु अन्त में युवक बिल्कुल निर्दोष पाया गया। वह उक्त युवती को जानता तक नहीं था।

ऊपर की घटना में उक्त युवती ही उस युवक से अनुचित रीति से प्रेम करती थी। किन्तु यह स्वीकार करना उसकी सच्चरित्रता और संयम के प्रतिकूल था। अतः अपने आपको आत्मग्लानि से बचाने के लिये उसने अपने दोष को युवक पर आरोपित कर दिया।

आत्मत्रास का आरोपण

आरोपण एक प्रकार की विक्षिप्तता है। यह एक प्रकार से अपने आपको धोखा देना है। आरोपण की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति अपने आपको बहुत ही महान् और सच्चरित्र समझता है, जब कि वास्तविक बात विपरीत ही होती है। इस मनोवृत्ति वाला व्यक्ति "त्रास-भ्रम" अथवा "निन्दा-भ्रम" का शिकार बन जाता है। त्रास-भ्रम वाले व्यक्ति को अकारण यह भय बना रहता है कि अन्य लोग उसे सदा त्रास देने की चेष्टा किया करते हैं; और निन्दा-भ्रम वाले व्यक्ति को अपनी निन्दा का अकारण भय सदा बना रहता है। उसकी अपराधी मनोवृत्ति सदा दूसरों को अपने विरुद्ध कार्य करते देखती है, अगर वह अपने साथियों को बात-चीत करते देखता है, तो उसकी धारणा बन जाती है कि या तो वे उसकी निन्दा कर रहे हैं अथवा उसे त्रास देने का कोई षड्यन्त्र रच रहे हैं। उनका प्रत्येक कार्य उसके लिये एक षड्यन्त्र बन जाता है, और यह विचार उसे सदा त्रास देता रहता है। वास्तव में उसका सुसत्व (सुपरईगो) ही उसकी निन्दा करता है और त्रास का भय उत्पन्न करता है। अपने आप-द्वारा दण्ड की भावना दूसरों-द्वारा दण्ड दिये जाने के भय में व्यक्त होती है। यह अपनी ही मनोभावनाओं का बाहरी परिस्थितियों पर आरोपण है।

फिशर महाशय ने अपनी असाधारण मनोविज्ञान (एबनारमल साइकालोजी) नामक पुस्तक में एक ऐसे मनुष्य का उदाहरण दिया है, जिसे उसके पास से गुजरता हुआ प्रत्येक व्यक्ति उसके ऊपर थूकता हुआ मालूम

पड़ता था। एक बार वह सच्ची बात को जानने के लिये एक दरवाजे पर खड़ा होगया। उसको ज्ञात हुआ कि उस दरवाजे से जितने लोग गये उन लोगों ने उसकी ओर देखकर थूका। इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उसका अपनी ओर थूके जाने का विचार भ्रम-मात्र था। यह उसके मन में दबी हुई आत्मग्लानि के कारण उत्पन्न हो गया था। वह व्यक्ति पचीस वर्ष का हो गया था, पर अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ था। वह अपनी माँ के साथ अकेले एक ही घर में रहता था। उसका विश्वास था कि समाज के दूसरे लोग उसके चरित्र को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। वह अपने मनोभावों की स्मृति को, जहाँ तक हो सकता था, भुलाने की चेष्टा करता रहता था। उसकी आत्मग्लानि की भावना ही अब एक विचित्र रूप से प्रकाशित होने लगी थी। इस युवक का सुस्वत्व उसके अनजाने ही उसे समाजविरुद्ध आचरण के लिए कोसता था। यह कोसने का भाव बाहरी पदार्थ पर आरोपित होकर प्रकाशित होता था।

'प्रेक्टिस आफ साइकोथ्रेपी' में दिया गया विलियम स्टेकिल का निम्न लिखित शिक्षाप्रद उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—साठ वर्ष की अवस्था के एक व्यापारी को कई बार यह विचार सताता था कि उसके आस-पास रहनेवाले लोग उसे चोर समझते हैं। इस प्रकार का अकारण हठी विचार उसे बीस वर्षों से था। इस व्यक्ति ने विगत चालीस वर्ष से व्यपारी - जीवन बड़ी सचाई से व्यतीत किया था और व्यापारिक-मंडली में उसकी बड़ी साख थी। उसे इस विचार के आने का कोई समुचित कारण नहीं दिखाई देता था कि लोग उसे चोर समझें।

इस व्यक्ति के बचपन की स्मृति के संस्कारों को जानने से पता चला कि उसने तेरह साल की अवस्था में एक छोटी सी चोरी की थी; और उसके लिये कचहरी से उसे थोड़ा सा दण्ड भी मिला था। परन्तु यह घटना पहले तो उसके बचपन का समय बिताये गये गाँव में हुई थी और दूसरे उसे इतना काल बीत गया था कि संभवतः जिस जगह वह रहता था वहाँ किसी भी व्यक्ति को उसका स्मरण रहना संभव न था। तिसपर भी यह व्यक्ति समझता था कि उसके आसपास के सभी लोग उसकी चोरी की बात

को जानते हैं। इस प्रकार के भ्रम का कोई कारण दिखाई नहीं देता था।

डा० स्टेकिल ने इस व्यक्ति का मनोविश्लेषण करके एक दूसरी घटना का पता चलाया। जब यह व्यक्ति अठारह वर्ष का था, तब वह अपनी माँ के पास एक ही पलंग पर सो रहा था। इस अवसर पर उसके मन में माँ के साथ व्यभिचार करने का भाव उत्पन्न हो गया और उसने इसके लिये चेष्टा भी की। माँ उस समय सो रही थी। परन्तु उसका भी चरित्र बहुत पवित्र नहीं था। अतएव किसी प्रकार की हलचल से उसने कोई रंज प्रगट नहीं किया, वह लेटी ही रही।

इस प्रकार की मानसिक और शारीरिक चेष्टाओं के लिये उक्त नव-युवक के मन में पीछे बड़ा संताप हुआ। उसने बड़ी आत्म-भर्त्सना की। इस अनुभव को वह पीछे भूल गया। परन्तु उससे सम्बन्धित भाव नष्ट नहीं हुआ। इस घटना के बाइस वर्ष बाद यह दमित आत्म-भर्त्सना का भाव समाज-द्वारा चोर समझे जाने के भ्रम के रूप में प्रकाशित हो गया। इस तरह के भ्रम से त्रस्त व्यक्ति अपने भ्रम के उदय का कुछ उचित कारण खोजता है। इसके वास्तविक कारण को जान लेना तो उसके लिये संभव नहीं। उसका स्वाभिमान ही पुराने कृत्य को उसकी स्मृति-पटल पर नहीं आने देगा। ऐसे कृत्य की स्मृति मनुष्य के मन में अपार आत्म-ग्लानि उत्पन्न करती है। अतएव रोगी किसी सामान्य घटना को इस प्रकार की झक का कारण मान लेता है। यदि रोगी को वास्तविक कारण का ज्ञान हो जाय, तो उसका रोग ही समाप्त हो जाय। वास्तविक कारण के अभाव में बुद्धि को संतोष देने के लिये कल्पित कारण की जरूरत पड़ती है। परन्तु इससे उसके हृदय को संतोष न होने के कारण उसका रोग बना ही रहता है। अपनी ही आत्मा को कोसना, अथवा निन्दा करना बाहरी व्यक्तियों के द्वारा निन्दा किये जाने के भ्रम के रूप में प्रकाशित होता है।

आरोपण की मनोवृत्ति का व्यक्ति अपने आपमें उपस्थित दोषों को दूसरे लोगों में देखता है। इसी प्रकार वह अपने आपको किसी बुरे काम के लिये दण्ड देता है, अथवा अपनी निन्दा करता है। परन्तु वह उस दण्ड का कर्त्ता अपने आपको न मान कर, किसी बाहरी सत्ता को मानता है।

जिन लोगों का मन अपने सुस्वत्व के प्रतिकूल जाने के कारण दुर्बल हो हो गया है, जो इस प्रकार अपने सुस्वत्व द्वारा दण्डित होने की अपेक्षा रखते हैं, वे समाज-द्वारा दण्डित होने के भय से सदा पीड़ित रहते हैं। ऐसे ही लोगों को डर लगा रहता है कि दूसरे लोग उन्हें चोर, दगाबाज अथवा व्यभिचारी समझते हैं। इस प्रसंग में लेखक के अनुभव में आया हुआ एक उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक नवयुवक सब समय सोचता था कि उसके साथी उसे चोर समझते हैं। उसने अपनी इस भावना को अपने किसी मित्र को बता दिया था। इस मित्र से उसकी खिल्ली उड़ानेवाले दूसरे विद्यार्थियों को यह बात ज्ञात हो गई। वे फिर अनेक प्रकार से उसे परेशान करते थे। उसके रोग का दूसरा कारण कुछ वर्ष पूर्व उसके एक परिचित क्लर्क की घड़ी और फाउण्टेनपेन की चोरी थी, जिसके विषय में उसे भ्रम हुआ था कि उसके प्रति कुछ लोग चोरी करने का सन्देह करते हैं। उसने वह स्थान छोड़ दिया था। वह विद्यार्थी था, अतएव वह एक विश्व विद्यालय से अपना नाम कटवा कर दूसरे में जाकर पढ़ने लगा। परन्तु वहाँ उसका रोग और भी बढ़ गया।

इस रोग का पता चलाने पर उसका वास्तविक कारण दूसरा ही मिला। इस व्यक्ति से लेखक ने कहा कि तुमने घड़ी-फाउण्टेनपेन की चोरी नहीं की, परन्तु किसी सत्य की चोरी की है। यह चोरी किसी ऐसी बातों से सम्बन्धित है, जिसके प्रतीक घड़ी और फाउण्टेनपेन हैं। इस युवक ने पहले तो ऐसी कोई बात न बताई, संभव है उसे ऐसी कोई पुरानी घटना याद ही न रही हो, जिसमें उसे अपने कु-कृत्य के लिये भारी आत्म-ग्लानि हुई और जो आत्म-सम्मान के भाव-द्वारा अचेतन मन में दमित अवस्था में वर्तमान थी। परन्तु कुछ घंटो के बाद वह युवक बड़ी दुखित अवस्था में आया और उसने अपने एक पाप - कृत्य की आत्म-स्वीकृति की। इस व्यक्ति का नैतिक स्तर बड़ा ऊँचा था। उसे उच्च कोटि की नैतिक शिक्षा दी गई थी। वह सम्मानित घर का व्यक्ति था और अपनी पवित्रता के लिये समाज में प्रतिष्ठित था। परन्तु अपने एक मित्र की अनुपस्थिति में उसने मित्र-पत्नी से सहवास किया था। इसके कारण पीछे उसे भारी आत्म-ग्लानि हुई। युवक

इस घटना को भूल गया था। उसकी आत्म-ग्लानि की अनुभूति बाहरी समाज-द्वारा निन्दित होने के भय के रूप में प्रकाशित हुई। जब युवक ने अपनी भूल स्वीकार की, तब उसके लिये कुछ प्रायश्चित्त का उपाय बता दिया गया। इसके बाद उस युवक का रोग समाप्त हो गया।

आदर्शीकरण

आरोपण की तरह आदर्शीकरण भी अपनी अन्तरानुभूतियों को किसी बाहरी पदार्थ में देखना है। आरोपण की क्रिया का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य की कमियों से रहता है, और आदर्शीकरण का सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व में निहित बड़प्पन से रहता है। आरोपण के समान आदर्शीकरण भी अचेतन मानसिक क्रिया है। अतएव इसका ज्ञान मनुष्य की चेतन-बुद्धि को नहीं रहता। जिस प्रकार आरोपण को रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार आदर्शीकरण को भी नहीं रोका जा सकता। आरोपण की अवस्था में मनुष्य उसी वस्तु को दूसरे व्यक्ति अथवा पदार्थ में देखने लगता है, जो उक्त व्यक्ति अथवा वस्तु में उपस्थित नहीं है। उसी प्रकार आदर्शीकरण में भी जो गुण किसी व्यक्ति अथवा पदार्थ में नहीं है, उन गुणों को व्यक्ति उनमें देखने लगता है।

आदर्शीकरण आदर्श निर्माण से भिन्न मानसिक क्रिया है। मनुष्य के किसी प्रकार की प्रगति के लिए आदर्श-निर्माण की नितान्त आवश्यकता है। यदि मनुष्य के जीवन में आदर्श न हों, तो वह किसी प्रकार की प्रगति न कर सकेगा। पशु और मनुष्य में भेद इतना ही है कि जहाँ पशुओं में विचार-शक्ति नहीं है, वहाँ मनुष्य में विचार-शक्ति है; और इस विचार-शक्ति का सर्वोत्तम कार्य आदर्श-निर्माण में ही देखा जाता है। पशुओं के जीवन में कोई आदर्श सम्भव नहीं हो सकता। आदर्श-निर्माण चेतन मन का कार्य है, और आदर्शीकरण अचेतन मन का। अचेतन मन के कार्य में विचार की प्रधानता न होकर कल्पना और भाव की प्रधानता होती है। अतएव जहाँ आदर्श में परिवर्त्तन का होना संभव होता है, वहाँ आदर्शीकरण के कार्य में परिवर्त्तन का होना अत्यन्त कठिन है।

वीरोपासना में हम आदर्श-निर्माण का कार्य देखते हैं। इसी प्रकार

किसी सत्पुरुष की पूजा में, जैसे शिव, दधीचि और हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व में, आदर्श-निर्माण का कार्य देखा जाता है, और अवतारोपासना में आदर्शीकरण का। आदर्श-निर्माण में हम अपने आपको आदर्श के अनुरूप बनाने की चेष्टा करते हैं। हमने जिस आदर्श की सृष्टि की, उस आदर्श तक पहुँचने की चेष्टा हम करते हैं। परन्तु आदर्शीकरण में न तो हम अपने को इस योग्य ही मानते हैं कि हम अपनी कल्पना के अनुरूप बन सकते हैं, और न उसकी चेष्टा ही करते हैं। यदि कोई हमारे आदर्श की आलोचना करे, तो हम उससे उद्विग्न मन न होकर उसका विचार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं; परन्तु यदि आलोच्य पदार्थ हमारे आदर्शीकरण का परिणाम है; तो हम किसी प्रकार उसकी आलोचना नहीं सहते हैं। अनेक प्रकार के सांप्रदायिक दंगे इसी प्रकार की आलोचना के कारण हो जाते हैं। संसार के सभी धर्मों में आदर्शीकरण का कार्य देखा जाता है। कृष्ण और राम ईश्वर के अवतार, हजरत ईसा ईश्वर के इकलौते बेटे, और पैगम्बर मुहम्मद ईश्वर के विशेष दूत थे। इसी तरह सभी धर्म-मतों के प्रवर्तक किसी-न-किसी प्रकार के अलौकिक शक्ति से सम्पन्न ही थे। भगवान बुद्ध स्वयं तो बड़े ही तार्किक थे, परन्तु उनके अनुयायियों ने उनकी पूजा उसी तरह की है, जिस प्रकार हिन्दू अपने अवतारों की करते हैं। स्वयं ईश्वर की कल्पना भी मन के आदर्शीकरण की कल्पना का परिणाम है। टेन्सले महाशय ने अपनी 'न्यू साइकालाजी' नामक पुस्तक में बताया है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमूर्ति के अनुसार बनाया है, यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उतना सत्य नहीं है, जितना यह सत्य है कि मनुष्य ने ईश्वर को अपनी प्रतिमूर्त्ति के अनुरूप बनाया है। वास्तव में ईश्वर मनुष्य के अचेतन मन के आदर्शीकरण की क्रिया का परिणाम है।

यह आदर्शीकरण हमारे जीवन के साधारण व्यवहारों में देखा जाता है। मनुष्य जिस स्त्री को प्यार करता है, उसको वह संसार में रूप की सीमा मान लेता है। यदि कोई दूसरा व्यक्ति ऐसी स्त्री में दोष बताए, तो उसके लिए यह असह्य हो जाता है। इसी प्रकार अपने उपास्य महापुरुष में मनुष्य सभी प्रकार की पूर्णता देखता है। उनमें किसी प्रकार के दोष की कल्पना

वह कर ही नहीं सकता। इस प्रकार की मानसिक क्रिया से मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित प्रेम-शक्ति प्रकाशित होकर उसके मन के खिंचाव को कम कर देती है। यदि यह शक्ति अवरुद्ध ही रहे, तो यह अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बन जाती है और आदर्शीकरण में प्रकाशित होकर यह मन को शान्त करती है।

आन्तरीकरण

आन्तरीकरण का स्वरूप

आरोपण और आन्तरीकरण एक दूसरे को पूरक मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। आरोपण में अपने गुण अथवा दोषों को मनुष्य अपने से बाहर किसी व्यक्ति में देखता है। यह अपनी मानसिक भावनाओं का एक प्रकार से मूर्तिकरण है। इसके विपरीत आन्तरीकरण में दूसरे व्यक्ति की मानसिक अथवा शारीरिक अवस्था को मनुष्य अपने आपमें आरोपित कर लेता है, अर्थात् वह दूसरे व्यक्ति के गुणों अथवा कार्यों को अपने गुण अथवा कार्य समझने लगता है †। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति एक हत्यारे की कहानी बड़े चाव से सुनता है। पीछे उसमें एकाएक झक के रूप में भावना उठती है कि वह स्वयं ही हत्यारा है और हत्यारे को जो दंड मिलता है, वह उसे ही मिलना चाहिए। एक महिला किसी दूसरी महिला की बीमारी का संवाद सुनती है और कुछ समय के बाद वह स्वयं ही उसी बीमारी से पीड़ित होने लगती है।

आन्तरीकरण और मूर्छा

अभी हाल की बात है। लेखक के एक मित्र की सात वर्ष की लड़की को फिट (मूर्छा) की बीमारी हो गई थी। इस लड़की को लेकर ये मित्र पहुनई में गये थे। जब वे मेहमानी से वापस आ रहे थे, तब रेल में अधिक भीड़ होने के कारण उस लड़की की बीमारी बढ़ गई। उसे

1 Introjection.

† Projection is displacing a subjective process into the object and introjection is taking an object into the subject"—Tansley—*New Psychology*.

अब आध-आध घंटे में फिट होने लगे। इस मित्र के साथ कहार की एक उसी उम्र की दूसरी लड़की थी, जो बीमार लड़की के साथ रहा करती थी। जब वे रेल पर चढ़े थे, तो कहार की लड़की पूर्ण स्वस्थ थी। पर इस लड़की को दो घंटे बाद रेल में ही फिट आने लगे। इसे पहले कभी भी फिट नहीं आते थे। इसके फिट आने का कारण उक्त मित्र की लड़की का सम्पर्क था। मित्र अपनी लड़की के फिट की बीमारी से बड़े परेशान थे और आस-पास के यात्रियों से बार-बार उसकी चर्चा करते रहते थे। इससे वह बीमारी महत्व की वस्तु बन गई थी। लड़की के बेहोश हो जाने पर वे उसे होश में लाने के लिये बहुत पुचकारते थे। कहार की लड़की के अचेतन मन ने (जो बड़ा भोला है) फिट की स्थिति को महत्व की वस्तु मान ली और उसने उस बीमार के साथ इतना तादात्म कर लिया कि उस लड़की को भी वही बीमारी हो गई।

आन्तरीकरण और हिस्टीरिया

हिस्टीरिया एक भारी संक्रामक रोग माना गया है। इसके संक्रामक होने का एक कारण इस रोग से पीड़ित व्यक्ति को परिवार में महत्व का स्थान मिलना भी है। जब कोई स्त्री हिस्टीरिया के रोग से पीड़ित होती है, तो दूसरे लोग सदा उसी के बारे में चर्चा करते रहते हैं। वे उसे कई प्रकार का लाड़ दिखाते हैं। हिस्टीरिया के रोगी का इस प्रकार आदर देखकर दूसरी स्त्रियों के अचेतन मन उक्त रोगी स्त्री के साथ तादात्मभाव स्थापित कर लेते हैं। वे अपनी कल्पना में स्वयं रोगी बन जाती हैं। जब यह कल्पना अति प्रबल हो जाती है, तो वे स्वयं हिस्टीरिया रोग का अभिनय करने लगती हैं। यह स्मरण रहे कि इस प्रकार छूत से हिस्टीरिया उन्हीं स्त्रियों को होती है, जिनमें किसी प्रकार की मानसिक बेचैनी पहले से ही है, अर्थात् जो भीतरी मन से रोग का आवाहन किया करती हैं। जिस व्यक्ति को मानसिक शान्ति है, वह रोगी व्यक्ति के द्वारा आत्मसात् नहीं किया जाता। रोगी बनकर अपना महत्व बढ़ाना, अपने आपको ऊँचा उठाने का एक विकृत मार्ग है।

हिस्टीरिया का रोग कल्पना की प्रबलता से उत्पन्न होता है। जब

किसी व्यक्ति के मन में कोई विचार बार-बार आता है तो उसका आचरण अपने विचार के अनुरूप परिणत हो जाता है। हमारी चेतना अप्रिय विचार को भुलाने की चेष्टा करती है। इस प्रकार उस विचार का दमन होता है। इससे उस विचार का निराकरण नहीं होता, जिससे वह और भी बली बन जाता है, और फिर वह अकारण अभद्र कल्पनाओं अथवा मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण बन जाता है। तादात्मीकरण की प्रवृत्ति प्रबल विचार के दमन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। जिस प्रकार रोगी आरोपण में अपने मन के कार्य को नहीं समझता; उसी प्रकार आन्तरीकरण में भी वह अपने मन के कार्य को नहीं समझता। आरोपण और आन्तरीकरण दोनों अचेतन मानसिक प्रतिक्रियाएँ हैं। ये तभी तक होती रहती हैं, जब तक रोगी इनके स्वरूप अथवा कारण को नहीं जानता; अर्थात् जब तक उसका चेतन मन इनके विषय में अनभिज्ञ है। इनके स्वरूप और कारण को भली प्रकार से समझ जाने पर वे नष्ट हो जाती हैं।

आन्तरीकरण और अभद्र कल्पनाएँ

जब किसी व्यक्ति को ऐसी झक हो जाती है, जिसके कारण वह अपने आपको दोषी समझने लगता है, तो उसका कारण उसकी पुरानी प्रबल कल्पना होती है। लेखक के पास एक ऐसा रोगी आया, जिसे झक उत्पन्न हो गई थी कि उसे फाँसी की सजा हो जावेगी। इस झक का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता था। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसे पहले-पहल यह झक उस समय उत्पन्न हुई थी, जब उसके घरपर एक हत्यारा बिना अपराध बताये ठहर गया था और पीछे उसकी पूछताछ उक्त व्यक्ति से की गई थी। उस समय उक्त रोगी को भय हो गया था कि कहीं पुलिस उसीको हत्याका दोषी न समझ ले और उस हत्यारे के साथ उसे भी सजा न हो जाय। बहुत दिन तक वह इस प्रकार के विचार से घबड़ाता रहा। पर जाँच-पड़ताल के परिणामस्वरूप पुलिस ने उसे निर्दोष ठहराया और किसी प्रकार से उसे परेशान नहीं किया। इस घटना के बाद उसे किसी भी कल्पित घटना से भय होने लगा, और फिर अकारण फाँसी का भय उत्पन्न हो गया।

उक्त रोगी के पूर्व-जीवन की खोज करने पर पता चला कि इसका कारण उसके मन में उपस्थित एक अन्तर्द्वन्द था। रोगी का झगड़ा और अपने एक घनिष्ट मित्र से हो गया। मित्र ने उसे गाली-गलौज किया इस रोगी ने गुण्डे लगवा कर उसे पिटवाया। इस घटना के बाद उसे मानसिक बेचैनी हो गई। उसे आत्म-भर्त्सना उत्पन्न हो गई कि उसने बहुत ही बुरा काम किया। पर अब इस बुरे काम का किसी प्रकार प्रतिकार भी नहीं किया जा सकता था। दोनों मित्रों में सदा के लिये शत्रुता का भाव उत्पन्न हो गया। रोगी अपने आपको दोषी समझता था। अब आत्म-भर्त्सना के विचार को भुलाने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं रह गया था। कुछ दिनों के प्रयत्न के बाद वह अपने कुकृत्य की स्मृति को भुला सका, पर अब वह अनेक प्रकार की झकों का शिकार बन गया। उसका मन आत्म-ग्लानि से पीड़ित था और वह दण्ड द्वारा उसका प्रायश्चित्त करना चाहता था। जब उसकी चेतना ने प्रायश्चित्त करने के भाव को दबाने की चेष्टा की, तो अज्ञात रूप से यह प्रायश्चित्त होने लगा, अर्थात् रोगी मन अब उन लोगों से अपना तादात्म करने लगा; जो दंड के भागी थे। दंड के भागी मनुष्य को दंड अवश्य मिलता है। जब दोषी व्यक्ति जान-बूझकर दंड स्वीकार कर लेता है, तो उसका मन शुद्ध हो जाता है और फिर वह कल्पित दंड की स्थिति में नहीं पड़ता, अन्यथा उसकी कल्पनाएँ ही उसके लिए नरक स्वरूप हो जाती हैं।

आन्तरीकरण और मानसिक रोग

ऊपर कहा जा चुका है कि मूर्छा और हिस्टीरिया संक्रामक मानसिक रोग हैं, और इनका प्रधान कारण मनुष्य के तादात्मीकरण की मनोवृत्ति है। पर ये रोग रोगी को तभी होते हैं, जब रोगमूलक प्रवृत्ति रोगी में रहती हैं। हिस्टीरिया के रोग का कारण रोगी के मन में तादात्मीकरण की मनोवृत्ति होती है। हिस्टीरिया के रोगी की चेष्टाओं को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वह किसी विस्मृत घटना अथवा किसी व्यक्ति के विस्मृत आचरण का अभिनय कर रहा है। कभी-कभी वह अपने ही विस्मृत कल्पित आचरण का अभिनय करता है। मान लीजिए कि कोई स्त्री एक तकिए को

छाती से इस प्रकार चिपका रही है, जिस प्रकार एक स्त्री अपने प्रेमी को चिपकाती है। उसका इस प्रकार का आचरण अपनी विस्मृत कल्पना का पुनर्जागरण है। जो बात उसने पहले कल्पना में की थी, वह अब अपने अनजाने वास्तव-रूप में कर रही है। रोगी के अचेतन मन के लिये तकिया हो प्रेमी का प्रतीक बन जाता है। इसी प्रकार जब कोई स्त्री किसी पदार्थ को अपने पास से ढकेलती है, अथवा विकृत मुँह बनाती है या इधर-उधर दौड़ती है, तो वह अपनी कल्पना का अभिनय करती है। अनचाहे व्यक्ति से मुक्त होने की जो चेष्टा पहिले उसने कल्पना में की थी, वह अब अचेतन रूप से करती है। जिस काम को मनुष्य पहले जान-बूझकर करता है वह जब उसके भावों से संबंधित हो जाता है और इस प्रकार उसके अचेतन मन में चला जाता है, तो उसे अपनी इच्छा के प्रतिकूल उन्हें करना पड़ता है। यदि उसकी नैतिक भावना साधारण-सी बाधा डाले, तो वह अपनी चेतना नहीं खोता। ऐसी अवस्था में दबी भावना अनिच्छित झक, इल्लत आदि रोगों के रूप में प्रगट हो जाती है, किन्तु यदि चेतना का प्रतिबंध नष्ट हो जाय, तो ऐसी ही अवस्था में हिस्टीरिया, सोमनम्बूलिज्म (चलित स्वप्न), तन्द्रा आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

हिस्टीरिया का रोगी कभी-कभी अपने कल्पित आचरण का और कभी-कभी प्रेमी अथवा घृणित व्यक्ति के आचरण का अभिनय करने लगता है। प्रेम और घृणा दोनों के कारण मनुष्य का अचेतन मन दूसरे व्यक्ति के साथ तादात्म का भाव स्थापित कर लेता है। इस प्रसंग में हार्ट महाशय का 'साइकालोजी आफ इनसेनिटी' में दिये हुए निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

एक महिला एक कोने में चुपचाप बैठकर दिन भर अपने हाथ से ऐसी चेष्टा करती रहती थी मानो वह कुछ सी रही हो। सबेरे से शाम तक उसका दिन भर वर्षों यही काम था। वह किसी से बोलती चालती न थी, अतएव किसी प्रकार उसकी इस चेष्टा के कारण का पता चलाना कठिन था। उसके पहले के जीवन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि यह महिला एक मोची से प्यार करती थी। पहले तो मोची

ने उसके प्रेम को प्रोत्साहित किया, किन्तु पीछे उसने इस महिला के प्रेम की परवाह नहीं की। इस दुःखद घटना को उक्त महिला ने भुलाने का प्रयत्न किया, इसके परिणामस्वरूप ही वह जूता सीने की क्रिया का, जो उसके प्रेमी के व्यवसाय से संबंधित थी, अभिनय करने लगी।

एक दूसरी महिला को बैंक नोट के नंबरों को ठीक से देखने की झक सवार हो गई थी। यह भी एक प्रकार का हिस्टीरिया था। इसका कारण खोजने पर पता चला कि जब वह एक होटल में एक खूबसूरत नवयुवक के साथ भोजन कर रही थी तो उसने भोजन का दाम चुकाने के लिये एक सिक्के की रेचकारी उस नवयुवक से माँगी। वह नवयुवक उस महिला से पहले से ही प्रेम से बातचीत कर रहा था। उसने रेचकारी देना स्वीकार कर लिया। रेचकारी देकर उसने उस सिक्के को भली प्रकार से देखा और कहा कि मैं इसे कभी भी अपने पास से अलग न करूँगा; अर्थात् उसने उसे महिला के प्रेमोपहार के रूप में मान लिया। इससे उक्त महिला मन ही मन बहुत प्रसन्न हुई। उसे आशा हुई कि उक्त युवक उससे विवाह कर लेगा। पर उसने ऐसा नहीं किया। पीछे सिक्के की घटना एक दुःखद स्मृति बन गई और उसके इसे भुलाने की चेष्टा करने पर वह स्मृति दब गई, पर अब वह पुरानी घटना एक निरर्थक आचरण के रूप में महिला के जीवन में प्रकाशित हो गई। वास्तव में बैंक नोट के नम्बरों का उस महिला द्वारा भली प्रकार से देखा जाना प्रेमी के होटल के व्यवहार का महिला द्वारा अभिनय मात्र था।

हार्ट महाशय का उक्त पुस्तक में दिया हुआ प्रेम के द्वारा तादात्म-भाव स्थापित होने का एक और उदाहरण उल्लेखनीय है। एक युवती अपनी अचेतन अवस्था में किसी रोगी के रोग का अभिनय किया करती थी। इसका कारण खोज करने से पता चला कि वह अपनी माँ की बीमारी का अभिनय करती। उसकी माँ को पेट का रोग था जिसके कारण वह बहुत बेचैन रहती थी। यह महिला भी कल्पित बीमारी से बेचैन हो जाती थी। उसकी मृत्यु अस्पताल में आपरेशन के कारण हुई। वह महिला इस दुःख का अनुभव करती थी। जिस समय इस महिला की

माँ का आपरेशन हो रहा था उसी समय गिरजाघर का घंटा भी बजता था, जो उसे बहुत ही बुरा लगता था। पीछे वह इस घटना को भूल गई, पर गिरजाघर के घंटे की आवाज से उसे स्थायी घृणा हो गई और इसी के कारण वह कभी-कभी बेहोश हो जाती थी।

जिस प्रकार प्रेम के कारण तादात्म-भाव स्थापित हो जाता है और उससे बीमारी हो जाती है, इसी तरह घृणा के कारण भी तादात्म-भाव स्थापित हो जाता है और उससे हिस्टीरिया, सोमनेम्यूलिज्म की बीमारी उत्पन्न हो जाती है। इस प्रसंग में फ्रायड महाशय का 'इन्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइकोएनालैसिस' नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक महिला अपनी हिस्टीरिया की बीमारी में एक कमरे से दूसरे कमरे में जाने, बिस्तरों को भली प्रकार से देखने और उनकी चादरों पर स्याही गिराने के भावों का अभिनय करती थी। इसकी बीमारी का कारण खोजने से पता चला कि जब उसका विवाह हुआ था तो उसके पति ने सुहागरात के दिन नपुंसक जैसा व्यवहार किया था। वह एक कमरे में सोया था और नव-वधू दूसरे कमरे में सोई थी। वह रति-क्रिया के लिये बार-बार अपने कमरे से अपनी स्त्री के कमरे में आता था, पर ज्योंही वह अपनी स्त्री के पास पहुँचता तो उसका काम-वेग ठंडा हो जाता था और वह निराश होकर वहाँ से चला जाता था। इस रात उसकी स्त्री को नींद नहीं आई और वह अपने पति के इस अभिनय को चुपचाप पति के अनजाने देखती रही। वह स्वयं कामातुर थी और उसे अपने पति के उक्त नपुंसक व्यवहार से भारी घृणा हुई। पीछे उसने इस दुःखद स्मृति को भुलाने की चेष्टा की, पर वह अब हिस्टीरिया की बीमारी में परिवर्तित हो गई जिसमें स्त्री उन्हीं सब क्रियाओं का अभिनय करती थी जिनका प्रदर्शन उसके पति ने किया था। पति ने सबेरा होते होते लाल स्याही का दाग अपनी स्त्री की चादर पर लगा दिया था जो अपनी नपुंसकता को अपनी नौकरानी से छिपाने के लिये किया गया था। इसका भी अभिनय उक्त महिला अपनी बीमारी में करती थी।

तादात्मीकरण से वास्तविक मानसिक रोगों की उत्पत्ति का एक उदाहरण, जिसे लेखक के एक मित्र डाक्टर महादेव देसाई ने, जो मानसिक रोगों के विशेषज्ञ हैं, हाल में लेखक से बताया है, उल्लेखनीय है। उदाहरण डाक्टर साहब के मित्र का है। यह व्यक्ति एक बार एक ऐसे उपन्यास को पढ़ रहा था, जिसमें उपन्यास के प्रधान नायक को अनेक प्रकार के संकटों में पड़ना पड़ा था। वह कभी समुद्र में अकेले एक नाव के ऊपर बैठकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता था, कभी बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करता था, कभी डाकुओं से अपनी जान बचाता था—इस प्रकार वह अनेक घटनाओं को पार करता जाता था। एक बार उक्त प्रधान नायक किसी सघन जंगल में पहुँचा और उसमें से होकर एक पहाड़ पर चढ़ गया; उसे जंगली जानवरों ने इस समय घेर लिया। वह फिर एक अँधेरी गुफा में चला गया। इस समय उक्त व्यक्ति ने पुस्तक का पढ़ना बंद कर दिया और उसे यह झक उत्पन्न हो गई कि वह नायक अब उस गुफा से कैसे निकलेगा। वह और सब बातें भूल गया और सभी लोगों से यही कहने लगा कि 'वह अब कैसे निकलेगा।' यह भावना एक मानसिक बीमारी बन गई और इसी भावना के कारण चार महीने के भीतर उसकी मृत्यु हो गई।

ऐसे तो सभी लोग उपन्यास और नाटक के पात्रों से समन्वय स्थापित करते ही हैं और यही आत्मसात् का भाव उनमें रुचि का कारण होता है, पर जिस व्यक्ति के दलित भाव प्रबल होते हैं अर्थात् जिसके मन में प्रबल अन्तर्द्वन्द्व चलते रहते हैं; वह इन पात्रों को अत्यधिक आत्मसात् कर डालता है और स्वयं उन्हीं दुःखों को भोगने लगता है, जिन्हें उपन्यास के कल्पित व्यक्ति भोगते हैं। इस प्रकार के आत्म-सात् से मनुष्य की आन्तरिक भावना चेतना के समक्ष आती है और उससे अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियों का रेचन होता है। संसार के साहित्यकार इस प्रकार मानसिक ग्रंथियों का रेचन करके मानसिक साम्य के स्थापन में सहायक होते हैं।

तादात्मीकरण और शारीरिक रोग

जिस प्रकार तादात्मीकरण से मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं, उसी

प्रकार उससे शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। आन्तरिक प्रेम अथवा घृणा के कारण इस प्रकार का तादात्मीकरण हो जाता है। कभी-कभी किसी व्यक्ति की हँसी उड़ाने के लिये नकल करने की चेष्टा से भी तादात्मीकरण हो जाता है और इस तरह जिन लोगों की हँसी उड़ाई जाती है उनके दोष खिल्ली उड़ानेवाले व्यक्ति में आ जाते हैं। प्रेम और घृणा के कारण तादात्मीकरण के कुछ उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय हैं।

ट्रेनिंग कालेज में पढ़नेवाली लेखक की एक छात्रा को एक बार प्लूरेसी की बीमारी हुई। उस छात्रा की उम्र चौबीस वर्ष की थी। वह उस समय तक क्वाँरी थी। वह साधारणतः स्वस्थ रहती थी और शरीर से हट्टी-कट्टी भी थी। उसकी प्लूरेसी की बीमारी का हाल सुनकर लेखक को विस्मय हुआ। जिस समय वह बीमार पड़ी थी, उस समय लेखक उसका हाल पूछने गया। पूछने से उसके रोग का कोई भौतिक कारण न जान पड़ा। जिस समय लेखक उक्त छात्रा से उसका कुशल-समाचार पूछ रहा था, उस समय छात्रा ने लेखक से एक प्रश्न किया, 'मुझे अपने पिता की मृत्यु का स्मरण सदा आया करता है, मैं उनकी स्मृति को भूलना चाहती हूँ, पर भूलने में समर्थ नहीं होती। उनकी स्मृति बड़ी दुःखद है, अतएव मुझे पिता की स्मृति को भूल जाने का उपाय बताइए ?'

लेखक ने उसके इस प्रश्न का उत्तर न देकर उसके पिता के बारे में और बात-चीत की। हाल ही में उसके पिता की मृत्यु प्लूरेसी के रोग से हो गई थी। पिता की मृत्यु के समय छात्रा उपस्थित थी। पिता को प्लूरेसी के कारण जो कष्ट हुआ था, उसका अनुभव उसने उस समय किया था। उसे पिता के मरने से बहुत दुःख हुआ था। उसके पिता गरीब मनुष्य थे। हिंदी मिडिल स्कूल के मास्टर रहकर उन्होंने अपनी तीन कन्याओं को योग्य शिक्षा दी थी। उनका एक लड़का बी० ए० में पढ़ रहा था। वे देश-भक्त थे और उन्होंने कई बार महात्मा गांधी के आंदोलनों में जेल-यात्रा की थी। छात्रा की बहिनें विवाहित हो चुकी थीं और वे अपने परिवार को सम्हालती थीं। वे किसी प्रकार वृद्ध पिता की सेवा नहीं कर सकती थीं। उक्त छात्रा ने अपने जीवन का ध्येय पिता की सेवा

करना ही बना लिया था। इसलिये वह विवाह भी नहीं करती थी। उसका विश्वास था कि उसका भाई भी पिता की सेवा ठीक से न करेगा और उसका विवाह हो जाने पर वह भी किसी प्रकार से पिता की सेवा तथा सहायता न कर सकेगी। अब तक वह स्वयं ही आर्थिक परावलम्बन में थी। पर अब बी० टी० परीक्षा पास कर लेने पर उसे कुछ कमा सकने की आशा हो गई थी। चार-पाँच महीने के पश्चात् ही वह अध्यापिका हो जानेवाली थी और उस समय वह अपने हृदय की भावना को पूरी कर लेती। पर इसी बीच पिताजी चल बसे।

ऐसे तो पिता और पुत्री में तादात्म्य का भाव रहता ही है, पर इस महिला में वह भाव विशेष प्रकार हो गया था। इसके परिणाम-स्वरूप पिता की मृत्यु के दृश्य ने उसके मन पर असामान्य प्रभाव डाला। अतएव पिता के मरने के पश्चात् यह महिला स्वयं पिता के रोग और मृत्यु का अभिनय करने लगी। जिस रोग से उसके पिता मरे थे, वही रोग उस महिला को उत्पन्न हो गया। पिता की स्मृति को भुलाने की चेष्टा ने पिता के साथ तादात्मीकरण के भाव को प्रबल कर दिया। चेतन मन में किसी भी भाव का जितना ही दमन किया जाता है, वह अचेतन मन में उतना ही प्रबल हो जाता है। यही रोग का कारण होता है। चेतन मन में किसी घटना का अभिनय करना उतना प्रभावजनक नहीं होता, जितना कि अचेतन मन में उस अभिनय के पैठ जाने पर होता है।

सभी प्रकार की कल्नाएँ घातक नहीं होतीं। जिन कल्पनाओं को हमारा अचेतन मन ग्रहण कर लेता है, अर्थात् अचेतन मन में जिनकी जड़ रहती है और जिन्हें भूलने का प्रयत्न करने पर भी हम भूल नहीं पाते, वे ही घातक होती हैं। लेखक ने उक्त महिला को अपने पिता की मृत्यु की स्मृति भुलाने का कोई उपाय न बताकर पिता के गुणों को स्मरण करने की ही सलाह दी। साथ ही उसे यह आदेश दिया कि वह ऐसा प्रयत्न करे, जिससे उसके पिता की आत्मा को शान्ति मिले; वह अपने पिता को स्मरण रखकर अपने जीवन को राष्ट्र-सेवा में व्यतीत करने का संकल्प करे। इस प्रकार के आदेश से उसके पिता की स्मृति का दुःखदाई भाव जाता

करना ही बना लिया था। इसलिये वह विवाह भी नहीं करती थी। उसका विश्वास था कि उसका भाई भी पिता की सेवा ठीक से न करेगा और उसका विवाह हो जाने पर वह भी किसी प्रकार से पिता की सेवा तथा सहायता न कर सकेगी। अब तक वह स्वयं ही आर्थिक परावलम्बन में थी। पर अब बी० टी० परीक्षा पास कर लेने पर उसे कुछ कमा सकने की आशा हो गई थी। चार-पाँच महीने के पश्चात् ही वह अध्यापिका हो जानेवाली थी और उस समय वह अपने हृदय की भावना को पूरी कर लेती। पर इसी बीच पिताजी चल बसे।

ऐसे तो पिता और पुत्री में तादात्म्य का भाव रहता ही है, पर इस महिला में वह भाव विशेष प्रकार हो गया था। इसके परिणाम-स्वरूप पिता की मृत्यु के दृश्य ने उसके मन पर असामान्य प्रभाव डाला। अतएव पिता के मरने के पश्चात् यह महिला स्वयं पिता के रोग और मृत्यु का अभिनय करने लगी। जिस रोग से उसके पिता मरे थे, वही रोग उस महिला को उत्पन्न हो गया। पिता की स्मृति को भुलाने की चेष्टा ने पिता के साथ तादात्मीकरण के भाव को प्रबल कर दिया। चेतन मन में किसी भी भाव का जितना ही दमन किया जाता है, वह अचेतन मन में उतना ही प्रबल हो जाता है। यही रोग का कारण होता है। चेतन मन में किसी घटना का अभिनय करना उतना प्रभावजनक नहीं होता, जितना कि अचेतन मन में उस अभिनय के पैठ जाने पर होता है।

सभी प्रकार की कल्नाएँ घातक नहीं होतीं। जिन कल्पनाओं को हमारा अचेतन मन ग्रहण कर लेता है, अर्थात् अचेतन मन में जिनकी जड़ रहती है और जिन्हें भूलने का प्रयत्न करने पर भी हम भूल नहीं पाते, वे ही घातक होती हैं। लेखक ने उक्त महिला को अपने पिता की मृत्यु की स्मृति भुलाने का कोई उपाय न बताकर पिता के गुणों को स्मरण करने की ही सलाह दी। साथ ही उसे यह आदेश दिया कि वह ऐसा प्रयत्न करे, जिससे उसके पिता की आत्मा को शान्ति मिले; वह अपने पिता को स्मरण रखकर अपने जीवन को राष्ट्र-सेवा में व्यतीत करने का संकल्प करे। इस प्रकार के आदेश से उसके पिता की स्मृति का दुःखदाई भाव जाता

रहा और फिर उसे उसको भुलाने की आवश्यकता ही न रह गई। तादात्मीकरण के नष्ट हो जाने पर उस महिला का शारीरिक रोग भी धीरे-धीरे नष्ट हो गया।

यहाँ पर कूये महाशय की कल्पना और इच्छाशक्ति के संबंध के सिद्धान्त को स्मरण कराना आवश्यक है। जब हमारी इच्छाशक्ति कल्पना के साथ काम करती है, तो उसका बल कल्पना के बल में जुड़ जाता है, किन्तु जब इच्छाशक्ति कल्पना के विरुद्ध काम करती है; तो वह सदा हार खाती है। हम इच्छाशक्ति के बल को जितना ही बढ़ाते हैं, कल्पना का बल स्वयं ही तदनुसार बढ़ जाता है। इच्छाशक्ति और कल्पना का अन्तर्द्वंन्द्व अधिक देर तक चलने पर मनुष्य को भयंकर शारीरिक अथवा मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव यदि कोई दुःखद स्मृति हमारे मानस-पटल से न जाती हो, तो हमें उसे विस्मृत करने की चेष्टा ही न करनी चाहिए। अप्रिय घटना के बारे में ही सोचने लग जाने से वह घटना हमें फिर तंग नहीं करती। इसी सिद्धांत का प्रयोग उक्त महिला की दुःखद स्मृति को भुलाने में लेखक ने किया था। इससे वह न केवल दुःखद स्मृति को भूल सकी, वरन् उसे चामत्कारिक स्वास्थ्य-लाभ भी हुआ।

जिस प्रकार प्रेम के कारण शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार वह घृणा के कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जो लोग किसी संक्रामक रोग से पीड़ित व्यक्ति के समीप रहते हैं, कभी-कभी उन्हें भी वह रोग हो जाता है। इसका एक प्रधान कारण रोगी के प्रति उनकी घृणा का भाव है। कोढ़ी से घृणा करना इस दृष्टि से बुरा है। घृणा के कारण रोगी के साथ हमारे अचेतन मन का तादात्म्य-भाव स्थापित हो जाता है और फिर हम उसके रोग का अभिनय करने लगते हैं।

काशी मनोविज्ञानशाला में एक नवयुवक कोढ़ हो जाने के भय का भाव लेकर आया। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि उसमें अपनी काम कुचेष्टाओं के प्रति भारी आत्म-ग्लानि का भाव था। उसके घर के सामने दो कोढ़ी रहते थे। अतएव उसे भय हो गया कि उसे भी संक्रामकता

के कारण कोढ़ हो जावेगा। इस प्रकार का तादात्मीकरण अचेतन मन की प्रेरणा से उत्पन्न होता है।

लेखक का एक छात्र एक राजनैतिक नेता की नकल किया करता था। इस नेता में विशेष रूप से मुँह बनाने की आदत थी। छात्र भी अपने सहपाठियों के समक्ष उसी प्रकार मुँह बनाता और इस प्रकार उसकी खिल्ली उड़ाता था। पर कुछ समय के पश्चात् उसे उस नेता की तरह मुँह बनाने की लत लग गई। अब वह उसे छोड़ना चाहता है, परंतु वह उससे छूटता नहीं है। उसका कथन है कि जिस प्रकार किसी नशाखोर को नशा करने की हवश-सी लगी रहती है, उसी प्रकार उसे भी मुँह बनाने की एक प्रकार की हवस-सी हो गई है। उसे समय-समय पर कक्षा छोड़कर अपने मुँह को बनाने के लिये बाहर आना पड़ता है।

यहाँ पर हम देखते हैं कि जब तक उक्त नेता की नकल करना चेतन मन का ही कार्य था, तब तक विद्यार्थी को कोई क्षति नहीं हुई। पर उसे नकल करने में अत्यधिक सफलता प्राप्त हो गई और उसके अचेतन मन ने उसके अभिनय के भाव को पकड़ लिया। जब अचेतन मन किसी प्रकार के भाव को पकड़ लेता है तो उसे छुड़ाने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है; वह उतना ही प्रबल होता जाता है। कभी-कभी प्रकृति मौलिक शारीरिक और मानसिक परिवर्त्तन कर देती है। इस प्रसंग में फिशर महाशय का "इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकालोजी" में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक महिला के दाँत बहुत सुन्दर थे। उसे अपने दाँतों का एक प्रकार का अभिमान हो गया था। वह चाहती थी कि सभी लोग उसके दाँतों को देखें। इस भावना को उसके अचेतन मन ने पकड़ लिया। इसके कारण उसे एक प्रकार का हिस्टीरिया हो गया, जिसके कारण उसके ओंठ इस प्रकार सिकुड़ गये कि उसके दाँत उनसे ढँकते ही नहीं थे। अंत में उसके आंतरिक मन की इच्छा पूरी हो गई। वह अपनी कल्पना में जिस प्रकार की मुखाकृति को सदा चित्रित किया करती थी, वह उसी प्रकार की हो गई।

कभी-कभी मन की प्रबल भावना के कारण भी मनुष्य रोगी के रोग को आत्मसात् कर लेता है और इसके कारण वह जिस रोग से डरता है, वही रोग उसे उत्पन्न हो जाता है। इसका कारण भी तादात्मीकरण है। भय के द्वारा तादात्मीकरण होकर रोग कैसे उत्पन्न हो जाता है, इसका एक उदाहरण लार्ड लिटन ने अपनी 'न्यू ट्रेजा नामक' पुस्तक में दिया है। इसकी चिकित्सा डाक्टर होमरलेन ने मनोविश्लेषण-विधि से की थी।

एक महिला, जिसे गेस्ट्राइटीज का रोग (पेट का रोग) हो गया था, एक बार डाक्टर होमरलेन के पास आई। यह महिला डाक्टर साहब को अपना परिचय नहीं देना चाहती थी, अतएव वह क्वाँरी के नाम से आई। यह महिला इसके पहले अपने रोग की डाक्टरी चिकित्सा करवा चुकी थी, पर इससे उसका रोग घटा नहीं, अपितु और भी बढ़ गया। डाक्टर लोग कहते थे कि उसे कोई शारीरिक रोग नहीं है उसका रोग मानसिक है। इसीलिये वह डाक्टर होमरलेन के पास आई थी।

थोड़ी ही बातचीत से डाक्टर होमरलेन को पता चल गया कि वह महिला वास्तव में क्वाँरी नहीं है, उसे प्रेम-संबंध का अनुभव है। पर महिला अपने आपको खोलना नहीं चाहती थी। डाक्टर होमरलेन ने सोचा कि उसकी नैतिक धारणा ही सम्भवतः उसके रोग का कारण हो सकती है। अतएव उन्होंने उसकी नैतिक भावनाओं को शिथिल करने के लिये प्रेम-संबंधी सामाजिक प्रतिबंधों की आलोचना करना प्रारंभ किया। महिला ने समझा कि डाक्टर साहब उसे एक व्यभिचारिणी स्त्री समझते हैं। अतएव वह उस समय उनके पास से चली गई और उसने डाक्टर साहब को कहला भेजा कि वह वैसी स्त्री नहीं है, जैसी वे उसे सोचते हैं। पीछे उसने अपना पूरा परिचय दिया।

यह महिला ग्रेस्ट्राइटीज के रोग के विशेषज्ञ एक डाक्टर की पत्नी थी। उसके पति का नाम चारों ओर प्रसिद्ध था। वह अपने आपको इसलिये प्रकट नहीं करना चाहती थी कि इससे उसके पति की व्यावसायिक कीर्त्ति को धक्का लगता। किसी रोग का विशेषज्ञ यदि उसी रोग से अपनी स्त्री को ही मुक्त न कर सके, तो उसकी योग्यता पर कौन विश्वास करेगा। रोग

का कारण डाक्टर के घर में घटित एक घटना थी। इस महिला को विश्वास था कि उसका पति गेस्ट्राइटीज के रोग का विशेषज्ञ है, अतएव यह रोग उसे कभी भी नहीं हो सकता। यदि हुआ भी, तो उसका पति अवश्य ही उसे उस रोग से मुक्त करने में समर्थ होगा। पर एक दिन उसने एक महिला को इसी रोग के कारण अपने ही घर में मरते देखा। उसका पति उसे काल के मुँह से न बचा सका। इस घटना से उक्त महिला इतनी प्रभावित हुई कि प्रयत्न करने पर भी वह घटना उसके मन से नहीं भूलती थी। उसे भय हो गया कि कहीं उसे गेस्ट्राइटीज का रोग हो गया, तो उसका पति उसे इस रोग से नहीं बचा सकेगा। इस भय के भाव ने ही उसकी कल्पना को इतना प्रबल बना दिया कि बिना वास्तविक गेस्ट्राइटीज के रोग के ही उसे उक्त रोग की पीड़ा का अनुभव होने लगा। जब उक्त महिला ने अपनी गुप्त भावना को प्रकट कर दिया, तो उसके भय का रेचन हो गया और वह स्वस्थ हो गई।

बालकों में हकलाहट के रोग का प्रारंभ पहले दूसरे हकला बालक की नकल करने से होता है। पहले तो बालक हकले की खिल्ली उड़ाता है, पर पीछे वह स्वयं हकला हो जाता है।

मनुष्य में दूसरे लोगों के दोषों के अभिनय की प्रवृत्ति अथवा किसी रोग को पकड़ने की प्रवृत्ति अचेतन मन की प्रेरणा के कारण होती है। यह प्रेरणा दबी पाप भावना अथवा हीन भावना के कारण उत्पन्न होती है।

इस प्रसंग में लेखक के पास भेजा हुआ एक नवयुवक की हकलाहट-प्राप्ति का वृतांत उल्लेखनीय है—

मैं बचपन से नहीं हकलाता था। बल्कि जब मैं शिशु अवस्था में था, तभी मैंने हँसी-मजाक में एक लड़के की नकल की थी। उस समय मुझको कुछ भी ज्ञान नहीं था कि इसका प्रतिफल क्या होगा। अब मुझको अपनी मूर्खता पर पछताना पड़ता है।

अतिपूर्तिकरण

जिस प्रकार आरोपण, आदर्शीकरण आदि मानसिक क्रियाएँ मनुष्य

के व्यवहार को विलक्षण बना देती हैं, उसी प्रकार अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया भी मनुष्य के व्यवहारों को बड़ा ही जटिल एवं विलक्षण बना देती है। जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी में स्वभावतः अपनी शारीरिक कमी की पूर्ति करने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में अपनी मानसिक कमी की पूर्ति करने की प्रेरणा भी होती है। यदि शरीर का एक अंग दुर्बल है, तो दूसरा अंग सबल हो जाता है। अंधे लोगों की श्रवण अथवा स्पर्श-शक्ति सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक होती है। नाटे लोग ऊँचे स्वर से बोलते हैं। दुबले लोगों की चिन्तनशक्ति बढ़ जाती है। इसी तरह यदि किसी मनुष्य को कोई शारीरिक, सामाजिक अथवा आर्थिक कमी की वेदना त्रास दे रही हो, तो स्वभावतः उसे अपनी इन कमियों की पूर्ति के निमित्त अपनी किसी विशेष मानसिक शक्ति को बढ़ाने की प्रेरणा होती है। यूनानी मेथालोजी में 'विनस' (Venus) बहुत सुंदरी देवी है, परन्तु वह व्यभिचारिणी है। सिन्थिया रूप में काली है, परन्तु वह बड़ी ही सच्चरित्र है। सुकरात देखने में कुरूप था, किन्तु वह यूनान का सबसे बड़ा विचारक था। चरित्र में भी वह संसार के महात्माओं में से एक था। अष्टावक्र आठ जगह से टेढ़े थे। जब वे राजा जनक की सभा में पहुँचे, तो वहाँ उपस्थित सभी विद्वान् उनके रूप को देखकर हँस पड़े, परन्तु जब दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद हुआ, तो वे सभी पंडित उनके सामने मूर्ख सिद्ध हुए। राजा जनक ने उनको अपना गुरू बना लिया। चाणक्य इतने कुरूप थे कि नंदराजा ने उनको अपमानित करके अपनी सभा से निकाल दिया। कहा जाता है कि गोरा शूद्र और काला ब्राह्मण बड़े अशुभ होते हैं। परन्तु इनका वर्ण तो बिल्कुल ही काला था। इन्हीं चाणक्य ने नन्द-वंश के राज्य का नाश किया, यूनानियों को देश से भगाया और चन्द्रगुप्त मौर्य को भारतवर्ष का सम्राट् बनाया। नेपोलियन बोनापार्ट शरीर में दुबला-पतला और कद में नाटा था। उसके स्कूल के लड़के उसे लड़की के नाम से चिढ़ाया करते थे। इसी लड़की नामधारी नेपोलियन ने सारे विश्व को अपनी बहादुरी से थर्रा दिया। जूलियस सीजर, चंगेज खाँ और अकबर को मूर्छा का रोग था। डेमोस्थनीज,

अलेक्जेण्डर (सिकन्दर) एवं डार्विन हकलाते थे। रणजीत सिंह काने थे। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित होता है कि यदि मनुष्य में एक प्रकार की कमी हो, तो दूसरी प्रकार की खूबियाँ उस कमी की पूर्ति के रूप में उपस्थित हो जाती हैं। इस प्रकार का पूर्तिकरण सामान्य, स्वस्थ तथा उपयोगी मानसिक प्रतिक्रिया है। इनसे भिन्न कुछ मानसिक प्रतिक्रियाएँ ऐसी हैं, जो असाधारण और अस्वस्थ होती हैं। इन्हीं प्रतिक्रियाओं को अति पूर्तिकरण की प्रतिक्रिया कहा जाता है। हम कितने ही लोगों में सफाई की बेहद झख देखते हैं। हमारे राष्ट्र के एक प्रमुख नेता* शौच के बाद देर तक साबुन से हाथ मलते रहते हैं। एक दूसरी राष्ट्र-सेविका, जो विधानसभा की सदस्या भी है, बाहर से लौटकर आने पर अपने पहनने-ओढ़ने के सारे कपड़े धोती हैं। जूते भी पानी से धोये जाते हैं। बाजार से लाया हुआ गेहूँ साबुन से धोया जाता है। उसके कुछ संबंधी जाड़े के दिनों में उसके घर इसलिए नहीं आते कि उन्हें अपना कम्बल वगैरह धोना पड़ेगा। हमारी एक छात्रा साफ चादर पर जब बैठती है तब भी उसे सन्देह रहता ही है कि उसमें कोई-न-कोई गन्दगी अवश्य है। इस सन्देह के कारण वह किसी विषय पर ठीक से नहीं सोच पाती।

उपर्युक्त उदाहरणों में दर्शाई गई गन्दगी के प्रति सतर्कता वास्तव में अपने मन के भीतर उपस्थित गन्दगी के प्रति सतर्कता की प्रतिक्रिया थी। इस प्रकार की प्रतिक्रिया को अतिपूर्त्तिकरण कहते हैं। जिस मनुष्य के मन में प्रबल अनैतिक वासनाओं के कारण अत्यन्त मानसिक बेचैनी रहती है,

---

* उपर्युक्त नेता को एक दिन एक बड़े कालेज में भाषण करना था। भाषण करने के पहले किसी मित्र ने उन्हें जलपान कराया, जिसमें रसगुल्ला का थोड़ा - सा रस उनकी धोती पर गिर पड़ा। धोती पर पड़े हुए इस धब्बे ने उन्हें इस प्रकार बेचैन कर दिया कि उन्होंने केवल देर तक नहाया ही नहीं, वरन् वे धोती को भी बहुत समय तक धोते रहे। इसके कारण वे भाषण के स्थान पर एक घंटा देर से पहुँचे।

वह बाहर की अव्यवस्था को देखकर बेचैन हो जाता है। वह बाहर की अव्यवस्था को ठीक करके अपनी आन्तरिक अव्यवस्था को भूलने का प्रयत्न करता है। यह अचेतन मन के अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया है। अचेतन मन की सभी क्रियाओं के समान यह भी मनुष्य के अनजाने ही होती है। यदि कोई इस प्रतिक्रिया का आन्तरिक अर्थ उस व्यक्ति को बताने की चेष्टा करे, तो वह उससे बेहद नाराज हो जायगा। जब अनेक प्रकार के कष्ट भोगकर मनुष्य स्वयं ही अपनी इन असाधारण चेष्टाओं का अर्थ जानता है, तभी उसे वास्तविक लाभ होता है।

पूर्तिकरण एवं अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रियाओं में अन्तर यह होता है कि जहाँ पहले प्रकार की प्रतिक्रियाएँ समाज के लिये उपयोगी सिद्ध होती हैं, वहाँ दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया निरर्थक ही नहीं, वरन् व्यक्ति के लिए हानिप्रद सिद्ध होती है। लेखक का एक छात्र यदि एक चम्मच चीनी अपनी चाय के कप में डालने के लिए दूसरे के डब्बे से ले लेता है, तो उसे इतनी मानसिक बेचैनी हो जाती है कि उसे बाध्य होकर उस चम्मच भर चीनी को सबकी आँख बचाकर उसी डब्बे में डालना पड़ता है। हमारे एक मित्र ने ताँगेवाले को एक आना पैसा भाड़े में कम दे दिया। इससे उन्हें इतनी मानसिक बेचैनी हुई कि वे ताँगेवाले के घर का पता लगाने का प्रयास करने लगे। घर का पता न लगने पर उन्हें दो-तीन दिनों तक मानसिक अशान्ति बनी रही। इस प्रकार की अशान्ति का वास्तविक कारण वह नगण्य घटना नहीं है, जिसके कारण बाहरी रूप से अशान्ति दिखाई देती है। उनकी अशान्ति का कारण उनके अचेतन मन के भीतर था। बाहरी घटनाएँ भीतरी अशान्ति को व्यक्त करती थीं। छोटी-छोटी बातों में मनुष्य सच्चा बनकर अपनी भयंकर चोरी की मनोवृत्ति को छिपाने की चेष्टा करता है। यह अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया का परिणाम है। जहाँ नैतिकता के अत्युच्चादर्शों की चर्चा हुआ करती है, वहीं दुराचार एवं व्यभिचार की सम्भावना रहती है। मनुष्य अपने द्वेष की मनोवृत्ति को विश्व-बन्धुत्व के नारे के नीचे छिपाना चाहता है। अन्तर्मन में उपस्थित हिंसा की मनोवृत्ति अहिंसा के आवरण को धारण

कर लेती है। ऐसे नैतिक मूल्यों की चर्चा करना बुरा नहीं है। परन्तु जहाँ इनकी अत्यधिक चर्चा होती है, वहाँ अचेतन मन में विरोधी प्रवृत्तियों की उपस्थिति रहती है। 'चोर की दाढ़ी में तिनका' वाली कहावत अति-पूर्तिकरण की प्रतिक्रिया के मनोविज्ञान को व्यक्त करती है।

अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया का एक सामान्य उदाहरण लड़ाई में लड़नेवाले सिपाहियों के व्यवहार में पाया जाता है। जो सिपाही युद्ध से अत्यन्त डरते हैं, वे ही युद्ध में बहादुरी के कामों की डींग मारा करते हैं। ऐसे ही लोगों को एकाएक लकवा का रोग हो जाता है। इस प्रकार उनका दमित भय बाहर आ जाता है। जिन लोगों में नैतिकता संबंधी अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रिया पाई जाती है, उन्हें किसी प्रकार की आत्म-स्वीकृति कराना बड़ा कठिन होता है। ऐसे लोग दूसरे लोगों के शिक्षक बन जाते हैं। इस तरह वे अपनी एवं दूसरों की क्षति करते हैं। मन की इस क्रिया को समझकर हम बहुत से लोगों को अनेक प्रकार के संभाव्य दुखों एवं दुर्घटनाओं से बचा सकते हैं।

———

छठाँ प्रकरण

विक्षिप्तता

विक्षिप्तता की व्यापकता

जब मनुष्य के व्यक्तित्व में अराजकता का साम्राज्य हो, तो उसे हम विक्षिप्त कहते हैं। विक्षिप्तता मन की असाधारण अवस्था है। यह कुछ हद तक सभी को रहती है। फ्रायड महाशय का कथन है कि संसार का कोई भी व्यक्ति पागलपन से सर्वथा मुक्त नहीं है। हम सभी कभी-न-कभी पागल जैसा व्यवहार करते हैं। पीछे जब हमें अपनी मूर्खता का पता चल जाता है, तो या तो हम अपने पागलपन के कामों के लिए दुःख मानते हैं अथवा हम उन पर हँसते हैं। कितने ही लोगों को अपने पागलपन का ज्ञान ही नहीं हो पाता। दूसरे का पागलपन देखना सरल है, अपना पागलपन देखना अति कठिन है।

एक बार लेखक एक सभा में बैठा हुआ था, जहाँ कविता-संगीत आदि हो रहे थे। इतने में एक व्यक्ति आये। वे हास्यरस की कविता कहने में अपने आप मस्त हो गये। कविता को सुनकर सब लोग खूब हँसते थे। कवि महाशय समझते थे कि हमारी कविता बड़ी हँसानेवाली है; वह हास्यरस की सफल कविता है। पर वास्तव में लोग उनकी मूर्खता पर हँसते थे। जब कविता समाप्त हुई, तो 'वन्स मोर' की ध्वनि हुई। फिर क्या था; वे फूलकर कुप्पा हो गये। एक बार फिर कविता सुनाने लगे। अब तो लोगों का जी ऊब गया था। कविता समाप्त होने पर किसी तरह कवि महाशय से छुटकारा मिला। कवि महाशय अपनी सफलता पर प्रसन्न होते हुए चले गये। उनको इस बात का ज्ञान भी नहीं हुआ कि सभा के लोग उनकी कविता पर नहीं, वरन् उनकी मूर्खता पर हँस रहे थे।

कितने ही नये व्याख्यानदाता जोश में आकर जोर-जोर से अपनी वक्तृता देते हैं। सभा के लोग 'हियर-हियर' (वाह-वाह) कह कर चिल्लाते हैं। वे समझते हैं कि हमारी वक्तृता की प्रशंसा हो रही है।

पर वास्तव में लोग उनकी खिल्ली उड़ाते रहते हैं। हमारे समाज में कितने ही लोग डान क्विकजोट जैसा व्यवहार करते हुए पाये जाते हैं। ये कल्पित प्रेयसी की खोज में सदा मस्त रहते हैं। ऐसे लोगों के संगी-साथी इनकी बेवकूफी को प्रसिद्ध करके आनन्द लेते हैं।

कुछ दिन पहले की बात है कि लेखक का परिचय कालेज के एक विद्यार्थी से हुआ। उसके जीवन के आदर्श ऊँचे थे। वह ट्यूशन करके पढ़ाई का खर्च चलाता था। समय-समय पर लेखक पढ़ने में उसे सहायता भी दे दिया करता था। पर बी० ए० की कक्षा में आते-आते उसमें विशेष प्रकार का परिवर्त्तन दीख पड़ा। वह अपने आपको विशेष प्रतिभावान समझने लगा। उसका अंग्रेजी - उच्चारण ठीक नहीं था। उसका नाम और रूप दोनों विचित्र थे। क्लास के एक मजाकिया प्रोफेसर ने उसे क्लास मनोरञ्जन का विषय बना लिया।

अब क्या था? उसके सहपाठी भी उसकी खिल्ली उड़ाने के लिये नये-नये उपाय रचने लगे। वह साधारण-सी पोशाक पहनता था। उसे चढ़ा-बढ़ाकर कोट-पैण्ट पहनवाया गया। अब वह इसी पोशाक में कालेज जाने लगा। फिर किसी ने कहा कि अमुक लड़की तुम्हारे प्रेम में मरी जा रही है। धीरे-धीरे इस कल्पित प्रेयसी के पत्र आने लगे। एक दिन दोपहर को विशेष स्थान पर मिलने का समय भी निश्चित किया गया। इस समय दस-बीस विद्यार्थी थोड़ी-थोड़ी दूर पर इससे मिलते रहे और इससे पूछते रहे कि आप इस कड़ी धूप में कहाँ जा रहे हैं। निश्चित स्थान पर पहुँचने पर उसने देखा कि वहाँ कोई नहीं है। वह निराश होकर लौट आया। पीछे इस घटना का प्रचार विद्यार्थियों में खूब हुआ।

कितने लोग समझेंगे कि यह विद्यार्थी पीछे पागलखाने में गया होगा, परन्तु यह बात नहीं हुई। वह कानून की डिग्री प्राप्त करके वकील हो गया। सम्भव है वह सफल वकील भी हो गया हो। हम सभी थोड़ी हद तक उपर्युक्त प्रकार की मूर्खता में फँस जाते हैं। कितने ही लोग जितनी बार बाहर जाते हैं उतनी ही बार अपनी पोशाक बदलते हैं, मानो दिन भर कपड़ा बदलते रहना ही उनका काम हो गया हो। वे समझते

हैं कि यदि वे उसी पोशाक को पहन लेंगे, तो उनकी कटु आलोचना होने लगेगी।

जो व्यक्ति दूसरों से प्रशंसित होने के लिये हर समय लालायित रहता है, वह दूसरों की कटु आलोचना नहीं सह सकता। जिस प्रकार कुछ लोग कल्पित प्रशंसकों की प्रशंसा से फूले-फूले चलते हैं, उसी प्रकार कितने लोग कल्पित निन्दकों की निंदा से अपने जीवन को भार-स्वरूप बना लेते हैं। एक बार लेखक का एक विद्यार्थी, जब वह अध्यापक हो गया, साइकिल से एक ऐसी जगह से निकला, जहाँ रास्ते पर कई विद्यार्थी खड़े थे। जिस समय इसकी साइकिल उस स्थान से निकली, खड़े हुए विद्यार्थी किसी कारणवश अचानक हँस पड़े। इन विद्यार्थियों को हँसते हुए उस अध्यापक ने देख लिया। बस, अब क्या था? मानो उसके जीवन का सारा सुख खो गया हो। उसने समझ लिया कि विद्यार्थी उस पर ही हँस रहे थे। घरपर आकर वह बिस्तरे पर पड़ रहा। वह न किसी से बोलता और न कुछ करता। उसकी स्त्री ने समझा कि कोई दुर्घटना हो गई है। पूछने पर वह कुछ बताता नहीं था। धीरे-धीरे उसके मन की बात प्रगट हुई। फिर उसने यह कहकर समझाया कि विद्यार्थी हँसा ही करते हैं। वे उस पर क्यों हँसेंगे।

यहाँ हम देखते हैं कि विद्वत्ता मन की उद्विग्निता को सँभालने में असमर्थ रहती है। अध्यापक अति प्रतिभावान् व्यक्ति है। वह बड़ी लगन और योग्यता के साथ पढ़ाता है। वह हृदय का सच्चा है,पर लोकैषणा के कारण वह कुछ समय के लिये पागल-सा हो गया। उसकी स्त्री, जो कि विद्वान् नहीं है, वही उसके संतोष का कारण बनी। वास्तव में जब हम किसी प्रकार के पागलपन में पड़ जाते हैं, तो हमारे सच्चे मित्र हमारे सहायक होते हैं।

विद्यार्थियों के हँस देने में शिक्षक का उद्विग्न मन हो जाना एक साधारण सी बात है। उस समय शिक्षक विद्यार्थियों के स्वभाव को भूल जाता है और वह समझ बैठता है कि बालक उसका अपमान कर रहे हैं। एक बार लेखक बी० ए० क्लास की बालिकाओं को पढ़ा रहा था। क्लास की एक प्रतिभावान बालिका इस समय हँस रही थी। वह पिछली

कतार में बैठी थी। लेखक ने समझा कि वह अनादर कर रही है। उसने उससे कहा 'यदि आपका मन पढ़ाई में न लगता हो, तो आप क्लास छोड़कर बाहर चली जायँ।' यह सुनकर उसे भारी धक्का लगा। वह रोने लगी। लेखक को अपनी भूल समझ में आ गई और इससे उसे भारी दुःख हुआ।

मनमोदक खाना, अपने को समाज का बहुत बड़ा व्यक्ति समझ लेना, अथवा दूसरे लोगों की नुक्ता-चीनी के लिए अति सतर्क रहना—ये सभी पागलपन के सूचक हैं। यह समाज का सामान्य पागलपन है। इसका कारण अपने सम्बन्ध में सोचने की फुरसत का न होना है। जिस व्यक्ति के जीवन के मौलिक सिद्धान्त नहीं होते, उसका मन सदा डावाँडोल रहता है। वह अपना और अपने कार्यों का मूल्य ठीक से नहीं आँक सकता। उसका सुख अपने मस्तिष्क में नहीं, दूसरों के मस्तिष्क में रहता है। वे उसके बारे में जैसा सोचते हैं, अर्थात् उनके विचारों के बारे में वह जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही अपने आपको समझने लगता है। अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार दूसरे के विचारों पर निर्भर कर देना एक प्रकार का पागलपन है।

विक्षिप्तता के लक्षण

समाज में हम अनेक प्रकार के विक्षिप्त लोगों को पाते हैं। कितने ही लोग धूल में लोटते और लोगों से रोटी माँगते पाये जाते हैं। कितने ही लोग जाड़े के मारे मरते रहते हैं, पर यदि उन्हें कोई कपड़ा दिया जाय, तो वे उसे फाड़ डालते हैं। इन सब लोगों को हम विक्षिप्त कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य को विक्षिप्त मनुष्य के व्यवहारों का अनुभव होगा। अपने इस अनुभव को ध्यान में लाये बिना यह सम्भव नहीं कि हम विक्षिप्तता के लक्षणों का भली भाँति निरूपण कर सकें।

विक्षिप्त और सामान्य व्यक्तियों में मुख्य भेद विचार करने की शक्ति का ह्रास कहा जाता है। कहा जाता है कि विक्षिप्त वह है, जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है। जब बुद्धि नष्ट हो जाती है, तो मनुष्य को कुछ-का-कुछ सूझने लगता है। वह पदार्थों को जैसे वे हैं, वैसे नहीं देखता। वह घट-

नाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध ठीक से नहीं देख पाता। वह दूसरों की सलाह मानने को भी तैयार नहीं रहता। साधारणतः हम सोचते हैं कि विक्षिप्त मनुष्य में किसी विषय पर चिन्तन करने की शक्ति नहीं रहती। जब हम किसी भिखारी को अपने आपको राजा मानते हुए देखते हैं, तो हम यह समझते हैं कि वह सभी बातों में उसी प्रकार का व्यवहार करेगा; अर्थात् उसमें किसी विषय पर भी चिन्तन करने की शक्ति न होगी। पर बात ऐसी नहीं है। विक्षिप्त पुरुषों में बुद्धि अथवा विचार करने की शक्ति का सर्वथा अभाव नहीं रहता। बहुत से विक्षिप्त पुरुष किसी विशेष विषय में ही ठीक से विचार नहीं कर सकते, अन्य बातों में वे वैसे ही विचार करते हैं, जैसे सामान्य व्यक्ति। पागलखाने के बहुत से निवासी गणित के कठिन सवाल सरलता से कर लेते हैं। उनकी साधारण बातों से यह नहीं जाना जा सकता कि वे पागलखाने में क्यों रखे गये हैं।

एक बार लेखक उज्जैन के कल्पवृक्ष आश्रम में गया। वहाँ पर अनेक प्रकार के मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्ति आते हैं। इनकी चिकित्सा निर्देश-विधि के द्वारा होती है। वहाँ पर जो व्यक्ति उस समय थे, उनमें से कुछ लोगों से लेखक की जानपहचान हो गई। एक मानसिक रोगी के कारण लेखक को वहाँ कई दिनों तक ठहरना पड़ा। लेखक के प्रति एक व्यक्ति का विशेष स्नेह हो गया। वह धार्मिक चर्चा में रुचि रखता था। वह उस समय साठ साल के लगभग था। उसकी धार्मिक भावनाओं और विचार-प्रणाली को जानकर लेखक को विस्मय होता था कि वह मानसिक रोगों के चिकित्सालय में क्यों आया होगा। पर थोड़े ही समय में इसका रहस्य खुल गया। यह व्यक्ति लेखक से अपने योगाभ्यास की बात कहने लगा। उसने कहा, 'मैंने बहुत सी आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त कर ली थीं। मैं दूरपर होनेवाली बातों को जान लेता था। मैं दूसरों को जैसा हुक्म देता था, वे वैसा ही करते थे। मैं भूत-प्रेत आदि को बुला लेता था। किन्तु मेरे शत्रुओं को मेरी शक्ति का पता लग गया। अब उन्होंने मेरे विरुद्ध षड्यन्त्र रच डाला है। उनके कारण मेरी मानसिक शक्ति नष्ट होती जाती है। मैं उन्हें जाग्रत अवस्था में तो अपने आपको छूने नहीं

देता, पर वे सोने की अवस्था में आकर छू जाते हैं। उन्होंने मेरे सम्बन्धियों को फोड़ रखा है और अब वे ही उनका काम करते हैं। मेरी शक्ति अब बिल्कुल नष्ट हो चुकी है। मुझे रात भर जागते रहना पड़ता है, क्योंकि मुझे सदा भय बना रहता है कि मेरे शत्रु मेरे सम्बन्धियों द्वारा मेरी शक्ति का अपहरण न करा डालें। अब आप किसी प्रकार मुझे बचाइए।' ऐसा कहते-कहते वह बूढ़ा रोने लगा। उस व्यक्ति के उक्त वार्तालाप ने उसके मानसिक चिकित्सा-गृह में रहने का रहस्य खोल दिया।

विक्षिप्त पुरुष को प्रायः विशेष प्रकार की झक होती है। जिन बातों का सम्बन्ध उसकी झक से नहीं रहता, उनको वह सामान्य पुरुष-जैसा ही समझता है। राँची पागलखाने का एक पागल जब किसी वस्तु की कीमत के बारे में बातचीत करता है, तो वह लाख से कम की बात नहीं करता। उसका कोट कई लाख का बना है और उसमें बटनें कई हजार की लगी हैं। बर्नार्ड हार्ट महाशय ने एक पागलखाने की स्त्री का वर्णन किया है। यह अपने आपको महारानी विक्टोरिया की पुत्री समझती थी। वह कहा करती थी कि वह यूरोप भर को जीतने की तैय्यारी कर रही थी, इसी बीच उससे ईर्ष्या करनेवाले लोगों ने षड्यन्त्र करके उसे पागलखाने में डाल दिया। वह पागलखाने में रहकर झाड़ने बुहारने आदि के सभी काम किया करती थी। उसका पागलपन उसके इन कामों में बाधा नहीं डालता था।

एक सभा में एक समय हमारे देश के एक प्रसिद्ध कवि अपनी कविताओं का पाठ कर रहे थे। कविता सुनाने के पहले वे अपना परिचय देने लगे। इस परिचय में उन्होंने बतलाया कि वे महारानी विक्टोरिया से मिले थे और लार्ड कर्जन के सामने उन्होंने शेरों से कुश्ती लड़ी थी। संसार के तीन प्रसिद्ध व्यक्तियों अर्थात् रूजवेल्ट, चर्चिल और हिटलर से उनका पत्र-व्यवहार होता रहता है और उनसे उनका व्यक्तिगत परिचय भी है। इस परिचय के बाद जब इन्होंने कविताओं का पाठ किया, तो वह बड़ा ही प्रशंसनीय था। उनकी कविताओं में कल्पनाओं का आश्चर्यजनक बाहुल्य था, उनकी स्मृति बिल्कुल ठीक थी और उनकी किसी बात में विक्षिप्ता

नहीं पाई जाती थी, यद्यपि वह उनके आत्म-परिचय में पाई गई थी।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि विक्षिप्त पुरुष में बुद्धि का सर्वथा अभाव नहीं होता। उसमें विचार करने की शक्ति रहती है, पर वह किसी विषय पर ठीक से विचार नहीं कर सकता है। अब यदि हम विक्षिप्त की मानसिक स्थिति को उसके ही दृष्टिकोण से देखें, तो हम पावेंगे कि वह अपने दृष्टिकोण से ठीक-ठीक ही विचार करता है। जब हम उसके विचारों से सहमत नहीं होते अथवा उनमें दोष देखते हैं, तो उसे यह समझ में नहीं आता कि हम उसका विरोध क्यों करते हैं। वह समझ लेता है कि हम उसके विरुद्ध होनेवाले षड्यन्त्र में शामिल हो गये हैं। वह अपने विचारों की प्रणाली में दोष न देखकर अपनी बातों पर विश्वास न करने-वाले व्यक्तियों में ही दोष देखने लगता है। विक्षिप्त मनुष्य अपनी साधारण बातों में दूसरे लोगों के विचार सुनने को तैय्यार रहता है। इन बातों में वह सामान्य बुद्धि से काम लेता है। पर जिन बातों का सम्बन्ध उसके मन में छिपी किसी भावना से रहता है, उनके विषय मे वह किसी व्यक्ति की बात सुनने को तैयार नहीं रहता।

मनुष्य के विचार दो प्रकार के होते हैं—एक बौद्धिक और दूसरा उद्वेगात्मक। मनुष्य उन्हीं बातों में दूसरों की राय सुनने को तैय्यार रहता है, जिनका सम्बन्ध उसके उद्वेगों से नहीं रहता। उद्वेगात्मक विचार प्रबलता से मन में आते हैं और वे विवेकपूर्ण चिन्तन का मार्ग ही बन्द कर देते हैं। मनुष्य के मन की छिपी मानसिक ग्रन्थि ही उद्वेगों का श्रोत होती है। जिस बात से यह ग्रन्थि उत्तेजित हो जाती है, वह बात झक के रूप में मनुष्य के मन को पकड़ लेती है। मनुष्य के अदृश्य मन में छिपी मानसिक ग्रन्थि ही उसे विवेक के प्रतिकूल चिन्तन करने के लिये विवश करती है। मानसिक उद्वेग ऐसी दो बातों में सम्बन्ध जोड़ देता है, जिनमें वास्तव में सम्बन्ध नहीं है। वह असम्भव बात को सम्भव के रूप में दर्शाता है। उद्वेगों का इस प्रकार का कार्य विक्षिप्त और सामान्य दोनों ही प्रकार के लोगों में पाया जाता है। सामान्य पुरुषों की विक्षिप्तता के ऊपर हम कम ध्यान देते हैं, क्योंकि इस प्रकार की विक्षिप्तता बहुत से लोगों में

पाई जाती है। जब किसी विशेष प्रकार की झक एक ही व्यक्ति में पायी जाती है, तो हम उसे विक्षिप्त कहने लगते हैं।

सामान्य लोगों की विक्षिप्तता का एक पौराणिक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है; जब नारदमुनि की दलित काम-वासना ने उनके विरुद्ध षड्यन्त्र रचा, तो पहले वे अपने आपको ब्रह्मचारी समझने लगे। इसके पश्चात् वे एक रूपवती कन्या के प्रेम में इतने मोहित हो गये कि उन्हें अपने आपका कुछ भी ध्यान न रहा। वे उससे विवाह करने के लिये आतुर हो उठे और जब वे इस कार्य में सफल न हुए, तो उन्होंने विष्णु भगवान् को शाप दे दिया। शाप देने के पश्चात् ही उनकी आँखें खुलीं। उनका विवेक जब स्वतन्त्र हुआ, तब वे जान गये कि काम-वासना के फेर में पड़कर उन्होंने भारी अनर्थ कर डाला। यदि कोई मनुष्य उसके पहले उन्हें समझाने की चेष्टा करता, तो वे यही समझते कि समझानेवाला मूर्ख है अथवा वह उनके विरुद्ध षड़यन्त्र कर रहा है।

जिस प्रकार काम-वासना के प्रवाह में पड़कर मनुष्य का विवेक बह जाता है, उसी प्रकार साम्प्रदायिकता और राजनैतिक गुटबन्दियों के फेर में पड़कर भी मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य की सामाजिक और राजनैतिक प्रश्नों पर सोचने की परिमिति होती है। इन विषयों पर उसके विचार किसी वर्ग विशेष के अनुसार होते हैं। अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं-द्वारा विशेष प्रकार के विचारों का प्रचार होता ही रहता है। ये विचार राग और द्वेष के भावों से परिपूर्ण रहते हैं। अतएव वे जनता के मन में किसी विशेष प्रकार के भाव दृढ़ कर देते हैं। यदि कोई मनुष्य एक विशेष सम्प्रदाय अथवा राजनैतिक दल का पत्र नित्य-प्रति पढ़ता रहे, तो उसके विचार भी उसके अनुकूल हो जायँगे और उसके लिए उस दल के प्रतिकूल सोचना असम्भव हो जायगा। कांग्रेस का अनुयायी हिंदू-महासभा के मत को व्यर्थ समझता है। इसी प्रकार हिन्दू-महासभा का अनुयायी कांग्रेस को देश के लिये घातक मानता है। वे एक दूसरे को बुद्धि-हीन मानते हैं। फिर मुस्लिमलीग और कांग्रेस की समझ में तो एक दूसरे से कोसों का अन्तर है। एक दूसरे को स्वार्थी तथा पर-द्वेषी ठहराते हैं।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि किसी-न-किसी समय सभी लोग विवेकहीन हो जाते हैं, और पागल भी सर्वदा विवेकहीन नहीं होता; तो हम पागलपन का लक्षण क्या मानें ? इस प्रश्न का उत्तर मनोवैज्ञानिकों ने यही दिया है कि पागलपन और सामान्य विचार-हीनता में अविवेक की मात्रा का ही अन्तर रहता है। जो विचार-हीनता कभी-कभी सामान्य लोगों में पाई जाती है, वही विचार-हीनता पागल में भी पाई जाती है, पर उसकी मात्रा अधिक होती है।

पागल के उद्वेग सामान्य व्यक्तियों के उद्वेगों से कहीं अधिक प्रबल होते हैं। सामान्य व्यक्ति अपने उद्वेगों को नियंत्रण में रखता है और आगा-पीछा सोचकर अपने विचारों को प्रकाशित करता है। पागल व्यक्ति अपनी भावनाओं को अपने आचरण में तुरन्त प्रकाशित करता है। पागल का आचरण अपने अथवा दूसरों के लिए घातक होता है। जब किसी व्यक्ति का आचरण ऐसा हो जाता है, जिससे उसकी अथवा दूसरों की भारी हानि की सम्भावना होती है; तो उसे पागलखाने में रखना आवश्यक हो जाता है। एक बार लेखक बम्बई मेल से यात्रा कर रहा था। उसमें एक व्यक्ति बैठा हुआ था। उसे अचानक सनक आ गई। वह चिल्लाने लगा कि मुझे कोई तीर मार रहा है। इतना कहते ही वह चलती हुई गाड़ी से नीचे कूदने लगा। उसका शरीर खिड़की के बाहर निकल चुका था। पास के यात्रियों ने बड़ी कठिनाई से उसे मरने से बचाया। वह उनको अपना शत्रु मानता था। वह उनको मारने-पीटने लगा। इस पर उसे बाँधकर रेल में रक्खा गया।

अभी हाल ही की बात है कि लेखक के एक मित्र का युवक पुत्र लेखक से बात-चीत कर रहा था। उसके पैरों में जंजीर पड़ी हुई थी, पर उसकी बातचीत से कोई पागलपन नहीं झलकता था। वह इतना भर जानता था कि उसकी तबीयत खराब है। दूसरे दिन लेखक ने सुना कि उस युवक ने एक रिक्सेवाले को बुलाया और उससे शहर के बाहर कहीं दूर जाने का भाड़ा तय किया। रिक्से में बैठकर वह घर से निकल पड़ा। फिर उसने रिक्सेवाले को कहीं पर छोड़ दिया और आप धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा।

सात दिनों की खोज के पश्चात् उसका पता चला। वह कहीं माँगता-खाता इधर-उधर घूमता-फिरता पाया गया। जब उससे पूछा गया कि तुम कहाँ जा रहे हो, तो उसने कहा कि मैं घर पर जा रहा हूँ। वास्तव में वह अपने देहात के घर जाने के लिए बड़ा उत्सुक था।

लेखक के एक मित्र बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने हिन्दी के क्षेत्र में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। उनकी प्रतिभा जितनी प्रखर थी, उनका स्वास्थ्य उतना ही खराब था। वे बड़े परिश्रमी थे। स्वाध्याय में इतना लगे रहते थे कि उन्हें अपने स्वास्थ्य का ध्यान ही न रहता था। एक बार उन्हें क्षय रोग का संदेह हुआ। किन्तु समय पर चिकित्सा हो जाने के कारण वे इस घातक रोग से बच गए। किन्तु वे अपनी शक्ति से अधिक परिश्रम करते रहे। वे अपनी कृतियों से संसार को चकित कर देना चाहते थे। बहुत दिनों तक लोगों ने उनका कुछ भी मूल्य नहीं समझा, परन्तु पीछे उन्होंने हिन्दी-साहित्य में सम्मानपूर्ण स्थान पा लिया। किन्तु अब उनके मन में यह विचार उठा कि उनकी प्रतिभा का मूल्य आँकनेवाला अब कोई नहीं है। दूसरे साहित्यिक उनके ईर्ष्यालु हैं और उन्हें अपने स्थान से गिरा देना चाहते हैं। उनकी यह झक बढ़ती ही गई और इसी मानसिक क्लेश में उनकी मृत्यु भी हो गई।

कितने ही पागल दूसरे लोगों को अकारण मार बैठते हैं। वे दूसरों का नुकसान भी कर देते हैं। लेखक के एक मित्र, जो उपवास और पूजा-पाठ में अपना अधिक समय व्यतीत करते थे और जिनका जीवन तपोमय था, एक बार एकादशी के व्रत के बाद सवेरे गंगा-स्नान करके उपनिषद-पाठ करते हुए घर की ओर आ रहे थे। इतने में अचानक बहुत से कुत्ते उनकी ओर भूँकते हुए दौड़ पड़े। ऐसी अवस्था में उनकी सामान्य चेतना जाती रही। पास के मिठाईवाले की दूकान से मिठाई की थालियाँ उठा-उठाकर वे उन्हें कुत्तों की ओर फेंकने लगे और कहने लगे 'खाओ कृष्ण मिठाई खाओ।' उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ समय तक वे पुलिस की हिरासत में रहे। पीछे उनके मित्रों ने उन्हें जमानत देकर छुड़ाया। यदि उनकी स्थिति बार-बार इसी प्रकार की होती रहती, तो

उन्हें पागलखाने में ही भेजा जाता।

सामान्य व्यक्ति के समान पागल व्यक्ति भी अपनी वास्तविक बातों को छिपाने के लिये झूठे बहाने अथवा कारण दिया करते हैं। इस प्रकार के कारणों की सचाई में स्वयं कारण देनेवाले को विश्वास रहता है, पर दूसरे लोग इस बात को समझ जाते हैं कि अमुक व्यक्ति कहाँ तक व्यर्थ के तर्क दे रहा है। पागलों के तर्क की व्यर्थता को समझने में अधिक सरलता होती है। मान लीजिए कि मन्दिर का कोई पुजारी यह कहे कि मेहतर को मंदिर में नहीं घुसने देना चाहिए क्योंकि वह मैला उठाता है और गंदा रहता है, तो हम उसकी इस युक्ति में जल्दी से कोई दोष नहीं देख पाते, किन्तु जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि मैं परीक्षा में इसलिये फेल होता हूँ कि मेरा पड़ोसी मेरे ऊपर जादू कर देता है, जिसके कारण मैं परीक्षा में जाते ही सब पढ़ा-लिखा भूल जाता हूँ; तो हम उसके विचार को विक्षिप्त ही कहते हैं।

विक्षिप्त और सामान्य पुरुषों की विचार-पद्धतियों में एक मौलिक भेद यह है कि सामान्य पुरुष किसी समस्या के विषय में दूसरे व्यक्ति क्या सोचते हैं, इसको ध्यान में रखता है। जब वह सामान्य पुरुषकी समझ के विरुद्ध कोई कार्य करता है, तब भी उसे यह ध्यान रहता है कि उसके साथी उसके विचार एवं आचरण को ठीक मानते हैं या नहीं। किसी सम्प्रदाय के विचारों से प्रभावित होकर कितने ही लोग तर्क के विरुद्ध विचार करते हैं, किन्तु उन्हें यह विश्वास रहता है कि उनके विचारों का अन्य दल या सम्प्रदाय समर्थन करता है अथवा नहीं। विक्षिप्त पुरुष की विचार-शैली के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। वह जो कुछ सोचता है उसे ठीक ही मान बैठता है। दूसरे उसके विचारों में चाहे कितनी ही त्रुटियाँ बतावें, वह उन्हें सुधारने के लिये तैय्यार नहीं रहता। उसकी धारणा रहती है कि संसार के सभी लोग द्वेष-वश उसका विरोध करते हैं।

जिस प्रकार का व्यवहार हम विक्षिप्त पुरुष का पाते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार हम प्रतिभावान् व्यक्ति का भी पाते हैं। प्रतिभावान् व्यक्ति भी कई ऐसी बातें सोच लेता है, जिसका समर्थन उसके समकालीन विरले ही

व्यक्ति करते हैं। वह इन लोगों को अपने विचारों पर लाने की चेष्टा करता है। यदि वह इस कार्य में समर्थ हुआ, तो वह प्रतिभावान् कहा जाता है, अन्यथा विक्षिप्त। यदि प्रतिभावान् व्यक्ति अपने सोचे हुए तत्त्व के विषय में अपने समकालीन और अपने बाद आनेवाले व्यक्तियों का समर्थन नहीं पाता, तो हम उसके खोजे तत्त्व को विक्षिप्तता का उल्लास-मात्र कहेंगे। विक्षिप्त पुरुष अपने अनोखे विचार दूसरों को समझाते समय किसी प्रकार के उद्वेग की अनुभूति करता है, पर प्रतिभावान ऐसे किसी प्रकार के उद्वेग की अनुभूति नहीं करता। विक्षिप्त पुरुष अपने विचारों के प्रकाशन के समय उद्वेगों का अनुभव करता है और जब कोई व्यक्ति उसके विचारों में दोष दर्शाने की चेष्टा करता है, तो वह उससे क्रुद्ध हो जाता है। जो सिद्धान्त जितना ही उद्वेगों के साथ प्रचलित किया जाता है, उसमें सत्य की संभावना उतनी ही कम होती है।

सामान्य और विक्षिप्त पुरुषों के दूषित विचारों में एक मौलिक भेद यह होता है कि जब सामान्य पुरुष अपने किसी विचार को सांसारिक व्यवहार में सफल होते नहीं देखता, तो वह उसको छोड़ देता है, किन्तु विक्षिप्त व्यक्ति अपने विचारों को बार-बार व्यवहार-जगत में असफल होते हुए देखकर भी उन्हें नहीं छोड़ता। संसार का सामान्य पुरुष व्यवहारवादी होता है। वह अपने विचार की सत्यता की कसौटी बाह्य जगत में सफलता को ही मानता है। वह किसी भी सिद्धान्त को तब तक ग्रहण किये रहता है, जब तक कि उसे कार्य में सफलता मिलती जाती है अथवा जब तक सफलता की आशा रहती है। जब किसी सिद्धांत या विचार के अनुसार चलने से किसी सफलता की आशा नहीं रह जाती, तो वह उस विचार को छोड़ देता है। विक्षिप्त ऐसा नहीं करता। न तो दूसरे लोगों के विचार और न बाह्य-प्रकृति में असफलता ही उसके विचारों पर प्रभाव डालती है। वास्तविकता को ठीक से समझने की शक्ति उसमें नहीं रहती।

विक्षिप्तता का अध्ययन

विक्षिप्तता सभी देशों में पाई जाती है। यह रोग अनन्त काल से अन्य रोगों के सदृश मानव-समाज में चला आया है। विक्षिप्तता को

जानने और उससे मुक्त होने की चेष्टा भी मनुष्य मात्र पहले ही से करते आए हैं। हम अपने रोगों से मुक्त होने की बात अथवा इसके उपाय जानना चाहते हैं, पर उसके जानने में हमारी रुचि नहीं रहती। इस मनोवृत्ति के कारण पुराने समय में विक्षिप्तता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ। आजकल भी समाज में यही मनोवृत्ति प्रचलित है। अतएव विक्षिप्तता की चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति भी विक्षिप्तता के कारणों को जानने की चेष्टा नहीं करते। हम जानते हैं कि हिस्टीरिया या भूत-प्रेत-बाधाएँ, जो एक प्रकार का पागलपन है, झाड़ने-फूँकने से अच्छी हो जाती हैं। विक्षिप्तता की कितनी ही बीमारियाँ पूजा-पाठ अथवा मन्त्रों का उच्चारण करने से नष्ट हो जाती हैं। पर यदि हम इस तरह बीमारियों को नष्ट करनेवाले मानसिक चिकित्सकों से पूछें कि बीमारी क्यों नष्ट हो गई, तो वे कुछ उत्तर नहीं देंगे। वे इतना ही कहेंगे कि यह ईश्वर की इच्छा है।

विक्षिप्तता का वैज्ञानिक अध्ययन न रहने के कारण कितने ही लोग, जो एक बार झाड़-फूँक से अच्छे हो जाते हैं, फिर से बीमार हो जाते हैं। जब तक हम विक्षिप्तता के कारण को भले प्रकार से नहीं जान लेते, तब तक रोगी को स्थायी लाभ पहुँचाने में समर्थ नहीं हो सकते। फ्रान्स के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक चिकित्सक इमील कूये महाशय नेन्से नामक स्थान में अपनी निर्देश-विधि के द्वारा बहुत से लोगों को हिस्टीरिया आदि रोगों को मुक्त कर देते थे। किन्तु ये बीमारियाँ कभी-कभी फिर से हो जाती थीं। कूये महाशय जब फिर अपनी निर्देश-विधि को काम में लाते थे तो रोगी फिर थोड़े समय के लिये अच्छा हो जाता था, पर रोग जड़ से नहीं जाता था। कूये महाशय रोग के कारण को खोजने की अधिक चेष्टा नहीं करते थे और रोग के लक्षणों का भी वे विशेष अध्ययन नहीं करते थे। इनकी धारणा थी कि इस प्रकार के अध्ययन से रोगी को रोग से मुक्त करने में कोई सहायता नहीं मिलती। फ्रायड महाशय ने रोग के लक्षणों का अध्ययन करके उनके कारणों को जानने का विशेष प्रयास किया है। विक्षिप्तता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन उन्हीं के प्रयास का फल है।

विक्षिप्तता किसी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व के कारण उत्पन्न होती है; इस प्रकार के विचार की रूप-रेखा पुराने कवियों की कृतियों में पाई जाती है। अंग्रेजी के कवि शेक्सपियर ने अपने मैकबेथ नामक नाटक में इसे भली प्रकार दर्शाया है। मैकबेथ और उसकी स्त्री आपस में सलाह करके अपने घर पर आये अतिथि राजा डंकन के साथ विश्वास-घात करते हैं और राज्य के लोभवश वे उसे मार डालते हैं। अब तो उन दोनों के मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मैकबेथ अपने मित्र बैंको के भूत को देखता है। उसने इसे भी मरवा डाला था। उसके मन में अनेक प्रकार के भय और सन्देह उत्पन्न होने लगते हैं। इसी तरह उसकी स्त्री अपने मन की शान्ति खो देती है। उसे रात में नींद नहीं आती और वह भयंकर स्वप्न देखती है। कभी-कभी रात में उठकर वह अपनी नौक-रानियों को बुलाती और अपने हाथों को रक्त-रंजित देखती थी। अन्त में जीवन से परेशान होकर वह आत्म-हत्या कर लेती है।

उपर्युक्त उदाहरण में नैतिक भावनाओं के परिणाम-स्वरूप विक्षिप्तता की उत्पत्ति दर्शायी गई है। नैतिक भावनाओं का दमन आत्मग्लानि उत्पन्न करता है और जब मनुष्य अपनी स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है, तो वह विक्षिप्तता का कारण बन जाती है। आत्मग्लानि का भाव प्रबल होने पर वह चेतना की रुकावट को अलग करके बाहर आ जाता है। यही विक्षिप्तता की अवस्था है।

जिस प्रकार विक्षिप्तता आत्मग्लानि की स्मृति के दमन से उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार यह शोक, बिरह, आर्थिक हानि अथवा सम्मान-हानि की दुःखमयी स्मृतियों के दमन से भी उत्पन्न हो जाती है। शोक के कारण विक्षिप्तता का उदाहरण 'किंग लियर' नामक नाटक में पाया जाता है, यहाँ राजा सम्मान की हानि और शोक के कारण पागल हो जाता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि संसार के प्रमुख कवियों ने विक्षिप्तता के कारणों को उनकी कृतियों में दर्शाने की चेष्टा की है। पर इससे विक्षिप्तता का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया जा सकता। विक्षिप्तता वास्तव में है क्या और यह कैसे उत्पन्न होती है इस बात का ठीक पता उन्नीसवीं

शताब्दी के पूर्व किसी को न था। उन्नीसवीं शताब्दी के आदि में बेलजियम के मनोवैज्ञानिक मेसमर महाशय ने चामत्कारिक मनोवैज्ञानिक करामातें दिखाईं। अपने चित्त की एकाग्रता के द्वारा मेसमर महाशय जिन व्यक्तियों पर जैसा प्रभाव डालना चाहते थे, वैसा ही डालते थे। वे उनके विचारों को अपने वशमें कर लेते थे। मेसमेरिजम के प्रभाव में आकर मनुष्य उसी प्रकार सोचने अथवा उसी प्रकार का दृश्य देखने लगता है, जिस प्रकार उसे सुझाया जाता है। भारतवर्ष में इन्द्रजाल के खेल हजारों वर्ष पहले से होते आये हैं। इन्द्रजाल दिखानेवाला खिलाड़ी अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाता है। इन खेलों को देखकर देखनेवाले लोग विस्मृत हो जाते हैं।

मेसमिरेजम की अवस्था में उसके प्रभाव में आनेवाले व्यक्ति की मानसिक अवस्था क्या होती है, इसका ज्ञान स्वयं मेसमेराइजर को नहीं रहता था। मेसमेराइज करनेवाला व्यक्ति इतना ही जानता था कि विशेष प्रकार की क्रियाओं के कारण मनुष्य के मन में दो प्रकार की चेतनाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य की सामान्य चेतना में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। इसी के कारण व्यक्ति नये-नये अनुपस्थित दृश्यों को देखने लगता है। जिस व्यक्ति की इच्छा-शक्ति जितनी कमजोर होती है, वह मेसमेराइजर अथवा सम्मोहक के वश में उतनी ही सरलता से हो जाता है। सम्मोहन के परिणामस्वरूप सम्मोहित किये जानेवाले व्यक्ति की इच्छाशक्ति दिन-प्रति-दिन निर्बल होती जाती है।

पागलपन का विशेष अध्ययन फ्रान्स के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक येने महाशय ने किया है। मेसमर महाशय अपने प्रयत्न के द्वारा स्वस्थ चेतना में विच्छेद उत्पन्न करते थे। येने ने उन लोगों की चेतना का अध्ययन करने की चेष्टा की, जिनमें व्यक्तित्व का विच्छेद पहले से ही विद्यमान था। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि विक्षिप्तता मन के अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य के सामान्य मन और आन्तरिक मन में विच्छेद उत्पन्न हो जाता है। जब तक यह विच्छेद रहता है, तब तक पागलपन बना रहता है। यदि किसी प्रकार इस विच्छेद का अन्त हो जाय, तो

विक्षिप्तता का भी अन्त हो जाय। येने महाशय ने हिस्टीरिया के रोगों का अध्ययन विशेष प्रकार से किया था। इस विषय में इनकी खोजें बड़े महत्त्व की हैं।

येने महाशय की खोज के पश्चात् यह प्रश्न उठा कि विच्छेद उत्पन्न कैसे हो जाता है और उसका अन्त कैसे किया जा सकता है। मानसिक विच्छेद की उत्पत्ति और इसके अन्त के विषय में एक बड़े महत्व की खोज आस्ट्रिया के वियना नगर के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डाक्टर ब्रूयर ने की। ब्रूयर महाशय के पास एक महिला प्रति दिन आया करती। वह ब्रूयर महाशय को अपने जीवन की कहानियाँ सुनाया करती थी। इस महिला को हिस्टीरिया का रोग था। ब्रूयर महाशय बड़ी सहानुभूति के साथ उसकी जीवन-गाथा सुनते थे। वे उसे प्रोत्साहित करते थे। इस प्रकार कुछ दिनों के वार्तालाप के परिणामस्वरूप उस महिला को हिस्टीरिया की मानसिक बीमारी अनायास नष्ट हो गई। उस महिला के जीवन में यह चामत्कारिक परिवर्त्तन देखकर ब्रूयर महाशय को विस्मय हुआ। वे उस चामत्कारिक घटना का कारण खोजने लगे। विचार करने पर पता चला कि महिला की बीमारी का कारण कुछ दुखद स्मृतियाँ थीं। इन स्मृतियों को वह महिला स्वयं भूल चुकी थी। वे उसके प्रयत्न करने पर भी प्रगट नहीं होती थीं। स्मृतियों के दमन के कारण ही उस महिला को विक्षिप्तता की बीमारी हो गई थी। चिकित्सक की सहानुभूति के कारण उसकी सुप्त स्मृतियाँ जाग उठीं। उसने अपने अप्रिय अनुभव को ब्रूयर महाशय से कह सुनाया। इस प्रकार कहने से उस महिला के मन में दबे हुए दुखद भावों का रेचन हो गया और इसी कारण वह स्वस्थ हो गई।

ब्रूयर महाशय की यह खोज, जिसमें कि दुखद स्मृतियों का दमन विक्षिप्ता का कारण जाना गया, मानसिक चिकित्सा के लिये बड़ी महत्व-पूर्ण सिद्ध हुई। इस खोज का पर्याप्त लाभ सिगमंड फ्रायड महाशय ने उठाया। विक्षिप्तता का अध्ययन करने के लिये वे कितने ही दिनों तक ब्रूयर महाशय के साथ काम करते रहे। पीछे उन्होंने विक्षिप्तता के पर्याप्त उदाहरणों के आधार पर मनो-विश्लेषण नामक एक नया विज्ञान तैयार

किया। फ्रायड महाशय की खोजें मनोविज्ञान के क्षेत्र में उतनी ही महत्त्व की हैं जितनी कि न्यूटन की खोजें गणित के क्षेत्र में, केपलर की ज्योतिष-विज्ञान में और डारविन की भौतिक-विज्ञान में हैं।

फ्रायड महाशय ने विक्षिप्ता का जो अध्ययन किया वह बड़े महत्व का है। फ्रायड महाशय के द्वारा निर्दिष्ट विक्षिप्तता के लक्षण, उसके विभिन्न प्रकार, उसके कारण तथा उसके उपचार-संबंधी सभी बातों के विचार बड़े ही महत्व के हैं। फ्रायड महाशय ने स्वप्नों का अध्ययन भले प्रकार से किया है। विक्षिप्तावस्था स्वप्नावस्था के सदृश होती है। जिन कारणों से स्वप्न उत्पन्न होते हैं, प्रायः उन्हीं कारणों से विक्षिप्तता भी उत्पन्न होती है। अतएव स्वप्नों का व्यापक अध्ययन विक्षिप्तता के कारणों को जानने में बहुत सहायक होता है। विक्षिप्तता का अनुभव हमें नहीं, पर स्वप्न का अनुभव सबको है। हम अपने स्वप्न के अनुभव के आधार पर विक्षिप्त मनुष्य की मनोवृत्ति को समझ सकते हैं। रोग के उपचार में रोगी के स्वप्नों से बड़ी सहायता मिलती है। रोगी के स्वप्नों को जानकर उसके रोग का मूल कारण जाना जा सकता है। इतना ही नहीं, रोगी के स्वप्नों से रोग के उचित उपचार का सुझाव भी लिया जा सकता है।

फ्रायड महाशय की दूसरी महत्वपूर्ण खोज, जो उनकी प्रधान देन है, अचेतन मन की है। स्वप्न अचेतन मन के कार्य हैं। विक्षिप्तता भी अचेतन मन का कार्य है। फ्रायड महाशय ने मन के तीन भाग माने हैं—चेतन, अचेतन और चेतना-पूर्व। चेतन मन वह है, जिसमें हमारा जाना हुआ ज्ञान रहता है, चेतन-पूर्व वह है, जिसमें हमारे अनुभव के विस्मृत संस्कार रहते हैं, किन्तु समय पड़ने पर चेतना के सम्मुख लाये जा सकते हैं। अचेतन मन वह है, जिसमें रहनेवाली बातों का न तो हमें ज्ञान रहता है और न प्रयत्न करने पर वे चेतना की सतह पर आती हैं। फ्रायड महाशय ने ही वासना के दमन, प्रतिबन्ध-व्यवस्था और उसके गुप्त प्रकाशन के विषय में प्रकाश डाला है। मनोविश्लेषण के द्वारा विक्षिप्तता की चिकित्सा-विधि फ्रायड महाशय की निकाली हुई है। फ्रायड महाशय की कल्पना के अनुसार मनुष्य की मूल शक्ति काम-शक्ति है। इस शक्ति

के सुचारु रूप से प्रकाशन से मनुष्य स्वस्थ रहता है। इसके प्रकाशन में बाधा होने से विक्षिप्तता तथा अन्य मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। काम-शक्ति के प्रकाशन की चार अवस्थाएँ हैं—आत्मप्रेम, माता-पिता का प्रेम, समलिंगी प्रेम और विषम लिंगी प्रेम। इन व्यवस्थाओं में किसी प्रकार की झंझट उत्पन्न होने से मानसिक शक्ति का प्रवाह रुक जाता है और वह प्रतिगामी हो जाता है। विक्षिप्तता इसी प्रतिगमन का परिणाम है।

फ्रायड महाशय के अनुयायियों ने विक्षिप्तता का और भी गहरा अध्ययन किया। उनके सहयोगियों में एडलर और युंग महाशयों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। एडलर महाशय के कथनानुसार मनुष्य की मुख्य भावना, आत्म-प्रकाशन की है। जब मनुष्य अपने अहंकार की पूर्ति नहीं देखता, तो वह विक्षिप्तता की शरण लेता है। जिस बात को वह अपनी स्वस्थ अवस्था में करने में असमर्थ रहता है, उसे वह अपनी विक्षिप्तावस्था में कर लेता है। विक्षिप्तता जीवन की जिम्मेदारियों से बचाने का उपाय है।

युंग महाशय ने विक्षिप्तता का प्रमुख कारण मनुष्य की सामाजिक भावनाओं के दमन को माना है। सामाजिक भावनाओं के प्रतिकूल आचरण करने में विक्षिप्तता उत्पन्न हो जाती है। युंग महाशय ने विक्षिप्तता के उपचार की विधि में भी विशेष महत्वपूर्ण खोज की है। मन के स्वरूप के विषय में फ्रायड और युंग महाशय के विचारों में बहुत भिन्नता है। युंग महाशय के कथनानुसार हमारे चेतन और अचेतन मन में पारस्परिक समीकरण का भाव रहता है। चेतन मन में जिस वस्तु की कमी होती है, अचेतन मन में उसकी वृद्धि होती है। प्रकृति में सदा शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया काम करती रहती है। यही सन्तुलन की प्रक्रिया मानसिक जगत में भी काम करती है। अतएव चेतन मन में जिस शक्ति का अत्यधिक व्यय होता है, चेतन मन में उसकी कमी और अचेतन मन में वृद्धि हो जाती है। इसके परिणाम-स्वरूप इस शक्ति का प्रवाह अचेतन मन से चेतन की ओर होने लगता है। फिर अचेतन मन में गुप्तावस्था में जो भावनाएँ रहती हैं; वे सजीव हो जाती हैं, जिससे विक्षिप्तता की स्थिति

उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार समीकरण का नियम (ला आफ़ कम्प्ली-मेन्ट्रीनेस) ही विक्षिप्तता तथा अन्य मानसिक रोगों का प्रमुख कारण है। युंग महाशय के कथनानुसार रोग मानसिक विषमता और तनातनी से मुक्त होने का प्राकृतिक उपाय है।

विक्षिप्तता का वास्तविक कारण क्या है और उससे मुक्त होने का क्या उपाय है—इन विषयों का अभी तक पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। विक्षिप्तता साधारण पुरुषों में भी पाई जाती है। इस प्रकार की विक्षिप्तता को पहचानना कठिन होता है। मनुष्य का आचरण जब एक विशेष सीमा को पार कर लेता है तब हम उसे विक्षिप्त कहने लगते हैं।

सातवाँ प्रकरण

मानसिक रोगों के प्रकार

पहले कहा जा चुका है कि चेतन और अचेतन मन के द्वन्द्व से विक्षिप्तता अथवा मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। ये रोग जन्मजात नहीं होते। ये जीवन के किसी विशेष प्रकार के अनुभव से उत्पन्न होते हैं और मानसिक चिकित्सा-द्वारा नष्ट हो जाते हैं। मानसिक रोग कई प्रकार के होते हैं। जिनमें कुछ जटिल होते हैं, कुछ साधारण। कुछ रोगों को मानसिक चिकित्सकों ने असाध्य माना है, और कुछ को साध्य। नीचे दी हुई तालिका में इन रोगों का वर्गीकरण करने की चेष्टा की गई है।

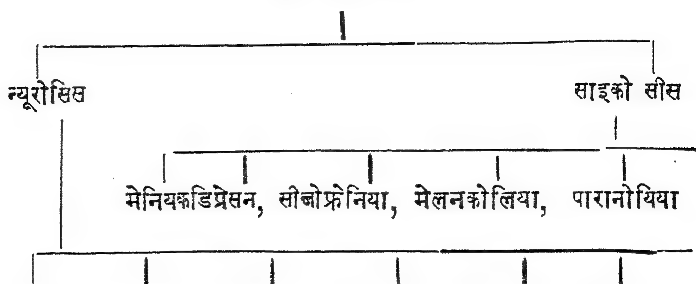
मानसिक रोग

जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, तैसे-तैसे मानसिक रोग बढ़ते जाते हैं। इसका एक कारण यह हो सकता है कि हम बहुत से रोगों को रोग के रूप जानते ही नहीं थे अथवा बहुत से मानसिक रोगों को शारीरिक रोग ही समझते थे। परन्तु दूसरा कारण यह भी है कि सभ्यता ने वास्तव में मानसिक रोगों की वृद्धि की है। सभ्यता के साथ-साथ मनुष्य की इच्छाओं की संख्या बढ़ गई है। इन इच्छाओं की तृप्ति के जितने भी साधन मानव को उपलब्ध हैं, उनसे इच्छाओं की संख्या अधिक है। फिर मानव का सभ्य कहलाने का अभिमान मनुष्य को अपनी सभी इच्छाओं को संतुष्ट करने देता ही नहीं है। मनुष्य की अतृप्त इच्छा दमित होकर मानसिक रोग के रूप में प्रकट होती है। आधुनिक मनोविज्ञान की एक विशेष लोक-सेवा मानसिक रोगों का अध्ययन और उनके उपचार की मनोवैज्ञानिक प्रणाली की खोज का अध्ययन करना है।

मानसिक रोगों के प्रकार

मानसिक रोगों के कई प्रकार हैं। इनमें से कुछ तो असाध्य तथा कुछ साध्य होते हैं। निम्नलिखित तालिका में इनका वर्गीकरण दिखाया गया है :—

मानसिक रोग



पिछले प्रकरण में हमने बताया है कि मानसिक रोग जितना व्यापक है, उतना हम उसे नहीं जानते। प्रत्येक दस आदमी में एक को कुछ-न-कुछ मानसिक रोग रहता ही है। इसका पता हमको अथवा स्वयं रोगी को तब तक नहीं चलता, जब तक कि वह काफी बढ़ नहीं जाता और जब तक किसी विशेषज्ञ की दृष्टि उस पर नहीं पड़ती। हम प्रति-दिन के जीवन में देखते हैं कि बहुत से नवयुवक कुरसी पर बैठे-बैठे अपने पैर हिलाते रहते हैं, कितने ही व्यक्ति गंभीर चिंतन के समय ओठ चबाते रहते हैं, कुछ किसी भी व्यक्ति से बात करने के समय नाक से फुफकारते रहते हैं, कुछ कंधों को हिलाते रहते हैं, कुछ अपनी छाती पर हाथ रखे रहते हैं, कुछ बटन को अकारण छुआ करते हैं, बहुत से लोग हाथ साफ करने का अभिनय किया करते हैं, कुछ अँगुलियाँ नचाया करते हैं, कुछ चाभी लेकर घुमाते रहते हैं—ये सभी प्रकार की चेष्टाएँ मानसिक रोग के लक्षण हैं। इन्हें कम्पलसन न्यूरोसिस (Compulsion neurosis) कहते हैं। इन्हें सांकेतिक चेष्टाएँ अथवा आतोमैता (automata) भी कहा जाता है। इस प्रकार की क्रियाओं का रूप कभी-कभी बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य विवश होकर बहुत से लम्बे-चौड़े निरर्थक कार्य करता रहता है। इन क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति को साधारणतया इन क्रियाओं का ज्ञान नहीं रहता। परन्तु कभी-कभी उन्हें इनका ज्ञान हो जाता है। किन्तु इन

क्रियाओं के रोकने के प्रयत्न से ये रुकती नहीं हैं।

जिस प्रकार कम्पलसन न्यूरोसिस समाज में व्यापक रूप से पाया जाता है, उसी प्रकार अकारण चिन्ता और अकारण भय तथा बाध्य विचार भी व्यापक रूप से समाज में पाये जाते हैं। न्यूरेस्थेनिया तथा हिस्टीरिया इतने अधिक नहीं रहते तथा जब भी इनकी उपस्थिति होती है, तो इन्हें रोग के रूप में पहचान लिया जाता है। ये सभी रोग मनोवैज्ञानिक उपचार से साध्य हैं। इनके उपचारार्थ रोगी को 'मेन्टल हास्पिटल' में नहीं जाना पड़ता। दुःसाध्य या असाध्य मानसिक रोग समाज में बहुत कम पाये जाते हैं तथा इन्हीं के लिए देश की सरकार पागलखाने बनवाती है। इन रोगों के उपचारार्थ पागलपन के विशेषज्ञ की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के मानसिक रोगियों को रखना भी कठिन हो जाता है। इन सभी रोगियों में आत्महत्या की प्रवृत्ति रहती है और कुछ लोग दूसरे लोगों की हत्या करने की चेष्टा भी करते हैं। अतएव समाज के दूसरे लोगों के रक्षार्थ इन्हें पागलखाने में रखना नितान्त आवश्यक हो जाता है। इन रोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन अगले प्रकरण में किया जायगा।

मानसिक रोगों के कारण

मानसिक रोगों के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक जन्मजात और दूसरा अर्जित। कुछ मानसिक रोग वंश-परंपरागत माता-पिता से संतान में चले आते हैं और कुछ जीवन में होनेवाली अनेक प्रकार की वेदनाओं की अनुभूतियों के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। दुस्साध्य मानसिक रोगों का प्रधान कारण प्रायः वंशानुक्रम ही होता है और साध्य मानसिक रोग, अर्थात् साइकोन्यूरोसिस बचपन के अवांछनीय संस्कारों अथवा जीवन के विशेष प्रकार की भावात्मक घटनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। जिन लोगों का शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता, उनमें वातावरण-जन्य भावात्मक संघर्ष को सँभालने की शक्ति भी नहीं रहती। अतएव ऐसे लोगों को साइकोसिस या न्यूरोसिस अथवा परिस्थिति विशेष के अनुसार दोनों ही रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसिक रोगियों के सम्पर्क में रहने के कारण भी कुछ लोगों को मानसिक रोग छूत की बीमारी के समान

उत्पन्न हो जाते हैं। यहाँ पर हम कुछ सामान्य साध्य मानसिक रोगों के कारणों पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। इन कारणों को जानकर हम रोगियों की सहायता कर सकते हैं।

साध्य मानसिक रोग अर्थात् साइकोन्यूरोसिस के प्रधान कारण मनुष्य के वातावरण-जन्य संस्कार अथवा अनुभव ही होते हैं। डाक्टर हेडफील्ड ने अपनी 'साइकालोजी एण्ड मेंटल हेल्थ' नामक पुस्तक में इन रोगों के दो प्रकार के कारण बताए हैं; एक दूरस्थ और दूसरा समीपस्थ। जब हम किसी व्यक्ति के मानसिक रोग के प्रारम्भ की चर्चा सुनते हैं, तो हम साधारणतः रोग का कारण उसी घटना को मान लेते हैं, जिससे रोग का प्रारम्भ हुआ। एक रोगी को अनेक प्रकार के अकारण भय और चिन्ताएँ तब से प्रारम्भ हुईं, जब से उसने भाँग पीकर अपनी होश-हवास गँवा दी। अतएव भाँग पीने को उसने अपने रोग का कारण मान लिया। एक दूसरे रोगी को कोढ़ होने का असाधारण भय तब से उत्पन्न हो गया, जब से उसने कोढ़ के रोग के विशेषज्ञ का व्याख्यान सुना और जब उसे ज्ञात हुआ कि कोढ़ का रोग बड़ा ही संक्रामक है। कितने ही लोगों को किसी विशेष प्रकार की दुर्घटना के पश्चात् घर से बाहर निकलने का भय इतना सताने लगता है, कि इसके कारण वे अकेले कोई यात्रा भी नहीं कर पाते। किसी आफिसर के द्वारा डाँटे-डपटे जाने के बाद कुछ लोग अपनी साधारण स्मरण-शक्ति ही खो देते हैं। रोग के इस प्रकार के कारण समीपवर्त्ती कारण कहलाते हैं। इस प्रकार के कारण ही रोग के प्रारम्भ के लिए पर्याप्त नहीं हैं। मनुष्य को रोग तभी होता है, जब कि उसका मानसिक गठन पहिले से ही रोग ग्रहण करने योग्य बन जाता है। बालक के व्यक्तित्व का गठन उसके बचपन से ही प्रारम्भ हो जाता है। जिस बालक के बचपन की इच्छाओं की पूर्त्ति समुचित रूप से नहीं होती, जिसे डरा-धमकाकर कठोर अनुशासन में रक्खा जाता है और जिसे छोटी-छोटी बातों के लिए अपमानित किया जाता है; उसके आत्मविश्वास का विकास नहीं होता। उसकी इच्छाशक्ति दुर्बल रह जाती है। उसके मन में सदा आन्तरिक संघर्ष की स्थिति बनी रहती

है। ऐसे व्यक्ति में अपने प्रति सदा हीनता का भाव बना रहता है। अपनी तृप्ति का मार्ग न पाकर उसकी विषयलोलुपता सर्वदा रोग का आवाहन करती रहती है। ऐसे ही बालक के जीवन में छोटी-छोटी घटनाएँ वृहद रूप धारण कर लेती हैं और जीवन की साधारण-सी भावात्मक घटनाएँ विशाल मानसिक रोग का कारण बन जाती हैं।

डा० फ्रायड के अनुसार सभी प्रकार के मानसिक रोगों का दूरस्थ कारण पिता एवं पुत्र के बीच का संघर्ष है। प्रत्येक बालक अपनी माता से प्रेम करता है। इस प्रेम के कारण माता पति की उपेक्षा करने लगती है और इससे पिता पुत्र से द्वेष करने लगता है।

इसी प्रकार पुत्र भी अपने पिता से द्वेष करने लगता है। इसी द्वेष के कारण पिता किसी-न-किसी बहाने पुत्र को डाँटता-डपटता और पीटता रहता है। इस प्रकार पिता-पुत्र का द्वेष बढ़ता जाता है। यह द्वेष बालक के अचेतन मन में उपस्थित रहता है और इसके छिपाने के हेतु बालक के चेतन मन में पिता के प्रति बड़ी श्रद्धा के भाव रहते हैं। श्रद्धा के ये भाव बालक को अपने मन की भीतरी परिस्थिति को जानने ही नहीं देते। परन्तु बालक का मानसिक खिचाव आन्तरिक संघर्ष से बढ़ता जाता है। बालक के द्वेष की मनोवृति का जितना ही अधिक दमन होता है, उतनी ही प्रबलता से यह द्वेष-भाव चेतना के समक्ष आने की चेष्टा करता है। भीतर-ही-भीतर रहकर यह बालक की इच्छा-शक्ति को दुर्बल बनाता रहता है। जब कभी कोई कठिन परिस्थिति अथवा भावात्मक घटना बालक के जीवन में घटित हो जाती है, तो उसके मन के भाव अबाध रूप से चेतना के स्तर पर आ जाते हैं। यही मानसिक रोग की अवस्था है।

डा० फ्रायड के उपर्युक्त कथन में मौलिक सत्य है। परन्तु सभी बालकों के मन में पितृ-द्वेष की मानसिक ग्रन्थि उपस्थित नहीं रहती। पिता-पुत्र का स्नेह उसी प्रकार नैसर्गिक है, जिस प्रकार उनका द्वेष पुत्र की उत्पत्ति से पति-पत्नी में द्वेष की वृद्धि की अपेक्षा प्रेम की वृद्धि की अधिक आशा रहती है। कठोर नैतिक शिक्षा प्राप्त किये हुए

पिता ही अपनी सन्तान को अधिक ताड़ना में रखते हैं। इसी प्रकार पुत्र के ऊपर जब माता का अधिक स्नेह होता है, तभी पिता पुत्र के प्रति द्वेषभाव रखने लगता है। अतएव पितृ-द्वेष की मानसिक ग्रन्थि को ही मानसिक संघर्ष का एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी होते हैं।

किसी भी मानसिक रोगी के मन में अपने प्रति हीनता की भावना रहती है।' 'अलफ्रेड एडलर' के अनुसार ये हीनता के ही भाव दमित होकर मानसिक ग्रंथियाँ बन जाते हैं जिनकी प्रतिक्रिया मानसिक रोग होती है। मनुष्यों में अनेक प्रकार की कमी होती है। कमी की यह अनुभूति उन्हें दुःख पहुँचाती है। किसी व्यक्ति में शारीरिक बनावट की कमी होती है, किसी में धन की, किसी में परिवार की, किसी में विद्या की तथा किसी में चरित्र की कमी होती है। अपनी सामान्य त्रुटियों के ज्ञान से हमें सामान्य दुःख होता है तथा हमारी असाधारण कमी हमें असाधारण दुःख पहुँचाती है। इस कमी को भूलने के लिए मनुष्य के मन में अतिपूर्तिकरण की प्रतिक्रियाएँ चलती रहती हैं। मनुष्य में जिस प्रकार की कमी होती है, उसी प्रकार का अतिपूर्तिकरण भी होता है। इसी के कारण शरीर से नाटे लोग समाज के नेता बन जाते हैं। बचपन में लड़की कहे जानेवाले लोग पहलवान बन जाते हैं। दरिद्रता की आत्मग्लानि अनुभव करनेवाले करोड़पति बनने की चेष्टा करते हैं और किसी प्रकार की नैतिक भूल से आत्मग्लानि की अनुभूति करनेवाले लोग संत एवं महात्मा बन जाते हैं। इस प्रकार की अतिपूर्त्तिकरण की प्रतिक्रिया से इन लोगों की आन्तरिक कमी की भावना समाप्त नहीं होती, वरन् वह मानसिक संघर्ष का कारण बन जाती है। मानसिक रोग प्रायः उन्हीं लोगों को होते हैं, जिनके ज्ञात जीवन में उच्च आदर्शवादिता पाई जाती है। कभी-कभी पहलवान लोगों को हृदय का रोग हो जाता है। अपने को वीर समझनेवाले व्यक्तियों को लकवा हो जाता है। छोटी-छोटी बातों की नैतिकता में सतर्क रहनेवाले लोगों को अनेक प्रकार के बाध्य विचार, अकारण भय एवं चिन्ता सताने लगते हैं। इस प्रकार मनुष्य की

आन्तरिक कमी की अनुभूति सब प्रकार के आवरण को फाड़कर बाहर निकल आती है। यही मानसिक रोग की अवस्था है। इस अवस्था के पूर्व भी मनुष्य का मन बेचैन रहता है। अतएव, हम कह सकते हैं कि मनुष्य की आत्म-हीनता की भावना जब मानसिक ग्रंथि का रूप ले लेती है, तो वह एक ओर उसके अभिमान को बढ़ाती है और दूसरी ओर आन्तरिक संघर्ष उपस्थित कर मानसिक रोग को जन्म देती है। चार्ल्स युंग के अनुसार मनुष्य के मानसिक रोगों का प्रधान कारण समष्टि-भावनाओं से उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं का संघर्ष ही है। जब मनुष्य अपने आचरण में कोई ऐसा काम कर डालता है, जो उसके आन्तरिक मन के समष्टि-भाव के प्रतिकूल होता है, तो उसकी समष्टि उस व्यक्ति की भर्त्सना करने लगती है। आत्म-भर्त्सना के ये ही भाव मानसिक रोग बनकर प्रकाशित होते हैं। इस तरह मनुष्य का मानसिक रोग उसकी पाप-भावना का प्रकाशित रूप है और इससे उसकी पाप-भावना का रेचन होता है इस प्रकार उसे मानसिक स्वास्थ्य का लाभ होता है। चार्ल्स युंग के कथनानुसार मानसिक रोग स्वयं अपना उपचार है। यदि इसे दबाया जाय तो मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक हानि होगी। जिस प्रकार दबाने से शारीरिक रोग घटने के बजाय बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार दमन की चेष्टा से मानसिक रोग भी घटने के बदले और भी जटिल हो जाते हैं। चार्ल्स युंग के मतानुसार मानसिक रोग देवदत्त सजाएँ हैं। इनको सहर्ष स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है।

चार्ल्स युंग के सिद्धान्त सभी प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति को नहीं समझाते। यदि मनुष्य के कुछ मानसिक रोग उसके नैतिक स्वत्व के दमन के कारण होते हैं, तो दूसरे प्रकार के मानसिक रोग उसकी प्राकृतिक इच्छाओं के दमन अथवा उसके अहंभाव की कमी के ज्ञान के कारण होते हैं।

प्रो० हेडफील्ड ने मानसिक रोगों की उत्पत्ति में किसी भी प्रकार के दमन को कारण बताया है। यह दमन मनुष्य के प्राकृतिक स्वत्व, अहंकार अथवा सुस्वत्व का हो सकता है। इन तीनों में

आपस का संघर्ष चलता रहता है तथा इन तीनों में आपस का संतुलन रहना ही स्वास्थ्य है। संतुलन का बिगड़ जाना रोग है। डा० फ्रायड ने प्राकृतिक स्वत्व के दमन को रोग का प्रधान कारण बताया है। एडलर ने वैयक्तिक स्वत्व और युंग ने सुस्वत्व के दमन को रोग का प्रधान कारण बतलाया है। परन्तु, वास्तव में मनुष्य के व्यक्तित्व के किसी भी अंग की अवहेलना मानसिक रोग का कारण बन जाती है।

प्रेम की कमी और मानसिक रोग

प्रो० हेडफील्ड का कथन है कि सभी प्रकार के रोगियों के जीवन में बचपन से ही प्रेम की कमी पाई जाती है। प्रेम से मनुष्य का विकास होता है और इसकी कमी होने पर उसका विकास रुक जाता अथवा विकसित व्यक्तित्व का ह्रास हो जाता है। बालक दो प्रकार के प्रेम का भूखा होता है। एक स्पर्श-सुखसंबन्धी प्रेम तथा दूसरा संरक्षित भाव का प्रेम। बालक को माता से दोनों प्रकार का प्रेम मिलता है। जब माता बालक को अपने स्तन से दूध पिलाती है, तो उसे स्पर्श सुख-सम्बन्धी प्रेम मिलता है और जब वह उसको किसी जानवर अथवा बड़ों के द्वारा पीटे जाने से बचाती तथा अनेक प्रकार के वस्त्राभूषणों से उसे विभूषित करती है, तब बालक संरक्षित प्रेम की अनुभूति करता है। प्रेम के ही कारण बालक के व्यक्तित्व का बल बढ़ता है और इसके अभाव में उसका व्यक्तित्व दुर्बल हो उठता है। जब घर में सौतेली माँ होती है, जब माता-पिता में अनबन रहती है, जब भाइयों में ईर्ष्या के भाव रहते हैं, जब माता अथवा पिता देर तक बीमार रहते हैं, तो बालक किसी-न-किसी प्रकार के प्रेम से वंचित रह जाता है। यहीं से उसके मानसिक रोग का प्रारम्भ हो जाता है।

जब बालक को अपने अभिभावक का समुचित प्रेम नहीं मिलता, तो वह जीवन में सूनेपन की अनुभूति करने लगता है। इस सूनेपन को भूलने के लिए वह इन्द्रिय-सुख का लोलुप बन जाता है। इसी के कारण बहुत से बालकों में हस्तमैथुन और गुदा-मैथुन की आदत लग जाती है। कई बालक इसी के कारण, पेटू, नशाखोर, चोर तथा भगोड़े बन जाते हैं।

अभिभावक के प्रेम से वंचित रहने के कारण बालक कभी-कभी अपने से बड़े बालक से मित्रता कर लेता है। वह उसकी सभी आज्ञाओं का पालन करता है। इसी के कारण बालकों में व्यभिचार भी उत्पन्न हो जाता है। व्यभिचार की यह भावना बालक के सुस्वत्व से टकराती है और इसके कारण बालक को प्रबल आत्म-ग्लानि की अनुभूति होती है। जब बालक इस आत्म-ग्लानि की स्मृति को दबाता है,तो वह अनेक प्रकार के मानसिक एवं शारीरिक रोगों के रूप में प्रकाशित होती है। इस प्रकार मानसिक रोग का कारण एक ओर बालक की शारीरिक-सुख एवं कामुकता की इच्छाओं का उत्तेजित होना है तथा दूसरी ओर नैतिक बुद्धि के द्वारा कठोरता के साथ उनका दमन किया जाना है। नैतिक बुद्धि शारीरिक सुख की इच्छा को पाप का नाम देकर दमित करती है। किन्तु इससे नैतिक बुद्धि को जहाँ एक ओर सफलता मिलती है, वहाँ दमित वासना विकृत होकर रोग के रूप में प्रकाशित होती है।

अधिक लाड़-प्यार पानेवाले बहुत से बालकों को प्रौढ़ावस्था में उसी प्रकार मानसिक रोग होते हैं, जिस प्रकार प्यार से वंचित बालकों को होते हैं। अतएव कभी-कभी मानसिक रोग के चिकित्सक इन रोगों का कारण प्रेम की कमी न बताकर प्रेम का आधिक्य बताते हैं। परन्तु, यह एक भूल है। जो बालक बचपन में अत्यधिक लाड़ पाये रहता है, वह बड़ा होने पर उस प्यार से अपने आप वंचित रह जाता है। इससे उसके प्यार की भूख का दमन साधारण बालकों की अपेक्षा अधिक होता है। इसी के कारण वह मानसिक रोगी एवं अपराधी बनता है। इस तरह मानसिक रोग का कारण प्रेम की कमी न होकर प्रेम का बाहुल्य ही होता है।

साइको न्यूरोसिस (विक्षिप्तता) और साइकोसिस (पागलपन) में भेद

विक्षिप्तता और पागलपन के भेद को सामान्य जनता और मनोवैज्ञानिकों को समझना नितान्त आवश्यक है। विक्षिप्तता का उपचार घर में रहकर हो सकता है। विक्षिप्त पुरुष अपने आपसे ही डरता है, परन्तु पागल को किसी प्रकार का भय नहीं रहता। उसे घर में रखना भी

खतरे से खाली नहीं है। पागल मनुष्य अपनी अथवा दूसरे की हत्या कर सकता है, वह भूखा रहकर मर सकता है, वह जिस व्यक्ति को बहुत प्यार दिखाता है, एकाएक उसी पर घातक प्रहार भी कर सकता है। अतएव ऐसे लोगों को समाज और स्वयं उनके हित के लिए पागलखाने में रखना उचित होता है।

प्रो० फिसर ने विक्षिप्त और पागल में निम्नलिखित छह प्रकार की भिन्नताएँ बताई हैं—

(१) दूसरों के प्रति पागल व्यक्ति का व्यवहार विक्षिप्त की अपेक्षा अधिक असाधारण रहता है। उदाहरणार्थ, विक्षिप्त व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति को देखकर उसके ऊपर थूकने की प्रबल प्रेरणा हो सकती है, परन्तु वह थूक नहीं सकता। पागल पुरुष जिस समय ऐसी प्रेरणा का अनुभव करता है, वह उसी समय थूक भी देता है।

(२) पागल मनुष्य यह नहीं जानता कि उसके मस्तिष्क में कोई खराबी है, विक्षिप्त व्यक्ति इसे जानता है। विक्षिप्त में विवेक (insight) रहता है और पागल विवेक-हीन होता है।

विक्षिप्त पुरुष कभी-कभी किसी महिला के गाल पर तमाचा लगाने की प्रेरणा का अनुभव करता है। परन्तु उसे इस प्रकार की इच्छा मूर्खता के रूप में दिखाई देती है। पागल अपनी ऐसी इच्छाओं में कोई अनौचित्य देखता ही नहीं। पागल को दूसरे लोग पागल समझते हैं, पर वह अपने को पागल नहीं समझता; परन्तु विक्षिप्त अपनी कुछ बातों को पागलपन जानते हुए भी उनको छोड़ नहीं सकता।

(३) विक्षिप्त व्यक्ति देश-काल और व्यक्तित्व के विषय में ज्ञान रखता है। यदि उसका ज्ञान थोड़े समय के लिए चला भी जाए, तो फिर वह चला आता है। पागल यह जानता ही नहीं कि हम कौन हैं, क्या हैं और किस समय में हैं। कोई घटना कहाँ, किस समय हुई और कौन उसका कर्त्ता था इसका ज्ञान उसे नहीं रहता। कोई चिथड़े लगाए हुए भिखारी अपने आपको किसी देश का राजा मान ले सकता है।

(४) विक्षिप्त पुरुष को भ्रम और अनुपस्थित वस्तुएँ नहीं दिखाई

देतीं, पर पागलों को मरे हुए और दूर के लोग भी दिखाई देते हैं। वे कुछ-का-कुछ समझते हैं।

(५) विक्षिप्त व्यक्तियों की विचार-शक्ति उतनी विकृत नहीं होती, जितनी पागलों की होती है। विक्षिप्त अपनी किसी भी धारणा के लिए कोई ऐसा कारण खोजने की चेष्टा करते हैं, जो सामान्य लोगों में प्रचलित हो। उदाहरणार्थ वे किसी प्रकार की असफलता के लिए असगुन अथवा दूसरे की हाय को कारण बताते हैं। परन्तु पागल व्यक्ति किसी चुड़ैल को इसका कारण बताने लगते हैं। उन्हें यह विचार आता है कि कोई भूत उनके हाथ से कुछ उल्टा-सीधा लिखा लेता है अथवा उनके किए-कराए काम को चौपट कर देता है।

(६) वास्तविक दुनिया से पागल व्यक्तियों का सम्बन्ध विक्षिप्त की अपेक्षा बहुत कम रहता है और घटनाओं के प्रति उसकी सतर्कता भी बहुत कम रहती है।

विक्षिप्त और पागल के विरोध इतने अधिक हैं कि उनका वर्णन अलग-अलग प्रकरण में देना मानसिक रोगों को समझने के लिए आवश्यक है। फिर विक्षिप्त की कुछ-न-कुछ सहायता मनोविज्ञान का सामान्य ज्ञान रखने वाला व्यक्ति कर सकता है। पागल की ऐसी सहायता करने की चेष्टा करना भी अपने को खतरे में डालना है। उसकी देख-रेख के लिए विशेषज्ञों की ही आवश्यकता है। यहाँ हम विक्षिप्तता के भिन्न-भिन्न प्रकारों का वर्णन एक-एक कर करेंगे।

———

आठवाँ प्रकरण

हिस्टीरिया और व्यक्तित्व-विच्छेद

हिस्टीरिया की विशेषता

विक्षिप्तता का सबसे सरलता से पहचाना जानेवाला रोग हिस्टीरिया है। मनोविज्ञान की खोजों की दृष्टि से यह रोग बड़े महत्व का है। इस रोग के उपचार के लिये एक ओर लोग भूत-प्रेत को झाड़नेवाले ओझाओं के पास जाते हैं और दूसरी ओर शारीरिक रोगों की चिकित्सा करनेवाले डाक्टरों के पास भी। हिस्टीरिया के दो प्रकार होते हैं। पहले में केवल मानसिक गड़बड़ी ही रहती है तथा दूसरे में मानसिक गड़बड़ी का पता नहीं चलता और रोग सर्वथा शारीरिक दिखाई पड़ता है। जहाँ रोग शारीरिक होता है, वहाँ रोगी को प्रायः डाक्टरी परामर्श के लिये लाया जाता है। परन्तु डाक्टर लोग इस रोग के उपचार में असमर्थ रहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के महत्व की खोजें हिस्टीरिया का स्थायी उपचार खोजने के हेतु ही हुई थीं। डा० इमिल कुए हिस्टीरिया का उपचार निर्देश-विधि से करते थे। डा० फ्रायड ने हिस्टीरिया को समझने की चेष्टा में ही मनोविश्लेषण-विधि का आविष्कार कर डाला। चारकाट एने और ब्रुअर की खोजें इसी रोग के उपचार से सम्बन्धित हैं। फिर हिस्टीरिया को समझने से दूसरे प्रकार की विक्षिप्तता सरलता से समझ में आ जाती है।

पुराने समय में हिस्टीरिया को स्त्रियों की बीमारी समझा जाता था। परन्तु अब यह धारणा समाप्त हो गई है। अब हमें यह समझ में आया है कि हिस्टीरिया न केवल स्त्रियों को ही होती है, वरन् वह पुरुषों को भी होती है। हिस्टीरिया को भूतैलो बीमारी कहा जाता है। जिन लोगों को हिस्टीरिया होती है, वे प्रायः यही सोचा करते हैं कि किसी मृतात्मा ने उन्हें आकर पकड़ लिया है और उनकी इच्छा के प्रतिकूल वह उनसे बहुत से बुरे काम करा डालती है। सामान्य हिस्टीरिया की अवस्था में मनुष्य की

साधारण चेतना अलग हो जाती है और कोई दूसरी ही चेतना उनके शरीर के द्वारा बोलती, चलती-फिरती तथा काम करती है। हिस्टीरिया के रोग से पीड़ित व्यक्ति को भूत से पकड़ा हुआ जानकर कभी-कभी लोग उसे मारते-पीटते हैं। पुराने समय में मार-पीटकर और शारीरिक यंत्रणा देकर भूत को भगाया जाता था। हमारे देश में कभी-कभी हिस्टीरिया के रोगी को एक कमरे में बिठालकर मिर्च की धूनी दी जाती है। इस प्रकार की यंत्रणा से थोड़े समय के लिये यह रोग दूर हो जाता है अर्थात् भूत उसे छोड़कर भाग जाता है; किन्तु पीछे वह फिर से आ धमकता है। कभी-कभी हिस्टीरिया के रोग में लोग मनौती मनाते हैं अथवा रोगी के शरीर में समाये हुए भूत को किसी पेड़ में डाल देते हैं। इस प्रकार ओझा लोगों की झाड़-फूँक से हिस्टीरिया का रोग अच्छा किया जाता है।

डाक्टर लोग भूत-प्रेत के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इसी प्रकार वैज्ञानिक विचारवाले लोग भूत-प्रेत को नहीं मानते। जब हिस्टीरिया ऐसे लोगों के घर में आती है, तो उसका उपचार करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। ओझाओं-द्वारा हिस्टीरिया के उपचार में चिकित्सक के अनजाने एक विशेष विधि का प्रयोग होता है। यह विधि निर्देश-विधि है। इस विधि का प्रभाव मनुष्य के अचेतन मन पर पड़ता है। हिस्टीरिया के रोगी का अचेतन मन मन्त्र-तन्त्र-द्वारा रोग के उपचार में विश्वास करता है। इसी से झाड़-फूँक के द्वारा रोगी को लाभ होता है।

हिस्टीरिया का रोगी अपने अनजाने ही अनेक प्रकार की शारीरिक चेष्टाएँ करता रहता है, जो सर्वथा निरर्थक होती हैं। वह कभी-कभी सिर हिलाता है, कभी हाथ मटकाता है और कभी आँखें मिचकाता है। हमारे पास आई हुई एक महिला एक मिनट में दस बार अपने चेहरे के चारों ओर हाथ घुमाकर अपनी तर्जनी को अपने सिर पर लगा लिया करती थी। एक दूसरी महिला अपनी उँगलियों को हिलाती रहती थी। हिस्टीरिया के फीटस की अवस्था में रोगी को अपने शरीर का कोई ध्यान नहीं रहता है। जब किसी रोगी को हिस्टीरिया की मूर्च्छा आती है, तो उसकी सामान्य चेतना अलग हो जाती है और दूसरे ही प्रकार की चेतना काम करने लग

जाती है। अपनी अचेतन अवस्था में हिस्टीरिया का रोगी जो कुछ अभिनय करता है, वह उसकी दमित भावात्मक कल्पना का परिणाम होता है। मान लीजिए कि बेहोशी की अवस्था में रोगी बहुत थूकता है, तो इसका अर्थ है कि उसने किसी ऐसे काम में भाग लिया है, जिसके प्रति उसे बड़ी घृणा है। कभी-कभी वह विशेष पदार्थों की ओर देखकर थूकता अथवा उन्हें फेंक देने की चेष्टा करता है। इसका अर्थ यह है कि वह किसी व्यक्ति के झूठे प्रेम के प्रति अपने तिरस्कार के भावों को प्रकट कर रहा है। कभी-कभी हिस्टीरिया का रोगी महिला किसी तकिए या गलीचे को ढकेलती या गले लगाती है। इसका अर्थ है कि उसके अचेतन मन में किसी व्यक्ति के प्रति बड़े द्वेष या स्नेह का भाव है और उसी भाव से प्रेरित होकर वह विशेष प्रकार का अभिनय कर रही है। फिट की अवस्था में रोगी कभी-कभी मृत्यु का अभिनय करता है। उसके हाथ-पैर ठंडे पड़ जाते हैं, आँखें चढ़ जाती हैं, पुतलियों का चलना बन्द हो जाता है, दाँत काले पड़ जाते हैं, गला रुँधने लगता और साँस रुकने-सी लगती है। रोगी की ऐसी दशा देखकर उसके अभिभावक घबड़ा जाते हैं, परन्तु यह दशा थोड़ी ही देर रहती है और रोगी फिर होश में आ जाता है।

हिस्टीरिया का एक दूसरा प्रकार रूपान्तरित हिस्टीरिया (कनवर्सन हिस्टीरिया) है। रूपान्तरित हिस्टीरिया में रोगी को किसी प्रकार की शारीरिक बीमारी होती है, जिसके कारण का पता शरीर में खोजने पर नहीं चलता। कन्वर्सन हिस्टीरिया का स्थान शरीर का कोई भी अंग हो सकता है। हिस्टीरिया के कारण किसी भी प्रकार की संवेदना विकृत हो सकती है। स्पर्श संवेदना के विकार में देखा गया है कि रोगी को किसी अंग विशेष में संवेदना ही नहीं होती। कुछ रोगी अपने एक हाथ को ऊँचा उठा ही नहीं सकते। कुछ रोगियों के हाथ ऊँचे उठ गए, तो वे फिर नीचे नहीं जा सकते। कितने ही लोगों को पैर, आँख, ओंठ या जबड़े का लकवा हो जाता है। एक महिला के दाँत बड़े सुन्दर थे। वह अपने दाँतों का प्रदर्शन करना चाहती थी। उसकी इस आन्तरिक इच्छा की पूर्ति

ओंठ के लकवे से हो गई। वह अपना मुँह ही नहीं बन्द कर पाती थी।

लड़ाई के समय बहुत से सिपाहियों को लकवा हो गया था। इसके कारण वे अपने शरीर के विशेष अंग को काम में नहीं ला सकते थे। उदाहरणार्थ वे पैर से चल नहीं सकते अथवा हाथ से बन्दूक नहीं उठा सकते थे। इन रोगियों में देखा गया कि उनके शारीरिक अवयवों में कोई खराबी नहीं थी। वे अपने अंगों को इसलिए काम में नहीं ला सकते थे कि उनका अचेतन मन उन्हें इन अंगों को काम में लाने से रोकता था। जिन सिपाहियों को इस प्रकार का लकवा हो जाता था, उनके मन में एक ओर बहादुरी के भाव रहते थे और दूसरी ओर उनके अचेतन मन में भय के भाव रहते थे। उन्हें मरने का डर हो जाता था, परन्तु उनके लिए इसकी आत्म-स्वीकृति करना बड़ा ही कठिन हो जाता था। हाथ-पैर के लकवे का रोग एक ओर उन्हें अप्रिय परिस्थिति में भाग लेने से बचाता था और दूसरी ओर उनके स्वाभिमान की रक्षा भी करता था।

हिस्टीरिया के रोग के द्वारा लकवा का होना जान-बूझकर निकम्मा हो जाने से भिन्न वस्तु है। हिस्टीरिया के रोग में रोगी अपनी वास्तविक इच्छा को नहीं जानता और चेतन मन से यदि वह कोई काम करना भी चाहे, तो नहीं कर सकता। परन्तु ढोंग के पसारने में रोगी अपनी आन्तरिक इच्छा को जानता है और यदि वह चाहे, तो अपने अंगों का ठीक उपयोग कर सकता है। अतएव ढोंगी आदमी की हिस्टीरिया मार-पीट कर ठीक की जा सकती है। परन्तु सच्चे मानसिक रोगी की हिस्टीरिया इस प्रकार से ठीक नहीं होती। कभी-कभी हिस्टीरिया के रोग से पीड़ित व्यक्ति को ताड़ना देने से उसका रोग और भी बढ़ जाता है। झूठे भूत को मार-पीट कर भगाया जा सकता है, अर्थात् जहाँ जान-बूझकर कोई व्यक्ति पागलपन का अभिनय कर रहा है, तो मार पीट कर उसे ठीक किया जा सकता है। परन्तु सच्चे, भूत को, अर्थात् जहाँ मानसिक विघटन है, ताड़ना देकर ठीक नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार शरीर के विशेष अंग का लकवा हिस्टीरिया का कारण हो जाता है, उसी प्रकार कोई भी ज्ञानेन्द्रिय इसके कारण अपनी विशेष

प्रकार की शक्ति को खो देती है। हिस्टीरिया के किसी-किसी रोगी को कोई विशेष प्रकार का शब्द नहीं सुनाई देता अथवा वह सुगन्ध और दुर्गन्ध की संवेदना को खो देता है। आँखों की हिस्टीरिया में भी विलक्षण बातें देखी गईं हैं। आँखों की हिस्टीरिया के कुछ रोगी अपनी एक आँख से नहीं देख पाते, पर दूसरी से देख लेते हैं। कुछ को दोनों आँखों से बिल्कुल ही नहीं दिखाई देता। कुछ रोगी विशेष प्रकार की वस्तुएँ नहीं देख पाते। कुछ रोगियों को बगल की चीजें नहीं दिखाई पड़तीं। इस प्रसंग में प्रो० फिसर के दिए हुए निम्नलिखित दो उदाहरण उल्लेखनीय हैं —

(१) एक व्यक्ति एक चिथड़े से एक मशीन को साफ कर रहा था। चिथड़ा उसकी मशीन में फँस गया और चर्बी एवं पेट्रोल लिपटा हुआ वह चिथड़ा उसके चेहरे पर लग गया। इससे उसके चेहरे को कोई नुकसान नहीं हुआ, केवल कुछ गंदगी लग गई। उसने अपने चेहरे को साबुन से साफ कर लिया, परन्तु उसकी आँख के टोपों पर लगी हुई चर्बी को साफ करने में उसे थोड़ी दिक्कत पड़ी। यह ध्यान देने की बात है कि उसकी आँखों के भीतर कुछ भी नहीं गया और न आँखों में दर्द ही हुआ। इस घटना के एक घंटे बाद उसने देखा कि उसकी आँखों के सामने कुहरा-सा आ गया है। यह कुहरा धीरे-धीरे बढ़ता गया और दो घंटे में उसने देखने की योग्यता ही खो दी। दूसरे दिन भी उसको देखने में कठिनाई हुई। वह समय-समय पर अपनी दाहिनी आँख से कुछ देख पाता था। इस तरह की अवस्था एक महीने तक रही। इसके बाद वह चार वर्षों तक बिल्कुल ही अंधा बनकर रहा। जब तक उसका मानसिक उपचार नहीं हुआ, तब तक वह अच्छा नहीं हुआ।

(२) दूसरा उदाहरण भी उपर्युक्त उदाहरण के समान ही विलक्षण है। कालेज की एक महिला समुद्र में नहा रही थी। वह कुछ दूर तक समुद्र में तैर कर गई और फिर तैर कर किनारे पर वापस आ गई। जब वह किनारे पर पहुँची और पानी कम हो गया, तो वह अपने पैरों पर खड़ी होकर अपनी चाची की ओर चली; जो किनारे पर बैठी थी, परन्तु

इस महिला ने देखा कि उसकी आँखें दृढ़ता से बन्द हो गई हैं और उसके लाख प्रयत्न करने पर भी वे खुलती नहीं हैं। इस घटना से यह युवती और उसकी चाची दोनों ही घबड़ा गईं और वे तुरंत ही अस्पताल गईं। अस्पताल के डाक्टर इस रोग को न समझ पाए और उन्होंने सोचा कि इस महिला के दिमाग की कुछ नशें फट गई हैं। कुछ दिनों तक यह महिला अस्पताल के बिस्तर पर बेचैनी से तड़फती रही और अपनी आँखों को खोलने में वह सर्वथा असमर्थ रही। कुछ दिनों के बाद एका-एक अपने आप उसकी आँखें खुल गईं, परन्तु उसने अपने को सर्वथा अंधी पाया। वह कुछ भी नहीं देख सकती थी।

यह महिला अपने बिस्तर पर बेचैनी में पड़ी हुई समय व्यतीत कर रही थी और सोचती थी कि वह अपने विद्यालय में कैसे जायगी। अस्प-ताल पहुँचने के ग्यारहवें दिन वह लुढ़कते-पुढ़कते हुए बिस्तर से गिर पड़ी और इस गिरने से उसकी आँखें अचानक उसी प्रकार खुल गईं, जिस प्रकार वे बन्द हुई थीं। अब उसे बिल्कुल साफ दिखाई देने लगा। आँखों के ठीक होने के पश्चात् थोड़े समय के लिए उसका मनोविश्लेषण हुआ और वह सर्वदा के लिए अच्छी हो गई।

उपर्युक्त दो उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिस्टीरिया के रोग से उत्पन्न हुए शारीरिक रोग में शरीर की कोई वास्तविक क्षति नहीं होती। कभी-कभी सामान्य डाक्टर रोग के वास्तविक कारण को न समझ कर ऐसे रोगों का शारीरिक उपचार करके रोगी की सचमुच हानि कर देते हैं। हिस्टीरिया का रोग वास्तविक रोग से इतना मिलता-जुलता है कि जब तक डाक्टर को मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान न हो, तब तक वह इस रोग की विशेषता को पहचान ही नहीं पाता।

पहिचानने में इस प्रकार की कठिनाई पेट के हिस्टीरिया-जन्य विकार में देखी जाती है। कभी-कभी रूपान्तरित हिस्टीरिया पेट को नुकसान पहुँचाती है। इसके कारण रोगी को भोजन करने में कठिनाई होने लगती है, कौर गले के नीचे नहीं उतरते, कभी-कभी कुछ भी खाना खाते ही वमन हो जाता है। रूपान्तरित हिस्टीरिया से पीड़ित कितनी ही महि-

लाओं को दिन में दस बार वमन होता है। इस प्रसंग में हालिग वर्थ महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है। इससे रूपान्तरित हिस्टीरिया के कारण पर भी प्रकाश पड़ता है। सम्पन्न घर का एक युवक एक नवयुवती से विवाह करना चाहता था। उस युवती के माता-पिता अपनी लड़की की शादी उस युवक से कराना चाहते थे। यह युवक देखने में सुन्दर नहीं था, परन्तु युवती सुन्दरी थी। अतएव युवती इस युवक से मिलना भी नहीं चाहती थी। इस युवती की प्रेम-प्राप्ति के लिए युवक उसके माता-पिता के घर आता था। युवती उससे बचने की चेष्टा करती थी। इसके कारण उस युवती और उसकी माँ से कभी-कभी काफी झगड़ा भी हो जाता था। अतएव युवती को अपनी माँ की बात मानकर युवक से मिलने का निश्चय करना ही पड़ा। परन्तु जैसे ही पहिले दिन इस युवती ने युवक को अपने कमरे में आते देखा, तैसे ही उसको बड़ी तेजी की ओकाई आई और युवक के भीतर पहुँचते ही उसने वमन से कमरा गन्दा कर दिया। इसके बाद जब-जब यह नवयुवक आता था, तब-तब उसे देखते ही उसे वमन हो जाता था। इस दृष्टि से युवक का भी जी भर आया और उसने इस महिला के पास आना ही छोड़ दिया।

ऊपर एक दुःखान्त घटना का वर्णन है। यहाँ एक दूसरी घटना, जो सुखान्त रही, उल्लेखनीय है। आज से दस वर्ष पूर्व लेखक के मित्र की लड़की को विवाह होने के पश्चात् ही वमन का रोग हो गया। यह रोग उसे उसी दिन से हुआ, जिस दिन वह अपने पति के घर पहुँची। हमें इस महिला की जीवन-गाथा का अध्ययन करना पड़ा। महिला की उम्र केवल अठारह साल की थी। लेखक के द्वारा उपचरित होने के पूर्व वह छह महीने तक रुग्ण रह चुकी थी। छह महीने में उसने इतने वमन किए थे कि उसका वजन ११२ पौंड से घटकर केवल ७२ पौंड रह गया था। वैद्य, डाक्टर और हकीम तीनों से उसका उपचार कराया गया, परन्तु लाभ किसी से भी नहीं हुआ। रोग का कारण जानने से पता चला कि यह महिला बहुत दिनों से एक बीस वर्ष के सुन्दर युवक को प्यार करती थी। इस युवक से इस महिला का विवाह जात-पाँत के भेद और

आर्थिक हीनता के कारण नहीं हो सकता था। महिला का विवाह एक ऐसे व्यक्ति से हुआ, जो बत्तीस वर्ष की अवस्था का था और पहिले विवाह से जिसके दो बच्चे हो चुके थे और जो एक संस्था का प्रधान था। लड़की का वर खोजते समय माता-पिता वर के रूप को न देखकर उसकी आर्थिक स्थिति को ही विशेष प्रकार से देखते हैं। देखने में वह व्यक्ति आकर्षक नहीं था; परन्तु हृदय से बड़ा ही सुन्दर था। यह अपनी किशोरावस्था में लेखक का संरक्षित छात्र रह चुका था। अतएव पति-पत्नी दोनों के ही मनोभावों को लेखक भले प्रकार से जान सका। पति के प्रति पत्नी चेतन मन से श्रद्धा के भाव रखती, परन्तु उसका अचेतन मन, जिसकी बातों का ज्ञान भी उसे नहीं था, दूसरे प्रकार के रूप से फँस गया था। जब पत्नी की दबी हुई भावनाएँ चेतना के स्तर पर आईं और जब पत्नी अपने पति के स्वभाव से विमोहित हुई, तो पत्नी का रोग बड़ी ही शीघ्रता से समाप्त हो गया। अँग्रेजी में यह कहावत है कि कोई भी युवती दुैजवर की पत्नी नहीं होना चाहती। फिर यदि सौत के बच्चों को भी उसे देखना पड़े, तो उसे और कितना कड़ुआ घूँट पीना पड़ेगा। इस युवती का अचेतन मन इस कड़ुए घूँट को पीना नहीं चाहता था। अतएव वह अपनी मनोस्थिति को प्रतीक-रूप से वमन की प्रतिक्रिया में प्रकट करती थी। जब आन्तरिक मन की स्थिति परिवर्तित हो गई तो इस महिला का रोग सदा के लिए जाता रहा।

हिस्टीरिया का रोगी प्रेम का भूखा होता है। उसकी काम-वासना दमित अथवा अतृप्त रहती है। साधारण लोगों का अनुभव है कि यदि किसी अविवाहिता युवती को हिस्टीरिया हो गई हो, तो उसके विवाहित होनेपर उसकी बीमारी ठीक हो जाती है। अतएव कभी-कभी डाक्टर लोग भी हिस्टीरिया से पीड़ित महिला का विवाह कर देने की सलाह देते हैं। इससे कभी-कभी हिस्टीरिया ठीक भी हो जाती है। परन्तु विवाह हिस्टीरिया की अचूक औषधि नहीं है। विवाह से कभी-कभी हिस्टीरिया और भी बढ़ जाती है और कितने ही युवक तथा युवतियों को विवाह के दिन से ही हिस्टीरिया का प्रारम्भ होता है। हिस्टीरिया का रोगी केवल शारीरिक काम-तृप्ति

का ही भूखा नहीं रहता। वह प्रेम का भूखा रहता है और यह प्रेम किसी विशेष व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है। अतएव जबतक रोगी के अचेतन मन में उपस्थित प्रेम-भाव चेतना के स्तर पर नहीं आता और जबतक प्रेम-भाव का स्थानान्तरण नहीं होता, तब तक हिस्टीरिया का रोग नहीं जाता। कभी-कभी इस दमित प्रेम-भाव का स्थानान्तरण रूपवान युवक से युवती के विवाह-मात्र से हो जाता है। यह स्थानान्तरण तभी सुलभ होता है, जब कि प्रेम किए गए व्यक्ति और विवाहित युवक में रूप, गुण, शील आदि की समानता हो। जब यह समानता नहीं होती, तब स्थानान्तरण असम्भव हो जाता है। ऐसी अवस्था में ही मानसोपचारक की आवश्यकता पड़ती है। मानसोपचारक पहिले पहल दमित भाव को मनोविश्लेषण द्वारा चेतना के स्तर पर लाने की चेष्टा करता है। यह दमित भाव जब रोगी की चेतना के स्तर पर आता है, तब वह पहिले पहल चिकित्सक पर ही आरोपित हो जाता है। अब कुशल चिकित्सक का यह कार्य है कि वह इस प्रेम को स्थानान्तरित करके उसके उपयुक्त पात्र पर पहुँचा दे।

व्यक्तित्व-विच्छेद

हिस्टीरिया एक सामान्य व्यक्तित्व विच्छेद है। हिस्टीरिया की अवस्था में मनुष्य थोड़े समय के लिए अपनी चेतना को खो देता है। व्यक्तित्व-विच्छेद में वह अपनी चेतना को दीर्घ काल तक खोए रहता है। हिस्टीरिया में रोगी या तो चेतना-शून्य रहता है या वह कई प्रकार की ऐसी बातें करता है, जिसका ज्ञान उसकी सामान्य चेतना को नहीं रहता और वह उन्हें किसी और आत्मा-द्वारा की हुई मानता है। इसीलिए हिस्टीरिया के रोगी को भूत-बाधा से पीड़ित कहा जाता है। व्यक्तित्व-विभाजन की यह स्थिति जब बढ़ जाती है, तब व्यक्ति बहुत देर तक ऐसे कार्य करता है, जिनका ज्ञान उसे नहीं रहता तथा जिनका अपने आपमें कोई विशेष अर्थ होता है। इस प्रसंग में जैनेट-द्वारा अध्ययन किया गया आइरिन नामक महिला का उदाहरण उल्लेखनीय है। अचेतनावस्था

में यह महिला अपनी माँ की मृत्यु की सभी छोटी-छोटी घटनाओं का अभिनय करती थी। उसकी माँ की मृत्यु बड़े ही दुःख के साथ हुई थी। उस वेदना ने उसके मन में इतना घर कर लिया था कि वह उसे भुला ही नहीं सकती थी। परन्तु यह घटना इतनी दुःखद भी थी कि उसे स्मृति में रखना अत्यन्त कठिन था। जब मनुष्य के जीवन की कोई घटना अत्यन्त दुःखद होती है तो वह सामान्य चेतना को खो देता है। ऊपर से उस दुःख का अनुभव उसे नहीं होता, परन्तु भीतरी मन का संचित दुःख विशेष प्रकार की विक्षिप्तता में निकलता है। यह महिला भी सामान्य चेतना में माँ के दुःख का अनुभव न करती, परन्तु वह अपनी अचेतनावस्था में घंटों रोती थी। कभी-कभी वह अपनी कल्पना में रेलगाड़ी से दबकर मरने का अभिनय करती थी। इस तरह वह अपने दुःखान्त ड्रामा का बार-बार अभिनय करती थी। यह भी एक प्रकार की हिस्टीरिया ही है।

हिस्टीरिया की एक अवस्था चलित - स्वप्न (सोमनेमबुलिज्म) है। उपर्युक्त घटना दिन में होनेवाले चलित-स्वप्न का है। परन्तु इस प्रकार का स्वप्न रात के समय भी हो सकता है। लेखक का एक छात्र अपने घर में सोते-सोते रात को एक-दो बजे उठकर घर से बाहर निकल जाता था और वह उसी समय अपने एक मित्र के घर, जो उसके घर से एक मील दूर था, चला जाता था। वह अपने मित्र की चारपाई पर, उन्हें बिना जगाए ही, सो जाता था। सबेरा होने पर घर के लोग उसकी खोज करते थे, वह स्वयं भी अपने आपको घर से इतनी दूर पाकर चकित होता था। यह छात्र कभी-कभी अपने दूसरे सम्बन्धी के यहाँ भी चला जाता था। इस प्रकार की मनोदशा का अध्ययन करने से पता चला कि उसे उसके परिवार के लोगों से, विशेषकर उसके पिता से, बड़ा ही असन्तोष था। उसके पिता-माता में झगड़ा होता रहता था और उसके पिता आवेश में आकर उसकी माँ को पीट दिया करते थे। लड़के से यह सहा न जाता था। परन्तु वह क्या करता। उसके मन में घर से भाग जाने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न हो गयी। पिता अपने स्त्री-बच्चों को गाली भी देते थे। इस लड़के को यह बुरा लगता था। पर इस वेदना से

बचने का कोई उपाय भी न था। उसके अचेतन मन ने एक उपाय खोज ही निकाला। रात को सोते-सोते वह घर से निकल कर ऐसे स्थान पर चला जाता, जहाँ उसे स्नेह की आशा रहती थी।

प्रबल दमित उत्तेजना चलित-स्वप्न का कारण बन जाती है। इस प्रसंग में प्रो० फिशर का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है। एक महिला कहीं जाते हुए एक सराय में ठहरी। सराय के मालिक ने रात को उसके साथ बलात्कार किया। वह इससे बहुत दुःखी हुई, परन्तु इस स्मृति को उसने भुलाने की चेष्टा की। तब वह बीमार हो गई और उसे चलित-स्वप्न होने लगे। वह अपने बलात्कार के समय की सभी घटनाओं का अभिनय करने लगी। चलित-स्वप्न के समान ही हिस्टीरिया का एक और दूसरा रूप है, जिसमें व्यक्तित्व का विभाजन और भी बढ़ जाता है। यह रोग पलायनता का (फ्यूगे का) रोग कहलाता है। पलायनता के रोग के निम्नलिखित कुछ उदाहरण, जिन्हें मैगडुगल ने अपनी 'ऐबनारमल साइकालोजी' में निर्दिष्ट किया है, उल्लेखनीय हैं—

एक फौजी सरजन्ट लड़ाई के मैदान से अपने आफिसर का कुछ संदेश लेकर फौज के दूसरे स्थान पर अपनी मोटर साइकिल पर जा रहा था। उसने अचानक अपने आपको एक बन्दरगाह के रास्ते पर पाया, जो कि लड़ाई के मैदान से कुछ-सौ मिल दूरी पर था। अपने आपको इस बन्दरगाह में देखकर वह घबड़ा गया। उसे डर लगा कि उस पर फौज से भागने का दोष लगाया जायगा। अतएव उसने वहाँ के फौजी अफसर को आत्म-समर्पण कर दिया। पूछने पर वह अपने विषय में कुछ भी नहीं बता सकता था। कुछ दिनों तक अस्पताल में रहने के बाद वह प्रो० मैकडुगल के पास लाया गया। उसमें किसी प्रकार के मानसिक रोग के कोई लक्षण न दिखाई देते थे। उसमें केवल आत्मविश्वास की कमी और निराशा दिखाई पड़ रही थी। जब बातचीत से उसकी विस्मृत घटनाएँ स्मृति में न आ सकीं, तो मैकडूगल ने उसे सम्मोहित किया। सम्मोहन की अवस्था में उसके व्यक्तित्व के विच्छेद से बनी दीवार गिर गई और उसका भूला हुआ अनुभव उसे याद आ गया। उसने बताया

कि जब वह अपने अफसर का हुक्म लेकर चला था, तब उसके समीप तोप का एक गोला गिर कर फटा। इससे उसे चोट नहीं लगी, परन्तु वह मोटर साइकिल से नीचे गिर गया। वह फिर सवार हो बन्दरगाह की ओर आ पड़ा। उसने रास्ते का संकेत देखकर और राहगीरों से पूछकर बन्दरगाह के मार्ग का पता चलाया। इस तरह उसके सभी कार्य ऊपर से देखने में विवेकपूर्ण दिखाई पड़ते, परन्तु ये केवल भय से ही पीड़ित थे और उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अवहेलना कर उसे मैदान से भगा रहे थे। जब वह व्यक्ति अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व में आया, तो उसे लड़ाई के मैदान से भाग आने पर ग्लानि हुई।

पलायन का रोग चलित स्वप्न से भिन्न इस बात में है कि जहाँ चलित-स्वप्न में व्यक्तित्व का विच्छेद कम समय तक रहता है, वहाँ पलायनता में उससे अधिक समय तक रहता है। अर्थात् पलायनता का व्यक्तित्व चलित-स्वप्न के व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक देर तक ठहरता है। चलित-स्वप्न और पलायन में दूसरा भेद यह है कि जहाँ चलित स्वप्न में किसी पुराने स्वप्न का अनुभव होता है, वहाँ पलायन में अपनी किसी दबी इच्छा का पूर्तिकरण होता है।

उपर्युक्त सभी प्रकार के विच्छेद हिस्टीरिया के अन्तर्गत ही आते हैं। इनसे भिन्न, परन्तु इनसे मिलते-जुलते बदलते व्यक्तित्व, द्वैव्यक्तित्व और बहु-व्यक्तित्व के उदाहरण हैं। बदलते व्यक्तित्व का एक मनोरंजक उदाहरण स्टाउट ने अपनी 'ग्राउन्ड वर्क आफ साइकालोजी' में दिया है। एक अठारहवर्षीया युवती अपनी ससुराल में एक दिन सबेरे सोकर उठी। जब उसने बिस्तर से उठकर चारों ओर देखा, तो उसके सोने का कमरा उसे अजनबी ही दिखाई दिया। उसे ज्ञात हुआ कि उसे सोते-सोते देर हो गयी और उसे शीघ्र ही स्कूल में पढ़ने जाना है। अतएव वह अपनी पुस्तकें खोजने लगी। परन्तु उसे सभी चीजें नई दिखाई दीं। वह अपने को इस समय अपने पिता के घर में उपस्थित सोलह वर्ष की बालिका ही जान रही थी। उसकी बारह साल की स्मृति पूर्णतया लुप्त हो गयी। वह अपने नए सम्बन्धियों को बिलकुल नहीं पहचानती थी। धीरे-धीरे

उसे अपने नए वातावरण से परिचित कराया गया। फिर वह सामान्य व्यक्ति के सदृश ससुराल में रहने लगी। साल भर इस प्रकार रहने के पश्चात वह जब एक बार रात को फिर सोई, तो जागने पर उसकी एक साल पूर्व की स्मृति वापस आ गई और जो भी घटनाएँ एक साल के बीच हुई थीं, वह उन्हें बिलकुल भूल गई। इस प्रकार उसका बदलता हुआ व्यक्तित्व कई दिनों तक काम करता रहा।

द्वैव्यक्तित्व का एक अच्छा उदाहरण विलियम जेम्स ने अपनी 'प्रिन्सीपल्स आफ साइकालोजी' में दिया है। पेनसेलेविया का निवासी एन्सीलवोर्न नामक एक पादरी बैंक में अपना एक चेक भुनाने गया। जब वह चेक के रुपए लेकर आ रहा था, तब वह अपने आपको भूल गया और ट्रेन से यात्रा करके वह दूर के एक दूसरे नगर में चला गया। वहाँ उसने व्यापार के लिए एक दूकान खोली। अपनी दुकान को उसने 'ब्राउन की दुकान' के नाम से प्रसिद्ध किया। गाँव के सभी लोग उसे मिस्टर ब्राउन के नाम से जानते थे। इस तरह उसने दो वर्ष व्यतीत किये। एक दिन जब वह सोकर उठा, तो वह अपने नए वातावरण को देखकर आश्चर्य में पड़ गया। जब लोगों ने उसे मिस्टर ब्राउन के नाम से संबोधित किया, तो वह कहने लगा कि मैं तो एन्सीलवोर्न हूँ, मैं ब्राउन को नहीं जानता।

कभी-कभी द्वैव्यक्तित्व के व्यक्ति अपने सच्चे व्यक्तित्व को एकाएक अपना चित्र अथवा अपना नाम देखकर याद कर लेते हैं। इस तरह का एक व्यक्ति अपना घर छोड़कर भाग गया था। वह एक नए नगर में रह रहा था। उसके लड़कों ने, जो काफी प्रौढ़ थे और जो उसका व्यापार सम्हाले हुए थे, अपने पिता के घर से गायब हो जाने का विज्ञापन निकाला। विज्ञापन में पिता की सूचना देनेवाले व्यक्ति को अच्छा पुरस्कार देने का वादा किया गया था। इस व्यक्ति का फोटोग्राफ कई नगरों के पोस्टआफिस में टँगा हुआ था। एक दिन यही व्यक्ति कुछ टिकटें लेने पोस्ट-आफिस में आया और उसने खोए हुए व्यक्ति का चित्र तथा बतानेवाले को पुरस्कार के साथ देखा। अपना चित्र देखते हुए

वह विचार में पड़ गया तथा उसे अपना पुराना व्यक्तित्व याद आ गया।

बहुव्यक्तित्व का एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मार्टन प्रिन्स की 'डिसोसियेशन आफ ए परसनेलिटी' में पाया जाता है। मार्टन प्रिन्स ने ब्यूशाम्प नामक एक महिला के व्यक्तित्व का अध्ययन किया। इस महिला में एक ही शरीर के भीतर कई व्यक्तित्व थे। इनमें से एक सामान्य, एक शैतान और एक सन्त व्यक्तित्व था। इनका नाम शैतान शैली, सामान्य शैली और सन्त शैली रखा गया। सामान्य शैली को शैतान शैली के क्रिया-कलापों का ज्ञान नहीं रहता था। परन्तु शैतान शैली को सामान्य शैली तथा सन्त शैली दोनों की ही क्रियाओं का ज्ञान रहता था। अर्थात् जब इस महिला के शरीर में शैतान शैली समाई रहती थी, तब जो कुछ होता था, उसे महिला की साधारण चेतना नहीं बता सकती थी। परन्तु जब साधारण शैली काम करती थी, तो शैतान शैली एक बाहरी द्रष्टा के समान इन सब बातों को देखती थी और जान-बूझकर वह कभी-कभी उसके कार्यों में उलझन पैदा कर देती थी। मान लीजिए वह अपनी पुस्तक एक आलमारी में रख रही हो, तो शैतान शैली उसके शरीर में आकर यह पुस्तक बिस्तर के नीचे रखवा देती थी और फिर जब सामान्य शैली इस पुस्तक को खोजती, तो वह बीच-बीच में आकर इसकी मखौल उड़ाती थी। वह कभी-कभी सामान्य शैली-द्वारा बेवकूफी का काम कराती और झूठ बुलाती थी। शैतान शैली को सामान्य शैली से सौतिया डाह जैसा थी। अतएव वह सामान्य शैली को अनेक प्रकार की ताड़ना देती थी। उपर्युक्त व्यवहार से भिन्न व्यवहार सन्त शैली का था। वह बड़ी ही सदाचारिणी, दयालु और सत्यवादिनी थी। इसके नैतिक मूल्य बड़े ऊँचे थे। यह साधारण शैली की परेशानी पर संवेदना प्रकट कर सकती थी पर सहायता नहीं। मार्टन प्रिन्स ने मनोवैज्ञानिक विधि से तीनों प्रकार के व्यक्तित्वों में एकता स्थापित करा दी। अब ब्यूशाम्प के व्यक्तित्व का कोई भाग न तो अति नैतिक रहा और न अति दुष्ट या अति सामान्य ही। यह सभी व्यक्तित्वों का मिश्रित व्यक्तित्व बन गया, जिसमें क्रियाओं और आदर्शों की एकता थी।

नवाँ प्रकरण

साइकेस्थेनिया

पिछले प्रकरण में हमने विभिन्न प्रकार की हिस्टीरिया पर प्रकाश डाला है। हिस्टीरिया ऐसा रोग है, जिसका संबंध सबसे अधिक डाक्टरों से रहता है और जिसकी चिकित्सा अनेक प्रकार से की जाती है। वर्तमान प्रकरण में हम एक ऐसे रोग की चर्चा कर रहे हैं, जिसे मानसिक रोग के रूप में न तो रोगी ही जानता है, और न डाक्टर ही। अतएव इस प्रकार के रोग की चिकित्सा होनी भी कठिन होती है। यह रोग साइकेस्थेनिया अर्थात् मानसिक क्षोभ है।

साइकेस्थेनिया के कई प्रकार होते हैं। इनमें से प्रधान बाध्य (आवसेशन) इल्लत (कम्पलशन), संशय, शारीरिक चंचलता व्यक्तित्व-दुर्बलता और अभाव की भावना हैं। इनका यहाँ वर्णन करना मन के अन्तर्पटल को समझने के लिए आवश्यक है।

हठी विचार

हठी अथवा बाध्य विचार वह मानसिक रोग है, जो मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल बारंबार आता है और जिस पर व्यक्ति का कोई भी अधिकार नहीं रहता। यह बाध्य विचार हठ के रूप में आता है और उसे जितना ही रोका जाता है, वह उतना ही प्रबल हो जाता है। इस रोग से पीड़ित अनेक व्यक्ति मनोविज्ञानशाला में आते रहते हैं। यहाँ एक व्यक्ति का उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक प्रतिभावान युवक को अचानक घड़ी की आवाज परेशान करने लगी। वह एम० ए० की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था। जिस कमरे में वह पढ़ रहा था, उसमें एक टाइम-पीस घड़ी रखी रहती थी। यह टाइम-पीस टक-टक की आवाज करती रहती थी। जब परीक्षा बहुत समीप आई, तब टक-टक की यह आवाज उसकी पढ़ाई में बाधा डालने लगी। वह जितना ही इस टक-टक की आवाज से अपना ध्यान हटाता था, उसे

वह आवाज उतनी ही अधिक परेशान करती थी। यह प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी था, इस आवाज ने उसे बहुत परेशान किया। तब वह उस घड़ी को उठाकर अपने भाई के कमरे में रख आया। जब घड़ी दूसरे कमरे में पहुँच गई, तब उसकी परेशानी और भी बढ़ गई। अब घड़ी की आवाज तो नहीं सुनाई देती थी, किन्तु अब घड़ी की स्मृति उसे परेशान करती थी। उसे ऐसा प्रतीत होता था मानो मैंने कोई बड़ा पाप-कर्म कर डाला है। इस प्रकार के विचार के कारण वह युवक अत्यंत परेशान हुआ, किन्तु वह उस परेशानी से छुटकारा पाने का कोई मार्ग नहीं ढूँढ़ पा रहा था। यह युवक इस घटना के पूर्व भी मनोविज्ञानशाला में आ चुका था और वह मनोविज्ञानशाला की आत्मचिकित्सा प्रणाली को जानता था। वह विश्वविद्यालय की सर्वोच्च कक्षा में दर्शन का विद्यार्थी था।

इस विद्यार्थी ने शाला के द्वारा बताए हुए मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास किया। इसके परिणाम - स्वरूप धीरे-धीरे उसे ज्ञात हुआ कि टिक-टिक की यह आवाज किसी ऐसे कृत्य का प्रतीक है, जो उसकी अंतरात्मा के प्रतिकूल किया गया था। एक बार जब वह अपनी स्त्री के पास प्रेमालिंगन में पड़ा हुआ था, तो उसी बिस्तर पर उसकी दो वर्ष की बच्ची थी, जो इनके हिलने-डुलने से जाग गई। युवक उस बच्ची को उठाकर अपनी माँ के पास कर आया, वहाँ वह देर तक चिल्लाती रही और कुछ देर में वह चिल्लाती-चिल्लाती सो गई। इस युवक का मन बारंबार उस लड़की की चिल्लाहट की ओर जाता था, परंतु वह उसे वापस नहीं लाया। उसे यह ज्ञात हो रहा था कि मैंने कोई बुरा काम किया है, अपने सुख के लिए मैंने अपनी बच्ची को दुःख दिया। इस प्रकार की आत्म-ग्लानि उसे दिन भर रही। पीछे यह ग्लानि-युक्त घटना उसे विस्मृत हो गई। युवक की स्मृति ने इस प्रकार की आत्म-ग्लानि की घटना को उसकी चेतना के समक्ष नहीं आने दिया।

हमारे अहंकार की भावना जब उपर्युक्त प्रकार की ग्लानियुक्त घटनाओं को चेतना के स्तर पर नहीं आने देती, तो इन घटनाओं से

संबंधित भाव किसी निरर्थक घटना अथवा वस्तु पर आरोपित होकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार के भावों का आरोपण किसी निरर्थक विचार पर तभी आरोपित होता है, जब मनुष्य की चेतना किसी महत्वपूर्ण कार्य में फँसी रहती है और इस कार्य में वह अपनी पर्याप्त शान्ति खो देता है। घड़ी की आवाज ने इस युवक को तभी परेशान किया, जब वह अपनी परीक्षा के लिए घोर परिश्रम कर रहा था और जब उसके चेतन मन की मानसिक शक्ति इस कार्य में काफी खर्च हो चुकी थी मनुष्य को बाध्य विचार उसी समय परेशान करते हैं, जब उन्हें दबाए रखने की मानसिक शक्ति कम हो जाती है। इस युवक को बाध्य-विचार प्राय: तभी परेशान करते थे, जब वह अपनी परीक्षा के लिए तैयारी करता था। उपर्युक्त घटना इसी वर्ष की है। गत वर्ष इसी नवयुवक को दूसरी परीक्षा के समय पागल हो जाने के बाध्य विचार ने परेशान किया था। जब यह नवयुवक पी० सी० एस० परीक्षा का अंतिम प्रश्न पत्र करने जा रहा था, तब उसने राह में एक नंगे पागल को दौड़ते जाते हुए देखा। इस पागल को देखते ही उसके रोंगटे खड़े हो गए और उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो वह स्वयं पागल होने जा रहा है। परीक्षा-भवन में पहुँचते-पहुँचते वह पसीने से लथ-पथ हो गया और उसने प्रश्न-पत्र को विक्षिप्त अवस्था में लिखा। उसके लाख प्रयत्न करने पर भी इस व्यक्ति के मन से उस पागल का विचार नहीं जाता था।

उपर्युक्त रोगी को बारंबार सुनाई देने वाली घड़ी की टिक-टिक आवाज उस बच्ची के रोने का प्रतीक थी, जो माता के हिलने से जग पड़ी थी। घड़ी का अपने कमरे से दूसरे कमरे में ले जाना बच्ची को अपने बिस्तर से माँ के बिस्तर पर पहुँचाने का प्रतीक था। घड़ी की आवाज दूर के कमरे से भी परेशान कर रही थी। वह आवाज उस बच्ची के रोने का प्रतीक थी जो माँ के बिस्तर पर पहुँचकर चिल्ला-चिल्लाकर रो रही थी।

उपर्युक्त घड़ी के बाध्य विचार का अर्थ स्वयं इस युवक को ही मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में अपने आप ज्ञात हुआ और इस अर्थ के चेतना पर आते ही घड़ी की आवाज की परेशानी समाप्त

हो गई। रोग के इस प्रकार समाप्त होने से यह भी सिद्ध हुआ कि रोग का वास्तविक कारण वही था, जिसे उसने शैथिलीकरण की अवस्था में अंतर्दृष्टि-द्वारा प्राप्त किया था।

बाध्य विचार का एक बड़ा ही मनोरंजक उदाहरण, जिसे रास महाशय ने अपनी 'कामन न्यूरोसिस' नामक पुस्तक में दिया है, यहाँ उल्लेखनीय है।

एक सच्चरित्र प्रतिष्ठावान वयोवृद्ध व्यक्ति को १३ की संख्या का बाध्य विचार पैदा हो गया। उसकी उम्र उस समय ६० वर्ष की थी। यह १३ की संख्या उसे कई वर्षों से परेशान कर रही थी। तेरहवीं संख्या ईसाइयों के लिए बड़ी ही अशुभसूचक है। इसका कारण जन-साधारण में प्रचलित वह कहानी है, जिसमें हजरत ईसा के तेरहवें शिष्य जुदा स्केराइस्ट ने अपने गुरु के साथ विश्वासघात करके उन्हें हत्यारों के हाथ सौंप दिया था। इस व्यक्ति को इस संख्या से इतना डर था कि जब भी वह तेरह का नाम सुनता, तो उसके हृदय पर एक भारी धक्का लगता था और इसके पश्चात उसे बहुत बड़ी मानसिक बेचैनी हो जाती थी। उसे महीने के तेरहवें और सत्ताइसवें दिन घर में बिस्तर पर ही रहना पड़ता था। सत्ताइस अँग्रेजी में twenty seventh कहलाता है और इस शब्द में तेरह अक्षर हैं और इसलिए यह दिन भी उसके लिए अशुभ - सूचक हो गया था। वह कहीं भी जाता, उसे तेरह ही दिखाई या सुनाई पड़ता था। यदि किसी दुकान के नाम में तेरह अक्षर रहते, तो उस दुकान का नाम अवश्य ही उसकी नजरों में जम जाता था और फिर दुकान से उसे अपनी जान बचानी पड़ती थी। यदि किसी दोमंजिले मकान की सीढ़ी पर वह चढ़ता, तो वह तेरहवीं सीढ़ी को फाँद कर ऊपर जाता था। वह तेरहवीं सीढ़ी पर पैर रखने की हिम्मत नहीं करता था। उसे सड़क का तेरहवाँ घर, तेरहवाँ रास्ता और सभी तेरहवीं चीजों से इतनी परेशानी रहती कि वह इस तेरह के विचार के कारण सामान्य जीवन के कुछ कार्य ही नहीं कर पाता था। उसे यह भी ज्ञात होता था कि सभी लोग उसकी ओर चिल्लाकर तेरह ही पुकारते हैं। यदि कोई उसको प्रणाम करे, तो वह

देखता था कि वह उससे Oh good morning कह रहा है। इसी प्रकार दिन को लोग जब उसे good afternoon कहते थे, तो वह देखता था कि तेरह ही अक्षरों का शब्द प्रयुक्त हो रहा है। यह रोगी तेरह को भुलाने की जितनी चेष्टा करता था, उसका विचार उसे उतना ही अधिक परेशान करता था।

इस रोग का कारण जानने से पता चला कि यह व्यक्ति अपनी काम-वासना संबंधी पवित्रता का बड़ा ही अभिमानी था। इसने अपना सारा जीवन अविवाहित रहकर व्यतीत किया। आस-पास के सभी लोग इस संबंध में उसे आदर की दृष्टि से देखते थे। परंतु जब वह सोलह वर्ष का था, तब उसके जीवन में एक ऐसी घटना घटित हुई, जिससे उसे भारी आत्मग्लानि हुई। वह उस समय भी बड़ा ही अनैतिक व्यक्ति था और उसे अपने अनैतिक आचरण से बड़ी ही वेदना हुई। १६ वर्ष की अवस्था में उसे एक सुन्दरी युवती ने बहका लिया और उन दोनों का काम-संबंध भी हो गया। इस संबंध के बाद इस युवक को बड़ी ही आत्मग्लानि हुई। वह फिर सभी स्त्रियों से दूर रहने लगा। अपने बचपन की घटना को वह एकदम भूल गया और जिस प्रकार दूसरे लोग चरित्र में उसे पवित्र मानने लगे, उसी प्रकार वह स्वयं भी अपने को पवित्र मानने लगा। अब उसके बचपन की संवेदनात्मक घटना ने मानसिक ग्रन्थि का रूप धारण कर लिया। वह महिला बड़ी ही अंधविश्वासी थी और उसे तेरहवीं संख्या से विशेष प्रकार का भय रहता था। इस बात को वह युवक जानता था। कालान्तर में युवक पुरानी घटना को तो भूल गया परंतु संख्या का वह भय उस युवती से इस युवक पर आ गया। यह तेरह की संख्या इस व्यक्ति के जीवन में विशेष प्रकार का महत्व रखने लगी। यह संख्या उसके चरित्र के अभिमान को विनाश करनेवाली घटना से संबंधित होने के कारण विशेष प्रकार से अप्रिय और अशुभसूचक बन गई। इस व्यक्ति का अभिमान अपनी चारित्रिक पवित्रता की किसी प्रकार की कमी को जानना अपने लिए उतना ही अशुभसूचक मानता था, जितना कि मृत्यु को। अभिमान को ठेस पहुँचानेवाली और सभी घटनाओं को

वह भूल चुका था। किन्तु किसी आत्मग्लानिजन्य घटना को भुलाने से दमित आवेग की शक्ति बढ़ जाती है और जब मनुष्य इस आवेग को जान-बूझकर प्रकाशित होने का अवसर नहीं देता, तब वह अपने प्रकाशन का एक ऐसा उपाय खोज लेती है; जो मनुष्य के विवेक की समझ में नहीं आता। दमित भाव अथवा आवेग किसी ऐसी वस्तु अथवा घटना पर आरोपित हो जाता है, जो ऊपर से सर्वथा निर्दोष या निरर्थक दिखाई देता है; किन्तु व्यक्ति के अचेतन मन से जिसका बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। यह संबंध व्यक्ति की संमोहित अथवा मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में, जब रोगी का अहंकार सतर्क नहीं रहता, प्रकाश में आ जाता है। सारे मानसिक उपचारों का ध्येय व्यक्ति के अहंकार को शिथिल बनाकर दमित भाव को चेतना के स्तर पर आने में सुविधा प्रदान करना है। जब दमित भाव चेतना के स्तर पर आ जाता है और जब रोगी उसकी आत्म-स्वीकृति कर लेता है, तब एक ओर उसका बड़प्पन या चरित का अभिमान कम हो जाता है और दूसरी ओर उसका बाध्य-विचार अथवा परेशान करनेवाला विचार भी समाप्त हो जाता है।

इस प्रसंग में काशी मनोविज्ञानशाला के उपचार से लाभान्वित बाध्य विचार के दो एक रोगियों के उदाहरण उल्लेखनीय हैं। आज से दस वर्ष पूर्व एक विश्वविद्यालय के कानून के एक विद्यार्थी को यह झक हो गई थी कि प्रत्येक व्यक्ति जो भी द्रष्टा की ओर देखता है उसे चोर समझता है यदि वह पुलिस के आदमी को देखता था तो उसके मन में यह विचार उठता था कि वह उसे पकड़ने आया है। वह इस प्रकार की निरर्थक झक का कारण नहीं जानता था। यह व्यक्ति बड़ा ही चरित्रवान और सम्पन्न घर का था। उसने अपनी जानकारी में कभी चोरी नहीं की थी।

उक्त चोरी के विचार का इतिहास जानने से पता चला कि जब वह युवक एक दूसरे विश्वविद्यालय में बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा था तो जिस बोर्डिंग में वह रहता था वहाँ चोरी हो गई थी। जिस कमरे में चोरी हुई थी उस कमरे के पास यह व्यक्ति किसी आगन्तुक को पहुँचाने के लिए गया था। जिस समय यह व्यक्ति कमरे के दरवाजे तक पहुँचा था

उस समय कमरे का मालिक कमरे के बाहर था और दरवाजा ओढ़काया हुआ था। यह व्यक्ति उक्त आगन्तुक को कमरे में बिठाकर चला आया, स्वयं कमरे में नहीं गया। उस कमरे से आगन्तुक के चले जाने के पश्चात् कमरे के मालिक को पता चला कि उसकी एक घड़ी और फाउँटेनपेन गायब हो गई है। इन वस्तुओं को लेनेवाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था; आगन्तुक, छात्रावास का नौकर अथवा पास का कोई विद्यार्थी। परन्तु जब यह चोरी की बात फैली तब इस युवक को ऐसा प्रतीत हुआ कि इस होस्टल के सभी विद्यार्थी इस युवक को ही फाउँटेनपेन और घड़ी का चुरानेवाला समझते हैं। यह युवक संपन्न घर का था अतएव अपनी सफाई देने के लिए होस्टल के वार्डन के पास गया। होस्टल के वार्डन ने जिस विद्यार्थी की चोरी हुई थी उसे बुलाया और उससे सब हाल पूछा। इस विद्यार्थी ने वार्डन के सामने कहा कि उक्त विद्यार्थी पर उसका तनिक भी संदेह नहीं है और उसने वार्डन के सामने इस बात के लिए क्षमा माँगी कि यदि अनजाने भी कोई बात उसके मुख से निकल गई हो तो वह उसकी भूल है। परन्तु इससे भी उसकी मानसिक परेशानी दूर नहीं हुई। उसके मन में यह धारणा हो गई कि उसे न केवल उक्त विद्यार्थी ही चोर समझता है वरन् होस्टल के सभी विद्यार्थी उसे चोर समझते हैं और उसकी चोरी की चर्चा किया करते हैं।

उक्त विचार ने इस युवक को इतना परेशान किया कि उसे अपनी बी० ए० की परीक्षा की तैयारी करना कठिन हो गया। उसे अपने किसी छात्रावास के साथी से मिलना भार हो गया। वह लज्जा के मारे गड़ा जाता था। किसी प्रकार उसने बी० ए० की परीक्षा दी। उसने निश्चय कर लिया कि वह परीक्षा पास करके किसी ऐसे स्थान पर चला जायगा जहाँ के लोग इस घटना के बारे में कुछ भी नहीं जानते। अतएव बी० ए० पास होने के पश्चात् उसने कानून पढ़ने के लिए दूर के विश्वविद्यालय में अपना नाम लिखाया किन्तु यहाँ भी यह विचार उसके मन में आता रहा कि उसके साथी किसी-न-किसी प्रकार उसकी चोरी की बात जान चुके हैं। यदि कोई भी व्यक्ति उसे ध्यान से देखता तो उसे ऐसा

प्रतीत होता कि वह उसे चोर के रूप में पहिचान रहा है। वह अपने विवेक से यह जानता था कि कोई भी व्यक्ति उसकी चोरी की बात नहीं जानता किन्तु तो भी उक्त हठी विचार उसे नहीं छोड़ता था।

इस समय उसे एक और नई झक लग गई। वह जिस किसी विद्यार्थी को देखता था उसकी दृष्टि उसकी घड़ी और फाउँटेन पेन की ओर अवश्य जाती थी और उसके मन में यह विचार उठता था कि वह उसकी घड़ी और फाउँटेनपेन को किसी-न-किसी प्रकार ले ले। कभी-कभी वह उन विद्यार्थियों की घड़ी और फाउँटेनपेन देखने के लिए ले लेता था किन्तु देखने के बाद भी उन्हें लौटाने की इच्छा उसे नहीं होती थी। उसने अपनी घड़ी और फाउंटेन पेन की झक को दूर करने के लिए लगभग दो दर्जन भिन्न-भिन्न प्रकार की घड़ी और फाउँटेनपेनें खरीदीं। परन्तु इतने पर भी उसकी झक नहीं जाती थी।

इस रोगी की सभी जीवन-गाथाएँ उसके सामान्य काम-वासना-संबंधी अनुभवों और स्वप्नों को जाना गया। इनमें उसकी चोरी की झक का कोई विशेष कारण नहीं मिला। इसी बीच लेखक ने विलियम स्टैकिल की प्रैक्टिस आफ साइकोप्रेथी नामक पुस्तक में एक इसी प्रकार के रोगी का उदाहरण पाया। इस रोगी की उम्र ६३ वर्ष की थी। उसे विगत बीस वर्षों से यह झक सवार हो गई थी कि उसके आस-पास रहनेवाले लोगों को उसकी उस चोरी की बात मालूम हो गई है जो उसने अपनी तेरह वर्ष की अवस्था में की थी और जिसके लिए उसे बच्चों की कचहरी में जाना पड़ा था तथा मजिस्ट्रेट द्वारा उसे फटकार मिली थी। यह घटना उसके बाल्यकाल के निवासस्थान के गाँव में घटी थी। वह इस समय उस गाँव से सैकड़ों मील की दूरी पर रहता था और यहाँ के लोगों को उस घटना की जानकारी का कोई कारण नहीं था परन्तु उस पर भी उक्त झक उसे छोड़ती नहीं थी। डाक्टर स्टैकिल द्वारा इस व्यक्ति का मनोविश्लेषण किये जाने पर पता चला कि जब यह अट्ठारह वर्ष का युवक था तब यह एक बार अपनी वृद्धा माँ के पास सो रहा था, सोते-सोते उसे कामोत्तेजना हो गई। वह जानता था कि मेरी माँ का चरित्र बहुत पवित्र नहीं है।

माँ की निद्रावस्था में ही उसने अपनी माँ के साथ व्यभिचार करने की चेष्टा की। पीछे इस चेष्टा के लिए उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई। यह घटना उसके अभिमान को सदा ठेस देती रहती थी। अतएव उसे इसने बिलकुल भुला दिया और उसका जीवन बड़ा ही पवित्र हो गया। परन्तु उसकी किशोरावस्था की घटना ने उसके अचेतन मन में घर कर लिया था और पचीस वर्ष के पश्चात् यह आदेश एक निरर्थक घटना के विचार पर आरोपित होकर प्रकाशित होने लगा। बचपन की चोरी की घटना उसके अभिमान को इतनी ठेस पहुँचानेवाली नहीं थी जितनी कि किशोरावस्थावाली माँ के साथ होनेवाली घटना। दूसरी घटना में पहली घटना के समान किसी वस्तु की चोरी नहीं थी किन्तु यहाँ एक महत्वपूर्ण सत्य की दुनिया से और अपने आपसे चोरी थी। लोक में कहावत है कि मनुष्य का पाप घर के छत पर चढ़कर बोलता है। दबा हुआ आवेग किसी समधर्मी निरर्थक वस्तु अथवा वार्ता पर आरोपित होकर प्रकाशित होता है और जब तक मनुष्य उसकी आत्मस्वीकृति किसी ऐसे व्यक्ति के सम्मुख नहीं करता जिसमें उसकी श्रद्धा है और जिसका जीवन वह पवित्र मानता है तब तक उसका मानसिक रोग नहीं जाता। मानसिक रोग की समाप्ति आत्म-स्वीकृति से ही होती है। मानसिक चिकित्सक केवल माध्यम का कार्य करता है। स्टैकिल महाशय के पास आए हुए रोगी का रोग उसी समय समाप्त हो गया जब उसने अपने विस्मृत कुकृत्य की स्वीकृति स्टैकिल महाशय के समक्ष की। इसी प्रकार की आत्मस्वीकृति इस नवयुवक ने बड़ी ही मानसिक परेशानी की अवस्था में लेखक के समक्ष की। जिस समय उसने उस घटना की आत्मस्वीकृति की जो उस रोग का कारण था उस समय वह फूट-फूटकर रोने लगा। इस युवक ने अपने एक घनिष्टतम मित्र के साथ विश्वासघात किया था। उस मित्र ने उस युवक को अपनी स्त्री के साथ बातचीत करने की छूट दे दी थी। उस महिला और इस युवक के बीच कोई पार्थक्य न था। उस युवक के पिता और युवक के चरित्र के संबंध में बड़ी प्रतिष्ठा थी अतएव कामवासना-संबंधी किसी भूल का संदेह भी न था। परंतु महिला और युवक में प्रेम बहुत बढ़ गया था

और एक बार जब महिला का पति किसी दूर के स्थान पर गया था, तब उनके प्रेम ने व्यभिचार का रूप ले लिया। इस पाप के बाद युवक को बड़ी आत्मग्लानि हुई, किंतु वह अब कर ही क्या सकता था। उसका कोई प्रायश्चित तो था ही नहीं। उसने घटना को भुला दिया। परंतु इस प्रकार आवेग-पूर्ण घटना को भुला देने से उसके भाव की शक्ति नष्ट नहीं होती, अपितु वह किसी समधर्मी और बाहर से देखने में निरर्थक घटना पर आरोपित होकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार बाध्य विचार मनुष्य के खिंचाव को कम करते हैं। वे एक ओर व्यक्ति के जीवन को भारी कष्ट देते हैं, परन्तु दूसरी ओर उसकी आत्मरक्षा भी करते हैं। यदि दमित आवेग बाध्य-विचार के रूप में प्रकाशित न हो, तो सम्भवतः वह व्यक्ति पागल हो जाय और आत्महत्या ही कर डाले। बाध्य-विचार मनुष्य के पाप के परिमाण को कम करने का प्राकृतिक उपाय है। यह प्राकृतिक दंड है और प्रत्येक दंड का जो मनोवैज्ञानिक लाभ व्यक्ति को होता है, उसी लाभ को ये भी करते हैं। प्रकृति मनुष्य को तभी तक दंड देती है, जब तक वह अपनी सच्ची भूल को पहिचान नहीं लेता। जब मनुष्य अपने अभिमान को त्याग कर अपने मन में स्थित निम्न कोटि की वासना की आत्म-स्वीकृति कर लेता है, तब प्रकृति उसे दंड देना बंद कर देती है; अर्थात् तब रोग समाप्त हो जाता है। तब वही मानसिक शक्ति, जो रोग के रूप में प्रकाशित हो रही थी, रचनात्मक कार्यों में प्रकाशित होकर उसके व्यक्तित्व के बल को बढ़ाती है।

हठी-विचार वर्तमान भारतवर्ष का बड़ा ही व्यापक रोग है। हमारे पास प्रतिदिन ऐसे कई पत्र आते हैं, जिनमें हमारे देश के होनहार युवकों की दुःखद गाथाएँ मिलती रहती हैं। एक युवक को सभी जगह टी० बी० शब्द दिखाई पड़ता था। उसे भय हो गया था कि उसे टी० बी० हो जायगा। इस भय को तो किसी प्रकार विचार-द्वारा शांत किया गया, किन्तु टी० बी० शब्द उसकी चेतना से नहीं हटा। एक दूसरे युवक को सब जगह 'नाराज' शब्द ही सुनाई पड़ता था। वह जहाँ देखता, वहीं नाराज-ही-नाराज शब्द सुनाई पड़ता था। इस शब्द के कारण वह कुछ पढ़-लिख

नहीं पाता था और जब उसने पढ़ना छोड़कर नौकरी प्रारंभ की; तो वहाँ पर भी उसे नाराज शब्द परेशान करने लगा। एक तीसरे नवयुवक को पाखाना जाने के बाद ऐसा प्रतीत होता कि उसके कपड़ों में पाखाना लग गया है। वह पाखाना जाने में कितना ही सावधान क्यों न रहता, किन्तु उसका यह विचार उसका पिंड नहीं छोड़ता था। एक महिला को सभी जगह गन्दगी का विचार परेशान किए रहता था। वह चाहे जितनी स्वच्छ चादर विस्तर पर बिछी हुई क्यों न देखती, उसे कुछ-न-कुछ गंदगी उसमें दिखाई ही पड़ जाती थी। वह अपने बच्चों को भी इसलिए नहीं छूती थी कि कहीं उसका शरीर गंदा न हो जाय। उसके इस विचार से बच्चे बहुत परेशान रहते। यदि उसे कभी सिर-दर्द होता, तो वह अपने चौदह वर्षीय बालक को सिर दबाने के लिए बुलाकर उससे यह अनुरोध करती कि बच्चा, पहले साबुन से हाथ धोकर तब सिर दबाओ। ऐसा कहने पर लड़के उससे चिढ़ जाते और उससे दूर रहने की चेष्टा करते थे।

उक्त सभी रोगियों के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उन्होंने काम-वासना-सम्बन्धी कोई ऐसा कार्य किया था, जिससे उन्हें भारी आत्म-ग्लानि का अनुभव हुआ था। वे उस घटना को तो भूल गए, किन्तु उनका दमित भाव ऊपरी दृष्टि से निरर्थक पदार्थों पर आरोपित होकर प्रकाशित हुआ। युवक काम-कुटेव के कारण टी० बी० शब्द से पीड़ित हुआ। इस कुटेव के दुष्परिणामों को उसने एक पुस्तक में पढ़ा। इसके कारण उसका कुटेव तो छूट गई किन्तु पुराने कृत्य के परिणाम का भय उसे दुःखी करने लगा। इसी प्रकार दूसरे नवयुवक के नाराज शब्द सुनने की झक का कारण भी दमित काम-कुटेव थी। इस कृत्य से उसकी अंतरात्मा उससे नाराज थी।* महिला के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उसे

---

* अपने कपड़ों में पाखाना लग जाने की झक से पीड़ित नवयुवक के जीवन के अध्ययन से पता चला कि यह रोग एक समलिंगी व्यभिचार की स्मृति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार के प्रयत्न से एक ओर मनुष्य की नैतिकता की भावना प्रबल हो जाती है और दूसरी ओर उसकी पुरानी प्रवृत्ति प्रबल होकर बाध्य विचार के रूपमें प्रकाशित होती है।

अपने प्रति भारी असन्तोष है। वह काम - कृत्य को घृणित दृष्टि से देखने लगी थी और उसमें उसे कोई भी आनन्द नहीं आता था। उसके पति ने भी दूसरा विवाह कर लिया था। सफाई-सम्बन्धी झक का कारण प्रतीक-रूप से अपनी वासना से मन को साफ करने का उपाय था। महिला भीतरी सफाई के बदले बाहरी सफाई के लिए परेशान रहने लगी। इस तरह वह एक ओर अपने पुराने कृत्यों की स्मृति को दबाती थी और दूसरी ओर प्रतीक-रूप से मन को साफ करने की चेष्टा करती थी। सफाई की झक अचेतन मन की अति पूर्तिकरण की क्रिया का परिणाम है। जब रोगी इस प्रकार की प्रतिक्रिया के वास्तविक अर्थ को समझ जाता है, तो उसकी निरर्थक चेष्टाओं का अन्त हो जाता है। उक्त प्रकार के बाध्य-विचार उन्हीं लोगों को अधिक होते हैं, जिनका जगत् में प्रकाशित नैतिक स्तर अत्यन्त उच्च होता है और जिनकी नैतिकता का अभिमान बढ़ा रहता है। ये रोग ऐसे व्यक्तियों में अभिमान को कम करके उनके जीवन में समता और स्वास्थ्य लाने में सहायक होते हैं।

हठी क्रिया (कम्पलशन न्यूरोसिस)

जिस प्रकार मनुष्य का दमित भाव अनेक बाध्य विचारों में प्रकाशित होता है उसी प्रकार वह हठी क्रियामें भी प्रकाशित होता है; और जिस प्रकार बाध्य विचार मनुष्य की इच्छा-शक्ति के प्रतिकूल होते हैं; उसी प्रकार हठी क्रिया भी मनुष्य की इच्छा के विपरीत होती है। इन क्रियाओं को व्यक्ति निरर्थक के रूप में जानता है, किन्तु इन्हें किए बिना वह नहीं रह सकता। ये क्रियाएँ बार-बार प्रायः एक-सी ही होती हैं। परन्तु ये रोकने से रुकती नहीं। यदि वह उन्हें व्यर्थ रोकने की चेष्टा करे, तो उसे ज्ञात होगा कि उसका मस्तिष्क फटा जा रहा है। हठी क्रिया के कुछ सामान्य उदाहरण मानसोपचारक को प्रतिदिन देखने में आते हैं। हाल ही में हठी क्रिया से पीड़ित एक युवक हमारे पास आया। वह व्यक्ति जब पाखाने से लौटकर आता था, तब एक घंटे तक मिट्टी से अपना हाथ साफ करता ही रहता था। उसे एक टब पानी से हाथ साफ करने की आवश्यकता पड़ती थी। एक दूसरा व्यक्ति, जो विश्वविद्यालय का ग्रेजुएट था, सवेरे ६ बजे से ग्यारह बजे तक नहाता

ही रहता था तो भी उसके मस्तिष्क से गंदगी का विचार नहीं जाता था। ये लोग अपनी क्रियाओं की निरर्थकताको जानते थे, किन्तु उन्हें किए बिना ये रह नहीं सकते थे। कितने ही लोग इस प्रकार की हठी क्रियाओं की झक को उनका सद्‌गुण मानने लगते हैं। हमारे एक ज्योतिषी मित्र की शौच-क्रियाओं का प्रारंभ ३।। बजे रात से प्रारंभ होकर ६।। बजे दिन को समाप्त होता है। वे बार-बार पाखाना जाते हैं और प्रत्येक बार सैकड़ों बार हाथ धोते हैं। जाड़े के दिनों में भी वे तीन घंटे तक ठंढे पानी से नहाते रहते हैं। जिस किसी भी व्यक्ति के घर में वे पहुँच जाते हैं, उस घर के सभी लोग उनसे परेशान हो जाते हैं। उनकी हठी क्रियाएँ समाज में कुख्याति न बढ़ाकर सम्मान ही बढ़ाती हैं। समाज की अबोध जनता उनके इस प्रकार की सफाई और शौच की झक को पागलपन न समझ कर तपस्या और संताई समझती है। इससे उन्हें अपने फलित ज्योतिष के कार्य में लाभ भी होता है।

लेखक के एक छात्र की एक फूफी को सफाई की इतनी झक थी कि वह बाजार से लाई हुई प्रत्येक वस्तु को धुलवाती थी। बाजार से आए फल-फूल, कुर्सी-टेबुल और माला-भाजी की बात तो दूर रही, बाजार से खरीदा हुआ गेहूँ, चावल, दाल, चना आदि भी धोकर घर में रखे जाते थे। यदि कहीं बाहर सफर करने जाना पड़ा, तो वापस आने पर तोषक, बिछौने और कम्बल तक धोए जाते थे। एक राजघराने की महिला जब बाहर जाती थीं, तब उनकी मोटर और पालकी तो धोई ही जाती थीं रेलें के डिब्बे भी धोए जाते थे। वे बहुत पूजा-पाठ करती थीं और जब कभी उनके पतिदेव उनसे मिलते थे, तो उन्हें पहिने हुए कपड़े घर के बाहर अलग रखकर घर के धुले हुए दूसरे कपड़े पहिन कर उनसे मिलना पड़ता था। लेखक की एक छात्रा को सफाई की इतनी अधिक झक सवार थी कि उसके कारण अधिक वेतन देने पर भी कोई नौकर या नौकरानी नहीं ठहरती थी। इन लोगों को प्रतिदिन घर के कमरे धोने पड़ते थे, साफ किए हुए बर्तनों को पुनः साफ करना पड़ता था, धोबी के घर से आए हुए कपड़ों को फिर से धोना पड़ता था और प्रत्येक बात में सफाई

रखनी पड़ती थी, जिससे वे नौकरी छोड़कर भाग जाते थे।

हठी क्रिया और हठी विचार में कोई विशेष भेद नहीं है। दोनों प्रकार के मानसिक रोगों का कारण एक-सा होता है। भेद केवल उनके प्रकाशन की रीति का है। हठी विचार में रोग का प्रकाशन केवल ज्ञान के स्तर पर होता है। हठी क्रिया में इसका प्रकाशन विशेष प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं के रूप में होता है। कभी-कभी हठी विचार और हठी क्रियाएँ दोनों एक ही व्यक्ति में पाई जाती हैं। इस प्रसंग में निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

आज से पाँच वर्ष पूर्व लेखक के पास एक संन्यासी का पत्र आया जिनकी उम्र ४५ वर्ष थी। इन्हें संन्यास लिए हुए पचीस वर्ष हो चुके थे। जब ये बीस वर्ष के थे, तभी घर से निकले थे और कुछ अध्यापकों से सम्पर्क स्थापित करके इन्होंने संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था। ये पहिलेसे ही एक संपन्न पंडित कुल के व्यक्ति थे और ये उदार बुद्धि के थे। घर छोड़ने के समय से कालेज के विद्यार्थी थे और विवाह होने के थोड़े दिनों बाद ही इन्होंने घर छोड़ दिया था। घर छोड़नेपर उन्होंने अपना जीवन विद्याध्ययन और कठिन साधनाओं में व्यतीत किया था। इन्होंने कई विषयों में आचार्य की परीक्षाएँ पास कीं और दस वर्षों तक एक अच्छी पाठशालामें अध्यापन कार्य किया। तदनंतर वे साधना में लग गए, उन्होंने और योग का अच्छा अभ्यास किया। जिस समय लेखक का उनसे पत्र-व्यवहार प्रारंभ हुआ, उस समय वे एक अच्छे मठ के अध्यक्ष थे। साधना के कारण उनकी ख्याति दूर तक फैली थी। वे अच्छे प्रवचन-कर्ता भी थे। अतएव दूर-दूर से लोग उन्हें प्रवचन के लिए बुलाने आते थे। किन्तु इस समय उन्हें एक विशेष प्रकार की मानसिक जटिलता आ गई थी और पाँच वर्षों में वह क्रमशः बढ़ती ही गई। यह जटिलता हठी विचार की थी। जब उनसे कोई स्त्री मिलने आती थी, तो स्त्री से बातें करते समय उनकी दृष्टि सहज में ही उसकी छाती पर चली जाती थी। इससे उन्हें बड़ी आत्मग्लानि होती थी; किन्तु महिला की छाती से अपनी दृष्टि को अलग करने की चेष्टा वे जितनी ही करते उनकी दृष्टि उतनी उसकी छाती की ओर जाती थी। अपनी इस मनोदशा

से पीड़ित होकर उन्होंने स्त्रियों से मिलना ही छोड़ दिया। इससे उनकी ख्याति और भी बढ़ी। अब तो क्या स्त्री क्या पुरुष, सभी स्वामीजी के दर्शन के लिए लालायित रहने लगे। एक विधवा महिला उन्हें भगवान का अवतार ही मानने लगी और वह दिन-दिन भर उनकी कुटिया के मार्ग में बैठी रहती थी कि स्वामीजी के दर्शन मिल जाएँ।

महिलाओं का देखना बंद कर देने से उनका बाध्य विचार का रोग नहीं गया। अब उनकी दृष्टि पुरुषों के ही गुप्तांग पर जाने लगी इससे उनकी मानसिक परेशानी बहुत बढ़ गई। अब उन्होंने किसी व्यक्ति से बातचीत करते समय अपनी दृष्टि भी प्रयत्नपूर्वक उसके ललाट पर जमाने का यत्न किया इसके लिए उन्होंने एक प्रकार के त्राटक का अभ्यास किया। इस तरह वे अपनी दृष्टि को पुरुषों के गुप्तांगों से हटाने में समर्थ तो अवश्य हुए किन्तु अब उन्हें मुख विवर्ण का रोग हो गया अर्थात् उन्हें बलात् अनेक प्रकार की मुखाकृतियों को बनाना पड़ता था। इस तरह की मुख-विवर्णता की हठी चेष्टाओं के लिए उन्हें भारी मानसिक क्लेश होता था। जनता उनकी इस प्रकार की चेष्टा को उनकी संताई और संतोषी स्वभाव का लक्षण मानती थी किन्तु वे अपने आपमें परेशान-से रहते थे। उन्होंने अन्त में पुरुषों से मिलना भी कम कर दिया और अपने रोग से मुक्त होने की खोज करने लगे। इसी प्रयत्न में एक मनोवैज्ञानिक से उनकी भेंट हो गई। उसने बात बात में पूछ डाला कि क्या आपको सिर की पीड़ा भी होती है। इस प्रश्न के पूछते समय स्वामीजी को सिर-दर्द नहीं होता था किन्तु प्रश्न पूछने के पश्चात् सिर-दर्द प्रारंभ हो गया और दो चार दिन में ही ज्ञात होने लगा कि सिर फट जायगा। इसी समय लेखक का उक्त स्वामी से पत्र-व्यवहार प्रारंभ हुआ।

उक्त व्यक्ति के जीवन के अध्ययन से पता चला कि उनके जीवन में आत्मग्लानि के कारण प्रबल काम-वासना का दमन हुआ है। इनके घर छोड़ने का कारण एक बड़ी ही दुखद आत्मग्लानि-जनित घटना थी। इनके जीवन में भी अपने मित्र की पत्नी के साथ उसी प्रकार का प्रेम-संबंध हो गया था जिस प्रकार का प्रेम-संबंध अपने आपको चोर समझनेवाले

पूर्व उल्लिखत नवयुवक के जीवन में हुआ था। इसका इन्हें काफी पश्चात्ताप हुआ और इन्होंने प्रायश्चित्त के रूप में घर ही छोड़ दिया और इस उद्देश्य को लेकर साधु बन गए कि उन्हें जब निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो जायगी तो उनके सभी पापों का क्षय हो जायगा। इसी उद्देश्य को लेकर वे योगाभ्यास करते थे। स्वामीजी का रोग तब तक समाप्त नहीं हुआ जब तक उनकी पुरानी कृति की स्मृति फिर से नहीं जगाई गई। उन्होंने केवल अपने मित्र के प्रति किए गए अन्याय की ही स्वीकृति नहीं की वरन् अपनी स्त्री का विवाह के पश्चात् तुरंत छोड़ने की घटना पर भी पश्चात्ताप किया। उनकी चिर संचित काम-शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाया गया। उन्होंने मानव मात्र की सेवा के लिए वैद्यक की परीक्षाएँ पास कीं और सभी लोगों की शारीरिक सेवा करने लगे। अब वे स्त्रियों से दूर न रहकर उनके और बच्चों के रोगों की सेवा में अपना विशेष समय देने लगे इसके परिणामस्वरूप उनका पूरा रोग, उनकी हठी क्रियाएँ और विचार एकदम समाप्त हो गया और वे समाज के लिए अत्यंत उपयोगी नागरिक बन गए।

उपर्युक्त उदाहरणों से वह स्पष्ट है कि हठी क्रियाएँ भी मानसिक रोगी के जीवन में विशेष अर्थ रखती हैं। वे ऊपर से देखने में निरर्थक होती हैं किन्तु रोगी के अचेतन मन के लिए उनका विशेष अर्थ होता है। जब मानसिक रोगी इस अर्थ को समझ लेता है तो उसका रोग समाप्त हो जाता है। इस प्रसंग में फिशर महाशय का एबनारमल साइकालोजी में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

फेलिक्स नामक एक बीस वर्षीय नवयुवक प्रो० फिशर के पास बहुत सी मानसिक व्याधियों की शिकायत लेकर आया। उनमें से एक व्याधि दिन में कई बार हाथ धोने की प्रेरणा भी थी। उसे बार बार यह हठी विचार आता था कि उसके हाथ अपवित्र हैं। इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से सरलता से यह पता चल गया कि उसका यह विचार हस्त-मैथुन की आदत से उत्पन्न हुआ था। उसकी हस्तमैथुन की आदत छूट गई थी और वह उसके बारे में भुला देने की चेष्टा करता था। उससे पूछने पर उसने उसके प्रति अपने को निर्दोष बताया परन्तु इससे उसका

रोग दूर नहीं हुआ। जब इस युवक ने प्रो० फिशर से अपनी उक्त आदत की आत्म-स्वीकृति की जिसे उसकी अंतरात्मा बड़ी गंदी समझती थी और जब उसने अपने हाथ साफ करने की प्रेरणा का सम्बन्ध उस गंदी आदत से समझ लिया तो उसके उक्त हठी विचार और हठी चेष्टाएँ समाप्त हो गईं।

हठी क्रियाओं का प्रबल दमित भाव से सम्बन्ध विलियम स्टैकिल द्वारा पिक्यूलियारिटी इन बिहैवियर नामक पुस्तक में दिए हुए निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है।

एक उनचास वर्षीय महिला को जो पाँच बच्चों की माँ हो चुकी थी एक प्रकार की झक सवार हुई जिसके कारण उसे प्रतिदिन सबेरे दो घंटे किसी-न-किसी व्यक्ति से लगातार बोलने की प्रेरणा होती थी। बोलना शुरू करने पर वह चुप नहीं होती थी। उसका पति उसको सुनना नहीं चाहता था और वह अपने नौकरों के सामने भी सम्मान खोने के डर के कारण बोल नहीं पाती थी। इसलिए उसने अपनी एक परिचित महिला को इसीलिए नौकर रख लिया कि प्रतिदिन वह उसकी लम्बी बातचीत को सुने। यह महिला ठीक साढ़े आठ बजे इस नौकरानी लड़की के कमरे में जाती और अपने घर के झंझटों के बारे में उसे लगातार सुनाने लगती। जब तक वह थक न जाती बोलती रहती। एक बार वह गले के रोग से बीमार हो गई और डाक्टर ने बोलना मना कर दिया। इसके कारण उसका जीवन बड़ा ही भार रूप हो गया। वह अपने बोलने के निश्चित समय पर कमरे के बाहर दौड़ती और दो घंटे तक तड़पती रहती। जब इस प्रकार वह अपने को थका देती तो शान्त होती। जब लड़ाई के समय इस परिवार की आर्थिक स्थिति खराब हो गई तो उस लेक्चर सुनने-वाली लड़की को नौकरी से छुड़ा दिया गया। परन्तु इससे उसका जीवन भार रूप बन गया, और अन्त में उस लड़की को रख ही लेना पड़ा।

इस प्रकार की परिस्थिति का विलक्षण परिणाम यह हुआ कि इस महिला की लड़की को भी छूत की बीमारी के समान ऐसी ही आदत लग गई और वह अपनी माँ को अपना बड़-बड़ाना सुनने के लिए बाध्य करती थी।

डाक्टर स्टेकल ने उक्त महिला की इस हठी क्रिया का कारण मनोविश्लेषण द्वारा निम्नलिखित पाया—इस महिला की कामवासना अतृप्त रह गयी थी और उसका पति उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता था। इसके कारण इस महिला में पुरुषों के गुप्तांगों को देखने की प्रबल प्रेरणा हुई और उसे यह भी विश्वास हुआ कि वे उस पर हँसते हैं। उसे पुरुषों की जननेन्द्रिय को छूने की प्रबल उत्तेजना होती थी। इन असाधारण प्रवृत्तियों के अनुभव के कारण इस महिला को पाप और शर्म की भावना की अनुभूति होने लगी। महिला ने इन प्रवृत्तियों का दमन किया और इस तरह उसका रोग बढ़ता गया। उसके रोग के कम होने का एक उपाय यह भी था कि वह अपने पाप और शर्म की प्रवृत्ति को किसी व्यक्ति के सामने कहती और कम-से-कम अपने आपके समक्ष अपनी सभी मनोभावनाओं की आत्म-स्वीकृति करती। उसने यह नहीं किया। अतएव अब उसे प्रतीक रूप से सबके सामने दमित वासना की स्वीकृति करनी पड़ती थी। लगातार बोलने की चेष्टा पाप-स्वीकृति की द्योतक थी। लगातार बातचीत में वह कभी-कभी दबी वासना को स्वीकार भी कर लेती थी। इस प्रकार लगातार बोलने की बाध्य चेष्टा एक ओर उसकी पाप-भावना के प्रकाशित होने का उपाय था और दूसरी ओर यह आत्मशान्ति-प्राप्त करने का भी मार्ग था।

आज से पाँच वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी को कई प्रकार के अनैतिक अथवा हानिकारक काम करने की झक उत्पन्न हो गई। वह रास्ते में जाते हुए जब कालेज की किसी लड़की को जाते देखता, तब उसे प्रबल प्रेरणा होती थी कि वह उसके कपड़े उठा दे। इस प्रवृत्ति को रोकने में उसे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। रेल में चलते समय उसे यह प्रेरणा होती थी कि टिकट फेंक दें। पुस्तक पढ़ते समय पुस्तक फाड़ देने की प्रेरणा होती। इन प्रवृत्तियों से वह इतना घबड़ा गया कि वह सोचने लगा कि उसके शरीर में शैतान बैठ गया है। इस लड़के के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसमें विकृत काम-वासना का दमन है। जब उसने इसकी आत्मस्वीकृति की तो उसका रोग समाप्त हो गया।

कभी-कभी बाध्य क्रिया की प्रेरणा के कारण मनुष्य बड़े झंझट में पड़ जाता है। एक प्रौढ़ व्यक्ति को एक नर्स को देखकर उसके गाल में तमाचा लगाने की प्रेरणा होती थी। वह उस नर्स से प्यार करता था और उससे विवाह भी करना चाहता था। पर अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वह उस महिला के पास नहीं आ पाता था। उसे डर रहता कि वह आवेश में आकर तमाचा न लगा दे। इस प्रकार के मानसिक झंझट को सुलझाने के लिए वह मनोवैज्ञानिक के पास गया। मनोविश्लेषण से पता लगा कि इस व्यक्ति की इस विलक्षण प्रवृत्ति का कारण उसके एक लज्जा-जनक अनुभव में था। यह व्यक्ति उस घटना को भूल गया था। यह व्यक्ति एक अस्पताल का नौकर था। एक समय जब अस्पताल की नर्स अपनी नौकरी छोड़कर चली गई, तो इस व्यक्ति को नर्स का काम दे दिया गया। उसका वेतन बढ़ गया। परन्तु एक नए नर्स के मिल जाने पर उसे हटा दिया गया। इस घटना से उसे आत्मग्लानि का अनुभव हुआ। जब यह नई नर्स अस्पताल के निचले फर्श से ऊपर जा रही थी और वह ऊपर से नीचे उतर रहा था, तो उसने इसे सीढ़ी पर देखा। उसके समीप आते ही उसके मन में इस नर्स के गाल पर तमाचा लगाने की प्रवृत्ति हुई। परन्तु उसने इसे रोक लिया। अब यह उत्तेजना अचेतन मन में पहुँच गई और जब एक दूसरी नर्स से इस व्यक्ति के प्रेम-सम्बन्ध का समय आया, तो उसकी उत्तेजना अपनी प्रेमिका के गाल पर तमाचा लगाने की झक के रूप में जागृत हुई। उसके आत्मसम्मान की भावना उसकी पुरानी अपमानजनक प्रवृत्ति को चेतना के पटल पर नहीं आने देती थी। अतएव यह व्यक्ति केवल अकारण हठी क्रिया की उत्तेजना के रूप में पुरानी प्रवृत्ति का अनुभव करता था। मनोविश्लेषण के परिणाम-स्वरूप पुरानी स्मृति जाग्रत हुई, तो उसकी वह झक समाप्त हो गई।

संशय और द्विविधा

संशय और द्विविधा की मनोवृत्ति एक व्यापक मानसिक रोग है। ऐसे तो सामान्य पुरुषों को किसी भी घटना के विषय में सन्देह हुआ ही करते हैं और बिना इस प्रकार के संदेह के मनुष्य का जीवन ठीक से नहीं

चल सकता। परन्तु जब प्रत्येक बात में व्यक्ति को संदेह हो और यह संदेह उसे सभी प्रकार के काम करने में रुकावट डाले, तो वह मानसिक रोग बन जाता है। इस प्रसंग में लेखक की नई मानसिक चिकित्सा में दिया हुआ एक रोगी का वृत्तान्त उल्लेखनीय है। रोगी लिखता है—

'बात-बात में संदेह करना, स्मृति-विभ्रम, अकारण चिन्ता, गन्दगी से भय, हृदय की जलन, काम का स्थगित करते रहना—ये मेरे रोग के लक्षण थे। इस प्रसंग में पहिली घटना, जो मुझे याद है, इस प्रकार है कि एक बार मेरे साथी तथा मैं बरसात के दिनों में पिकनिक पर गया था; घर से निकलकर जीप कार पर बैठते ही मुझे संदेह हो गया कि मैंने दफ्तर का ताला ठीक से बन्द किया है या नहीं। ताला कहीं खुला तो नहीं रह गया। यदि ताला खुला रह गया है, तो दफ्तर की आलमारी से कौन-कौन से रजिस्टर तथा अन्य वस्तुएँ बाहर रह गई हैं। इस विचार ने सारे समय मुझे तंग किया। यद्यपि यह बात निरर्थक थी और ताला ठीक से बन्द था। कुछ और भी संदेहास्पद बातें, जो मुझे तंग किया करती थीं, इस प्रकार हैं—पोष्टबाक्स में पत्र डालने के बाद यह संदेह हो जाता था कि पत्र बाक्स में गिरा अथवा नहीं। कहीं बाक्स के नीचे वाली भूमि में तो पत्र नहीं गिर पड़ा। लिफाफे में पत्र डालकर बन्द कर देने पर यह सन्देह हो जाता था कि उस लिफाफे में पत्र डाला है अथवा नहीं; और यदि डाल दिया है, तो लिफाफे पर जो पता लिखा है, उसी व्यक्ति का पत्र डाला है अथवा किसी दूसरे का। पुस्तक पढ़ते समय भ्रम हो जाता था कि एक ही साथ पुस्तक के दो पन्ने तो नहीं उलट दिए। इसी कारण पुस्तक के पन्नों को जोर-जोर से मसलता और जब यह विश्वास हो जाता कि वास्तव में एक ही पन्ना उलटा जा रहा है, तो आगे पढ़ता। किसी पत्र के लिफाफे पर पता लिख देने के बाद उस पते को आँखें लगाकर एक-एक शब्द ध्यान से पढ़ता कि कहीं गलत पता तो नहीं लिख दिया है। काफी समय तक ऐसा करने के बाद भी मुझे संतोष न होता और अन्त में इस बात पर आकर सन्तोष करना पड़ता कि आखिर पता लिफाफे पर लिख तो दिया ही गया है। यदि पता ठीक न होगा, तो

पत्र वापस आ ही जायगा। तब यह मालूम हो जाएगा कि पत्र पहुँचा या नहीं। कोई भी काम करते समय यह सन्देह हो जाता था कि उस काम में कोई त्रुटि रह गई और इसकी बड़ी जिम्मेदारी मुझपर आ गई है। मुझे यह कल्पना त्रास देने लगती थी कि मैं अपने अफसर को नाराज कर दूँगा और उसका विश्वास खो बैठूँगा। मैं एक अखबार के दफ्तर में काम करता था। अखबार की वजह से मैं सिनेमा में मुफ्त जाया करता था। परन्तु जब मैं सिनेमा हाल के अन्दर जाकर बैठता, तो यह विचार तंग करने लगता कि मुझसे कोई ऐसी बात तो नहीं हो गई, जिससे सिनेमा मालिक मुझसे नाराज हो गया हो, और आगे के वास्ते मेरा उक्त सिनेमा देखना बन्द न हो जाय। यदि खेल शुरू हो जाने के कुछ मिनटों बाद मैं पहुँचता, तो विचार आता कि न जाने खेल कब शुरू हुआ। इसकी कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटना गुजर चुकी। एक-दो आदमियों से पूछ लेता कि अब तक कौन-कौन सी घटनाएँ गुजर चुकीं, परन्तु इससे भी मन को चैन न मिलता और सारे समय यही विचार मुझे सताता रहता। मन की ऐसी अवस्था में किसी प्रकार का मनोरंजन भी महान दुःखदायी बन जाता था।'

संदेह और द्विविधा की उपर्युक्त मनोवृत्ति रोगी को इतना दुःख देती थी कि उसका जीना ही कठिन हो गया था। उसका मन सदा उलझा रहता था। इस रोगी को अकारण हृदय की धड़कन भी होने लगती थी। उसे गन्दगी का भी बहुत अधिक त्रास था। रोगी बीस वर्ष का अविवाहित युवक था और उसने कालेज की शिक्षा प्राप्त की थी। इस प्रकार के रोग के पीछे किसी नैतिक भावना के प्रतिकूल काम करने के कारण आत्मग्लानि की अनुभूति का दमन पाया जाता है। रोगी के मन में वास्तविक संदेह अपने नैतिक कार्य के प्रति था, परन्तु यह निरर्थक घटना के ऊपर आरोपित हो जाता था। उक्त रोगी के मनोविश्लेषण से उसके मन में समलिंगी-व्यभिचार-जन्य आत्मग्लानि की दमित भावना पाई गई। इस प्रकार का काम उसने अपनी बुद्धि के प्रतिकूल किया था।*

* नई मानसिक चिकित्सा', पृष्ठ १६०।

उक्त रोगी के समान ही एक दूसरे मानसिक रोगी की स्थिति भी यहाँ उल्लेखनीय है। रोगी लिखता है—

'जब मैं काशी में आया था, तब मुझे अत्यन्त मानसिक बेचैनी थी। मैं किसी निश्चय पर दृढ़ नहीं रह सकता था। मैं सदा द्विविधा की मनोवृत्ति में रहता। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने को तैयार होता, तो अकारण पेशाब की याद आती। मुझे ऐसा मालूम होता था कि परीक्षा देते समय कहीं मुझे पेशाब न लग जाय और मैं परीक्षा न दे पाऊँ। इस भय के कारण मैं एक पग परीक्षा-भवन में रखता और पेशाब करने के लिए एक पग बाहर को मोड़ता। इस तरह मैं किसी तरह पेशाब करने को जाता। परन्तु जब मैं वहाँ से लौटता, तो फिर उसी तरह की मनोदशा हो जाती। परीक्षा-भवन में जाने के पूर्व रात भर परेशान रहता, चाहे पर्चे की कितनी भी तैयारी क्यों न की हो। जब मैं परीक्षा-भवन में जाने लगता, तो मुझे ज्ञात होता कि मेरे जूते के नीचे दबकर कोई चींटी मर न गई हो। मुझे ज्ञात होता था कि इस पाप से मेरा पेपर खराब हो जायगा और मैं फेल कर जाऊँगा। वास्तव में चींटी दबी नहीं रहती थी। यह मेरा भ्रम मात्र था।

मैं छात्रावास में रहता था। यदि किसी समय चाय में चीनी कम हुई और एक चम्मच चीनी बगलवाले लड़के के डब्बे से उसकी अनुपस्थिति में ले ली, तो मन में यह विचार उठा करता था कि जब वह विद्यार्थी आवेगा; तो वार्डन से मुझ पर चीनी-चोरी का अभियोग लगा देगा और संभवतः इसके कारण मुझे छात्रावास छोड़ना पड़ेगा। इसीलिए कभी-कभी मैं अपने बगल के कमरे में चम्मच भर चीनी लेने जाता और उस में डाले बिना ही फिर से उसी के कमरे में मुझे चुपके से चीनी डालने जाना पड़ता था।

मैं किसी भी कार्य को देर तक नहीं कर पाता था। मैं कभी प्रयाग विश्वविद्यालय पढ़ने जाता, तो वहाँ मालूम पड़ता कि काशी विश्वविद्यालय अच्छा रहेगा। जब काशी आता, तो लखनऊ जाने की इच्छा होती, और जब लखनऊ जाता तो काशी और प्रयाग की याद आती। इस

प्रकार मैं किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँच पाता।'

उपर्युक्त मनोवृत्ति का कारण खोजने से पता चला कि इस विद्यार्थी में काम-कुटेव-जन्य प्रबल आत्मग्लानि की भावना थी, जिसे वह विस्मृत कर चुका था। यह आत्मग्लानि की भावना निरर्थक कार्यों पर आरोपित होती रहती थी। जब रोगी ने अपनी नैतिक भूलों की आत्म-स्वीकृति की, तो उसके संदेह और द्विविधा की मनोवृत्ति समाप्त हो गई। द्विविधा की मनोवृत्ति का एक अच्छा उदाहरण प्रो० मार्गन ने 'साइकालोजी आफ द आन एडजास्टेड स्कूल चाइल्ड' नामक पुस्तक में दिया है। एक बार एक नवयुवक एक दुकान पर टोप खरीदने गया। उसने ज्योंही टोप खरीद कर अपने सिर पर रक्खा, त्योंही उसके मन में संदेह उत्पन्न हो गया कि यह टोप उसके लिए ठीक नहीं है। परन्तु उस टोप को बदलने का कोई कारण उसे नहीं नहीं दीखा। अतः द्विविधा की मनोवृत्ति लिए हुए वह दुकान से चल पड़ा। उसका मन उससे बार-बार यह कहता था कि इस टोप को बदल दिया जाय। इस प्रकार की मनोवृत्ति में वह एक फर्लाङ्ग चला गया। अब उसकी द्विविधा बहुत ही बढ़ गई और टोप को वापस करने के लिए उसे लौटना ही पड़ा। परन्तु उसने जैसे ही कदम वापस उठाया, वैसे ही उसके मन में संदेह होने लगा कि टोप का वापस करना ठीक नहीं है। दुकानदार उसे कैसा मूर्ख समझेगा और वह दुकान-दार को कौन-सा उपयुक्त कारण दिखाएगा। इस प्रकार का विचार करते करते वह दुकान के सामने पहुँच गया, पर दुकान में घुसने की हिम्मत उसे नहीं हुई। अतएव वह फिर घर की ओर लौट पड़ा। किन्तु उसने ज्योंही घर की ओर कदम रक्खा, त्योंही उसे अपना पुराना विचार फिर से त्रास देने लगा कि उसे टोप घर न ले जाना चाहिए। इस प्रकार वह तीन बार दुकान से एक फर्लाङ्ग तक आगे बढ़ा और पीछे लौटा। अन्त में टोप को लेकर ही वह घर चला गया।

इसी प्रकार जब वह बैंक से एक नया चेक लेकर आ रहा था, तो उस द्विविधा की मनोवृत्ति से परेशान होने लगा। वह बार-बार बैंक के दरवाजे तक जाता और फिर लौट आता। एक बार उसने अपने मित्र को

एक पत्र लिखा, जिसमें उसने लड़ाई में भर्त्ती होने की इच्छा प्रकट की। उस पत्र को उसने ज्योंही लेटर बाक्स में डाला, त्योंही उसके मन में यह भावना उत्पन्न हो गई कि अपने निर्णय में उसने भारी भूल की है। उसे न तो फौज में जाना चाहिए और न अपने मित्र को ऐसा पत्र ही लिखना चाहिए। वह इसी विचार से दिन भर परेशान रहा। दूसरे दिन अपने निश्चय परिवर्त्तन की सूचना उसने अपने मित्र को दी, परन्तु दूसरे पत्र को लेटर बाक्स में डालने के बाद उसे फिर विचार आने लगा कि अपने निश्चय को बदल कर उसने गलती की है और मित्र को निश्चय-परिवर्तन की सूचना उसे नहीं देनी चाहिए थी। परन्तु अब मित्र को कई सूचना देना कितना हास्यास्पद होगा यही विचार उसे त्रास देने लगा। दो-एक दिनों के बाद अन्त में उसने मित्र को यह सूचना दे ही दी कि वह अपने पुराने निश्चय पर दृढ़ है। इस पत्र से भी उसे संतोष न मिला। उसे इसे भी बदलना पड़ा। उसके मित्र के लिए ये सभी पत्र एक विलक्षण समस्या बन गए।

उक्त व्यक्ति के मनोविश्लेषण से पता चला कि यह व्यक्ति कुछ वर्ष पूर्व एक सुन्दरी युवती के प्रेम में पड़ गया था। युवती ने कुछ समय तक प्रेम-सम्बन्ध जारी रक्खा, परन्तु जब इस युवक के विवाह की आशा बहुत कुछ बढ़ चुकी थी, तभी उसने सम्पन्न व्यक्ति से विवाह कर लिया। इस पर उक्त युवक को बड़ा ही क्रोध आया और उसके मन में यह विचार आया कि इसका बदला लेने के लिए उस सुन्दरी की हत्या कर दे। इस बात को सोचता रहा, परंतु पीछे उसे इस प्रकार के विचार से ग्लानि हुई। उसे यह कार्य सर्वथा अनैतिक और पुरुषत्व-हीन दिखाई दिया। पीछे वह उक्त अपमानजनक घटना तथा आत्म-ग्लानि को भूल गया। अब वह कई वर्षों के पश्चात् अकारण मानसिक द्विविधा के रूप में प्रकट होती थी। यह द्विविधा किसी निरर्थक बात पर आरोपित हो जाती थी। ये बातें व्यक्ति के विवेक या चेतन मन की दृष्टि में निरर्थक थीं, परन्तु उसके अचेतन मन से इनका सम्बन्ध रहता था। शेष के विषय में जो द्विविधा की मनोवृत्ति उत्पन्न हुई उसका कारण टोप के बीच में लाल फीता का लगा रहना

था। यह रोगी लाल रंग से विशेष तरह से डरने लगा था। लाल रंग खून का प्रतीक है। इस व्यक्ति ने महिला का खून करने का संकल्प किया था। इस संकल्प के कारण पीछे उसे बड़ी ग्लानि हुई थी। अतएव खून के प्रतीक सभी वस्तुओं से वह भययुक्त और सशंक हो गया था। परन्तु वह अपनी इस प्रकार की शंका के कारण को नहीं जानता था। उसके वास्तविक कारण को जानना उसके स्वाभिमान को ठेस पहुँचाता था और वह उसकी नैतिक बुद्धि को भी त्रास देता था। अतएव रोगी अपनी द्विविधा की मनोवृत्ति के वास्तविक कारण को तो भुलाए रहा, परन्तु उसे उसका दुःख भोगना पड़ता था। जिस चेक बुक के विषय में उक्त व्यक्ति की द्विविधा की मनोवृत्ति उत्तेजित हुई थी, उसमें भी लाल फीता लगा हुआ था और यहाँ भी रोगी अपनी द्विविधा के कारण नारी-हत्या के विचार अथवा उसके प्रतीक से बचने की चेष्टा अपने अनजाने ही कर रहा था। इस व्यक्ति का चेतन मन चेक बुक के बदलने का कोई कारण नहीं देखता था, परन्तु उसका अचेतन मन उस चेक बुक को रखना नहीं चाहता था। उक्त चेक बुक का लाल फीता उसके लिए विशेष प्रकार के नैतिक दुष्कर्म का प्रतीक था। इसी प्रकार लड़ाई में जाना भी नर-हत्या से सम्बन्धित है और इसी के कारण रोगी अपनी चेतन बुद्धि से लड़ाई में भाग लेने की प्रेरणा पाता था, परन्तु उसका अचेतन मन उसका विरोध करता था। यहाँ उसकी देश-भक्ति और अचेतन आत्म-ग्लानि की भावना में उसके अनजाने ही संघर्ष होता था। यह संघर्ष वास्तविक परिस्थिति में प्रकट न होकर उसके प्रतीकों में प्रकट होता था। जब रोगी को अपनी द्विविधा की मनोवृत्ति का वास्तविक कारण ज्ञात हो गया, तो उसकी द्विविधा की मनोवृत्ति समाप्त हो गई। अपनी पुरानी आत्म-ग्लानि-जनक स्मृति को मानस-पटल पर लाना बड़ा ही कठिन होता है। वह मनुष्य के अभिमान को ठेस पहुँचाता है। परन्तु जब मनुष्य बार-बार की मानसिक वेदना से पीड़ित होता है, तो वह आत्म-स्वीकृति के लिए तैयार हो जाता है। इसी समय कोई भी मानसिक चिकित्सक उसका वास्तविक उपकार कर सकता है।

दसवाँ प्रकरण

विक्षिप्त भय (फोबिया)

हरेक मनुष्य को किसी-न-किसी बातों का भय रहता है। जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए सामान्य भय की उपस्थिति नितान्त आवश्यक है। जिस मनुष्य को किसी भी बात का भय नहीं है, वह जीवन को सफल नहीं बना सकता और वह अपने आपको अनेक प्रकार के संकटों में डाल देता है। परन्तु विक्षिप्त भय इनसे भिन्न प्रकार का होता है। विक्षिप्त भय साधारण भय से उग्र होता है और वह मनुष्य की बुद्धि को विक्षिप्त बना देता है। इस भय में भय का उत्तेजक कारण पर्याप्त भयावना नहीं होता। जिस व्यक्ति को यह भय होता है, वह अपने भय को मूर्खता मानता है। फिर भी वह अपने आपको इस भय से नहीं बचा सकता। सामान्य भय विचार की वृद्धि के साथ-साथ अपने बस में आ जाता है। विक्षिप्त भय पर मनुष्य की इच्छा-शक्ति का अधिकार नहीं होता।

विक्षिप्त भय की उपर्युक्त विशेषताएँ हमारे अनुभव में आए हुए कुछ मानसिक रोगियों के भय से स्पष्ट हो जायँगी। एक रोगी को, जिसकी उम्र ३५ वर्षों की थी और जो कुछ दिनों तक स्कूल में अध्यापन कर चुका था, साँप-द्वारा काटे जाने का अकारण भय हो गया था। इस भय के कारण वह रात को घर से निकल ही नहीं सकता था। रात को बाहर पेशाब करने जाना भी उसके लिए कठिन हो गया। जब वह सोने जाता तो अपने कपड़ों को कई बार झाड़ता और तकिए को उलटता-पुलटता था। उसे भय लगा रहता था कि कहीं साँप उसके बिछौने के नीचे न छिप गया हो। वह घासवाले मैदान में कभी नहीं चलता था। इस प्रकार चलते हुए यदि कोई ठंढी चीज अथवा खरोंच लग जाती, तो उसे संदेह होता था कि साँप ने उसे काट लिया है और अब उसका जीवन भार-रूप हो गया था।

एक दूसरे रोगी को छोटे-छोटे कीड़े-पतंग और कीटाणुओं से बड़ा ही भय हो गया था, उसे कीटाणुओं के विषय में यह विचार आता था कि वे जहरीले हैं और उनके काटने से उसकी मृत्यु हो जायगी। कीटाणुओं से तो उसे इतना भय था कि वह मिट्टी के घड़े में रक्खे हुए पानी को कभी पीता ही नहीं था। अपने सामने कुएँ से पानी निकलवाकर ही वह पीता था। एक अन्य रोगी को अकेले रहने का अत्यन्त भय रहा करता था। वह न तो कहीं अकेला जा सकता था और न किसी कमरे में अकेले ठहर सकता था। वह सम्पन्न घर का व्यक्ति था। अतएव सब समय अपने साथ दो आदमियों को रक्खा करता था।

लेखक के एक छात्र को रात में अकेले निकलने अथवा कमरे में अकेले ठहरने में बड़ा भय लगता था। यह जन-सेवक व्यक्ति है। अतएव इस भय के कारण उसे अपने काम में बड़ी कठिनाई होती थी। लेखक के एक कलाकार मित्र को सड़क पर चलने में इतना अधिक भय लगता कि उसके कारण वे अपने आफिस में नहीं जा पाते थे। इस प्रकार के भय की निरर्थकता को वे अवश्य देखते थे, परन्तु वे इस भय को रोक नहीं सकते थे।

उपर्युक्त भय में उसका वास्तविक कारण कुछ दूसरा ही होता है। यह मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित रहता है, किन्तु वह किसी ऐसी वस्तु पर आरोपित हो जाता है, जिसका कोई सम्बन्ध भय की वस्तु से अवश्य रहता है। जिस व्यक्ति को साँप का अकारण भय था, वह अपनी नैतिकता में बड़ा ही बढ़ा-चढ़ा था। वह योगाभ्यास भी करता था और उसने अपनी काम-वासना को दबा दिया था। दमित वासनाएँ ही साँप की कल्पना पर आरोपित होकर इस व्यक्ति को भयभीत किए रहती थीं। इस व्यक्ति ने जिस नैतिक धारणा से अपना तादात्मीकरण किया था, काम-वासना उसी को विनष्ट करने के लिए उद्यत हो गई थी। इस रोगी के सर्प-भय का अर्थ वासना द्वारा अपने नैतिक सत्त्व पर आघात किए जाने का डर था।

कीड़े-मकोड़ों से अकारण भय करनेवाला व्यक्ति किशोरावस्था में

काम-कुटेवों की बुरी आदतों में पड़ा हुआ था। पीछे इस प्रकार की बुरी आदत भय का कारण बन गई। जिस प्रकार काम-कुटेव में वीर्य-पात के कीटाणु उसके नैतिक सत्व को क्षति पहुँचाते थे, उसी प्रकार कीड़े-मकोड़े अथवा कीटाणु भौतिक सत्व की क्षति कर सकते हैं। वास्तव में इस व्यक्ति को भौतिक व्यक्तित्व की नहीं, बल्कि नैतिक व्यक्तित्व की हानि का डर था। इसी तरह दूसरे भय भी कोई रहस्य-मय अर्थ रखते हैं।

भय के प्रकार—मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के विक्षिप्त भय का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। एक वर्गीकरण भय के विषयों के अनुसार है, जो निम्नलिखित है—

(१) ऊँची जगह का भय, (२) खुली जगह का भय, (३) बन्द जगह का भय, (४) छूत का भय, (५) जहर दिए जाने का भय, (६) खून का भय और (७) जानवरों का भय। इस प्रकार और भी अनेक तरह के भय होते हैं। जैसे, साँप, चाकू, छूरी, गन्दगी, कीटाणु, मृत्यु आदि के भय। वस्तुओं के अनुसार भय का वर्गीकरण उतना उपयोगी नहीं है, जितना कि भय के भाव की उत्पत्ति के अनुसार भय का वर्गीकरण उपयोगी है। प्रो० फिशर ने इस तरह तीन प्रकार के भय बताए हैं—

(१) सामान्य स्थूल भय[१]।
(२) प्रतीक स्थूल भय[२]।
(३) प्रतीक सूक्ष्म भय[३]।

सामान्य स्थूल भय में व्यक्ति किसी ऐसी घटना से डरता है जो कि उसके बचपन में उसके भय का कारण बनी है। यदि किसी व्यक्ति को बचपन में चुप करने के लिए सियार से कटाने का भय बार-बार दिया जाता है, तो वह प्रौढ़ावस्था में भी सियार से डरता है। इस प्रकार का भय विक्षिप्त भय नहीं है। विक्षिप्त भय वह है, जिसमें भय का कारण कोई ऐसी घटना होती है, जो मनुष्य के स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली

(1) Simple concrete phobias, (2) Symbolic concrete phobias, (3) Symbolic abstract phobias.

होती है और जिसकी स्मृति बड़ी ही दुःखद होती है। यह स्मृति इसलिए दबाई जाती है कि जिससे मनुष्य अपने स्वाभिमान की रक्षा किये रहे। प्रतीक-स्थूल भय में व्यक्ति जिस पदार्थ से डरता है, वह स्वयं डर का कारण नहीं होता। डर का कारण कोई ऐसी घटना होती है, जिसके लिए डर का वर्तमान पदार्थ केवल प्रतीक मात्र है। उदाहरणार्थ सर्प अथवा कीड़े-मकोड़ों का भय है। इनका असाधारण भय उन्हीं लोगों को होता है, जिनके जीवन में कोई ऐसी घटना घटित हुई है, जिसके प्रतीक सर्प अथवा कीड़े-मकोड़े हैं। प्रतीक सूक्ष्म भय में डर का पदार्थ कोई ऐसा सूक्ष्म विचार होता है, जो प्रतीक रूप से किसी स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली भावना को उत्तेजित करता है। इन भयों के निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं। प्रथम उदाहरण में सामान्य-स्थूल भय का रूप प्रदर्शित होता है। एक प्रौढ़ व्यक्ति को बचपन से ही यह भय था कि उसे कोई पीछे से पकड़ लेगा। इस भय के कारण उसे बार-बार अपने पीछे देखना पड़ता था। वह जब कभी किसी सभा में जाता, तो अपनी कुर्सी की पीठ दीवाल के सहारे लगा देता था। वह किसी भी बड़ी नाट्यशाला अथवा अधिक भीड़ की जगह में इसी डर के मारे नहीं जा सकता था। वह इस भय के कारण को नहीं जानता था और यह उसे कब से प्रारम्भ हुआ, इसका ज्ञान भी उसे नहीं था। पचपन वर्ष की अवस्था में एक बार वह उस गाँव में गया, जहाँ उसने अपने बचपन को बिताया था। बचपन के मित्रों में उसे एक ऐसा व्यक्ति मिला, जो अपनी परचून की पुरानी दुकान पर बैठा था। जब ये मित्र आपस में बातचीत कर रहे थे, तो इस रोगी को बचपन की एक ऐसी घटना याद आई, जिसमें उसने बड़ा ही निन्दनीय कार्य किया था। यह रोगी जब कभी इस व्यक्ति की दुकान से गुजरता था, तो उसकी दुकान से चुपके से अखरोट उठा लिया करता था। दुकानदार इस बात को जान गया था। एक दिन जब उसने इस चोरी करनेवाले बालक को दूर से आते हुए देखा, तो वह एक बोरे के पीछे छिप गया और बालक ज्योंही अखरोट उठाकर चलने गया, त्योंही उसने उसे पीछे से पकड़ लिया। इस प्रकार पकड़े जाने से चोर बालक

जोर से चिल्लाया और बेहोश होकर पटरी पर गिर पड़ा। यह सारी घटना जैसे ही उस रोगी की स्मृति में आई, तैसे ही उसका रोग जाता रहा।

उपर्युक्त उदाहरण में विक्षिप्त भय और उसके कारण में सीधा सम्बन्ध था। परन्तु व्यक्ति के आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचानेवाली घटना से सम्बन्धित होने के कारण रोगी भय के कारण को भूल गया था। केवल पुरानी परिस्थिति के उपस्थित हो जानेपर भय की मनोदशा आ जाती थी।

प्रतीक स्थूल भय में भय का एक अच्छा उदाहरण प्रो० फिशर ने एक महिला की चाकू के भय का दिया है। यह महिला एक विशेष चाकू से, जो उसकी आलमारी में बन्द था, इतनी डरती थी कि उसके कारण उसे नींद नहीं आती थी। वह प्रतिदिन सोने के पूर्व यह देख लेती थी कि वह चाकू आलमारी में ठीक से बन्द है या नहीं। इस महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि यह चाकू उसके पिता की जननेन्द्रिय का प्रतीक था, जिसके प्रति एक ओर महिला का आन्तरिक आकर्षण था और दूसरी ओर उसके प्रति भय भी था। यह चाकू किसी ऐसी वस्तु और कृति का प्रतीक था, जो उसके व्यक्तित्व के अभिमान को नष्ट करनेवाला था।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि प्रतीक भय में मनुष्य जिस वास्तविक वस्तु से डरता है, वह भय का प्रतीक मात्र है, उसे वह आन्तरिक मन से चाहता है। आन्तरिक मन का चाहा हुआ यह पदार्थ ही उसके प्रतीक भय का कारण बनता है। रोगी व्यक्ति का बाहरी मन इस पदार्थ के प्रति घृणा करता है, परन्तु भीतरी मन उसे चाहता है। यदि आन्तरिक मन की इस चाह को मिटा दिया जाय, तो व्यक्ति का नैतिक मन उस पदार्थ से न डरे और फिर वह उसके प्रतीकों से भी न डरे। मानसिक रोगी को जब यह ज्ञात हो जाता है कि भय के जिस पदार्थ से वह डर रहा है, वह भय का वास्तविक कारण नहीं है, किन्तु भय का वास्तविक कारण कोई दूसरी ही वस्तु है, जिसे उसके अनजाने ही उसके मन का एक भाग घृणा की दृष्टि से देखता है और दूसरा भाग उसे चाहता है, तो रोगी का रोग समाप्त हो जाता है।

मनोविज्ञानशाला में आए हुए एक रोगी को परीक्षा में जाने का पर्याप्त भय था। जब कभी वह परीक्षा-भवन में जाने लगता था तो उसके हृदय की धड़कन बढ़ जाती थी। परीक्षा के पहले ही वह काफी घबड़ा जाता था। जब वह परीक्षा में बैठता था तो कभी-कभी घबड़ाहट के मारे उसके बदन में पसीना आ जाता और प्रश्नों का उत्तर देना कठिन हो जाता था। इस भय का कारण खोजने पर पता चला कि उसे अकारण ही भय था कि वह दूसरे लोगों के समान पुरुषत्ववाला व्यक्ति नहीं है और यदि उसका विवाह हुआ तो वह अपनी स्त्री को संतुष्ट करने में कभी सफल न होगा। उसका एक भ्रम यह था कि उसकी जननेन्द्रिय भी छोटी है और कुछ काम-कुटेवों के कारण उसमें कुछ नपुंसकता आ गई है। इस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि प्रवीण थी। जब ऐसा कोई व्यक्ति नैतिकता के प्रतिकूल कामवासना की तृप्ति सम्बन्धी कोई चेष्टा कर बैठता है तब उसे भारी आत्म-ग्लानि होती है। इस आत्मग्लानि का विस्मरण करने से इच्छाशक्ति की दुर्बलता उत्पन्न हो जाती है और पुरानी घटना प्रतीक भय का कारण बन जाती है। इस व्यक्ति ने एक बार अपने पुरुषत्व की परीक्षा के लिए किसी ऐसी महिला के साथ काम-कृत्य करने की चेष्टा की जहाँ इस प्रकार का व्यवहार अत्यन्त अनैतिक था। स्वभावतः वह इस परीक्षा में असफल रहा। इस असफलता से उसे भारी आत्मग्लानि हुई। तब से सभी परीक्षाएँ उसके लिए भय का कारण बन गईं। जो व्यक्ति काम-संबंधी परीक्षाओं से डरता है वह सभी परीक्षाओं से डरने लगता है।

ऊपर हमने दो प्रकार के भयों का स्वरूप दर्शाया है। तीसरे प्रकार का भय सूक्ष्म प्रतीक भय है। कुछ लोगों को छत से नीचे गिर जाने का इतना भय रहता है कि वे इसके कारण छत पर चढ़ ही नहीं सकते। कुछ लोगों को सड़क पार करने का भय हो जाता है। कुछ लोगों को घर से बाहर जाने का इतना अकारण भय होता है कि वे इसके कारण बाहर जाने की हिम्मत ही नहीं करते। लेखक द्वारा उपचारित एक मानसिक रोगी को रेल की सफर करने का इतना भय था कि वह इसी भय के कारण लेखक तक नहीं पहुँच पाता था। उसका घर नैपाल के पहाड़ी

इलाके में था। वह बड़ी ही कठिनाई से पैदल चलकर रेल के स्टेशन तक आया, परन्तु उसकी हिम्मत रेल में बैठकर बनारस तक आने की न हुई। लेखक का एक छात्र जब कभी अपने घर से बाहर जाता और उसे उसके लिए बस पकड़ना होता तो उसे हर समय यह डर रहता था कि कहीं बस छूट न जाय और साथ-ही-साथ यह भी भय था कि कहीं बस छूटने के साथ उसका वीर्यपात न हो जाय। इस भय के कारण उसके हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती थी कि उसका रास्ता चलना भी कठिन हो जाता था। वह किसी से बातचीत नहीं कर सकता था। इस प्रकार की मानसिक परेशानी बार-बार होने के कारण उसे बस में बैठकर कहीं बाहर जाना भी कठिन हो गया था।

उपर्युक्त सभी प्रकार के भय किसी सूक्ष्म भाव से प्रतीक रूप से डरानेवाले भय हैं। ऊपर से गिर जाने का भय नैतिक पतन के भय का प्रतीक है। जिन लोगों को नैतिकता का अभिमान बहुत ही ऊँचा होता है उन्हें सदा ऐसी बात से अकारण भय रहता है जो कि उन्हें नैतिकता में गिरानेवाली हो। ऐसे लोग महिलाओं के बीच में आने से भी बेहद डरते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में उन्हें अपने नैतिक पतन का भय होता है। इस प्रकार का असाधारण भय प्रायः प्रत्येक हकलानेवाले व्यक्ति में होता है। हकलानेवाले व्यक्ति की नैतिक धारणा अत्युच्च होती है परन्तु उसे सदा यह भय लगा रहता है कि कहीं उसे किसी महिला के प्रेम में न फँस जाना पड़े। इसके कारण वह महिलाओं के पास जाने में डरता है और महिलाओं से बातचीत करने में हृदय की धड़कन का अनुभव करता है तथा दूसरे लोगों से बातचीत करने की अपेक्षा हकलाता अधिक है।

सड़क पार करने में भय का अनुभव होना किसी नैतिक नियम के उल्लंघन करने का प्रतीक रूप में भय का द्योतक है। इसी प्रकार गाड़ी पर चढ़ने का भय जीवन-यात्रा में चलने के भय का प्रतीक है। जिस व्यक्ति को इस प्रकार का भय था वह अपनी किशोरावस्था में अनेक प्रकार के काम-कुटेवों में पड़ गया था। स्वामी शिवानन्द की 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' नामक पुस्तक को पढ़कर उसकी काम-कुटेव तो छूट गई थी परन्तु इस

व्यक्ति को यह भय उत्पन्न हो गया था कि अपनी कुटेव के कारण वह निकम्मा हो चुका है और अब वह अपनी जीवन-यात्रा को कदापि सफलता से पूरी नहीं कर सकता। वह अब चौबीस वर्ष का व्यक्ति हो चुका था। विवाह करने की उसकी हिम्मत नहीं थी। उसकी मानसिक परेशानी बढ़ती ही गई और वह प्रत्येक नए काम हाथ में लेने से डरने लगा। इसके पश्चात् उसे अकेले घर से बाहर निकलने का, रेलगाड़ी पर चढ़ने का अथवा किसी प्रकार के सफर का भय हो गया। जब इस व्यक्ति को अपने भय का वास्तविक कारण ज्ञात हो गया और जब उसकी पुनः शिक्षा के परिणामस्वरूप उसके चेतन मन और अचेतन मन में समन्वय स्थापित हुआ तब उसका भय समाप्त हो गया।

प्रतीक सूक्ष्म भय का एक सुन्दर उदाहरण फिशर के 'इन्ट्रोडक्शन टु एबनार्मल साइकालोजी' में पाया जाता है।

'लूसी नामक एक महिला अपने काम में हृदय की धड़कन का अनुभव करने लगी और इसके थोड़े समय बाद वह सड़क के इस पार से उस पार न निकल सकती। जब कभी बाहर जाने की चेष्टा करती तो उसे बेहद मानसिक कमजोरी का भय होता था; और पागलपन, मृत्यु और मूर्छा के भाव उसके मन को भर देते थे। इसके कारण उसका जीवन बहुत ही दुःखदायी हो गया था।

इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि इसके आत्मसम्मान की भावना बड़ी ऊँची थी। इसने जिस परिवार में अपना विवाह-सम्बन्ध किया था उसकी आर्थिक अवस्था किसी कारण बहुत बिगड़ गई थी। वह स्वयं किसी व्यभिचार में पड़ गया था जिसके कारण उसकी आर्थिक अवस्था और भी बिगड़ती जा रही थी। अपने पति से लूसी को गुप्तांग रोग भी मिल गया था उसे उस रोग की चिकित्सा एक सम्पन्न डाक्टर से करानी पड़ी। धीरे-धीरे लूसी का इस डाक्टर के प्रति आकर्षण बढ़ता गया और उसके मन में डाक्टर से विवाह करने के विचार आने लगे। डाक्कर अविवाहित नवयुवक तो था ही, परन्तु लूसी का स्वाभाविक स्वाभिमान और उसका बच्चा इस प्रकार के संकल्प में बाधक

होते थे। अतएव लूसी का मन द्विविधा में पड़ गया। कुछ समय के बाद ही उसे घर से बाहर निकलने का भय उत्पन्न हो गया। यह भय वास्तव में उसकी घर से बाहर निकलने की इच्छा का अर्थात् पति को छोड़ देने की इच्छा का प्रतीक रूप से भय था। वह वास्तव में अपने जीवन के मार्ग को उल्लंघन करने से डरती थी। क्योंकि इस प्रकार जीवन के मार्ग का उल्लंघन होना और नए पति के साथ चला जाना उसके आन्तरिक व्यक्तित्व के प्रतिकूल विचार थे। इस समय उसके व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की भावनाओं और सामाजिक सन्मान की भावनाओं में संघर्ष चल रहा था। यह संघर्ष उसके अनजाने चलता था। वैयक्तिक स्वार्थ का परिणाम उसके सामाजिक स्वत्व का विनाशक था। वह जिस बात से अपने अनजान में डरती थी वह अपने शारीरिक सुख और वैयक्तिक स्वार्थ की वासनाएँ थीं।

उपर्युक्त प्रकार के भय उन लोगों को होते हैं जिन लोगों के बचपन की नैतिक शिक्षा कठोर नैतिक अभिभावक की संरक्षकता में हुई है। उसका नैतिक भाव उसके आन्तरिक मन का एक भाग बन गया है। जब ऐसे व्यक्ति अपने दीर्घकालीन संस्कार के प्रतिकूल आचरण करते हैं तब उन्हें पहले तो आत्मग्लानि का अनुभव होता है और इस आत्मग्लानि के कारण व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की इच्छा दमित हो जाती है। इस इच्छा के दमित होने पर मनुष्य का नैतिक स्वत्व सुरक्षित बना रहता है। परन्तु उसका दमित सुख और स्वार्थ की इच्छा नष्ट नहीं होती। वह दमन से और भी प्रबल हो जाती है। और फिर वह व्यक्ति के अनजाने ही उसके नैतिक स्वत्व को खंडित करने की चेष्टा करती रहती है। मनुष्य का नैतिक स्वत्व जिस बात से डरता है वह उसे ज्ञात नहीं रहती। अतएव वह ऐसी बात के प्रतीकों से ही डरता है। ये भय व्यक्ति में तब तक बने रहते हैं जब तक व्यक्ति अपनी दमित वासना को आत्म-स्वीकृति नहीं करता और इस वासना की शक्ति का किसी-न-किसी प्रकार सदुपयोग नहीं करता। इसके लिए दमित वासना के प्रति मैत्री-भाव का अभ्यास करना और उसे अपने नैतिक व्यक्तित्व का अंग बनाना नितांत आवश्यक है।

सभी प्रकार के असाधारण भय मनुष्य को अपने व्यक्तित्व के किसी भाव के प्रति अन्याय करने के कारण होते हैं। हम डरते उसी से हैं। जिसका हम तिरस्कार करते हैं। अथवा जिससे हम घृणा करते हैं हिन्दुओं को सदा मुसलमानों का भय लगा रहता है। मिल मालिकों को कम्युनिस्टों का भय लगा रहता है। और किसी भी विदेशी शासक को देश-भक्तों का भय लगा रहता है। इस भय का कारण भयभीत रहनेवाले वर्ग का, दूसरे के प्रति अन्याय का व्यवहार ही है। भारतवर्ष के वे ही लोग शीघ्रता से मुसलिम बन गए जिन्हें यहाँ के उच्च वर्ग के लोगों ने पहले से तिरस्कृत कर रक्खा था। वे हिन्दू-समाज के कठोर व्यवहार से ऊब चुके थे। अतएव जब उन्हें किसी बाहर के समुदाय ने अपने में आ मिलने का प्रोत्साहन दिया तो वे न केवल उनमें जाकर मिल गए वरन् नए समुदाय में पहुँचने पर अपने पहले के अत्याचारियों के प्रति कट्टर शत्रु बन गए। यदि हिन्दू-समाज में पहले से ही विवेकयुक्त व्यवस्था रहती तो आज स्वतन्त्र भारत में हिन्दुओं का स्थान इतना गिरा हुआ न होता जितना वह है। आज भी हमारे समाज के कुछ पंडित समाज के चमार, डोम, भर इत्यादि को छूना तक बुरा मानते हैं। ऐसी अवस्था में यही लोग समाज के व्यक्तित्व के कट्टर शत्रु बन जाते हैं।

जो बात समाज के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विषय में सही है वही बात प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विषय में भी सही है। हमारे एक विद्वान पंडित मित्र को अकारण ही भय हो गया था। वे प्रत्येक व्यक्ति से डरने लगे थे। वे अध्यापक हैं और विद्यार्थियों में उनकी विद्वत्ता के लिए बड़ी श्रद्धा है। परन्तु यदि वे अपने कमरे में बैठे हों और उनका परिचित विद्यार्थी भी कहीं से उनके पास आ रहा हो तो उसे देखकर इन्हें इतना भय लगता था कि उनकी बुद्धि बेठिकाने हो जाती थी। वे उस विद्यार्थी से छिपने के लिए कहीं कोठरी में अथवा कोने में छिपने की कोशिश करते थे। उनकी इस प्रकार की चेष्टा से प्रत्येक व्यक्ति विस्मित होता था। किसी मकान में बैठे-बैठे अचानक उनको विचार आ जाता था कि छत टूट कर उनके सिर पर गिर पड़ेगी। इसके कारण वे

चैन से कहीं बैठ भी न पाते थे ।

उक्त मनोदशा का कारण खोजने से पता चला कि इनका प्रेम-सम्बन्ध अपनी ही विधवा पतोहू से हो गया था। धार्मिकता के विषय में पंडितजी की बड़ी ही ख्याति थी। धीरे-धीरे प्रेम-सम्बन्ध की बात समाज के दूसरे लोगों में फैल गई। यह उनकी मानप्रतिष्ठा के लिए बड़ा ही घातक था। अतएव वे अपने आपसे परिचित प्रत्येक व्यक्ति से डरने लगे। और जब वे अपने स्थान पर बैठते थे तो ऐसा प्रतीत होता था कि छत ऊपर से गिर पड़ेगी। लोकनिन्दा के कारण उनकी अनैतिक प्रवृत्ति दमित हो चुकी थी परन्तु अब वह प्रतीक के रूप में उन्हें परेशान करती थी। यह दमित प्रवृत्ति उनके स्वत्व की शत्रु हो गई थी और वह उनके व्यक्तित्व को नष्ट करने का यत्न करती रहती थी। अतएव पंडितजी का भय वास्तव में अपने व्यक्तित्व के विनाश का भय था। उनको प्रत्येक आगन्तुक शत्रु के रूप में इसलिए दिखाई देता था कि उससे उन्हें स्तुति की आशा नहीं थी, निन्दा की ही आशा रहती थी। परन्तु वे अपने निन्द्य कार्य को भुला चुके थे और उसका याद आना भी उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाला था। अतएव वे किसी भी आनेवाले व्यक्ति से डरते तो थे, पर वे उस डर का कारण नहीं जानते थे।

एक दूसरा मानसिक रोगी अपनी ही स्त्री से एकाएक इतना डरने लगा जैसे वह मृत्यु हो। कुछ समय के बाद वह न केवल अपनी स्त्री से बल्कि सभी स्त्रियों से इसी प्रकार डरने लगा। यदि वह किसी सभा में बैठा हो और उससे थोड़ी दूर पर कोई महिला बैठी हो तो उसे देखकर हृदय में धड़कन होने लगती थी। इस प्रकार की मनोस्थिति के कारण की खोज करने से पता चला कि उस व्यक्ति ने स्त्रीत्व के प्रति अन्याय किया था। पुरुष-स्त्री का संग प्रेम के विकास के और सन्तानोत्पत्ति के लिए होता है। जहाँ स्त्री-पुरुष का मिलन इन दोनों लक्ष्यों की पूर्ति नहीं करता प्रत्युत केवल शारीरिक सुख के लिए होता है, वहाँ पर किसी-न-किसी प्रकार का अनर्थ अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी स्त्री को हिस्टीरिया हो जाता है। कभी स्त्री अथवा पुरुष को दम्भ हो जाता है

और कभी दोनों में से किसी को एक दूसरे के प्रति अकारण सन्देह अथवा भय होता है। इसके कारण स्त्री-पुरुष का साथ रहना भी कठिन हो जाता है। बहुत से सभ्य परिवारों में स्त्री-पुरुष का विच्छेद इसीलिए हो जाता है कि उन लोगों ने विवाह के लक्ष्य की अवहेलना की जिसके लिए विवाह होता है। सन्तान-निग्रह के उपायों को काम में लानेवाले व्यक्तियों का जीवन इस प्रकार दुःखमय हो जाता है। सन्तान-निग्रह के उपायों को प्रारम्भ करने पर पहले तो सन्तान-उत्पत्ति बन्द होती है, पीछे स्त्री और पुरुष का आपस का प्रेम ही समाप्त हो जाता है। वे छोटी-छोटी बातों के लिए आपस में लड़ने लगते हैं और दोनों में से किसी को मानसिक रोग न हुआ तो भी उनका सामान्य जीवन भाररूप बन जाता है।

उपर्युक्त उदाहरण के जिस व्यक्ति को स्त्रियों का अकारण भय उत्पन्न हो गया था वह बड़े ही सम्पन्न घर का व्यक्ति है। वह अपनी ३५ वर्ष की अवस्था में ही अपनी संतान की संख्या बढ़ते देख सन्ताननिग्रह के उपाय को काम में लाने लगा था। इससे एक ओर तो उसे नपुंसकता आ गई और दूसरी ओर उसे स्त्रियों का इतना भय हो गया कि वह उनके समीप भी नहीं ठहर सकता था। उसका सन्तान-निग्रह का कार्य उसके बचपन की नैतिक शिक्षा के प्रतिकूल था। इस नैतिक स्वत्व के विरुद्ध आचरण करने से न केवल उसे मानसिक विकार उत्पन्न हुआ वरन् उसे शारीरिक रोग भी उत्पन्न हो गए। उसे नपुंसकत्व के अतिरिक्त हृदय की धड़कन और पेट के रोग सदा बने रहते थे।

———

ग्यारहवाँ प्रकरण

विक्षिप्त चिन्ता

प्रत्येक मनुष्य को समय-समय पर चिन्ता का उत्पन्न होना आवश्यक है। यदि मनुष्य को चिन्ता न हो तो वह अपने जीवन का कार्यक्रम ठीक से न चला सके। चिन्ता की उत्पत्ति भय से होती है। जिस प्रकार भय होना स्वाभाविक है, उसी प्रकार चिन्ता का होना भी स्वाभाविक है। और जिस प्रकार सामान्य भय मनुष्य को जीवित रखने और उसकी उन्नति में सहायक होता है उसी प्रकार चिन्ता भी उसकी जीवन-रक्षा में सहायक होती है। जब भय एक सीमा से पार हो जाता है तब वह प्राणी को ही हानिकारक सिद्ध होता है। उसी प्रकार जब चिन्ता सीमा से पार हो जाती है तब वह मनुष्य का लाभ न कर हानि करती है।

चिन्ता की उत्पत्ति भय से होती है। भय और चिन्ता में इतना ही अन्तर है कि भय किसी वर्तमान परिस्थिति से सम्बन्ध रखता है और चिन्ता किसी भविष्य में होनेवाली घटना से संबंध रखती है। यदि अकेले बिना किसी हथियार के जंगल में जाते हुए हमारे सामने से कोई रीछ निकल जाता है तो हमें भय का अनुभव होता है। परन्तु यदि हमारा लड़का कहीं बाहर गया और अखबार में हम रेल की दुर्घटना की खबर पढ़ते हैं तो चिन्ता का अनुभव होता है। भय थोड़े समय तक रहनेवाली मनोस्थिति और चिन्ता देर तक ठहरने वाला मनोभाव है। भय संवेग है और चिन्ता भय का संवेगजन्य भाव है। मनुष्य चिन्ता के भाव की अवस्था में दुखद मानसिक स्थिति में रहता है। वह अपनी विशेष प्रकार की समस्या को सुलझाने की चेष्टा करता है। जब तक समस्या की जटिलता नहीं उत्पन्न होती तब तक मनुष्य को चिन्ता नहीं होती परन्तु जब समस्या की जटिलता बढ़ जाती है तब उसे चिन्ता होती है।

भय और चिन्ता में एक और समानता है। भय मनुष्य के दूसरे मनोभावों को दबा देता है। भय की अवस्था में काम-वासना, प्रेम,

सहानुभूति, क्रोध, उत्सुकता आदि मनोभाव उत्तेजित नहीं होते। भय इन सबको दबा देता है। इसी प्रकार चिन्ता की अवस्था में मनुष्य के उपर्युक्त मनोभाव प्रबल नहीं होते। यही कारण है कि जो व्यक्ति अपने आपको सदा भय और चिन्ता की अवस्था में बनाए रखते हैं वे आप ही शारीरिक और मानसिक शक्ति को खो देते हैं। चिन्ता की मनोस्थिति में रहनेवाले लोगों को मानसिक नपुंसकता हो जाती है। उन्हें जीवन के उदात्त भावों का अनुभव नहीं हो पाता और उनका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है।

सामान्य और असामान्य चिन्ता में भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि चिन्ता भविष्य के विषय में भय की मनोवृत्ति का नाम है। जब भावी डर की स्थिति हमारे भौतिक जगत से सम्बन्धित रहती है तब चिन्ता सामान्य कहलाती है और जब भावी आन्तरिक स्थिति के विषय में डर रहता है तब चिन्ता असाधारण अथवा विक्षिप्त चिन्ता कही जाती है। यदि कोई व्यक्ति अपने किसी बाहरी शत्रु के आक्रमण से डरता है और उसके होनेवाले आक्रमण के विरोध में अनेक प्रकार के प्रोग्राम बनाता है तो वह सामान्य चिन्ता का अनुभव करना कहा जायगा और यदि किसी व्यक्ति को डर हो कि उसका विवाह होने पर वह अपनी स्त्री को काम-वासना से तृप्त नहीं कर सकेगा, अथवा उसे भविष्य में किसी स्त्री पर बलात्कार करने का अपने ही प्रति भय हो तो वह असामान्य चिन्ता अथवा विक्षिप्त चिन्ता का व्यक्ति कहा जायगा। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तित्व की रक्षा करने की चेष्टा हर समय करता रहता है। जब हानिकारक वस्तु अथवा स्थिति को वर्तमान काल में देखा जाता है तो इस मनस्थिति को भय कहते हैं। इनमें सामान्य भय का पदार्थ अपने आप से बाहर होता है और असामान्य भय का पदार्थ मन के भीतर होता है। चिन्ता में भावी घटना अथवा वस्तु का भय रहता है। जब यह घटना वा वस्तु हमारे व्यक्तित्व के बाहर से आक्रमण होने का डर दिखाती है तब हम अपनी चिन्ता को सामान्य कहते हैं और जब इस प्रकार के आक्रमण का पदार्थ अपने व्यक्तित्व के भीतर ही हो तो हम अपनी मनोस्थिति को विक्षिप्त चिन्ता कहते हैं।

किसी प्रकार की चिन्ता किसी बाहरी घटना के ऊपर आरोपित हो जाती है। विक्षिप्त चिन्ता में जिन पदार्थों पर चिन्ता की मनोस्थिति आरोपित होती है वे सचमुच में चिन्ता के कारण नहीं होते। हमारी मनोस्थिति विकृत रहने के कारण साधारण सी घटना चिन्ता का विषय बन जाती है। डा० फ्रायड ने स्वतन्त्र उठती हुई चिन्ताओं की चर्चा की है। यह चिन्ता अकारण ही होती है किन्तु पीछे इससे मनुष्य चिन्तित रहता है परन्तु वह नहीं जानता कि वह किसलिए चिन्तित है। कुछ समय पश्चात् यह चिन्ता किसी सामान्य पदार्थ से संबंधित हो जाती है और फिर मनुष्य उसी पदार्थ को अपनी चिन्ता का कारण मानने लगता है। विक्षिप्त चिन्ता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति किसी अनजाने व्यक्ति के हृदय की गति रुक जाने का समाचार अखबार में पढ़कर अचानक इस चिन्ता अनुभव करने लगता है कि कहीं उसकी हृदय की गति भी उसी प्रकार न रुक जाय। ऐसे लोग किसी प्रकार की दुर्घटना का समाचार नहीं पढ़ते। हमारी काशी-मनोविज्ञानशाला में आनेवाले एक विद्यार्थी ने एक क्षय रोग के विशेषज्ञ का विद्वत्तापूर्ण भाषण सुना। भाषण को रोचक बनाने के लिए अनेक प्रकार के साधनों से काम लिया गया था। मैजिक लैंटर्न भी काम में लाई गई थी। इस भाषण को सुनने के पश्चात् इस व्यक्ति को चिन्ता हो गई कि कहीं उसको भी क्षय रोग न हो जाय। एक दूसरे विद्यार्थी ने भगवान बुद्ध के उपदेशों पर एक लेख पढ़ा। उसमें भगवान बुद्ध की कही हुई यह बात देखी कि जिस प्रकार बैलों के खुरों के पीछे गाड़ी का पहिया अनिवार्य रूप से आता है; उसी प्रकार प्रत्येक पाप-कृत्य के पीछे मनुष्य को दंड अवश्य मिलता है। इस विद्यार्थी ने सोचा कि उसने बहुत से बुरे काम किए हैं अतएव वह इस वर्ष की परीक्षा में अवश्य फेल हो जायगा। कितनी ही माताएं बालक के घर के बाहर जाते ही चिन्तित हो जाती हैं कि कहीं उसे कोई दुर्घटना न हो जाय, कहीं वह मोटर से न कुचल जाय। कहीं वह गड्ढे में न गिर पड़े। कहीं कोई ठग उसे बहका न ले जाय, इत्यादि। इस प्रकार की चिन्ताएँ माता को चैन नहीं लेने देतीं। इसके कारण वह बच्चे को घर से बाहर नहीं

निकलने देती। कितने ही माता-पिताओं को बच्चे के बिगड़ जाने का असाधारण भय होता है। इस कारण वे उसकी बड़ी-बड़ी देख-रेख करते हैं। परन्तु उनकी देख-रेख का परिणाम प्रायः उलटा ही होता है। बच्चा उनकी इस चिन्ता से लाभान्वित न होकर दिन प्रतिदिन बिगड़ता जाता है। यहाँ चिन्ताओं का वास्तविक कारण वह नहीं होता जो कारण उपस्थिति दिखाई देता है, बाहरी कारण दिखाऊ होता है। वास्तविक कारण भीतर होता है।

क्षय रोग से ग्रस्त होने का अकारण भय ऊपरी दृष्टि से क्षय रोग पर व्याख्यान सुनने से हुआ। इसका ऊपरी कारण गन्दे स्थान में रहने का हो सकता है, परन्तु इसका भीतरी कारण आन्तरिक गन्दगी के अनुभव की स्मृति का दमन होता है। जब कोई व्यक्ति कोई ऐसा कुकृत्य कर डालता है जिससे उसे भारी आत्मग्लानि होती है, तो वह इस आत्मग्लानि को भुलाने की चेष्टा करता है। अर्थात् वह अपनी मानसिक गन्दगी को अपने मन से बाहर निकालने के बदले उसे दृष्टि-ओझल करने की चेष्टा करता है। फिर यह मानसिक गन्दगी इकट्ठी होकर मनुष्य के मन को चिन्ता की अवस्था में ले आती है। यह चिन्ता का भाव पहले पहल अकारण ही बना रहता है फिर वह किसी बाहरी गन्दगी पर आरोपित होकर क्षय रोग की चिन्ता का रूप धारण कर लेता है। क्षय रोग पर व्याख्यान सुननेवाले हर नवयुवक को क्षय रोग का भय नहीं उत्पन्न होता, यह भय उसी व्यक्ति को उत्पन्न होता है जिसकी मनोस्थिति पहले से ही आन्तरिक संघर्ष के कारण चिन्ता की बन गई थी।

अपने बच्चे की दुर्घटना के विषय में चिन्तित रहनेवाली महिला के मन में उनके प्रति दुर्घटना का इतना डर नहीं रहता जितना अपना व्यक्तित्व नष्ट होने का डर रहता है। यह डर उसकी अनैतिक भावनाओं के दमन के कारण होता है। यह डर महिला को सदा चिन्ता की अवस्था में बनाए रखता है फिर यह चिन्ता किसी बाहरी घटनाओं पर आरोपित होकर मनुष्य को तंग करती है। माता-पिता का भी अपने संतान के कल्याण के विषय में अत्यधिक चिन्तित रहना उनके अन्तर्मन की ठीक

प्रतिकूल मनोस्थिति का परिचायक होता है। जो माताएँ सोचा करती हैं कि उनके बच्चे को कोई दुर्घटना हो सकती है वे आन्तरिक मन से बच्चे का जीना नहीं चाहतीं वे अपनी इस प्रकार की आन्तरिक इच्छा से इतना अधिक डरती हैं कि उसे भुलाने के लिए बच्चे के विषय में उन्हें अत्यधिक सावधान रहना पड़ता है। कहा जाता है 'चोर की डाढ़ी में तिनका' यह कहावत अपनी करतूतों के विषय में अत्यधिक चिंतित रहनेवाले व्यक्ति की अकल्याणकारी आन्तरिक स्थिति को चित्रित करता है। इस प्रसंग में प्रो० मार्गन द्वारा साइकालोजी आव दि अनएड्जस्टेड स्कूल चाइल्ड नामक पुस्तक में दिया गया निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक महिला को अपने बच्चे के विषय में अकारण यह भय हो गया था कि वह अपने बच्चे को मार डालेगी। वह उस बच्चे को बहुत ही प्यार करती थी और इस प्रकार के विचार के बार-बार मन में आने से वह बहुत ही चिन्तित हो गई। जब वह अपने घर में छूरी-चाकू, हथौड़ा इत्यादि औजारों को देखती, तो उसके मन में यही विचार आता था कि इनके द्वारा वह कहीं अपने बच्चे की हत्या न कर दे। इस बाध्य विचार के कारण उसने घर के सभी पैने अथवा चोट पहुँचानेवाले औजारों को या तो घर से बाहर कर दिया अथवा बन्द करके रख दिया था। फिर भी वह दुष्ट विचार उसके मन से जाता न था। उसके मन में यह विचार आया कि कहीं वह अपने बच्चे के सिर को जमीन पर पटक कर ही उसे मार न डाले। इस तरह के विचार से जब वह बहुत घबड़ाई, तो वह एक मनोवैज्ञानिक के पास पहुँची। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि यह महिला यद्यपि अपनी जानकारी में अपने बच्चे को अत्यधिक प्यार करती थी, तथापि उसके अचेतन मन में बच्चे की मृत्यु की कामना बैठी हुई थी। यह महिला संतानोत्पत्ति को बुरा समझती थी और बहुत दिनों तक वह संतान-निग्रह के उपायों को सफलतापूर्वक काम में लाती रही। यह बच्चा संतान-निग्रह के उपायों की असावधानी के कारण गर्भ में आ गया था। बच्चे के जन्म लेने पर उसकी पुरानी प्रवृत्ति दिखाऊ रूप से तो समाप्त हो गई, परन्तु वह भीतरी मन में बैठी हुई थी। इसी

के कारण इस महिला को अपने बच्चे के विषय में बात-बात में चिन्ता हो जाती थी और इसी प्रवृत्ति के कारण उसे बच्चे की हत्या के विषय में भय होता था। जब महिला को अपने रोग के वास्तविक कारण का ज्ञान हो गया, तो उसका रोग नष्ट हो गया।

विक्षिप्त चिंता का एक बड़ा ही शिक्षा-प्रद उदाहरण हमारी मानसिक चिकित्सा में आया है। आज से आठ वर्ष पूर्व एक साठवर्षीय प्रतिष्ठित विद्वान् व्यक्ति, जिनकी आजीविका वैद्यक से चलती थी और जो इस क्षेत्र में प्रख्यात थे, लेखक के पास इस चिन्ता से व्यग्र होकर आए कि उनका जीवन अब विनाशोन्मुख हो गया है और थोड़े ही काल में उनको यह दशा हो जायगी कि उनके पास न रुपया रहेगा, न कोई मित्र सहायता करेगा और न कुटुम्ब के लोग ही पूछेंगे। इस समय उन्हें बड़े ही भयानक स्वप्न हो रहे थे। वे देखते थे कि वे किसी बड़े भारी झगड़े में फँसे हुए हैं या ऊपर से पटके जा रहे हैं। उन्हें बार-बार यह स्वप्न होता था कि उनके गुरु, जिनकी कुछ काल पहिले मृत्यु हो चुकी थी, उन्हें श्राप दे रहे हैं कि तुम बरबाद हो जाओगे और तुम्हें कोई नहीं पूछेगा। इन गुरुजी से, उनके मरने के कुछ दिन पूर्व, उनका विरोध हो चुका था। उन्हें डर हो गया था कि गुरु की बात कहीं सत्य न हो जाय।

वास्तव में इन महाशय की आर्थिक स्थिति इस समय बुरी थी। इनकी ख्याति पर्याप्त होने पर भी इनके पास बहुत कम रोगी आते थे। रोगी इनसे डरने लगे थे और उनकी दवा से उन्हें अधिक लाभ नहीं होता था। औषधालय में दवाइयों का विक्रय भी कम हो गया था। उनकी ऐसी चिन्तायुक्त मनोस्थिति का कारण जानने की चेष्टा करने पर पता चला कि उनकी यह स्थिति तब से प्रारम्भ हुई, जब से उन्होंने अपनी साली का विवाह किसी दूर रहनेवाले व्यक्ति से किया। इस साली का पालन-पोषण इन्होंने ही किया था और वही इनके घर और दुकान का इन्तजाम करती थी। घर से उसके चले जाने पर उन्हें भारी धक्का लगा। उन्हें मालूम हुआ कि उनका सब कुछ चला गया है। वे प्रायः साली के विषय में चिन्तित रहा करते थे। साली के साथ कोई दुर्घटना होने

के विचार उन्हें त्रास दिया करते थे। इस समय उनकी स्मरण-शक्ति विच्छिन्न हो गई थी और वे बात-बात में लोगों से झगड़ पड़ते थे। चारों ओर उन्हें निराशा-ही-निराशा दिखाई पड़ती थी।

उक्त व्यक्ति की ऐसी ही मनोदशा उस समय भी हुई थी, जब उन्होंने अपनी लड़की का विवाह किया था। विवाह के समय ही उन्होंने अपने विवेक को खो दिया था और भ्रान्त मनोदशा में उन्होंने अपने सम्बन्धियों से कुछ अनाप-सनाप कह दिया था। जब लड़की की बिदाई हो गई, तब उन्हें बेहद बेचैनी, चिन्ता और घबड़ाहट का अनुभव हुआ। इस प्रकार की मनोदशा को उन्होंने नशा पैदा करनेवाली दवाइयों को खाकर सुधारा। यह प्रयोग उन्होंने दूसरी बार भी किया, पर उससे कोई लाभ नहीं हुआ। इस प्रकार की चिन्ता का मूल कारण यह था कि इन्हें एक ओर अच्छी नैतिक शिक्षा मिली थी और दूसरी ओर इनमें काम-वासना की प्रबलता भी अत्यधिक थी। उन्होंने यह आत्म-स्वीकृति की कि यह काम-वासना उनके तीन विवाह होने पर भी साठ वर्ष की अवस्था तक अधिक शिथिल नहीं हुई। उनके स्वप्नों में भी प्रतीक रूप से काम-वासना से भरे हुए पदार्थ दिखाई देते थे। जब इन महाशय ने अपने सभी मनोभावों को पहिचाना और आत्म-समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की, तो उनकी अकारण चिन्ता और भय जाते रहे।

अकारण चिंता के अनेक उदाहरण हमारी प्रतिदिन की मानसिक चिकित्सा में आते रहते हैं। इन चिन्ताओं में देखा जाता है कि चिन्ता को उत्पन्न करनेवाली प्रवृत्ति प्रायः कामवासना के दमन के कारण होती है। डा० फ्रायड के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जब कामवासना के प्रवाह का अवरोध हो जाता है तो वह विक्षिप्त चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। पहिले तो यह चिन्ता इधर-उधर घूमती रहती है। फिर किसी एक पदार्थ को पकड़ लेती है। कभी-कभी यदि एक पदार्थ से इस चिंता की मनोवृत्ति को छुड़ा दिया जाता है तो वह दूसरे पदार्थ पर आरोपित हो जाती है। चिंता की मनोवृत्ति से पीड़ित होनेवाले रोगियों को अकारण ही अनिद्रा का रोग हो जाता है। इस प्रसंग में हमारे पास

आए हाल के एक मानसिक रोगी का निम्नलिखित वृत्तांत उल्लेखनीय है।

एक छब्बीस वर्ष के युवक को अकारण ही यह भय हो गया कि उसे साँप ने काट लिया है और उसकी मृत्यु हो जायगी। आज से डेढ़ वर्ष पूर्व जब वह सिनेमा जा रहा था तो रास्ते में चलते समय उसको यह ज्ञात हुआ कि कोई चीज उसके पैर में चुभकर निकल गई। उसे भय हो गया कि उसे साँप ने काट लिया है। वह रात में साँप से काटे जाने के स्वप्न भी प्रायः देखा करता था। वह पहिले तो बहुत घबड़ाया, फिर उसने हिम्मत करके उसे देखने की कोशिश की तब उसे पता चला कि वह एक सूखी लकड़ी थी। वह सिनेमा चला गया परन्तु सिनेमा को सुख से न देख सका। उसके मन में हर समय डर का भाव लगा रहा कि सम्भवतः उसे साँप ने ही काट लिया है। इस घटना के पश्चात् उसे बार-बार साँप का भय हो जाया करता था। एक बार जब बादल कड़क रहे थे और बिजली चमक रही थी तो उसे भय हो गया कि साँप का जहर उसके ऊपर चढ़ रहा है। उसके मन में बार-बार संदेह आता था कि सचमुच उसे साँप ने ही काटा था और लकड़ी का दिखाई दे जाना उसका भ्रम था। परन्तु फिर भी उसके मन में यह विचार आता था कि यदि वास्तव में सर्प ने काटा होता तो वह मर गया होता। उसकी स्त्री और माँ उसकी साँप के जहर चढ़ने की बात को बेवकूफी ही देखती थीं और वह अपने रोग को जितना बढ़ा करके दिखाता था, वे उसके प्रति उतनी उदासीनता दिखाती थीं। एक दिन उसे बिस्तर पर पड़े हुए खटमल ने काट लिया तो उसने सोचा कि उसे साँप ने ही काटा है और उस पर उसका विष अवश्य चढ़ेगा।

एक बार इस व्यक्ति ने अखबार में पढ़ा कि किसी बड़े आदमी की मृत्यु हृदय की गति रुक जाने से हो गई। इस समाचार को पढ़ते ही उसे यह भय हो गया कि उसकी भी हृदय की गति रुककर मृत्यु हो जायगी। इसके कारण वह इतना घबड़ा गया कि वह कई दिनों तक कुछ काम ही न कर सका। इस व्यक्ति को कभी-कभी किसी भूल का विचार इतना सताने लगता था कि उसके कारण उसे नींद ही न आती थी।

यह व्यक्ति मनोविज्ञान का विद्यार्थी है। इसे अपने इस प्रकार के विचारों की निरर्थकता ज्ञात हो गई। परन्तु इससे उसकी विक्षिप्त चिन्ता और भय के भाव भागे नहीं। उसे अब एक नए प्रकार के भय का भाव हो गया। इस व्यक्ति को आज से दो वर्ष पूर्व एक कुत्ते ने काट लिया था उसके मन में ये विचार उठने लगे कि निरर्थक भय का विचार पागलपन है। और कुत्ते काटनेवाले व्यक्ति में पागलपन आ जाता है। कुत्ते के काटने का जहर बहुत दिनों बाद शरीर में फैलता है। कहा जाता है कि जब बादल गरजता है और बिजली चमकती है तो कुत्ते के काटे हुए व्यक्ति को पागलपन के लक्षण आते हैं। साँप काटने का भय एक बार ऐसी ही स्थिति में हुआ था। उसने सोचा सम्भवतः कुत्ते के काटने के कारण जो विष उसके शरीर में पहिले से था उसी के कारण अकारण भय उत्पन्न हुआ है। अब तो उसे और भी अधिक चिन्ता हुई। फिर उसने अस्पताल में जाकर इन्जेक्शन लगवाए ताकि उक्त विष की समाप्ति हो जाय। परन्तु इससे भी उसकी इस प्रकार की चिन्ता और भय की मनोवृत्ति समाप्त नहीं हुई। यह चिन्ता और भय की मनोवृत्ति कभी एक पदार्थ पर और कभी दूसरी पर आरोपित होती ही रहती थी। ऐसी मानसिक अवस्था में ही वह हमारे पास आया।

इस व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि एक ओर उसकी नैतिक बुद्धि और अहं भावना बढ़ी-चढ़ी है और दूसरी ओर उसमें प्रबल काम-वासना भी है। अपने बचपन में उसे अनेक प्रकार के काम-वासना संबंधी अनुभव हुए। इसके लिए उसे आत्मग्लानि होती रहती थी। आज से कुछ वर्ष पूर्व वह एक किशोर बालिका का ट्यूशन करता था। यह बालिका बड़ी ही आकर्षक थी। इस प्रकार का ट्यूशन करने से उसके मित्र उसके चरित्र के संबंध में संदेह करने लगे। इससे उसे भी आत्मभर्त्सना होती थी। कभी-कभी वह इस लड़की के प्रति आकर्षण का अनुभव करता था। लड़की का विवाह हो जाने पर उसका ट्यूशन अपने आप छूट गया। परन्तु अब उसे मानसिक बेचैनी रहने लगी। वह अपनी अनैतिक वासनाओं के लिए आत्म-भर्त्सना भी करता था।

जब पुरानी अनुभूतियों को वह बिलकुल भूल चुका तभी उसे उपर्युक्त रोग उत्पन्न हो गया। साँप से काटे जाने का भय वासना द्वारा डसे जाने का प्रतीक था। यह भय बिजली की चमक और बादल के गर्जन के समय इसलिए उभड़ जाता था कि ये घटनाएँ काम-वासना की उत्तेजना का प्रतीक हैं। जैसे मनुष्य के हृदय में वासना के जागृत होने पर एक बड़ा तूफान आता है, इसी प्रकार प्राकृत तूफान भी है। यह प्रकृति का पागलपन है अतएव दमित काम-वासना के रोगी व्यक्तियों को बिजली की चमक देखकर और बादल की कड़क सुनकर मानसिक बेचैनी होती है तथा अकारण भय और चिन्ताएँ उसके मन में प्रबल हो जाती हैं। मनुष्य को वासना के आघात से अपने व्यक्तित्व की रक्षा के हेतु चिंता होती है। यह वासना का आघात उसके अनजाने ही उसके व्यक्तित्व पर होता है। उसका सारा मानसिक संघर्ष चेतना की सतह के नीचे होता है। अतएव चिंता का सच्चा कारण मनुष्य के गंभीरतम मन में रहता है। किंतु वह इस कारण को परिस्थिति की किसी घटना में देखने लगता है।

जिन व्यक्तियों के हृदय की प्रेम की भूख तृप्त नहीं हो पाती अर्थात् जिनके हृदय की माँग की किसी प्रकार की अवहेलना होती है उन्हें अकारण ही हृदय-रोग का भ्रम हो जाता है। दूसरे किसी व्यक्ति की हृदय की गति रुक जाने की मृत्यु का समाचार सुनकर उनको यह भय हो जाता है कि कहीं उनकी भी मृत्यु इसी प्रकार न हो जाय। वे अकारण ही अपने आपमें हृदय रोग का अनुभव करने लगते हैं। उनका यह हृद-रोग उसी प्रकार पीड़ित करने लगता है जैसा कि वास्तविक हृद-रोगी को पीड़ित करता है। जो व्यक्ति हृदय की माँग की अवहेलना करता है—चाहे वह माँग की अवहेलना अपनी नैतिक बुद्धि के कारण हो अथवा अभिमान के कारण—उसे अकारण ही हृदय का रोग उत्पन्न हो जाता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्तियों को नपुंसकता का भी रोग हो जाता है। साधारणतः हृदय का रोग और मानसिक नपुंसकता एक दूसरे के सहयोगी होते हैं। इस प्रसंग में हमारी चिकित्सा में आया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक नवयुवक हृदय के रोग से पीड़ित होकर हमारे यहाँ आया।

उसकी आयु २४ वर्ष की थी। वह विवाहित व्यक्ति था किन्तु उसे अपनी स्त्री से स्नेह नहीं था और प्रेम-सम्बन्ध में उसे कोई रुचि न थी। जब लेखक से वह पहिले पहल मिला तब उसके कई मित्र उसके साथ थे। उसके मित्रों ने ही लेखक से कहा कि इन्हें हृदय का रोग है। लेखक मजाक में ही अचानक कह उठा कि इन्होंने किसी का हृदय तोड़ा होगा इसीलिए अब इनका हृदय टूट रहा है। इन शब्दों के सुनते ही इस रोगी का चेहरा काला-सा पड़ गया। मित्रों के कुछ अलग होने पर तुरन्त की औषधि के रूप में उससे कहा कि तुम बच्चों से लाड़-प्यार करो, उन्हें गोद में लिया करो, उन्हें मिठाई दिया करो। रोगी ने उत्तर दिया कि उसे किसी बच्चे से प्यार ही नहीं होता, उन्हें छूने की इच्छा नहीं होती, उनसे घृणा ही मालूम होती है। यह व्यक्ति बाद में लेखक के पास नहीं आया।

उक्त रोगी के हृदय के रोग के रहस्य का उद्घाटन उसके साले के द्वारा हुआ। उसके साले से पता चला कि यह रोगी घर की किसी बात में रुचि नहीं रखता और अपनी स्त्री से भी नहीं बोलता-चालता। इस रोगी की वर्तमान पत्नी के अतिरिक्त एक दूसरी स्त्री भी है। यह व्यक्ति अपनी पहली पत्नी को बहुत ही अधिक प्यार करता था। वह स्त्री भी अपनी पति की बड़ी ही मनोयोग के साथ सेवा करती थी। दोनों में इतना घनिष्ट प्रेम था कि एक व्यक्ति दूसरे से थोड़े समय के लिए भी बिलग रहना पसन्द नहीं करता था। युवक एक आफिस में क्लर्क का काम करता था। जब वह आफिस से लौटकर आता तब से दूसरे दिन आफिस जाने के समय तक वह अपनी स्त्री के समीप ही रहता था। अपनी पत्नी की अधिक देखभाल करने के कारण उसकी स्त्री से घर के कामों में कुछ भूल हो जाया करती थी। युवक की माँ को अपने बेटे का इतना पत्नी-परायण बनना और घर के कामों में बहू का उदासीन रहना असह्य हो गया। फिर वह बात-बात में उसकी नुकताचीनी करने लगी। परन्तु इसके कारण उन दोनों का प्रेम न घटकर बढ़ता ही गया। फिर उसके चरित्र पर दूषित आरोप लगाया गया। अपने बेटे को

माँ ने बताया कि वह स्त्री व्यभिचारिणी है। इस पर इस व्यक्ति को क्रोध आया और जब इस महिला के पेट में बच्चा था तब उसे अपनी माँ के यहाँ भेज दिया गया। इधर माँ ने अपने बेटे के दूसरे विवाह की योजना ठान ली और पहली बहू के घर से जाने के छः महीने के भीतर ही लड़के का दूसरा विवाह कर दिया गया। विवाह बड़ी हँसी-खुशी के साथ धूम-धाम से हुआ। परन्तु जब नई बहू का गौना आया तभी से नवयुवक को हृदय का रोग उत्पन्न हो गया। वह न अपनी दूसरी स्त्री को प्यार कर सकता था न पहिली स्त्री को ही घर में ला सकता था। इस रोग के होने के पूर्व बहुत दिन तक उसे अकारण चिन्ता लगी रहती थी। यहाँ पर रोगी का हृदय कहता था कि उसने अपनी पहिली पत्नी के प्रति अन्याय किया है। परन्तु उसका स्वाभिमान का भाव उसके प्रति न्याय करने अर्थात् अपने पाप का प्रायश्चित्त करने में बाधा डालता था। उसका आन्तरिक मन अपनी स्त्री को निर्दोष समझता था। वह किसी भी बच्चे को इसलिए प्यार नहीं कर सकता था कि उसका भीतरी मन इस प्रकार के प्यार का विरोध करता था। जिस व्यक्ति ने अपने ही बच्चे का मुख नहीं देखा वह दूसरे के बच्चे को कैसे प्यार कर सकता था। कभी कभी मनुष्य का अभिमान उसके हृदय की माँग के प्रतिकूल आचरण कराता है और इसके कारण मनुष्य को उसी प्रकार नैतिक रोग हो जाते हैं, जिस प्रकार सामाजिक नैतिक नियमों के कारण हृदय के माँग की अव-हेलना होने पर हृदय के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। ये हृद-रोग विक्षिप्त चिता की मनोवृत्ति के रूपान्तरण कहे जाते हैं। इस प्रकार के रोग का एक बड़ा ही शिक्षाप्रद उदाहरण विलियम स्टैकिल ने अपनी प्रैक्टिस आफ साइकोपैथी नामक पुस्तक में दिया है।

एक धनी रूपवान युवक अनेक महिलाओं से प्रेम-संबंध जोड़ा करता था। वह दूसरे लोगों की पत्नियों को भी अपने धन अथवा रूप से आकर्षित कर लेता था। परन्तु वह विवाह किसी से नहीं करता था। इस प्रकार उसने चालीस वर्ष तक स्वच्छंद प्रेम से अपना जीवन बिताया। इस अवस्था में उसका ध्यान अपने ही कारखाने की एक टाइपिस्ट युवती

की ओर आकर्षित हुआ। युवती को इस व्यक्ति के स्वच्छंद प्रेम करने की आदत का परिचय था अतएव उसने कहा कि जब तक वह वैधानिक रूप से उससे विवाह न करेगा वह उसके प्रेम का आदर न करेगी। यह व्यक्ति उस युवती के रूप पर मोहित हो ही चुका था; उसे इस महिला के प्रस्ताव को स्वीकार करना ही पड़ा।

अब दोनों व्यक्ति विवाहित जीवन में रहने लगे। साल दो साल इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के पश्चात् एक विलक्षण घटना ने एक नया ही जीवन का पन्ना उलट दिया। इस व्यक्ति के कुछ मित्र उसके घर पर आया जाया करते थे। उनमें से एक मित्र पति-पत्नी दोनों से ही घनिष्ठ हो गया था। एक बार जब यह व्यक्ति अपने इस मित्र और अपनी पत्नी के साथ मोटर द्वारा अपने घर से कहीं बाहर जा रहे थे तब मोटर की एक दुर्घटना हो गई। इस दुर्घटना से उसको स्त्री को कुछ चोट आई और उसके मित्र को इतनी अधिक चोट आई कि वह तुरत ही मर गया। इस व्यक्ति के मर जाने पर उसने उसके कोट के जेबों को किन्हीं आवश्यक कागजों को देखने के लिए खोजा। उसकी कोट की जेब में अपनी ही पत्नी के उसे लिखे हुए प्रेम-पत्र पाए गए। जो व्यक्ति दूसरे लोगों की पत्नियों का सतीत्व नष्ट करने में कोई हिचक का अनुभव नहीं करते उन्हें अपनी पत्नी के सतीत्व में भी संदेह बना रहता है और इसका कोई थोड़ा सा भी प्रमाण मिल जाय तो वे अपनी पत्नी को तलाक देने की बात ही पहले सोचते हैं। अतएव ज्योंही इस व्यक्ति को वे पत्र प्राप्त हुए उसने अपनी स्त्री को घर से उसी क्षण निकाल दिया। अब वह जहाँ रानी का जीवन व्यतीत कर रही थी—मजदूरी कमाकर जीवन बितानेवाली बन गई। साथ-ही-साथ एक कलंक का टीका भी अपने माथे पर लगा गई।

अपनी पत्नी को तलाक देने के कुछ महीने बाद इस व्यक्ति को हृदय का रोग हो गया। यह व्यक्ति धनी तो था ही उसने अनेक हृद-रोग विशेषज्ञों से अपना इलाज कराया किन्तु लाभ कुछ भी नहीं हुआ। 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की', यह कहावत मानसिक रोगियों की मनोस्थिति को ही व्यक्त करता है। किसी भी मानसिक रोगी की

बीमारी उसकी भौतिक चिकित्सा करने से घटती नहीं, प्रत्युत बढ़ ही जाती है। जब दवा करने से रोग बढ़े तब हमें सोचना चाहिए कि रोग शारीरिक नहीं, अपितु मानसिक है; और शारीरिक रोग मानसिक रोग का रूपान्तर मात्र है।

उक्त रोगी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन विलियम स्टैकिल ने किया। इस रोगी ने अपनी पत्नी की तलाक-संबंधी घटना को स्टैकिल से कह सुनाया। स्टैकिल को संदेह था कि उसके रोग का कारण संभवतः अपनी पत्नी के प्रति उसका अन्याय ही है। रोगी ने अभिमानवश अपने हृदय की माँग की अवहेलना की है। परन्तु इस बात को रोगी अपनी आत्म-स्वीकृति में नहीं जानता था। वह अपनी स्त्री को तलाक देने की घटना के प्रति संतोष ही व्यक्त करता था।

जिस समय स्टैकिल इस रोगी की चिकित्सा कर रहे थे उस समय के रोगी के एक स्वप्न ने रोग के वास्तविक कारण पर प्रकाश डाला। एक बार जब रोगी गाढ़ी निद्रा में सो रहा था तो वह बहुत जोर से चीख उठा। इस चीख को सुनकर उसका नौकर जाग गया। इस समय तक मालिक भी जाग गया था। मालिक ने नौकर से आधी रात को ही कहा कि उसे बड़ी हृदय की पीड़ा हो रही है, और उसे डाक्टर की आवश्यकता है। डाक्टर जब रोगी को मिला तो उसने अपना एक भयानक स्वप्न उससे कह सुनाया।

रोगी ने स्वप्न में देखा कि उसकी तलाक दी हुई स्त्री उसके सामने आई है। वह दुखी-सी दिखाई दे रही है। रोगी इस स्त्री की ओर यह कहते हुए बढ़ता है कि तुम्हीं एक मात्र महिला हो जिसे मैं वास्तव में प्यार करता हूँ। इस बात को सुनकर उक्त महिला ने कहा, तुम्हारे प्रेम को शैतान खा जाय। महिला की यह बात सुनकर स्वप्न-द्रष्टा बेहद क्रुद्ध हो गया और उसने एक खंजर उस महिला की छाती में भोंक दिया। इस पर वह महिला खून से लथपथ होकर चिल्लाती हुई जमीन पर गिर पड़ी। जिस समय वह महिला स्वप्न में चिल्लाई थी ठीक उसी समय यह रोगी भी चीख पड़ा था और उसकी आवाज के कारण ही नौकर

जाग गया था। इस रोगी ने वास्तव में एक प्रकार से उस महिला की छाती में उसे तलाक देकर खंजर ही भोंका था। यह व्यक्ति अभिमान के कारण बाहर से तो इस महिला से घृणा करता था किंतु उसका आंतरिक मन उसमें फँसा हुआ था। रोगी के आंतरिक मन का उस महिला से तादात्मीकरण हो गया था अतएव उस महिला के हृदय की वेदना की अनुभूति इस रोगी के हृदय में होना अनिवार्य था।

हृदय के रोगी बड़े हटी होते हैं। वे हृदय की माँग की अवहेलना ही करते रहते हैं। पहिले तो उनसे हृदय की रोग-संबंधी आवश्यक आत्म-स्वीकृति कराना ही कठिन होता है। परन्तु यदि चिकित्सक उनके हृद-रोग का वास्तविक कारण जानकर उन्हें अपने व्यवहार में परिवर्तन करने की कोई सलाह दे तो वे उस सलाह को न मानकर चिकित्सक को ही भ्रम में पड़ा हुआ व्यक्ति मान लेते हैं। उन्हें कोई व्यक्ति लाख आश्वासन दे कि उन्हें कोई शारीरिक रोग नहीं है तब भी वे इस धारणा को नहीं छोड़ते कि उनका वास्तविक रोग शारीरिक है और शारीरिक उपचार से ही उन्हें मौलिक लाभ होगा। इस प्रकार वे अपने रोग को पोषे हुए रहते हैं। यदि किसी हृद-रोगी का रोग वास्तविक कारण के निराकरण के बिना हट जाय तो यह रोग भीषण अकारण चिन्ता के रूप में परिणत हो जाता है। इससे जीवन असह्य हो जाता है। वास्तव में इस चिन्ता से बचने के लिए ही मनुष्य का अचेतन मन शारीरिक रोग का आविष्कार करता है।

रूपांतरित चिंता

जिस प्रकार हिस्टीरिया के रोग में रूपांतरण होता है, अर्थात् मानसिक रोग शारीरिक रोग में परिणत हो जाता है अथवा शारीरिक रोग का आवरण ले लेता है उसी प्रकार विक्षिप्त चिंता भी अपना मानसिक रूप छोड़कर शारीरिक रोग में परिणत हो जाती है। वास्तव में चिंता के इस प्रकार रूपांतरित हो जाने से मनुष्य को आराम मिलता है। रूपांतरित चिंता निम्नलिखित रोगों में प्रकट होती है:—

१—कामुक उत्तेजना का अभाव, पुरुषों में नपुंसकता और स्त्रियों में

वेदना-शून्यता, २–इकलाहट, ३–असाधारण पसीना का आना, ४—हृदय की धड़कन, ५—झाँव-झाँव और काँव-काँव की आवाज सुनना।

कामुक उत्तेजना का अभाव—जब किसी पुरुष या स्त्री की कामवासना का अत्यधिक दमन हो जाता है, तो पुरुष में नपुंसकता और स्त्री में काम-क्रिया में निरानन्द की मानसिक स्थिति हो जाती है। कितने ही नवयुवकों को मानसिक नपुंसकता इसलिए उत्पन्न हो जाती है कि वे जिस स्त्री से विवाह करना चाहते थे उससे उनका विवाह न होकर किसी दूसरे से हो गया, अथवा कामोत्तेजना के समय उनकी इच्छा की तृप्ति नहीं हुई। कितने ही नवयुवकों को समलिंगी प्रेम अथवा विकृत कामुकता होती है। इसके कारण भी वे अपनी स्त्री के प्रति कामोत्तेजना का अनुभव नहीं करते। कितने ही नवयुवकों को बचपन की कामुकता के कारण जननेन्द्रिय सम्बन्धी अनेक प्रकार के भय हो जाते हैं। इन भयों के कारण भी उन्हें मानसिक नपुंसकता आ जाती है। कुछ लोगों को जननेन्द्रिय के छोटे होने का भय होता है। अस्तु ऐसे व्यक्ति पहिले तो किसी स्त्री के पास जाने से डरते हैं, और सामाजिक कर्तव्य-पालन के लिए यदि उन्हें स्त्री के पास जाना ही पड़ा, तो वे नपुंसकता की अनुभूति करते हैं।

उपयुंक्त सभी स्थितियों में रोगियों को वास्तविक नपुंसकता नहीं रहती। इनके प्रेम की भूख समय पर तृप्त न होने के कारण पहिले तो वह चिन्ता में परिणत हो गई और फिर इस चिन्ता ने नपुंसकता का रूप धारण कर लिया। इस नपुंसकता को सार्थक बनाने के लिए कोई झूठा कारण ही मन को मिल जाता है। यह कारण कभी बचपन की काम-कुटेव होती है, जिसका आधार लैंगिक विकृति की मिथ्या कल्पना होती है। इन कुटेवों में जननेन्द्रिय के विकृत होने के विचार मनुष्य को चिन्तित करते हैं। कभी जन्म से ही इन्द्रिय के छोटे रहने के विचार भी मनुष्य को चिन्ता में डाले रहते हैं। काम-कुटेवों के दुष्परिणामों के विषय में बहुत-सी किंबदन्तियाँ हैं और कितने ही लोगों ने इन दुष्परिणामों के विषय में पुस्तकें भी लिख दी हैं। इन कुटेवों में पड़े हुए कुछ नवयुवक इन पुस्तकों को पढ़ लेते हैं जिससे उनका मन भय और कुनिर्देश से भर जाता

है। फिर ये दुर्निर्देश अनेक प्रकार की चिन्ता के कारण बन जाते हैं और युवक में मानसिक नपुंसकता उत्पन्न कर देते हैं। इस तरह एक ओर व्यक्ति की काम-वासना का दमन होता है और दूसरी ओर उसे नपुंसकता भी आ जाती है। मानसिक नपुंसकता का अनुभव करनेवाले लोगों में कामुकता की कमी नहीं होती, अपितु अत्यधिक प्राबल्य ही होता है। जननेन्द्रिय में विकार देखनेवाले लोग झूठे निर्देश के कारण ही नपुंसकता का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जो लोग अपनी जननेन्द्रिय को छोटी देखते हैं, वे भी भ्रम में पड़े रहते हैं। यदि ऐसे लोगों का प्रेम उनके चाहे हुए व्यक्ति से पहिले ही हो जाय, तो जननेन्द्रिय-सम्बन्धी कोई संदेह उनके मन में आता ही नहीं है। बाल-विवाह होने का एक लाभ यह था कि बचपन से स्त्री के साथ रहनेवाले व्यक्ति को जननेन्द्रिय के विकृत अथवा छोटी होने का कोई विचार ही नहीं आता था। ये विचार उन्हीं लोगों को आते हैं, जिनका विवाह बहुत देर बाद होता है और जिन्हें अपनी काम-शक्ति को नैसर्गिक मार्ग में जाने से रोकने के लिए प्रबल चेष्टा करनी पड़ती है। किसी युवक का देर में विवाह होने से जहाँ एक ओर यह लाभ होता है कि उसकी बहुत-सी काम-शक्ति का मार्गान्तीकरण होकर वह मनुष्य को किसी बड़े काम में लगा देती है, वहाँ इससे यह हानि भी होती है कि मनुष्य को अकारण भय और चिन्ता उत्पन्न हो जाते हैं। वह अपनी काम-वासना को विकृत मार्ग से तृप्त करने लगता है, जिसके कारण उसे आत्म-ग्लानि भी होती है। फिर उसे अपनी काम-वासना को दबाना ही पड़ता है। इस प्रकार का दमन नपुंसकता को उत्पन्न करता है। यहाँ मानसिक नपुंसकता का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है, जिसकी चिकित्सा हमें हाल ही में करनी पड़ी है—

एक पच्चीस वर्षीय नवयुवक को यह भय हो गया कि वह नपुंसक हो गया है। उसे विवाहित हुए पाँच वर्ष हो गए थे, उसकी एक तीन बर्षीया बालिका भी थी। उसकी स्त्री डेढ़ वर्ष से मायके में है। कुछ पण्डिताई अन्धविश्वास के कारण उसके माता-पिता उसे डेढ़ वर्ष तक अपने यहाँ ही रक्खे रहे। इस बीच इस युवक को कामोत्तेजना का अनुभव

होता रहा, जिसे तृप्त करने का कोई मार्ग न था। बचपन की काम-कुटेवों के कारण उसके मन में यह विश्वास पहिले से ही बैठ गया था कि उसकी जननेन्द्रिय में कोई दोष आ गया है और वह टेढ़ी हो गई है। इसलिए वह अपनी स्त्री की कामेच्छा को तृप्त नहीं कर सकेगा। जब उसकी स्त्री अपने मायके में थी, तब उसका प्रेम-सम्बन्ध अपनी एक आत्मीया से हो गया। इसके परिणामस्वरूप उसे भारी आत्म-ग्लानि हुई। वह प्रबल नैतिक बुद्धि का व्यक्ति है। अतएव इस व्यभिचार के लिए उसने अपने आपको बहुत कोसा। इस प्रकार कोसने के परिणाम-स्वरूप उसकी कामवासना अन्तर्हित हो गई और अब वह नपुंसकता का अनुभव करने लगा, इस कारण उसे यह चिन्ता हो गई कि वह अपनी स्त्री के साथ कैसा व्यवहार करेगा और पति के कर्त्तव्य का पालन कैसे करेगा। वास्तव में जब मनुष्य किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के कारण अपनी काम-वासना की अत्यधिक भर्त्सना करता है, तभी अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का जन्म होता है। इस प्रकार की भर्त्सना से एक ओर काम-वासना अचेतन मन में चली जाती है और मनुष्य के चेतन मन में उसका कोई अनुभव नहीं रहता और दूसरी तथा वह हृदय का रोग अकारण चिन्ता और भय, व्यर्थ पसीने का आना, हकलाना आदि शारीरिक रोगों में प्रकट होती है। मानसिक नपुंसकता भी इसी से होती है। इस प्रसंग में हमारी 'मानसिक आरोग्य' नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

'एक पचीस वर्षीय नवयुवक, जिसका विवाह चार वर्ष पहिले हुआ था, अपनी स्त्री को उसके पित्रालय से घर लाने में इसलिए डरने लगा कि बचपन के काम-कुकृत्यों के कारण वह नपुंसक हो चुका था और वह अपनी स्त्री की इच्छा को तृप्त करने में असमर्थ था। नपुंसकता की चिन्ता उसे खाए डालती थी। इस व्यक्ति ने पत्र-व्यवहार द्वारा हमसे परामर्श लिया। उसे अपने पाँच वर्ष के जीवन से लेकर बीस वर्ष तक के सभी भावात्मक अनुभवों को लिखने के लिए कहा गया। इन भावात्मक अनुभवों में देखा गया कि उसके पिता उसके प्रति बड़ी कठोरता का

व्यवहार रखते थे। अपने संगी-साथियों से मिलने में वे उसे अनेक प्रकार की बाधाएँ डालते, एवं उनके साथ खेलने और गप्प-सप्प करने का बहुत कम अवसर देते थे। इसके कारण बच्चे में अकेले रहने की आदत पड़ गई थी।

जब इस बालक की किशोरावस्था आई, तब उसे किसी व्यक्ति ने कामुकता से उत्तेजित किया और उसमें काम-कुटेव की आदत लगा दी। वह कई वर्षों तक इसी में पड़ा रहा। पीछे उसने स्वामी शिवानन्द की काम-कुटेवों के दुष्परिणाम-सम्बन्धी पुस्तक पढ़ी। इसके कारण उसे अपने पुराने कृत्य के लिए बड़ा भय उत्पन्न हो गया। अब उसकी यह आदत तो छूट गई, परन्तु उसे अपनी अयोग्यता-सम्बन्धी भय त्रास देने लगा।

यह युवक लड़कियों के सामने जाने में डरता था और किसी के सामने नजर उठाकर नहीं देख सकता था परन्तु अपनी किशोरावस्था में उसे एक बड़ा ही भावात्मक अनुभव हुआ था। उसके पड़ोस की एक लड़की जो अत्यन्त ही रूपवती थी, उसके आचरण और व्यवहार से आकर्षित हुई। साधारणतः देखा गया है कि जो लड़के लड़कियों से जितना ही झेंपते हैं, लड़कियाँ उनसे उतनी ही आकर्षित होती हैं। वे धीरे-धीरे एक दूसरे से मिलने और बातचीत करने लगे। जब वह एक बार एकान्त में उस लड़की से मिला और उसे आलिंगन कर रहा था, उसी समय किसी व्यक्ति ने उनके आँगन में एक ढेला फेंक दिया। उन दोनों को भय हो गया कि सम्भवतः किसी ने उन्हें देख लिया है और वह उनके प्रेम-सम्बन्ध को जान गया है। लड़के को अपने पिता का भय तो था ही लड़की को भी अपने अभिभावकों का भय था। अस्तु उनका मिलना-जुलना सदा के लिए बन्द हो गया। इसी बीच लड़की का व्याह हो गया और वह ससुराल चली गई। अब इस युवक को नपुंसक होने का इतना प्रबल भय हो गया कि उसे विवाह करने से भी डर लगने लगा। यह डर उसे विवाह होने के पश्चात् भी बना रहा और इसी डर के कारण वह अपनी स्त्री को चार वर्षों तक घर नहीं ला सका। अपनी भावात्मक घटनाओं को सुनाने के बाद यह व्यक्ति सर्वथा नीरोग हो गया।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मानसिक नपुंसकता की अनुभूति करनेवाले व्यक्ति सचमुच में नपुंसक नहीं होते। सामाजिक अथवा नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने के कारण वे अपनी वासना की भर्त्सना करते हैं। इसीलिए उनमें यह नपुंसकता उत्पन्न हो जाती है। कभी-कभी कोई व्यक्ति एक व्यक्ति के प्रति नपुंसकता नहीं करता, किन्तु दूसरे के प्रति करता है। वोसवाल्ड महाशय ने अपनी 'साइकालोजी आफ सेक्स' नामक पुस्तक में बताया है कि कामुकता के विषय में कोई भी झूठापन नहीं चल सकता। जिस व्यक्ति से जिसका आन्तरिक प्यार नहीं है, उसके समीप आते ही या तो कामोत्तेजना नहीं होती या उत्तेजना की अनुभूति होने पर किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव नहीं होता। वह सम्पूर्ण व्यावहारिक, अर्थहीन और घृणित दिखाई देता है। इसके कारण कभी-कभी व्यक्ति को अकारण शारीरिक पीड़ा अथवा वमन का अनुभव होने लग जाता है। कभी-कभी अनचाहे व्यक्ति को देखते ही दूसरे व्यक्ति को झुँझलाहट अथवा वमन हो जाता है। इस प्रकार के सारे विकार काम वासना के दमन के कारण ही होते हैं। जब किसी व्यक्ति का भीतरी मन एक व्यक्ति से फँसा हो और उसे काम-व्यवहार दूसरे के साथ करना पड़े, तभी मानसिक नपुंसकता का अनुभव होता है।

किशोरावस्था के प्रेम - संस्कार बड़े ही प्रबल होते हैं। यदि किशोरावस्था में किसी व्यक्ति का प्रेम किसी से हो गया है, तो यह प्रेम मनुष्य के विवाहित जीवन में बाधक बन जाता है। यदि यह प्रेम नैतिकता या आत्म-सम्मान की भावना के प्रतिकूल हुआ, तो अकारण चिन्ता और भय, रूपान्तरित चिन्ता या हिस्टीरिया आदि का रूप ले लेता है। रोगी को इस प्रकार की मनोदशा से मुक्त करने के लिए उसकी किशोरावस्था की ऐसी सभी अनुभूतियों को जाग्रत करना पड़ता है, जो उसकी नैतिकता के प्रतिकूल हैं। ये अनुभूतियाँ जब स्मृति-पटल में आ जाती हैं, तब उनसे सम्बन्धित राग को उपयुक्त व्यक्ति की ओर मोड़ा जा सकता है।

जिस प्रकार पुरुषों में काम-वासना के दमन अथवा प्रेम की अतृप्ति के कारण नपुंसकता आ जाती है, उसी प्रकार स्त्रियों में भी काम-सम्बन्धी

सभी व्यवहारों के प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो जाता है। वे पति से मिलना ही नहीं चाहतीं। इस प्रकार का रोग युवतियों को प्रायः होता है, परन्तु कभी-कभी यह प्रौढ़ावस्था में भी हो जाता है। पहिले तो यह रोग अकारण चिन्ता और भय के रूप में आता है, परन्तु जब इसका भी दमन किया जाता है, तो वह किसी प्रकार के शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। इस प्रसंग में हमारी चिकित्सा में आई हुई एक सम्पन्न कुल की महिला का उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक युवती अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों से पीड़ित हुई। उसे सिर की पीड़ा, हृदय की धड़कन, कोष्ठ-बद्धता, बेचैनी और अकारण ही चेहरे पर सूजन आ जाना आदि रोग उत्पन्न हो गए। जब इस युवती का पति प्रेम-सम्बन्ध के लिए उसके पास आता, तो उसके सभी रोग बढ़ जाते—उसे मिचली आती तथा कभी-कभी वमन भी हो जाता था। पति के साथ मिलने में उसे आनन्द की अनुभूति न होकर घृणा का अनुभव होता और वह बड़ी ही मानसिक परेशानी की अनुभूति करती। उसका सम्पूर्ण वैवाहिक जीवन दुःख में ही बीता। इस युवती के पति को भी नपुंसकता का भय हो गया था। उसे साधारणतः कामोत्तेजना होती ही नहीं थी और यदि होती भी, तो शीघ्र पतन हो जाता था। इस प्रकार दोनों ही व्यक्ति रुग्णावस्था में थे। पति की मनोदशा का ज्ञान सिर्फ स्त्री को ही था।

इन व्यक्तियों के रोग का कारण जानने से पता चला कि इस स्त्री का मन अपने विवाहित जीवन से बड़ा ही असंतुष्ट था। इसका ज्ञान उसकी चेतना को नहीं था। इस महिला की नैतिक बुद्धि बड़ी ही प्रबल थी और उसका आत्म-सम्मान बड़ा ही बढ़ा-चढ़ा था। वह सम्पन्न घर की प्रतिष्ठित बालिका थी। अतः किसी प्रकार की अनैतिकता उसे असह्य थी। उसका पति एक धनी घर की महिला के द्वारा गोद लिया हुआ बालक था। उसे बचपन से ही इस महिला की सेवा करनी पड़ती थी। महिला ने जब अपने लड़के का विवाह किया, तो वह आशा करती थी कि उसकी पतोहू लड़के से अधिक सेवा करेगी। परन्तु बात उल्टी हो

गई। जब पुत्र-बधू घर में आई, तो उसने चाहा कि उसका पति उसकी सास से विरत होकर उसी की ओर ध्यान दे। इसके कारण उसकी सास के मन में पतोहू के प्रति एक प्रकार का सौतिया-डाह उत्पन्न हो गया। इधर, उसका पति भी कभी-कभी अपनी स्त्री को इसलिए झिड़कता था कि वह उसकी माँ की उचित सेवा नहीं करती थी। इस प्रकार की मनोदशा में कुछ समय तक रहने पर उस महिला को अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग उत्पन्न हो गए। फिर तो वह ससुराल के लिए भार-रूप हो गई। उसे अपने नैहर में जाना पड़ा। नैहर में उसके रोग का कुछ सुधार हुआ। परन्तु ज्योंही उस महिला को ससुराल लाने की चर्चा होती, त्योंही वह बीमार हो जाती। अतएव उसके पति को ही ससुराल में रखने की बात सोची गई। इस प्रकार यह महिला अपने रोग के सहारे सास से अलग हो गई और उसने पति को भी अपनी ओर खींच लिया। परन्तु इतने पर भी उसका रोग सर्वथा नहीं गया। वह जीवन में काम-वासना का अनुभव बिल्कुल नहीं करती थी, समय-समय पर उसका चेहरा एकाएक फूल जाता और उसे वमन होने लगता था।

इस प्रकार की मनोदशा का कारण एक विलक्षण प्रेमानुभव था। इस महिला का एक रिस्तेदार इससे बहुत ही प्रेम करने लगा था। वह बड़ा ही कामुक व्यक्ति था। धनी होने के कारण वह किसी भी महिला को अपने वश में कर लेता था। उसमें नैतिकता का कोई विचार नहीं था। इस व्यक्ति को एक ऐसा रोग हो गया था, जिसके कारण उसका चेहरा फूल गया था। इस रिस्तेदार के लाख प्रयत्न करने पर भी यह महिला उसके वश में नहीं आई, प्रत्युत वह उससे घृणा करने लगी। किन्तु यह व्यक्ति इसे इतना प्यार करता था कि वह उसे सर्वस्व देने के लिए तैयार था। पीछे इस व्यक्ति की मृत्यु हो गई। मरते समय उसने इसे बुलाया और इसी को देखते-देखते वह मर गया। यह सारा दृश्य बड़ा ही वेदनापूर्ण था।

इस प्रकार बालिका की किशोरावस्था में उक्त सम्बन्धी ने उसका बहुत-कुछ प्रेम अपनी ओर खींच लिया था तथा उसे प्रेम-शून्य कर दिया

था। जब कभी उसके पति से उसकी प्रेम-वार्ता चलती, तो वह बेचैनी का अनुभव करती और उसका चेहरा फूल जाता था। यह मृत व्यक्ति से तादात्मी-करण के कारण होता था। जब कभी मनुष्य के इस प्रकार की दमित भावनाओं को चेतना के स्तर पर लाया जाता है तो उसकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण होता है और उसका फँसा हुआ प्रेम सुलझ कर योग्य व्यक्ति के पास पहुँच जाता है। मनुष्य की ये ही मानसिक ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों के रूप में प्रकट होती हैं। जो शक्ति प्रकाशित होने पर मनुष्य को सर्वोच्च कोटि का आनन्द देती है, वही दमित होकर अनेक प्रकार के कल्पित शारीरिक रोगों में प्रकट होती है। कभी-कभी इससे मनुष्य की शारीरिक बाढ़ भी रुक जाती है।

असाधारण पसीना छूटना

कभी-कभी रूपान्तरित चिन्ता ठंढा पसीना छूटने के रूप में प्रगट होती है। ऐसे तो प्रत्येक व्यक्ति को घोर भय के समय पसीना आ जाता है और हृदय की धड़कन हो जाती है। इसी प्रकार कुछ लोगों को चिन्ता के समय भी पसीना हो जाता है। जब मनुष्य की चिंता का कारण कोई बाहर की घटना होती है तो हम उसे साधारण चिंता कहते हैं और इस प्रकार पसीना का आना स्वाभाविक कहा जाता है। परन्तु विक्षिप्त चिंता में उसका वास्तविक कारण मनुष्य के मन के भीतर रहता है, जिसका ज्ञान व्यक्ति को नहीं रहता है। उसकी चिंता किसी निरर्थक बाह्य पदार्थ पर आरोपित हो जाती है, जिसके कारण उसे पसीना छूटता है और फिर वह पसीना छूटने के कारण ही चिन्तित होने लगता है। जिन लोगों को इस प्रकार पसीना छूटता है उनको प्रायः दूसरे प्रकार के रोग के भी लक्षण होते हैं, जो उनके दबे हुए भय और चिंता की मनोस्थिति के द्योतक होते हैं। इस प्रकार की मनोस्थिति का एक उपयोगी उदाहरण फिशर ने अपनी इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साइकालोजी नामक पुस्तक में दिया है।

एक तेईस वर्ष का युवक एक हाई स्कूल का शिक्षक नियुक्त हुआ। यह विद्वान् और देखने में सुंदर व्यक्ति था। परंतु उसके लिए कक्षा का सामना करना और प्रति दिन के पढ़ाने के काम को करना अत्यंत कठिन हो गया।

उससे थोड़ी-सी भी गलती हो जाने से वह बेहद घबड़ा जाता था। यदि कोई विद्यार्थी उससे कोई प्रश्न पूछ लेता तो उसका सारा शरीर पसीना-पसीना हो जाता था। फिर उसे इस बात का डर लगता था कि उसकी कक्षा का कोई विद्यार्थी कहीं यह न जान ले कि उसे पसीना आ रहा है। ऐसी अवस्था में उसका चेहरा भी लाल पड़ जाता था। अपने चेहरे के लाल होने के कारण भी उसे अत्यंत भय होता था। जब काफी वर्षा होती थी, तब भी इस व्यक्ति को बड़ी ही घबड़ाहट होती थी। वह बरसात के पानी से भरे गड्ढों को देखकर डरता था और उस पर से उछलकर जाने की चेष्टा करता था। इस प्रकार के गड्ढों को देखकर एक ओर उसे उन्हें कूद-कर पार करने की इच्छा होती थी और दूसरी ओर उसे यह भय होता था कि इस प्रकार कूदने में वह गिर पड़ेगा और सब लोग उसपर हँसेंगे।

उपर्युक्त चिंता का कारण खोजने से पता चला कि जब यह युवक १५ वर्ष का था, तब उसे हस्त-मैथुन की आदत लग गई थी। इस कृत्य को करते हुए कुछ समय बीता था कि उसने एक प्रतिष्ठित जर्मन डाक्टर की पुस्तक में पढ़ा कि जो व्यक्ति इस प्रकार के कुटेव में पड़ जाता है; उसे इसके बड़े ही भयानक दुष्परिणाम भोगने पड़ते हैं। पुस्तक में लिखा था कि जिस व्यक्ति ने इसे थोड़े समय तक भी किया है, उसे रात्रि में पहले पहल तो स्वप्न दोष होंगे और फिर दिन में ही होने लगेंगे। इसके पश्चात् उसके सिर के बाल गिरेंगे और उसके बाद दाँत भी गिरने लगेंगे। इस प्रकार वह धीरे-धीरे शारीरिक और मानसिक दुर्दशा में पहुँच जायगा; अर्थात् उसकी मानसिक और शारीरिक दशा बिल्कुल बिगड़ जायगी। वह अपने विचार, स्मृति और क्रिया-शक्ति को खो देगा। युवक ने देखा कि मैंने तो बहुत दिनों तक हस्त-मैथुन किया है और अब उसके दुष्परिणामों से बचने का कोई भी उपाय नहीं है। वह बहुत ही भयभीत हो गया। इस प्रकार उसकी हस्त-मैथुन की आदत तो जाती रही। परन्तु जैसा पुस्तक में लिखा था उसे रात में स्वप्न - दोष होने लगे। ये स्वप्न - दोष उसे अत्यंत चिंतित करते थे। पहले पहल तो स्वप्न दोष सामान्य ही थे, परन्तु जैसे-जैसे इस संबंध में चिंता बढ़ती गई; तैसे तैसे उसकी संख्या भी बढ़ गई।

कुछ काल बाद उसे दिन में भी स्वप्नदोष होने लगे। फिर, मानो पुस्तक की बात अक्षरशः सत्य हो, उसके सिर के बाल गिरने लगे और बीस वर्ष की अवस्था होते-होते उसका सिर गंजा हो गया। उसके दाँत नहीं गिरे थे।

उपर्युक्त उदाहरण में इस युवक की चिन्ता का समीपस्थ कारण उसका हस्तमैथुन और उसके दुष्परिणाम के विषय में डा० की पुस्तक की विशेष बातों का पढ़ना था। उसकी यह चिंता पीछे कक्षा के डर के रूप में परिणत हो गई। बाद में उसे पसीना आने और चेहरा तमतमाने का भी डर हो गया।

इस स्थान पर यह कह देना आवश्यक है कि किशोर बालकों में काम-कुटेव का उत्पन्न होना कुछ अंश में स्वाभाविक होता है। इस प्रकार की आदत किशोरावस्था के बीतते-बीतते अपने आप ही छूट जाती है। जिन बालकों में यह आदत किशोरावस्था के पूर्व लग जाती है, उनमें यह प्रायः देर तक रहती है और वे एक प्रकार के मानसिक रोगी होते हैं। इन बालकों की यह आदत न तो किसी प्रकार की शिक्षा देने से न आत्मभर्त्सना से ही छूटती है। जिन बालकों को यह आदत लग चुकी है वे यदि अपनी जाग्रतावस्था में इसे रोकने की चेष्टा करें, तो सोते समय वे इसी कार्य को कर डालते हैं। कुछ बालकों की यह आदत इसके दुष्परिणाम-संबंधी पुस्तकें पढ़ने से छूट जाती है। किंतु अब उन्हें अपने पुराने कृत्य के विषय में असाधारण भय उत्पन्न हो जाता है। इसके कारण एक ओर उन्हें स्वप्न-दोष होने लगते हैं और दूसरी ओर इनकी चिंता उन्हें अत्यधिक सताने लगती है। इस चिंता के कारण स्वप्न-दोषों की संख्या बढ़ती जाती है। कुछ काल के बाद चिंता का विषय बदलने लगता है। रोगी को अपने स्वास्थ्य अथवा घर के किसी कलह संबंधियों की आवश्यकता के विषय में चिंता हो जाती है। इस प्रकार की चिन्ता से व्यग्र व्यक्ति बड़ा ही संशयवादी होता है। उसके मन में यदि कोई बुरा विकार समा जाय तो वह छूटता नहीं है। इस प्रसंग में लेखक की चिकित्सा में आए हुए एक बीस वर्षीय युवक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेख्य है, जिसमें रोगी को यह भ्रम हो गया था कि वह मंदबुद्धि हो गया है, जिसके कारण

उसका जीना व्यर्थ है। यह युवक लिखता है—

'जब मैं पढ़ने के लिए कालेज में आया तो मुझे होस्टल में अपने एक साथी के साथ रहने का आदेश मिला। मैं किसी को भी जानता न था, इस कारण इसको मैंने मान लिया। साथी अच्छा था, भला था; परन्तु उसके पास उसके बहुत से साथी आया करते थे, उनमें से एक बहुत ही सुंदर था। मैं मन-ही-मन उस लड़के को प्यार करने लगा और उसके साथ दुष्कृत्य करने की भी इच्छा मुझे होने लगी। परन्तु मेरी कुछ ऐसी मनोवृत्ति है कि जिससे मैं इस प्रकार प्रेम करता हूँ; उसकी इच्छा रहते हुए भी न तो उससे बातें कर सकता हूँ, न उसकी ओर देख ही सकता हूँ।

मेरे कमरे के साथी के पास कोई-न-कोई साथी आता ही रहता था। उसका वह सुंदर मित्र भी प्रायः आता था और वह मुझसे भी बातें करने की कोशिश करता रहता था। परन्तु मैं अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उससे बातें करने में झेंपता था और उसकी बातों का ठीक से उत्तर न दे सकता था। उसके सामने मेरी जबान लड़-खड़ा जाती थी।

कभी-कभी वह लड़का मेरे कमरे में अपने सब साथियों के सामने ही मुझसे बातें करता। मैं उसकी बातों का ठीक से उत्तर न दे पाता था। मैं उससे झेंप जाता था। आपस में मित्र लोग हँसी-मजाक तो करते ही हैं और एक दूसरे की बातों पर हँसते भी हैं। इसी प्रकार मेरे कमरे के साथी के मित्र कभी-कभी मेरी बातों पर भी हँस दिया करते थे। मैं यह समझने लगा कि ये लोग मुझे बेवकूफ समझने लगे हैं; क्योंकि मैं किसी के प्रश्न का उत्तर भली-भांति नहीं दे पाता था, मेरी जबान लड़खड़ा जाती थी और मेरा मुख पीला पड़ जाता था।

मैं पहिले अपने कमरे के साथी के उक्त मित्र के अतिरिक्त उसके सभी साथियों से अच्छी तरह बातें कर लिया करता था। परन्तु जब वे लोग उसके साथ आते थे, तो मैं उनकी बातों का भी ठीक प्रकार से उत्तर देने में असमर्थ रहता था। कभी-कभी ये लोग मेरी बातों पर हँस दिया करते थे। मैं समझने लगा कि ये सब लोग मुझे बेवकूफ समझते हैं।

अतः मैं उनमें से प्रत्येक से घृणा करने लगा। अब मैं उनसे व्यक्तिगत बातें करना भी पसन्द नहीं करता था। यदि वे कभी मुझसे अकेले में बातें करते भी, तो यह समझकर कि वे मुझे बेवकूफ समझते हैं मैं बहुत सोच-समझकर उत्तर देता था। किंतु मैं चाहे कितना भी सोच-समझकर उत्तर देता; बात करने के पश्चात् मुझे कोई-न-कोई ऐसी बात अवश्य मिल जाती थी कि मैंने ठीक उत्तर नहीं दिया है और इसके कारण वे लोग मुझे और भी अधिक बेवकूफ समझने लगे होंगे।

अब आगे ऐसी अवस्था आई कि मैं जिस किसी से भी बातें करता, बातों के पश्चात् मुझे ऐसा दोष मिल जाता था, जिससे मैं समझता था कि मैंने उत्तर ठीक नहीं दिया और इस कारण वह व्यक्ति मुझे बेवकूफ समझने लगा होगा। इसके बाद मैं जिससे भी बातें करता; बातों के बाद मेरे मन में विचार आता कि यह मुझे बेवकूफ समझता होगा। पीछे मैं सोचने लगा कि न केवल मेरे कमरे के साथी के मित्र ही मुझे बेवकूफ समझते हैं, वरन् मेरे सम्पर्क में आनेवाले सभी व्यक्ति मुझे बेवकूफ समझते हैं। इस समय तक यद्यपि मैं यह सोचता था कि अन्य लोग मुझे बेवकूफ समझते हैं, परन्तु मैं अपने हृदय से अपने को बेवकूफ नहीं समझता था। अतएव मैं किसी से न तो बातें ही करना पसन्द करता था, न कमरे में रहना ही। जब मेरे साथी के मित्र कमरे में आते तो मैं कमरे के बाहर चला जाता था। परन्तु ये साथी दिन भर आते ही रहते थे। इसलिए मैं हर समय बाहर ही घूमता रहता था।

इस समय मुझे नींद ठीक से नहीं आती थी। रात में गर्मी के समय कमरे के भीतर ही सोना पड़ता था। इसके कारण भी नींद न आती थी। इसलिए शरीर थका-सा रहने लगा। कभी-कभी धूप में चलकर कालेज से होस्टल में आना पड़ता था, इसलिए प्रायः सिर में दर्द हो जाता था और मेरा मन पढ़ने-लिखने में जितना अच्छा अपने स्कूल में था, अब उतना न था। मैं सदा थका-सा रहता था, और अनिद्रा के कारण मस्तिष्क की कमजोरी का अनुभव करने लगा था। मैंने पुस्तकों में पढ़ रखा था कि हस्तमैथुन करनेवालों का शरीर खराब हो जाता है। मैंने अपने

जीवन में हस्तमैथुन बहुत किया था, इसलिए मैं यह समझने लगा कि मेरा मस्तिष्क अत्यंत कमजोर हो गया है और दूसरे लोग जो मुझे बेवकूफ समझते हैं, वे ठीक ही समझते हैं। इस समय के पूर्व मुझे अपने मस्तिष्क पर जो बहुत विश्वास था, वह अब जाता रहा।

कुछ समय पश्चात् मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे पेशाब में कोई लाल या पीली चीज आ रही है, उसे मैंने खूब समझा। मैं अपने को नपुंसक और छोटे लिंगवाला भी समझने लगा। अब मुझे बड़ी चिंता हुई। मैं समझने लगा कि खराब कामों के कारण ही यह रोग मुझे हुआ है। ऐसे रोगों के सम्बन्ध में मेरी यह धारणा थी कि ये रोग अच्छे नहीं होते। मेरे मस्तिष्क में यह बात भी बैठ गई कि मेरा जो दिमाग खराब हो गया है, वह ठीक भी नहीं होगा। चाहे जितनी भी दवा की जाय, वह अपनी पूर्वावस्था में नहीं आ सकता।

मेरा मस्तिष्क पहले अच्छा था और मैं अपने जीवन को उच्च बनाने के स्वप्न देखा करता था। अब मुझे बड़ा ही धक्का लगा और ऐसा अनुभव होने लगा कि मेरा दिमाग बेकार हो गया है तथा मुझे जो शारीरिक रोग हो गया है, वह ठीक नहीं हो सकता। इसलिए मैं अब बड़ा भी नहीं हो सकता; मेरा जीना व्यर्थ है। मैंने अपने जीवन को बेकार समझकर तीन बार आत्महत्या करने का प्रयत्न किया। परन्तु साहस न होने के कारण निश्चित स्थान पर जाकर लौट आता। एक बार मैं गंगा के पुल से कूदकर मर जाना चाहता था। परन्तु जब पुल पर पहुँचा तो मेरे मन में विचार आया कि यदि मैं पुल से कूदा और किसी कारण बच गया और फिर मेरी ये बातें दूसरे लोगों ने जान लीं, तो वे सभी मेरे ऊपर हँसेंगे। इस विचार ने भी पुल से कूदने के साहस को समाप्त कर दिया। परंतु फिर भी मन में द्वंद्व उठा करता था कि क्या किया जाय, क्या न किया जाय? पढ़ने-लिखने में तो मन जरा भी न लगता था।"

उपर्युक्त आत्म-कहानी एक प्रतिभावान युवक की है, जो अपनी प्रबल प्रवृत्ति के दमन के कारण अपने को रोगी, नपुंसक अथवा मंद बुद्धि मानने लगा था। इस प्रकार की चिंताओं का वास्तविक कारण इस व्यक्ति

की कामवासना का दमन था। परन्तु यह कारण भी समीपस्थ था। जिन व्यक्तियों को काम-वासना सम्बन्धी विकृत अनुभव उसी प्रकार होते हैं; जैसे उक्त युवक को हुए, उनका बचपन का जीवन कठोरता में व्यतीत होता है। ऐसे लोगों को अपने अभिभावकों का समुचित प्रेम नहीं मिलता। प्रत्येक बालक में अपने से बड़े लोगों का प्रेम प्राप्त करने, प्रशंसा सुनने एवं प्रोत्साहन पाने की प्रबल इच्छा होती है। जब इस इच्छा की समुचित तृप्ति नहीं होती, जब बच्चे के खाने-खेलने की इच्छा की अवहेलना तथा बात-बात में उसकी आलोचना होती है, तब वह समाज से निराश हो जाता है। निराशावादी व्यक्ति की मानसिक शक्ति पुरोगामी न बनकर प्रतिगामी बन जाती है। यदि किसी बालक का समुचित रूप से विकास हो, तो उसमें अपने मित्रों के प्रति सहज स्नेह उत्पन्न होता है। इस स्नेह के कारण ही वह अनेक प्रकार के रचनात्मक समाजोपयोगी कार्यों में भाग लेता है। अपने अभिभावकों और साथियों से प्रोत्साहित होते रहने के कारण कठिन परिश्रम करके वह अपना शारीरिक एवं बौद्धिक विकास करता है और इस प्रकार वह धीरे-धीरे समाज का उपयोगी नागरिक बन जाता है। परन्तु जब बालक को बचपन में प्यार और प्रोत्साहन नहीं मिलता, तो उसे प्रत्येक व्यक्ति की आलोचना का भय उत्पन्न हो जाता है। वह अपने सभी साथियों से सशंक रहता है। वह दूसरों के साथ मिल-जुलकर काम करने की अपेक्षा अकेला ही रहना पसंद करता है। यदि उसकी जन्म-जात बुद्धि प्रखर है, तो वह परिश्रम करके कक्षा में उच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। परन्तु इस बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसके भावों का विकास नहीं होता। वह दूसरे बालकों का सहायक न बनकर उनका ईर्ष्यालु बन जाता है। वह अकेला रहना पसन्द करता है। उस अकेलेपन के कारण उसकी काम-वासना विकसित होकर रचनात्मक सामाजिक कार्यों का रूप न धारण कर काम-कुटेवों का रूप धारण कर लेती है। कभी-कभी ऐसा व्यक्ति, जिसे अपने अभिभावकों से प्रेम नहीं मिला, अन्य बालकों से प्रेम प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इस प्रेम के प्रगाढ़ होने पर वह वासना-युक्त हो जाता है। इस प्रकार के अनैतिक प्रेम

और काम-कुटेवों की भर्त्सना बालक की नैतिक बुद्धि करती है। इस प्रकार नैतिक भर्त्सना से बालक में मानसिक दौर्बल्य आ जाता है। वह अपने आपको व्यभिचारी, पापी और निकम्मा समझने लगता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है। ऐसी अवस्था में कोई काम-व्यवहार-संबंधी ऐसी पुस्तक पढ़ ली जाय, जो उसके परिणामों को भयानक रूप से चित्रित करे; तो उस पुस्तक के विचार दुर्निर्देश बनकर बालक के जीवन में वे सभी शारीरिक एवं मानसिक विकार उत्पन्न कर देते हैं, जिनका चित्रण पुस्तक में रहता है। बालकों की भलाई की दृष्टि से लिखी 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' जैसी पुस्तकें किशोर बालकों को जितनी हानि पहुँचाती हैं, सम्भवतः और कोई दूसरी बात उतनी नहीं पहुँचाती। काम-कुटेव के दुष्परिणामों को काना-फूसी से सुनने पर भी मन पर वैसा ही असर होता है, जैसा कि ब्रह्मचर्य ही जीवन जैसी पुस्तक-द्वारा होता है। इस प्रकार के विचारों से एक ओर बालक की विकृत काम-प्रवृत्ति का दमन होता है; किन्तु दूसरी ओर यही प्रवृत्ति विक्षिप्त अथवा निरर्थक चिन्ता का रूप धारण कर लेती है। यह चिन्ता अपने आपको सार्थक बनाने के लिए किसी शारीरिक क्षोभ अथवा किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक कमी के रूप में रूपांतरित हो जाती है। अब व्यक्ति अपनी पुरानी बात को भूल जाता है और उसे इस कल्पित कमी की चिंता होने लगती है। इस प्रकार दमित वासना और दमित प्रेम के व्यक्ति वर्षों तक हृदय के रोग, पेट का शूल, सिर-दर्द, सिर चकराना और काँव-काँव का शब्द सुनना आदि रोगों से पीड़ित रहते हैं।

रूपान्तरित चिन्ता और सिर की पीड़ा

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य के प्रेम की भूख किसी प्रकार की विकृत्त काम-प्रवृत्ति के रूप में प्रकट होती है और जब व्यक्ति की नैतिक बुद्धि के कारण उसका भी दमन होता है, तब वह अनेक प्रकार की चिंताओं का कारण बन जाती है। इन चिंताओं के प्रकट होने का एक रूप सिर की पीड़ा होती है। जिन महिलाओं को अपने पति का समुचित प्रेम नहीं मिलता, उन्हें इस प्रकार की सिर-पीड़ा हो जाती है।

यह एक प्रकार का रूपान्तरित हिस्टीरिया है। इन महिलाओं का स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है और उन्हें घर के कामों में किसी प्रकार का आनंद नहीं आता। जिन लोगों को अपना अधिक समय घर के बाहर व्यतीत करना पड़ता है और कार्याधिक्य के कारण अपनी पत्नियों से वार्तालाप का अवसर नहीं मिलता, उनको सिर की पीड़ा प्रायः हो जाती है। सन्तान-निग्रह के उपायों को काम में लानेवाले व्यक्तियों को भी सिर की पीड़ा होती है। इस प्रकार की पीड़ा डाक्टरी इलाज से नहीं जाती।

इस प्रकार की पीड़ा कभी-कभी किशोर बालकों को भी होती है। जिस बालक को पहिले पिता का पर्याप्त प्रेम मिला हो; किन्तु पीछे उसकी माँगों की अवहेलना और बात बात में अभिभावकों-द्वारा आलोचना हो, उसे भी सिर की पीड़ा हो जाती है। पिता के व्यवहार में इस प्रकार का परिवर्तन बालक की माँ की मृत्यु के बाद सौतेली माँ के आने पर हो जाता है। बालक की मानसिक अवस्था से अनभिज्ञ व्यक्ति बालक के सिर-दर्द का कारण कभी-कभी उसकी आँखों की कमजोरी में खोजते हैं। जिन किशोर बालकों को यापोपिया का रोग होता है, उन्हें चश्मा न प्राप्त होने पर प्रायः सिर-दर्द का रोग हो जाता है। बालक को पढ़ने-लिखने में थकावट जल्द आ जाती है और इस थकावट के कारण उसका स्वभाव चिड़-चिड़ा हो जाता है। इससे बालक को कब्जियत भी हो जाती है। जिन बालकों को वास्तव में अदूरदृष्टि का रोग है, उन्हें चश्मा दे देने पर ये सभी रोग नष्ट हो जाते हैं; किन्तु कुछ बालकों को सिर की पीड़ा आँखों की खराबी के कारण भी होती है। वह उनके जीवन में प्रेम की कमी के कारण होती है। इस प्रकार के प्रेम की कमी का कारण साधारण डाक्टर नहीं समझ सकते। इसके लिए कुशल मनोवैज्ञानिक की आवश्यकता है। जब ऐसे बालकों के आँखों की परीक्षा की जाती है और जब उनकी आँखों में थोड़ा दोष मिलने पर ऐनक दे दिया जाता है, तो उनका रोग नहीं जाता। वे अपने ऐनक बदलते ही रहते हैं। उन्हें कभी ऐनक लगाने पर और कभी बिना ऐनक लगाए ही ठीक से दिखाई देता है। इससे उनके सिर की पीड़ा नहीं जाती। ऐसे व्यक्तियों को ठीक से नींद नहीं आती और भयावने स्वप्न होते

रहते हैं। उनका मन किसी काम में नहीं लगता और सब समय वे परेशानी की अवस्था में रहते हैं। उनकी परेशानी का स्थायी रूप सिर की पीड़ा ही होती है। इस प्रसंग में लेखक के उपचार में आया हुआ एक नवयुवक का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है।

एक २३ वर्षीय नवयुवक को छह वर्षों से सिर की पीड़ा थी। इस पीड़ा के उपचार के लिए उसने अनेक यत्न किए। डाक्टरों ने सिर की पीड़ा का कारण आँखों की कमजोरी को समझा और उसे चश्मा लगाने की सलाह दी। परन्तु इससे भी सिर की पीड़ा ठीक नहीं हुई। उसे नींद भी कम आती थी। छोटी-सी भूल करने पर भी उसे बड़ी आत्म-भर्त्सना होती थी। इसे भोजन भी ठीक से नहीं पचता था। अपने रोग से मुक्ति के लिए उसने प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग किया। एक-दो साल तक वह इसमें लगा रहा, परन्तु उसका रोग नहीं गया। फिर उसने योगियों और निर्देश-विधि से मानसोपचार करनेवालों की शरण ली। इससे भी उसको कोई लाभ नहीं हुआ। तब वह अपने सिर की पीड़ा के निराकरण के लिए काशी के एक डाक्टर के पास गया। कुछ दिन चिकित्सा करने के बाद उस डाक्टर ने कहा कि तुम्हारा रोग शारीरिक नहीं, अपितु, मानसिक है। तुम्हें किसी मनोवैज्ञानिक के पास जाना चाहिए। इसके पश्चात् यह व्यक्ति हमारे पास आया।

युवक के बाल्यकाल की भावात्मक घटनाओं की खोज करने पर पता चला कि आठ वर्ष की अवस्था तक वह बड़े ही लाड़-प्यार से पला था। इस समय तक उसकी माँ जीवित थी। जब उसकी माँ मर गई, तब कुछ काल तक उसे पिता के सहारे ही रहना पड़ा। इसी समय से उसके दुःख का आरम्भ हुआ। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। घर में सौतेली माँ के आने पर पुत्र के प्रति पिता का प्रेम कम हो गया और अनेक प्रकार से उसकी आलोचना होने लगी। पिता के इस प्रकार की आलोचना के संस्कार लड़के के मन में बैठते गए। जब यह लड़का इन्टर-मीडिएट क्लास में पढ़ रहा था, तब उसने पिता से कुछ विशेष खर्च के लिए घर से पैसे मँगाए। पिता ने रुपए की कमी बता कर उसे पैसे

नहीं भेजे। किन्तु इसी समय उसने लड़के की सौतेली माँ के लिए बहुत से पैसे निरर्थक कार्य में खर्च किए। पिता के इस व्यवहार से लड़के को बहुत क्रोध आया और उसने निश्चय किया कि अपनी पढ़ाई में वह पिता से कोई सहायता न लेगा। अब यह युवक क्लर्क की नौकरी करके प्राइवेट परीक्षाएँ देने लगा। इस समय वह कुछ सामाजिक कार्य भी करता रहा। परन्तु सिर की पीड़ा के कारण उसको पढ़ाई में अड़चन होती थी। कभी-कभी पुस्तक पढ़ते समय वह देख भी नहीं पाता था। उसे चित्त की एकाग्रता नहीं होती थी। जब इस युवक की सभी भावनाओं को एकाग्रता-पूर्वक सुना और उसे मैत्री-भाव का अभ्यास कराया गया, तो उसके सिर की पीड़ा या आँखों और पाचन-शक्ति के दोष जाते रहे। उसे नींद भी आने लगी और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा को पास कर अब वह उच्च कोटि का सरकारी अधिकारी हो गया है। विवाह होने के बाद से अब वह पूर्ण स्वस्थ है।

एक दूसरा उदाहरण एक सम्पन्न घर की महिला के सिर की पीड़ा का है। यह महिला पढ़ी-लिखी है। उसके पति भी विद्वान् व्यक्ति हैं। पहिले ये एक कालेज में अध्यापक थे। इनका शील-स्वभाव पहिले से ही बहुत अच्छा रहा। ये अपनी पत्नी को, जो रूप और शील में बहुत ही योग्य है, प्रारम्भ से ही प्यार करते थे। जब इन्हें एक दुकान मिल गई, तो अपने व्यापार को सफल बनाने के लिए उन्हें दिन - रात काम करना और व्यापार के विषय में चिन्ता करनी पड़ती थी। वे प्रायः आठ बजे घर से दुकान पर जाते और ग्यारह बजे रात को लौटकर आते। दिन का भोजन वे दुकान में ही करते थे। उन्हें अपने परिवार की ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नहीं रहती थी। एक साल तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत होने पर इनकी पत्नी को मानसिक बेचैनी, अपच और सिर की पीड़ा हो गई। यह पीड़ा किसी प्रकार के उपचार से नहीं जाती थी। इस प्रकार के रोग की समाप्ति महिला के प्रति पति के ध्यान देने और परिवार तथा घर में अपना समय ठीक से व्यतीत करने पर हो गई। जब किसी ऐसे व्यक्ति के प्रेम की भूख की अवहेलना होती है, जो हमसे प्रेम की आशा

करता है, तो पहिले तो वह चिन्ताग्रस्त होता है, पर पीछे वह किसी शारीरिक रोग से पीड़ित हो जाता है। इस तरह वह हमारे ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कराता है।

रूपान्तरिक चिन्ता, दमा और हृदय-रोग

रूपान्तरित चिन्ता प्रायः हृदय का रोग बन जाती है। यदि किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति किसी व्यक्ति को प्रबल वासना-युक्त प्रेम की अनुभूति हो और अपनी नैतिकता या समाज-द्वारा इसका दमन हो, तो पहिले तो उसे अकारण चिंता होती है और फिर यही चिन्ता हृदय का रोग बन जाती है। हृदय का यह रोग प्रारम्भ में मानसिक ही रहता है। इस समय इसे मानसोपचार-द्वारा ठीक किया जा सकता है, किन्तु यह रोग यदि बहुत दिनों तक बना रहा; तो उसे शारीरिक रोग भी हो जाता है। देर तक ठहरनेवाली चिन्ता दमा, क्षय और हृदय का रोग उत्पन्न करती है। पहिले ये रोग मानसिक ही रहते हैं। इस अवस्था में डाक्टर लोग इसके वास्तविक कारण को नहीं जान पाते। परन्तु डाक्टरों के लाख आश्वासन देने पर भी कि उन्हें हृदय-रोग, क्षय या दमा नहीं है, उन्हें सच्चे रोगी जैसी ही वेदना होती है। यदि इन रोगियों के रोग की मानसिक चिकित्सा नहीं हुई और उसकी भौतिक चिकित्सा ही कराई गई, तो उन्हें स्थायी शारीरिक रोग हो जाता है।

यहाँ क्रियात्मक (फंक्शनल) और स्नायविक (आरगेनिक) रोग के भेद और उनके आपस का सम्बन्ध बताना नितान्त आवश्यक है। स्नायविक रोग वैद्यक और डाक्टरी उपचार-विधि से अच्छे हो सकते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा भी ऐसे ही रोगों में लाभ पहुँचाती है। क्रियात्मक रोगों में उपयुक्त किसी प्रकार के उपचार से लाभ नहीं होता। ये रोग मानसिक विकार से उत्पन्न होते हैं और जब तक मानसिक विकार का रेचन नहीं होता, तब तक वे नहीं जाते हैं। मानसिक विकार पहिले तो चिन्ता बनता है, फिर वह शारीरिक रोग का रूप ले लेता है। प्रारम्भ में यह शारीरिक रोग क्रियात्मक ही होता है, परन्तु जब उसका शारीरिक उपचार होने लगता

है, तो वह वास्तव में शारीरिक रोग बन जाता है। कुछ डाक्टरों का मत है कि क्रियात्मक रोग कोई शारीरिक विकार नहीं होता। शारीरिक रोग केवल स्नायविक रोग में ही होता है। यह विचार भ्रमात्मक है। डाक्टर विलियम ब्राउन के कथनानुसार प्रत्येक क्रियात्मक (फंक्शनल) रोग में शारीरिक विकार इतना सूक्ष्म रहता है कि उसे साधारण दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। स्नायविक रोग में होनेवाले शारीरिक विकार को साधारण दृष्टि से पहिचाना जा सकता है। दोनों प्रकार के रोगों में मौलिक भेद यह है कि जहाँ क्रियात्मक-रोग में शारीरिक विकार विचारों-द्वारा सरलता से सुधारे जा सकते हैं, वहाँ स्नायविक रोग इतनी सरलता से नहीं सुधारा जा सकता। * रूपान्तरित चिन्ता दमा में किस प्रकार परिणत हो जाती है इसका एक शिक्षा-प्रद उदाहरण लेखक के देखने में आया। लेखक के एक परिचित व्यक्ति की पत्नी को आज बीस वर्षों से दमा का रोग है। यह रोग इन व्यक्तियों के विवाह के तीन वर्ष बाद से ही प्रारम्भ

---

* "It is customary to classify disease of the body into functional & organic, & the distinction is that an organic disease implies an alteration of the structure, while a functional disease emplies merely a disturbance of function without such structural alteration. That distinction, however, is inadequate. There can be no merely functional disease. If there is an alteration of function, it is associated with some alteration of structure, if not visible to the naked eye, then mycroscopic or ultra-mycroscopic in character.........It is a matter of the extent to which the disease has gone.........In so called functional disease the structural change is a kind of reversible process, where as the structural change in organic nervous disease is an irreversible, Physical, Chemical and biological process."

—Brown, Psychology & Psychotheraphy; P. 128.

हो गया था। इस रोग के उपचार के लिए कई बार डाक्टरी इंजेक्शन लगाए गए। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया, तैसे-तैसे उक्त स्त्री का रोग बढ़ता ही गया। साथ ही देखा गया कि इस महिला का स्वभाव बड़ा ही हठी, चिड़चिड़ा और आलोचक बन गया था। वह दिन भर अपने घर की सफाई करती रहती थी। जब बच्चे छोटे थे, तो वह घर की सफाई के कार्य से अपने को इतना थका देती थी कि रात बेचैनी से कटती थी। जब बच्चे बड़े हुए, तो यह बच्चों को दिन भर सफाई के काम में लगाए रहती थी। इस प्रकार बच्चों को सदा त्रास में रखने के कारण उसके पति को दुःख होता था और उसी कारण घर में झगड़ा भी होता था।

इस रोग का कारण जानने से पता चला कि इस महिला के दाम्पत्य प्रेम की भूख तृप्त नहीं हुई। जब यह महिला विवाहित होकर आई थी, तब उसकी जेठानी उसके पति के पास ही रहती थी। यह जेठानी उससे बहुत ईर्ष्या करती एवं बात-बात में उसके कामों की आलो-चना करती थी। अपनी भौजाई के वश में रहने के कारण पति भी अपनी स्त्री के रूप और शील में अनेक प्रकार के दोष देखने लगा। वह अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट था, परन्तु इस असंतोष को वह प्रकट नहीं करता था। उसकी भौजाई अपनी देवरानी के सामने ही कभी-कभी कह देती थी कि उसकी देवरानी को अभी तक बच्चे नहीं हुए, अतएव देवर का दूसरा विवाह किया जायगा। ऐसी बातों को सुनकर यह स्त्री जल-भुनकर खाक हो जाती, पर वह अपने क्रोध को प्रकट न कर पाती थी। पति के प्रति असंतोष ने उसके मन में स्थायी रूप धारण कर लिया। इस प्रकार उनका दाम्पत्य-जीवन दुःखी हो गया। पति संतान की वृद्धि नहीं चाहते थे। अतएव वे एक-दो साल के बाद ही संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाने लगे। इसी समय से इस महिला को दमा का रोग शुरू हो गया। थोड़े समय के लिए यह रोग तब-तक कम रहा, जब तक पति ने संतान-निग्रह के उपायों को छोड़ दिया था और स्त्री गर्भवती हो गई थी तथा जब तक उसके बच्चे की उम्र छोटी रही। जब बच्चा दो वर्ष का हो गया, तब रोग फिर से शुरू हो गया।

जिस प्रकार दमित प्रेम चिन्ता बनकर दमा का रूप ले लेता है और फिर रोगी इस रोग के विषय में चिन्तित रहता है; उसी प्रकार दमित प्रेम हृदय-रोग का रूप भी ले लेता है। यह अविवाहित और विवाहित दोनों प्रकार के व्यक्तियों को होता है।

दाम्पत्य-प्रेम का अन्तिम हेतु संतानोत्पत्ति और उनका सुचारु रूप से लालन-पालन करना ही है। जिन दम्पति में घनिष्ठ प्रेम-भाव नहीं होता, उन्हें संतान भार-रूप दिखाई देती है। वे संतान की वृद्धि नहीं चाहते और इसीलिए संतान-निग्रह के उपायों को भी काम में लाते हैं। इस प्रकार वे अपना जीवन अप्राकृतिक रूप से व्यतीत करने लगते हैं। इसीके कारण उन्हें प्रायः हृदय का रोग हो जाता है। यह रोग सम्पन्न अथवा अच्छे पढ़ेलिखे लोगों को अक्सर इसलिए होता है कि ऐसे लोग संतान-निग्रह के उपायों को अधिकतर काम में लाते हैं।

लेखक के एक परिचित व्यक्ति को कुछ साल पूर्व हृदय का रोग हो गया था। कुछ डाक्टरों ने इसे शारीरिक रोग बताया। परन्तु इस रोग के विशेषज्ञों ने बताया कि उनका यह रोग सर्वथा काल्पनिक है। उन्हें कोई शारीरिक रोग नहीं है। किन्तु इससे उनके हृदय-रोग का भ्रम नहीं गया। इस रोग के कारण को जानने से पता चला कि वे कई वर्षों से संतान-निग्रह के उपायों को काम में ला रहे हैं। अपनी पत्नी के प्रति वे बड़े सौज-न्य का व्यवहार करते हैं। परन्तु उनका भीतरी जीवन संतुष्ट नहीं है।

एक दूसरे व्यक्ति को कई वर्षों से हृदय का रोग था। इनकी काम-वासना अतृप्तावस्था में ही रही। उनकी पत्नी पहले तो रूपवान नहीं हैं और दूसरे वह अपने पति से सदा झगड़ा ही किया करती है। पति समाज में एक बड़े ही सदाचारी व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु उनकी पत्नी उन्हें व्यभिचारी ही मानती रही। एक बार उसने समाज में यह प्रकट कर दिया कि उसके पति एक विशेष युवती से प्रेम करते हैं। इससे इस व्यक्ति को भारी क्लेश हुआ। परन्तु इससे उनका हृदय का रोग घट गया। मनुष्य को सभी प्रकार के रोग अपने अन्तर्मन की वस्तुस्थिति को छिपाने के कारण होते हैं। रोग का नैसर्गिक उपचार इस वस्तुस्थिति का समाज में प्रकाशित

होना है। मानसिक चिकित्सा में भी रोगी को अपने अन्तर्मन की भावनाओं की आत्म-स्वीकृति करनी पड़ती है, तभी रोग शान्त होता है। रोग स्वयं ही रोग का नैसर्गिक उपचार है।

प्रेम के दमन से मनुष्य को पहिले तो अकारण चिंता होती है फिर यह चिन्ता किसी कल्पित शारीरिक कमी पर आरोपित हो जाती है। हृदय के उपर्युक्त रोगों के समान ही फिशर द्वारा दिया गया निम्नलिखित हृदय के रोग का उदाहरण उपर्युक्त सिद्धान्त को स्पष्ट करता है।

हेलेन नाम की एक ३६ वर्षीय स्वस्थ महिला को वर्षों से हृदय की धड़कन बढ़ जाने का रोग था। इसकी हृदय की धड़कन इतनी बढ़ जाती थी कि इसके कारण उसे घर का सभी काम-काज छोड़कर अपना सभी समय पढ़ने में व्यतीत करना पड़ता था। उसका कथन था कि वह थोड़ा सा भी घर का हल्का काम नहीं कर सकती, उसके पति ने उसकी मदद के लिए एक नौकरानी लगा दी थी और घूमने के लिए एक मोटरगाड़ी रख दी थी। परन्तु वह इन सब चीजों का फायदा नहीं उठाती थी, वह आराम-कुर्सी पर बैठी-बैठी पढ़ा करती थी। उसकी दिल की धड़कन विलक्षण थी, जब वह आराम से बैठी रहती थी तब भी वह १४० अंश तक बढ़ जाती थी। कई डाक्टरों के द्वारा उसके हृदय की भलीभाँति परीक्षा कराई गई और उसमें कोई भी रोग नहीं पाया गया परन्तु डाक्टरों के यह कहने से कि उसका हृदय पूर्ण स्वस्थ है—उसे कोई भी चैन नहीं मिलती थी। उसके मन में दृढ़ विश्वास जम गया था कि उसके हृदय पर भारी चोट लगी है।

इस महिला को वास्तविक हृदय की चोट थी ही जिसे भौतिक उपचार करनेवाले डाक्टरों का समझना अत्यन्त दुष्कर था। उसका रोग तब तक नहीं गया जब तक कि कुशल मनोवैज्ञानिक ने उसके मन का विश्लेषण करके रोग के कारण को नहीं जाना और उसकी दबी हुई वेदना का रेचन करके उसे अपनी स्नेहयुक्त सांत्वना से सुखी नहीं बनाया। वास्तव में जिस प्रकार भौतिक रोग को पहिचानकर भौतिक चिकित्सक को मलहम-पट्टी करनी पड़ती है उसी प्रकार मानसिक चिकित्सक को मानसिक रोग

को खोजकर उसकी मलहम-पट्टी करनी पड़ती है। मानसिक रोग की जड़ को खोजना भौतिक रोग की जड़ को ढूँढ़ने से कहीं अधिक कठिन कार्य है। फिर जहाँ भौतिक घाव के उपचार के लिए मलहम आदि की आवश्यकता होती है वहाँ मानसिक रोग के उपचार के लिए चिकित्सक के प्रेम से भरे शब्दों की आवश्यकता होती है।

उपर्युक्त महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि जब सोलह वर्ष की अवस्था में उसका पहिला विवाह हुआ था तब वह गर्भवती थी। उसके विवाह के छः मास बाद ही उसे बच्चा हुआ। इस बच्चे को महिला की माँ ने अपने पास रखना उचित नहीं समझा, अतएव उसे किसी ऐसी जगह दे डाला जिससे बच्चे की माँ का कोई परिचय न था। बच्चा कहाँ दिया गया यह बात बच्चे की माँ को कभी नहीं बताई गई और माँ ने अपने पहिले बच्चे को कभी नहीं देखा। इसी बच्चे के जन्म के एक वर्ष पश्चात् इस महिला को दूसरा बच्चा हुआ। यह महिला अपनी माँ के पास रहती थी और इस बच्चे को अभद्र न समझकर महिला की माँ ने बच्चे ही के माँ के पास रहने दिया।

इस महिला का यह पहला पति शराबी, जुआखोर और दुराचारी था। वह विवाह के कुछ दिनों पश्चात् ही अपनी पत्नी को पीटने लगा। इस स्त्री ने इस प्रकार प्रेमशून्य जीवन में इस पति के साथ पन्द्रह वर्ष बिताए फिर उसने परेशान होकर पति से तलाक ले लिया। इस महिला के हृदय की धड़कन का अनुभव उसके दूसरे बच्चे के होने के समय से ही होने लगा था। तलाक के बाद यह धड़कन बहुत ही बढ़ गई। तलाक के कुछ समय बाद उसने एक बहुत ही दयालु, सदाचारी और सम्पन्न व्यक्ति से विवाह किया। परन्तु इससे भी उसके हृदय का रोग नहीं गया। पति ने उसकी भौतिक चिकित्सा कराई परन्तु इससे भी रोग कम नहीं हुआ। अन्त में उसने एक कुशल मानसिक चिकित्सक की शरण ली। इस समय उसने अपनी सभी विस्मृत अनुभूतियों को मानसिक चिकित्सक से कहा। इस महिला के दो बच्चे हो चुके थे परन्तु उसके पहिले पुत्र का ज्ञान उसके दूसरे पति को बिल्कुल न था। वह समझता था कि उस महिला को

दूसरे विवाह के पहिले एक ही पुत्र हुआ है। यह मानसिक चिकित्सक पहिला व्यक्ति था, जिससे उक्त महिला ने अपने पहिले बच्चे के जन्म की बात कही और यह बताया कि किस प्रकार उसका पहिला बच्चा उससे छीन लिया गया था इससे उसे बड़ा ही दुःख हुआ था परन्तु वह उसे कड़वी घूँट बनाकर पी गई थी। अपने पहिले पति से उसने इस सम्बन्ध में कभी बातचीत नहीं की थी और दूसरे पति को तो इस तरह की घटना का कोई ज्ञान ही न था।

जब इस महिला के जीवन की उपर्युक्त घटनाएँ उसकी चेतना पर आईं और चिकित्सक द्वारा उसे अनेक प्रकार की सान्त्वना मिली तो उसका रोग जाता रहा। यह महिला वास्तव में प्रेम की भूख से पीड़ित थी। वह अपने पहिले बच्चे के विषय में चिंतित रहती थी; परन्तु उसकी स्मृति सदा मन में बना रहना उसे अत्यन्त दुखद था। यह स्मृति आत्मग्लानि और लज्जा से भरी हुई थी। सम्भवतः उसका पहिला पति अपने इस पुत्र को अपना पुत्र न मानकर व्यभिचार का ही पुत्र मानता, अतएव यह महिला अपने इस बच्चे को अपने पास रखने का आग्रह भी न कर सकी। परन्तु पुत्र के जन्म का कारण चाहे जो कुछ हो, उसकी जुदाई से माँ का मन दुःखी तो होता ही है। माँ को बरबस अपने इस दुख औ उसकी स्मृति को भुला देना पड़ा। इस प्रकार की स्मृति उसके आत्म सम्मान अथवा सम्मानित व्यक्तित्व की विनाशक थी। अपनी वेदनायुक्त स्मृति को भुलाने के कारण ही इस महिला को हृदय की धड़कन क रोग हुआ। यह रोग तब तक बना रहा जब तक कि मनोवैज्ञानिक क सहायता से दबे मानसिक भाव का रेचन नहीं हुआ।

हृदय की धड़कन के रोगी के बारे में देखा गया कि रोगी क सामान्यतः कोई चिन्ता नहीं सताती। यदि उसे कोई चिन्ता होती है त अपने हृदय की धड़कन के विषय में ही। इस प्रकार की चिन्ता मूल चिन्ता नहीं है। यह चिन्ता वास्तविक चिन्ता का आवरण मात्र होत है। इस प्रकार की चिन्ता का अन्त वास्तविक चिंता का ज्ञान होने प हो जाता है। मनुष्य का मन सभी प्रकार की परिस्थितियों में अपने आपक

सम्हालने की क्षमता रखता है। मनुष्य तब तक अपने आपको सम्हालने में असमर्थ रहता है जब तक कि वह सच्ची परिस्थिति को न पहिचानकर उसके आवरण से ही झगड़ता रहता है। अपने प्रेमी के वियोग से सभी लोगों को भारी चिन्ता होती है। वे हृदय का सूनापन अथवा हृदय की पीड़ा का अनुभव करते हैं। यदि इस प्रकार की हृदय की वेदना को वह अपने से सहानुभूति रखनेवाले किसी व्यक्ति से प्रगट करता रहे तो उसका रोग हल्का हो जाता है। कहा जाता है कि उसका दुख बँट जाता है। परन्तु जब दुःखद घटना के साथ कोई ऐसी बात जुड़ी रहती है जिससे मनुष्य के स्वाभिमान अथवा नैतिक भावना को ठेस पहुँचती है तो वह अपनी इस वेदना को किसी के सामने प्रकट करने में लजाता है। वह अपना दुःख अपने ही पास रख लेता है। फिर वह दुःख की स्मृति भी भुलाने की चेष्टा करता है। जब मनुष्य की वेदनायुक्त अनुभूतियों की स्मृति उसके गम्भीर अचेतन में चली जाती हैं तभी उसे मानसिक रोग होता है। यह रोग असह्य होनेपर शारीरिक रोग के रूप में प्रगट होता है। यह शारीरिक रोग भी अपने आपको अर्थात् अपनी लज्जा अथवा शोकयुक्त अनुभूतियों को विस्मृत करने की चेष्टा का परिणाम होता है। मानसिक रोग से कभी-कभी रोग के वास्तविक कारण का पता लग सकता है। इस कारण से मनुष्य का चेतन मन बहुत ही ज्यादा डरता है। अतएव अनेक प्रकार के आवरण लेकर मनुष्य का अचेतन मन चेतना के समक्ष आता है। इस प्रकार के रूपान्तरण द्वारा दमित वेदना थोड़ी दूर तक प्रकाशित होती है। मनोविश्लेषण के द्वारा इसका पूर्णतः प्रकाशन होता है। परन्तु यह कार्य सरल नहीं है। मनोविश्लेषण का विरोध स्वयं व्यक्ति का चेतन मन करता है। इससे मनोविश्लेषण में बहुत सा समय लग जाता है। जब रोगी बहुत काल तक अपने रोग में पड़ा रहता है और वह उस रोग से ऊब जाता है तभी रोगी का मन चिकित्सक का पूरा साथ देता है और ऐसे रोगी की चिकित्सा शीघ्रता से हो जाती हैं। दीर्घ कालतक पीड़ा सहनेवाले व्यक्ति का अनेक प्रकार का अभिमान कम हो जाता है और उसे अपने अभिमान को धक्का लगानेवाले बातों की

आत्म-स्वीकृति करना सरल हो जाता है।

चिन्ता से पीड़ित प्रत्येक व्यक्ति का पहले से ही अपने आपके विषय में अभिमान बढ़ा-चढ़ा रहता है। वह अपने आपको एक अच्छे अथवा सम्मानित नैतिक व्यक्ति के रूप में मानता है। जब ऐसे व्यक्ति के मन में किसी आवेगात्मक स्मृति का दमन होता है तभी चिन्ता का जन्म होता है। यह स्मृति मनुष्य की उस प्रवृत्ति से सम्बन्धित रहती है जिसके कारण उस व्यक्ति के जीवन में लज्जास्पद घटना घटित हुई। भूली हुई आवेगात्मक घटना ही चिन्ता बन जाती है। यह घटना अनैतिक अथवा लज्जास्पद होती है। इसमें प्रायः कामवासना का दमन होता है।

जो महिलाएँ अपने अविवाहित जीवन के बच्चे को इधर-उधर कर देती हैं और इस बच्चे के प्रति अपना मोह भुलाने की चेष्टा करती हैं उनकी बच्चों को प्यार करने की शक्ति ही कम हो जाती है। जो लोग अपनी अविवाहित प्रेयसी को असामाजिक सम्बन्ध होने के कारण भुलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें अपनी विवाहित पत्नी से भी सहज प्रेम नहीं होता। इसी कारण उनका विवाहित जीवन बड़ा दुखी हो जाता है। ऐसे ही लोगों को अकारण चिन्ताएँ और कल्पित शारीरिक रोग सताते रहते हैं। जब इस प्रकार के रोग से पीड़ा पाते-पाते उन्हें अपनी न्यूनता का अनुभव होने लगता है तभी अपनी भूलों को स्वीकृति का समय आता है और इसी समय आत्म-समन्वय स्थापित होता है। जब मनुष्य के अहंकारयुक्त मन और उसकी दमित प्रवृत्ति में समन्वय स्थापित हो जाता है तो रोग की समाप्ति हो जाती है।

दमित चिन्ता और हकलाहट

हकलाहट एक बड़ा ही जटिल रोग है। इसके कुछ कारण शारीरिक, कुछ मानसिक और कुछ सामाजिक होते हैं। परन्तु यह रोग प्रधानतः मानसिक है। हकलाहट का मूल कारण व्यक्ति की भावात्मक घटना को धक्का लगना है। प्रत्येक हकलानेवाला व्यक्ति अपने भावों को प्रगट करने

में पहिले पहल एक ही व्यक्ति के सामने घबड़ाहट और हकलाने का अनुभव करना है। फिर वह सभी लोगों के सामने घबड़ाने और हकलाने लगता है। हकलाहट के प्रारंभ होने का एक अच्छा उदाहरण फिशर की इन्ट्रोडकशन टू एबनारमल साइकालोजी में पाया जाता है। एक कालेज का विद्यार्थी पाँच वर्ष की अवस्था से हकलाता था। वह कभी-कभी अच्छी तरह बोलता और कभी-कभी अधिक हकलाने लगता था। इस रोग का प्रारंभ तब से हुआ जब वह अपनी शैशवावस्था में शहर की एक गली में खेल रहा था। यहाँ कुछ गरीब लोग रहते थे। यहाँ दो व्यक्ति एक दूसरे से गाली गलौज करने लगे और हाथा-पाही की नौबत आ गई। फिर एक व्यक्ति ने दूसरे का कान काट लिया जिससे यह बालक बहुत डर गया और घबड़ाहट में वह अपनी माँ से यह घटना कहने गया। परंतु जब वह घटना कह रहा था तभी उसे हकलाहट शुरू हो गई और फिर वह अपनी बीस वर्ष की अवस्था तक हकलाता ही रहा।

इस विषय में हमारे यहाँ उपचार पानेवाले हकलाहट के रोगियों के अनुभव उल्लेखनीय हैं। केशर बहादुर सेठ नायक एक कालेज का विद्यार्थी अपनी छः वर्ष की अवस्था से हकलाता था। उसने अपनी हकलाहट सुधारने के लिए कई प्रकार के प्रयास किए। किन्तु उसकी हकलाहट नहीं गई। उसके मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन से पता चला कि इस रोग का कारण एक ऐसे भय का भाव था जिसकी स्मृति को रोगी भुला चुका था। हकलाहट का प्रारंभ रोगी के शब्दों में ही निम्न प्रकार है—*

'मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैं लगभग छः वर्ष का था हमारे खिलाने के लिए एक नौकर रखा गया था। एक नहीं, कई दिन वह खेल-वाड़ में खाली उँगली दिखाकर या चाकू हाथ में लिए हुए कहता कि 'देखो मैं तुम्हारी नूनी (जननेंद्रिय) काट लूँगा।' चार पाँच दिन तक उसने सचमुच में अपनी जेब से चाकू निकाला और जब वह उसे मेरे सामने लाता तो मेरा होश-हवाश गुम हो जाता। मैं कुछ बोल नहीं सकता

---

* मनोवैज्ञानिक संजीवनी पृष्ठ ३०

था। अत्यंत डर के मारे साँस ऊपर खींचते हुए माँ-माँ करके रह जाता था। लगभग आध मिनट के बाद कुछ शांत होने पर मैं रोने लगता। वह रोने भी नहीं देता था। नौकर के अलावे घर में जो नौकरानी और बुकवा लगाने वाली आती थीं वे भी नानाजीके सामने प्रायः नूनी काट लूँगी कहा करती थीं और कभी नूनी पकड़ भी लिया करती थीं। इस पर मैं चिहुक उठता था। कहाँ छः सात वर्ष का कोमल दिल और दिमाग और कहाँ इस तरह के खेलवाड़! ये खेलवाड़ हर वक्त मुझे भयभीत कर देते थे और मेरे हृदय की गति तीव्र हो जाती थी। जब मैं बड़ा हुआ तो मुझ में ईर्ष्या, क्रोध और बदला लेने की भावना आई। मुझमें बचपन से ही चिड़चिड़ापन बहुत था। बहुत कम दिन ऐसे बीते होंगे जब मैं रोया न होऊँ। जैसे-जैसे मैं बड़ा होता गया साथियों से मेरी शत्रुता बढ़ती गई। बाहर तो क्या, यह वैर घर में चाचियों से भी हो गया। फिर चौदह वर्ष की अवस्था में अनेक प्रकार के यौन विकार आए। इससे आत्म-भर्त्सना उत्पन्न हुई। इससे भी हकलाहट बढ़ी। मैं शरीर से दुबला पहले से ही था और हकलाहट के समय तक दुर्बल बना ही रहा।'

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि हकलाहट का रोग भय के भाव के दमन के कारण उत्पन्न हो जाता है। अपने दमित भय के प्रकाशन में जब व्यक्ति को रुकावट होती है तब वही भय मानसिक चिन्ता और हकलाहट का रूप ले लेती है। कभी-कभी काम-चेष्टा के अथवा कल्पित दुराचरण के लिए जब बालक के अभिभावक छोटे बच्चे को अत्यधिक डाँट देते हैं तब भी बालक को हकलाहट का रोग हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक के उपचार में आए हुए एक युवक का निम्नलिखित अनुभव उल्लेखनीय है—

युवक जब चौदह साल का था तब वह अपने साथियों के साथ पत्ते खेल रहा था। उसके बड़े भाई बच्चे पर कठोर अनुशासन रखते थे, परन्तु वे उसे प्यार भी करते थे। वह उनसे चुराकर पत्ते खेलता था। यह बच्चे आपस में हँसी मजाक भी कर रहे थे। बड़े भाई ने इस स्थिति में छोटे भाई को देख लिया और न केवल उसे डाँटा-डपटा वरन् बहुत पीटा और

उसे गन्दी गालियाँ भी दी। तब से यह बालक अपने बड़े भाई से डरने और घृणा करने लगा। इस घृणा के कारण जब कभी बड़ा भाई घर में आता तो प्रायः बालक सो जाया करता था। घर से बाहर जाना तो कठिन हो ही गया था। वह तभी से हकलाने लगा और बड़े भाई से बोलते समय विशेष प्रकार से हकलाता था। जब यह व्यक्ति हकलाता था तब उसका बड़ा भाई कहता था कि अपनी पाप की भावना के कारण वह बोलने में घबड़ा रहा है। कुछ काल बाद यह पूरी घटना भूल गई, परन्तु उसका हकलाहट का रोग एक प्रकार से स्थायी हो गया। यह रोग तब तक नहीं गया जब तक उसकी पुरानी स्मृति जाग्रत नहीं हुई और उसके दमित भावों का रेचन नहीं हुआ।

मनोविज्ञानशाला द्वारा लाभान्वित एक दूसरे व्यक्ति के कथन से भी उपर्युक्त सिद्धान्त का समर्थन होता है। यह व्यक्ति अपने पुराने अनुभव के बारे में लिखता है—

"मेरे भाई साहब बचपन से लेकर १९४२ तक (छः वर्ष की अवस्था से लेकर २० वर्ष की अवस्था तक) बहुत डाँटते रहे। मेरी भावना है कि मेरे मनोभावों का बड़ा दमन हुआ। यही कारण है कि मैं अपने अधिकारियों तथा गुरुओं के सामने बोलने से डरता रहा। अधिकारियों के सामने अब मैं बहुधा सम्हल जाया करता हूँ किन्तु भाई साहब के सामने नहीं सम्हल पाता। मैं स्त्री जाति के सामने भी बोलने में कठिनाई का अनुभव करता हूँ। इसका कारण भी मेरे अतीत का कुसंस्कार है। मैं अपने विद्यार्थियों के सामने बोलने में कठिनाई का अनुभव नहीं करता।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि हकलाहट का रोग आत्म-प्रकाशन की अथवा स्नेह की प्रवृत्ति के प्रकाशन में अवरोध के कारण उत्पन्न होता है और जब इन प्रवृत्तियों के प्रकाशन का पर्याप्त अवसर मिल जाता है तो हकलाहट अपने आप कम हो जाती है। हकलाने वाले व्यक्तियों को अभिभावकों और समाज का प्रबल भय रहता है। यह भय समझाने-बुझाने से नहीं जाता क्योंकि यह उनके अचेतन मन में घर कर लेता है। बहुत से हकलाने वाले व्यक्ति अकेले में पुस्तकें अच्छी तरह पढ़ लेते

हैं परन्तु जब उनको यह ज्ञान होता है कि उसका पढ़ना कोई दूसरा व्यक्ति सुन रहा है तो वे हकलाने लगते हैं। बहुत से हकलाने वाले बालक बड़ी-बड़ी सभाओं में अच्छी तरह से गा लेते हैं। हकलाना उन्हें बात चीत करते समय ही सताता है।

हकलाने का प्रारंभ किसी ऐसी घटना से होता है जिसे व्यक्ति लज्जावश दूसरे व्यक्ति से नहीं कहना चाहता। यह घटना प्रायः काम-वासना से सम्बन्धित होती है। क्योंकि इसी क्षेत्र में मनुष्य अधिकतर लज्जा की अनुभूति करता है। हकलाने के ऊपरी कारण किसी हकलाने वाले बालक की नकल करना अथवा मियादी ज्वर से देर तक पीड़ित रहना आदि होते हैं। हकलाने वाला व्यक्ति सोचता रहता है कि उसके मस्तिष्क अथवा जीभ में कोई विकार हो गया है। अतएव उसका मानसोपचार भी ठीक से नहीं हो पाता। इसका वास्तविक कारण मनो-भावों पर आघात पहुँचाने वाली घटनाएँ होती हैं जिससे रोगी को समाज का प्रबल भय हो जाता है। जब इस भय के भाव का रेचन हो जाता है तो वह रोग चला जाता है। मनुष्य का भय दमित बन कर चिन्ता बन जाता है। और फिर यही चिन्ता दिल की घबड़ाहट और हकलाहट उत्पन्न करती है। बाद में व्यक्ति अपनी घबड़ाहट और हकलाहट की ही चिन्ता करने लगता है। इस प्रकार की चिन्ता आरोपित अथवा मिथ्या चिन्ता है। इसके शारीरिक उपचार से चिन्ता का मूल कारण नहीं जाता और रोग जैसा का तैसा रह जाता है अथवा एक जगह से हट कर दूसरी जगह चला जाता है। जिस प्रकार दमा एक्जिमा बन जाता है और एक्जिमा दमा इसी प्रकार हकलाहट चिड़चिड़ेपन में अथवा हृदय की धड़कन रूपान्तरित हो जाता है। मूल कारण के पकड़ने और उसके उपचार से रोग शान्त हो जाता है।

न्यूरेस्थेनिया

न्यूरेस्थेनिया का अर्थ स्नायुओं की दुर्बलता है। यह रोग सामान्य जनता में सबसे अधिक पाया जाता है। प्रो० फिशर के अनुसार सामान्य जनता के ७ से ८ प्रतिशत व्यक्ति इस रोग से पीड़ित होते हैं। कुछ मनो-

वैज्ञानिकों के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कभी-न-कभी इस रोग की अवस्था से गुजरता है। परन्तु हम उसी व्यक्ति को न्यूरेस्थेनिया का रोगी कहते हैं, जिसे यह बार-बार हो और बहुत देर तक ठहरे। इस बात में हम इसको तुलना क्षय रोग से कर सकते हैं। न्यूरेस्थेनिया मानसिक क्षय है। जिस प्रकार क्षय रोग अत्यन्त व्यापक रोग है परन्तु थोड़े से लोगों में यह भयानक रूप लेता है, उसी प्रकार न्यूरेस्थेनिया भी एक व्यापक रोग है परन्तु थोड़े ही लोगों में वह अपने वीभत्स रूप में प्रकट होता है।

न्यूरेस्थेनिया एक दूसरी तरह से भी क्षय रोग की तुलना में आता है। जिस तरह से क्षय रोग छुतिहर रोग है और इस रोग से पीड़ित व्यक्ति की कोई भी सेवा नहीं करना चाहता, उसी प्रकार से न्यूरेस्थेनिया भी एक प्रकार से छुतिहर रोग है और इस रोग का शिकार व्यक्ति अपने सेवकों को इतना परेशान करता है कि वे स्वयं उससे ऊबकर उसकी सेवा से अपना जी चुराने लगते हैं। जिस स्त्री के पति को न्यूरेस्थेनिया का रोग होता है, वह अत्यन्त दया का पात्र हो जाती है। वह अपनी पत्नी को अपने किसी-न-किसी दवा के काम में लगाए रहता है और वह उसकी चाहे जितनी सेवा करे, वह सदैव उससे असंतुष्ट ही रहता है। पत्नी के स्वास्थ्य की उसे ईर्ष्या रहती है। यदि वह उसे प्रसन्न मुख देख ले, तो वह जलभुनकर खाक हो जाता है। न्यूरेस्थेनिया के जटिल रोगी अपनी पत्नी को न तो ठीक से भोजन करने देते हैं न ठीक से सोने ही देते हैं। यदि वह भोजन कर रही हो, तो वे बीच-बीच में कह उठते हैं कि हम तो बीमार हैं और ये मौज से भोजन कर रही हैं। यदि पत्नी ठीक से सो रही हो, तो उसे जगा देते हैं और उस पर ताना मारते हैं कि तुम्हें हमारी क्या परवाह है! तुम तो खर्राटे मार कर सोती हो!

न्यूरेस्थेनिया एक तरह से क्षय रोग से भी बुरा रोग है। क्षय रोग के रोगी को उस प्रकार की मानसिक बेचैनी नहीं होती, जैसी न्यूरेस्थेनिया के रोगी को होती है। वह उतना अभागा भी नहीं होता, उसका रोग शारीरिक होने के कारण सब लोगों को दिखाई देता है। अतएव उसके परिचारिकों की सहानुभूति उसके प्रति रहती है। न्यूरेस्थेनिया का रोगी सदा

मानसिक बेचैनी की अवस्था में रहता है। उसे चलने-फिरने में कठिनाई होती है। वह सब समय थकावट का अनुभव करता है और जब सोकर उठता है तो सबसे अधिक थकावट प्रतीत होती है। उसे भूख नहीं लगती और कोष्ठबद्धता रहती है। कभी-कभी उसे भोजन करने के पूर्व या पश्चात् वमन की इच्छा होती है। शरीर के प्रत्येक अंग में, विशेषकर पीठ की रीढ़ में, उसे दर्द होता रहता है। उसे सिर-दर्द होता है। इतना सब होने पर भी डाक्टर लोगों को जब वह दिखलाता है, तो वे यही कह देते हैं कि उसे कोई भी रोग नहीं है। न्यूरेस्थेनिया का रोगी सदा सोचता है कि संसार में मुझसे अधिक कष्ट पानेवाला कोई दूसरा नहीं है और जब डाक्टर यह कह देता है कि तुम्हारा रोग साधारण है, तो वह जल-भुनकर खाक हो जाता है। डाक्टर की बात मानकर उसके सम्बन्धी उसके प्रति बहुत कुछ उदासीन हो जाते हैं। इसे वह अपना दुर्भाग्य समझता है। उसका विश्वास हो जाता है कि कोई ग्रह उसके प्रति वक्र दृष्टि रखे है। इसीलिए उसकी व्याधि को कोई समझ नहीं पाता और उससे सहानुभूति नहीं रखता। कभी-कभी वह यह भी सोचता है कि किसी दुश्मन ने उस पर जादू-टोना कर दिया है और इस टोना को हटाने के लिए वह पंडितों को बुलाता है और कभी-कभी कुछ अनुष्ठान कराने लगता है। परन्तु उसका इसमें भी पूरा विश्वास नहीं रहता। वह पण्डितों को ठग और धूर्त ही समझता है।

न्यूरेस्थेनिया के रोगी का किसी भी व्यक्ति पर विश्वास नहीं होता। उसकी धारणा होती है कि सभी लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं। वह दूसरों से सहानुभूति की आशा रखता है, किन्तु उसे प्राप्त होता है तिरस्कार। न्यूरेस्थेनिया का रोगी सदा अपने बारे में ही सोचा करता है। उसे खाने-पीने के विषय में विशेष प्रकार के परहेज हो जाते हैं। न्यूरेस्थेनिया का एक रोगी न तो एक चम्मच दूध पी सकता था और न मक्खन या घी ही खा सकता था। यह काफी सम्पन्न व्यक्ति था। उसका कहना था कि वह ज्योंही एक चम्मच दूध पी लेता है, त्योंही उससे इतनी वायु पैदा हो जाती है कि उसके मारे उसे चैन नहीं मिलती और वह उसके सिर पर जाकर टकराने लगती है।

न्यूरेस्थेनिया का रोगी अपने सिर को जकड़ा हुआ-सा पाता है। कभी उसे ऐसा मालूम पड़ता है मानो लोहे की एक टोपी उसके सिर पर रख दी गई हो और उसने सिर को जकड़ लिया है। वह साधारण-सी आवाज से भी घबड़ा जाता है। यदि वह कहीं सोता हो और उसी बीच थोड़ी-सी भी आवाज हो, तो वह जग जाता है।

न्यूरेस्थेनिया के कारण पर विचार करने के पूर्व इस रोग के कुछ ऐसे रोगियों का वर्णन करना आवश्यक है, जो हमारी मानसिक चिकित्सा में आए हैं। इन रोगियों के सम्पूर्ण जीवन को देखने पर कारण का अन्दाज पाठकों को अपने आप लग जायगा।

आज से पाँच वर्ष पूर्व एक सुशिक्षित नवयुवक ने लेखक को पत्र लिखा कि उसे न्यूरेस्थेनिया का रोग हो गया है और इसके कारण वह सरकारी नौकरी से इस्तीफा देकर घर बैठ गया है। इस युवक की उम्र तीस वर्ष की थी। वह एम० ए० पास कर चुका था और उसने अध्यापन कार्य की शिक्षा भी ली थी। जिस समय उसने नौकरी छोड़ी उस समय उसे अच्छी तनख्वाह मिल रही थी। इस युवक को धातुक्षीणता और स्वप्नदोष का रोग था। उसने इसकी अनेक प्रकार की चिकित्सा कराई, पर उसे कोई लाभ नहीं हुआ। वह अपने स्वप्नों में विकृत-काम-सम्बन्धी अनेक चित्र देखता था। इस व्यक्ति को कुछ दिनों के बाद स्नायविक दुर्बलता तथा बोल-चाल एवं भ्रमण में कठिनाई का अनुभव तथा कब्जियत और कोष्ठबद्धता का रोग हो गया। उसे नींद कम आने लगी और उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। उसने कुछ दिनों के लिए नौकरी से छुट्टी ली और जब चिकित्सा से अच्छा होने की कोई आशा न दिखी, तो उसने सरकारी डाक्टरों से अयोग्यता का सार्टिफिकेट माँगा। इन डाक्टरों ने उसकी दशा देखकर यह कहा कि आप अयोग्यता का प्रमाण पत्र न लें, परन्तु जब उसने बार-बार आग्रह किया, तो बाध्य होकर उन्हें अयोग्यता का प्रमाणपत्र देना ही पड़ा।

यह युवक कुछ दिनों तक पत्र-व्यवहार करने के बाद हमारे पास आया। इसके जीवन के अध्ययन से पता चला कि वह अपने जीवन की

जिम्मेदारियों से अपने आपको बचा रहा है। मनुष्य के जीवन की जिम्मेदारियाँ प्रधानतः दो प्रकार की होती हैं—पहिली अपनी पत्नी को संतुष्ट रखना और दूसरी अपने आश्रितों का भरण-पोषण करना। इसके अतिरिक्त समाज में अपना स्थान बनाए रखना भी जीवन की एक मुख्य जिम्मेदारी है। जो व्यक्ति इन तीन प्रकार की जिम्मेदारियों में से किसी के प्रति पलायनवाद की मनोवृत्ति रखता है, उसे न्यूरेस्थेनिया के रोग का आश्रय लेना पड़ता है। यह व्यक्ति जीवन की प्रथम जिम्मेदारी से भाग रहा था। इसकी कामेच्छाओं ने समलिंगी वासना का रूप ले लिया था। जब समलिंगी काम-तृप्ति की वासना प्रबल हो जाती है और जब नैतिकता के विकसित होने पर कठोरता से इसका दमन होता है, तो आन्तरिक संघर्ष के कारण अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं। ऐसे लोग पहिले तो विवाह ही नहीं करना चाहते और विवाह होने पर अपनी स्त्री में किसी-न-किसी प्रकार का दोष खोज ही लेते हैं। कितने ही लोगों को रूपवती स्त्री भी असुंदर दिखाई देने लगती है। कुछ लोग साध्वी स्त्री को व्यभिचारिणी समझने लगते हैं। वे उसे किसी-न-किसी बहाने छोड़ देना चाहते हैं। ऐसे ही लोगों को कभी-कभी वीर्य-सम्बन्धी कुछ रोग उत्पन्न हो जाते हैं और इसके कारण वे फिर स्त्री-मिलन से अपने आपको बचाते रहते हैं।

उपर्युक्त रोगी विवाह होने के कुछ वर्षों तक अपनी स्त्री से नहीं मिला। वह एक-न-एक बहाना लेकर उससे अलग ही रहता रहा। इस प्रकार उसने स्त्री की काम-वासना की अवहेलना करके उसे भी रोगी बना दिया। तीन साल के बाद स्त्री से उसका मिलन हुआ और इससे उसे एक बच्चा भी हुआ। अब वह इस बच्चे को ही भार-रूप मानने लगा। उसने अपनी स्त्री को उसके पिता के यहाँ भेज दिया। वह जब बीमार हो गया था, तो स्त्री-प्रसंग से अपने आपको इसलिए बचाता था कि बीमार व्यक्ति को बच्चा नहीं पैदा करना चाहिए। यदि बच्चों की संख्या बढ़ जायगी, तो उनका भार कौन सम्हालेगा?

इस व्यक्ति की आकांक्षाएँ बड़ी-बड़ी थीं। वह किसी बड़े पद को

चाहता था। परन्तु वह उसे नहीं मिला। वह समाज में जितना सम्मान चाहता था, उतना उसे नहीं मिला। वह जीवन से निराश-सा हो गया था। स्त्री भी उसके मन की नहीं थी। ऐसी अवस्था में वह रोग का आश्रय लेकर अपना जीवन चला रहा था। जब यह व्यक्ति बनारस आया, तब वह बहुत कुछ अपने रोग से मुक्त हो चुका था। उसने एक साधारण सी नौकरी कर ली थी और वह अपनी स्त्री को घर ले आया था। यहाँ आने पर पता चला कि उसका रोग उतना भयानक नहीं है, जितना वह उसे समझता था। यह रोगी एक पक्ष तक यहाँ ठहरा। उससे मानसिक शैथिलीकरण और मैत्री-भावना का अभ्यास कराया गया। इसके परिणाम-स्वरूप उसे लाभ हुआ। फिर कई दिनों के अभ्यास के बाद उसका रोग सदा के लिए चला गया। रोग के उपचार में मनोविश्लेषण-विधि की भी सहायता ली गई थी। जैसे-जैसे रोगी का रोग कम होता गया, तैसे-तैसे उसके स्वप्न अधिकाधिक स्पष्ट और कामुकता से भरे हुए होने लगे।

एक दूसरा रोगी, जो सात साल से न्यूरेस्थेनिया के रोग से पीड़ित था, जब लेखक के पास आया, तब वह शारीरिक व्याधि से इतना पीड़ित दिखाई देता था कि उसे देखकर किसी भी व्यक्ति को दया आ जाती थी। वह बड़ी कठिनाई से कुछ दूर तक चल पाता था। इस रोगी को शारीरिक रोग प्रधानतया धातु-क्षीणता का था। इसके अतिरिक्त उसे कब्जियत और कोष्ठ-बद्धता का रोग था। इसका पर्याप्त इलाज उसने कराया था; परन्तु उसे लाभ नहीं हुआ था। इस रोग के कारण वह स्त्री-मिलन से वंचित था। उसके एक संतान भी थी। उसकी जीवनी के अध्ययन से पता चला कि वह अपने दूसरे भाइयों की अपेक्षा पढ़ने-लिखने और धन-दौलत कमाने में असफल रहा। जहाँ उसके दूसरे भाई बी० ए०, एम० ए० पास कर अच्छे पदों पर पहुँच चुके थे, वहाँ वह मैट्रिक भी पास नहीं कर पाया था और उसे घर ही में रहना पड़ता था। उसके पिता जीवित हैं और वे सम्पन्न व्यक्ति हैं। रोगी बनकर वह एक ओर अपनी स्त्री की जिम्मेदारी से बच रहा था और दूसरी ओर पिता की सहानुभूति प्राप्त कर रहा था। अपनी अन्तरात्मा के कोसने से रोग उसे बचा रहा था।

न्यूरेस्थेनिया के प्रत्येक मानसिक रोगी में आत्म-विश्वास की कमी रहती है। यह आत्म-विश्वास काम-वासना, पैसा कमाने अथवा समाज का सम्मान प्राप्त करने के क्षेत्र में होता है। नव-विवाहित युवक, जिसकी काम-वासना ने विकृत रूप ले लिया है, न्यूरेस्थेनिया का रोगी बन जाता है। इसी प्रकार परीक्षा में बार-बार फेल होनेवाला विद्यार्थी, अपने पद से बार-बार हटाया जानेवाला गृहस्थ, असफल व्यापारी और असफल राजनीतिक नेता न्यूरेस्थेनिया के रोगी बन जाते हैं। न्यूरेस्थेनिया के सभी रोगियों में असफलता की भावना कूट-कूटकर भरी रहती है। उनका न तो अपने आपमें और न मित्रों और परमात्मा में ही कोई विश्वास रहता है। वे आत्महत्या करने की बात बार-बार सोचते हैं, पर उसे भी नहीं कर पाते। वे किसी भी बात पर निश्चित नहीं रह पाते। यदि वे किसी वैद्य-डाक्टर से दवा कराएँ तो दो-चार दिनों के बाद उसे भी छोड़ देते हैं। वे मान बैठते हैं कि उनके रोग को कोई समझ ही नहीं सकता।

परन्तु दवा कराए बिना उनसे रहा भी नहीं जाता। यदि किसी व्यक्ति से वे अपने रोग की गाथा कहने लगें, तो इतनी देर तक बोलते रहते हैं कि सुननेवाला परेशान हो जाता है तथा अपनी जान छुड़ाने को व्याकुल हो जाता है। वे अपने रोग की एक ही बात को बीसों बार दोहराते और एक ही बात को अतिरंजित करके कितनी ही बार कहते हैं। वे ऐसे व्यक्ति से खुश रहते हैं, जो उन्हें यह कह दे कि उनका रोग वास्तव में बड़ा ही भयानक है और उनके समान रोगी संसार में कोई हुआ ही नहीं। न्यूरेस्थेनिया के एक रोगी ने लेखक से कहा था कि पंडितजी आप बड़े शान्त-स्वभाव के दिखाई पड़ते हैं और मेरी बातों को सहानुभूति-पूर्वक सुनते हैं, परन्तु आपका यह धैर्य बहुत दिनों तक नहीं चलेगा। मेरी बात सुनते-सुनते आप इतना ऊब जाएँगे कि आपको डंडा लेकर मुझे भगाना पड़ेगा। वास्तव में बात लगभग ऐसी ही हुई। यह रोगी प्रतिदिन तीन घंटे अपने रोग की चर्चा अनेक प्रकार से सुनाया करता और जब कभी उसकी बात सुनने में कुछ भी कमी आई, तो वह खिन्न-मन हो जाता था। अन्त में उससे यह कहना पड़ा कि भाई, मेरे पास इतना समय नहीं है कि

में किसी एक व्यक्ति को प्रतिदिन तीन घण्टे दे सकूँ ।'

न्यूरेस्थेनिया का कारण मनुष्य के जीवन की आवश्यक जिम्मेदारियों को सम्हालने में असफलता होती है। न्यूरस्थेनिया का रोगी आत्महीनता की भावना से पीड़ित रहता है, परन्तु वह अपनी इस आत्महीनता को किसी रोग के आचरण में छिपाना चाहता है। ऐसे रोगी के मनमें आंतरिक अंतर्द्वन्द चलता रहता है। अतएव जब वह अकेला रह जाता है, तब उसे बड़े ही मानसिक क्लेश का अनुभव होता है। वह चाहता है कि उसकी दुखभरी गाथा दूसरे लोग सुनकर उसके प्रति सहानुभूति प्रगट करें। उसकी अंतरात्मा उसे कोसती रहती है कि उसने अपने प्रति अच्छा कर्तव्य नहीं किया। इस कोसने को भुलाने के लिए उसे एक ओर मानसिक रोगी बनना पड़ता है और दूसरी ओर उसे ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता रहती है, जो उसके प्रति इस तरह से सहानुभूति दिखलावे कि उसे अपने प्रति विश्वास हो जाय कि उसके रोग का कारण वह स्वयं नहीं, वरन् उसकी परिस्थितियाँ ही हैं।

न्यूरेस्थेनिया से रोगी में दो प्रकार की असफलता पाई जाती हैं १—समाज के प्रति सहारे २—अपने परिवार के प्रति अथवा अपनी पत्नी के प्रति। न्यूरेस्थेनिया का रोगी परिवार की वृद्धि से बहुत डरता है। उसे सदा यह भय रहता है कि उसकी संतान की वृद्धि उसके धन का नाश कर डालेगी। अतएव इस रोग के आने के पूर्व रोगी संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाना प्रारंभ कर देता है। कुछ व्यक्ति संतानोत्पति से इतना भय करते है कि वे किसी-न-किसी बहाने अपनी पत्नी को घर ही नहीं बुलाते।

एक धनी परिवार के व्यक्ति को आज से बारह वर्ष पूर्व से न्यूरेस्थेनिया का रोग है। उसकी आयु ४८ वर्ष है। जब वे पैंतीस वर्ष के थे तब तक उनको ४ पुत्र और ३ पुत्रियाँ हो चुकी थीं। ऐसे तो वे लखपती हैं, परन्तु संतान की वृद्धि देखकर उनके मन में घबड़ाहट हुई। उन्होंने संतान की वृद्धि रोकने के लिए संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाना प्रारंभ किया। जब दो साल तक ही इन उपायों को काम में लाए थे, तभी उन्हें एक बार अकारण ही अपनी स्त्री से इतना भय हो गया कि वे उसे देख

भी नहीं सकते थे; उन्हें अपनी स्त्री मृत्यु के रूप में दिखाई देने लगी। वे अब उस घर में भी नहीं रह सकते थे, जिसमें उनकी स्त्री रहती थी। अतएव स्त्री को उनसे कई मिल दूर रखा गया। कुछ दिनों बाद उन्हें इस प्रकार का भय सभी स्त्रियों से हो गया। किसी भी स्त्री को देखते ही उनके हृदय में धड़कन होने लगती थी, थकावट का अनुभव होता था, भूख समाप्त हो जाती थी। साधारणतः वे सामान्य भोजन भी नहीं कर सकते थे। उन्हें स्थायी अनिद्रा का रोग भी था। उनके रोग के थोड़े ही काल में अकेले रहने में भय का रूप ले लिया, उन्हें अपने साथ प्रत्येक समय दो एक आदमी के रखने की आवश्यकता पड़ गई।

एक दूसरे रोगी को न्यूरेस्थेनिया का रोग इसलिए प्रारंभ हुआ कि उसे अपने मन के अनुसार रोजगार नहीं मिला। यह व्यक्ति बड़ी ही अच्छी परिस्थिति में पला था। इसके परिवार की बहुत बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह स्वयं बी० ए० कक्षा तक पढ़ा हुआ है। ऊँचे परिवार का होने के नाते उसे बड़े-बड़े उच्च पद मिले। वह इस समय तक उन पर कायम रहा, परंतु अपनी आरामतलबी की आदत के कारण उसने उन सबको खो दिया। उसके मनसूबे इतने ऊँचे होते थे कि वहाँ तक उसका पहुँचना असंभव था। उसने अपने जीवन का प्रारंभिक काल बहुत आरामतलबी में व्यतीत किया था। अतएव उसमें कठिन परिश्रम करने की क्षमता नहीं थी। इससे रोगी के सभी संबंधी सम्पन्न व्यक्ति थे। उसके मामा समाज के अत्यंत प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं और उसका विवाह एक सम्पन्न घर में हुआ है। वह अपने मामा एवं ससुर से सहायता प्राप्ति की आशा रखता है; परन्तु उनसे पैसा माँगने की उसकी हिम्मत ही नहीं पड़ती। इस व्यक्ति के दो बच्चे हैं। वह इन बच्चों को, विशेषकर अपनी छोटी संतान को, जो लड़की है, भार स्वरूप मानता है। वह संताननिग्रह के उपाय सदा काम में लाता रहा, किन्तु फिर भी उसके एक और संतान हो ही गई। यह रोगी अपने दुख के मारे घर के सभी लोगों विशेषतः अपनी स्त्री को परेशान किए रहता था। जब लेखक से उसकी बातचीत हुई, तब उसने घंटों लेखक को अपनी व्याधि सुनाई और उसने फिर पूछा कि आपने बहुत से

रोगियों की चिकित्सा की है, किन्तु मेरे जैसा दुखी व्यक्ति आपको कोई भी न मिला होगा। रोगी कहलाना चाहता था कि वह सचमुच में बड़ा ही दुखी व्यक्ति हुआ और उसका रोग इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उसके जीवन में असफल होना अनिवार्य है।

रोगी के संबंध में प्रो० फिशर के न्यूरेस्थेनिया के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

'न्यूरेस्थेनिया के रोगी में आत्महीनता की भावना होती है और इसके कारण वह बड़े-बड़े मंसूबे अपने मन में बाँधता है। जब बाह्य परिस्थिति की किसी घटना के कारण उसके मनसूबों पर आघात पहुँचाता है, तब व्यक्ति रोगी बन जाता है। वह बहुत चिंता करता और चिड़चिड़ा हो जाता है। रोगी अपने आप अपनी असफलता का कारण अपने में न देख कर किसी बाहरी परिस्थिति में खोजने का प्रयत्न करता है। अपनी आंतरिक आत्महीनता के कारण वह अपनी सफलता की आशा खो देता है और आगे प्रयत्न नहीं करना चाहता। परन्तु अपने इस निकम्मेपन को वह किसी बाहरी परिस्थिति पर मढ़ना चाहता है। यदि उसे बाहरी परिस्थिति में कुछ कारण मिल जाते हैं, तो उसे बड़ा संतोष होता है। किंतु उसका स्वभाव अपने ही विषय में सोचने का होता है, अतएव उसे अपने में ही कोई ऐसा कारण खोजना पड़ता है, जो एक ओर उसकी असमर्थता का कारण कहा जा सके और दूसरी ओर जो उसे अपने निकम्मेपन के कारण होनेवाली आत्मभर्त्स्ना से उसे बचावे। अपनी परिस्थिति के बारे में बारंबार चिंता करने और निराशा के कारण उसकी पाचन क्रिया बिगड़ जाती है और उसे पेट के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। सब समय चलनेवाले मानसिक अंतर्द्वन्द्व के कारण उसे थकावट की अनुभूति होने लगती है और इसी के कारण उसे ठीक से नींद नहीं आती। फिर उसकी भूख कम हो जाती है और स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और दिन-प्रति-दिन उसकी हालत बदतर होती जाती है। धीरे-धीरे वह अपनी असफलता का प्रधान कारण अपनी शारीरिक अस्वस्थता, थकावट, हाथ-पैर और पेट का दर्द, अनिद्रा, भूख का न लगना आदि—को मानने लगता है। कुछ

समय पश्चात् वह उस घटना को ही भूल जाती है, जिससे इन शारीरिक रोगों के लक्षण प्रारंभ हुए। वह इन लक्षणों को ही अपनी असफलता का कारण मानने लगता है।

जब मनुष्य इस मानसिक स्थिति में आ जाता है, तब वह न्यूरेस्थेनिया का सच्चा रोगी बन जाता है। अब वह इन शारीरिक रोगों के लक्षणों को खोना नहीं चाहता। ये लक्षण उसे उसका आत्म-सम्मान बनाए रखने के लिए विशेष महत्व रखते हैं। जो व्यक्ति बीमार है, उससे हम यह आशा नहीं करते कि वह अपने जीवन की जिम्मेदारियाँ सम्भालेगा और समाज के प्रति अपना कर्तव्य निभाएगा। इसी के कारण वह अपने शारीरिक कष्ट, अनिद्रा, थकावट, भूख न लगना आदि को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहता है। अपने मित्रों से इसी के कारण सदा बातचीत करने की आवश्यकता पड़ती है। यदि कोई ऐसे व्यक्ति के रोग के लक्षणों को महत्व न दे, तो वह उसको अपने शत्रु रूप में देखता है। उपर्युक्त मनोवृत्ति के कारण ही वह किसी भी वैद्य या डाक्टर-द्वारा देर तक चिकित्सा नहीं करा पाता।'*

न्यूरेस्थेनिया का रोग मन का बनाया हुआ है। इसकी जड़ शरीर में नहीं रहती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि रोगी को कोई वास्तविक क्लेश नहीं होता। न्यूरेस्थेनिया का रोगी अपने शारीरिक रोग से उसी प्रकार दुखी रहता है, जैसा कि वास्तविक रोग से पीड़ित व्यक्ति होता है। न्यूरेस्थेनिया से रोगी और वास्तविक रोग से पीड़ित रोगी में अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ सच्चे शारीरिक रोग रोगी को पकड़े रहते हैं; वहाँ न्यूरेस्थेनिया में रोगी का आंतरिक मन शारीरिक रोगों को पकड़े रहता है। ये रोग एक प्रकार से उसकी आत्मरक्षा करते हैं। यदि रोगी रोगों को न पकड़े, तो उसे समाज की इतनी निन्दा सहनी पड़े और उसे इतनी अधिक आत्मग्लानि हो कि उसे आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़े। रोग के शारीरिक रोग के लक्षण उसे आत्महत्या से बचाते हैं और उसे जीवन-भार को ढोने की क्षमता प्रदान करते हैं। यही कारण है कि किसी प्रकार के भौतिक उपचार से न्यूरेस्थेनिया का रोग नहीं जाता।

* इन्ट्रोडक्शन टू एबनारमल साईकालोजी पृष्ठ ६८

कुछ ऐसे रोगी ऐसे सभी चिकित्सकों से बचते रहते हैं जो उनका रोग उनसे छुड़ा देने की क्षमता रखते हैं। जब रोगी बहुत समय तक इस रोग से परेशान हो जाता है और जब समाज में रोगी अपने रोग के कारण किसी प्रकार ही सहानुभूति नहीं प्राप्त करता, तब रोगी का आंतरिक मन अपने रोग से मुक्त होने के लिए उत्सुक हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अपनी वास्तविक मनोस्थिति को समझने की चेष्टा करता है और लगन के साथ चिकित्सा कराता है। जब किसी व्यक्ति को बहुत दिनों तक न्यूरेस्थेनिया का रोग रहता है और इस रोग के साथ-साथ उसे बुढ़ापा आ जाता है, तो उसका रोग अपने आप चला जाता है। युवा और प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए ही न्यूरेस्थेनियाँ का रोग उपयोगी होता है। उन्हीं लोगों से हम बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ वहन करने की आशा रखते हैं। अतएव जब मनुष्य जिम्मेदारियाँ वहन करने की सामर्थ्य में अपने में कमी देखता है, तो इस रोग का आवरण लेता है। बुढ़ापे में इस प्रकार के आवरण ओढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती और न तो बूढ़े लोगों को न्यूरेस्थेनिया का रोग ही होता है और प्रौढ़ व्यक्ति को जब बुढ़ापा आ जाता है, तो यह रोग अपने आप चला जाता है।

पागलपन (साइकोसीस)

पागलपन तथा विक्षिप्तताः—हमने पिछले तीन प्रकरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार की विक्षिप्तता का वर्णन किया है। विक्षिप्तता उन मानसिक रोगों को कहते हैं, जिनका उपचार सामान्य मनोवैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है, जिनमें रोगी को ज्ञान रहता है कि उसे कोई रोग है और जिसे उसका चिकित्सक उचित सलाह देकर उसे लाभ पहुँचा सकता है। ऐसे लोगों को अपने व्यक्तित्व और देश-काल तथा परिस्थितियों का दूसरे लोगों के समान ही ज्ञान रहता है। उन्हें संसार की वस्तुओं का ज्ञान सामान्य लोगों की तरह ही होता है और उनके भ्रम भी सामान्य लोगों के भ्रम के समान होते हैं। ऐसे लोग हमें साधारणतः समाज में मिलते ही रहते हैं और जब तक वे स्वयं अपनी व्याधि को अपने आप न कहें और जब तक हम उनके व्यवहारों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से न देखें, तब तक हमें

उनके रोगों का पता नहीं चलता। इस प्रकार के लोगों से पागल लोगों के विचार-आचार एवं व्यवहार भिन्न होते हैं। पागल व्यक्ति एक नई प्रकार की दुनिया में रहता है, जिसके नियम सामान्य दुनिया के नियमों से भिन्न होते हैं। पागल व्यक्ति को अपने-आप का ज्ञान भी नहीं रहता। कभी-कभी उसे यह भी विश्वास होता है कि वह मर चुका है और कोई दूसरा ही व्यक्ति उसकी जगह बातचीत कर रहा है। पागल व्यक्ति को न तो अपनी चिकित्सा की परवाह रहती है और न उसे अपने पागल-पन का कोई ज्ञान रहता है। कभी-कभी उसे जीने की कोई लालसा नहीं रहती। उसके पेट में जबरदस्ती भोजन पहुँचाया जाता है। ऐसे लोगों को कभी-कभी हम नंगे-उघारे सड़कों पर पाते हैं। उन्हें न तो समाज की कोई शर्म रहती है और न भय। पागल व्यक्ति का व्यवहार सामान्य व्यक्ति से इतना भिन्न होता है कि पागल को पहचानना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

विक्षिप्त एवं पागल व्यक्ति में व्यावहारिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्व पूर्ण भेद यह है कि विक्षिप्त से सामान्य लोगों को अचानक क्षति होने की कोई आशंका नहीं रहती। विक्षिप्त के व्यवहार में बहुत कुछ एकता होती है, यह बात पागल के व्यवहार में नहीं रहती। पागल व्यक्ति अकारण ही आगन्तुक पर घातक प्रहार कर दे सकता है। जिस व्यक्ति से अभी-अभी वह घुल-मिलकर बातें कर रहा था, उसीके पेट में छूरा भोंक सकता है। अपने किसी संबन्धी की मृत्यु का संवाद पाकर वह सहज शोक या दुःख का अनुभव नहीं करके प्रसन्नता अथवा वेदना-हीनता की अनुभूति कर सकता है। ऐसे लोगों के साथ बर्ताव करने में बड़ी ही सावधानी बरतनी पड़ती है। ये लोग अपने ही हितैषियों की अकस्मात् हत्या कर दे सकते हैं अथवा अपने आपकी भी अचानक हत्या कर ले सकते हैं। अतएव उन्हें बड़ी सावधानी से रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है। ये लोग किसी भी चिकित्सक से अपनी चिकित्सा में सहयोग नहीं लेते। अतएव राष्ट्र के मानसिक चिकित्सालयों को छोड़ उनके उपचार का कहीं भी प्रयास करना खतरे से खाली नहीं है।

आज से १२ वर्ष पूर्व हमारे मित्र स्व० डा० दुर्गाशंकरजी नागर अपने कल्पवृक्ष आश्रम में विषाद-रोग से पीड़ित एक व्यक्ति की चिकित्सा कर रहे थे। इस व्यक्ति को उनकी चिकित्सा से पर्याप्त लाभ हुआ। वे रोगी को चिकित्सा-काल में अपने ही संरक्षण में रखते थे। जब रोगी में स्वास्थ्य-लाभ कर लेने के पूर्ण लक्षण दीख पड़ने लगे, तब उसे अपने घर वापस जाने की अनुमति प्राप्त हो गई। रोगी कल्प वृक्ष आश्रम से स्टेशन की ओर पैदल चला। उसके पास अधिक सामान नहीं था। रास्ते में एक खलिहान में उसे सूखी घास की बड़ी ढेर दिखाई पड़ी। वह ढेर के ऊपर चढ़कर बैठ गया तथा नीचे से उसने उस घास में आग लगा दी। वह इस ढेर की जलती हुई आग में बुरी तरह जल गया। दूर से देखने वाले लोगों ने दौड़कर आग बुझाई तथा उस व्यक्ति को घसीट कर बाहर निकाला। वह बुरी तरह जल गया था, अतएव अस्पताल पहुँचते-पहुँचते मर गया। इस प्रकार की दुर्घटना के कारण डाक्टर साहब को बड़ी ही परेशानी में पड़ना पड़ा।

विषाद-रोग से पीड़ित व्यक्ति विना किसी कारण के अचानक ही आत्म-हत्या का यत्न कर लेते हैं। लेखक के एक परिचित व्यक्ति ने, जो सरकारी स्कूल के प्रधानाध्यापक थे, अपना एक विलक्षण अनुभव इस प्रसंग में सुनाया। ४० वर्ष की उम्र में वे अपने भीतरी मन में बड़े ही दुःखी रहा करते थे, परन्तु वे अपने दुःख को किसी के सामने प्रकाशित नहीं करते थे। एक दिन सवेरे उठकर घूमने के लिए जाते समय वे एक ऐसे कुएँ के पास पहुँचे, जिसमें कूदकर कई व्यक्ति आत्म-हत्यायें कर चुके थे। उसके समीप जाते ही उन्हें भी प्रबल प्रेरणा हुई कि वे भी उस कुएँ में कूद पड़े तथा इस विचार के आते ही उन्होंने वैसा ही किया। कुछ दूर पर रहने वालों ने एक आवाज सुनी और वे दौड़े हुए आये। उनमें से एक व्यक्ति ऐसा था, जिसने हेडमास्टर साहब को कुएँ की ओर जाते हुए देखा था, अतएव तुरन्त ही रस्से डालकर उसने उन्हें बाहर निकालने का प्रयास किया। वे कुछ ही मिनटों तक पानी में डूबे रहे। कुएँ में पानी २०-२५ फुट था, परन्तु वे मरे नहीं। अस्पताल में पहुँचाये जाने

पर देखा गया, तो उन्हें कोई भी शारीरिक क्षति नहीं हुई थी। इस समय उन्हें एक विलक्षण अनुभव यह हुआ कि वे कुएँ के पानी में खड़े थे तथा पानी उनके घुटने तक ही था। वे विषाद-रोग से वर्षों तक पीड़ित रहे, धीरे-धीरे अच्छे हुए। तब वे अपनी नौकरी पर बहाल कर दिये गये।

पागल व्यक्ति अपने अथवा अपने सम्पर्क में आने वाले दूसरे व्यक्तियों की हत्या कर सकता है, इस बात से सदा सावधान रहना जरूरी है। अपनी एवं रोगी की रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मानसिक चिकित्सक पागलपन के भिन्न-भिन्न प्रकारों तथा उनके लक्षणों को पहचानने की क्षमता प्राप्त करे। विक्षिप्त व्यक्ति ही सामान्य मनोवैज्ञानिक उपचार से लाभ पा सकते हैं, पागल व्यक्ति नहीं। पागलों को पागलखानों में ही रखना तथा जो कुछ उपचार वहाँ सम्भव हो, वहीं करना आवश्यक है। पागलखानों में भर्ती हुए थोड़े ही लोग अपने रोग से स्थायी रूप से मुक्त होते हैं। जो लोग पागल होने के थोड़े ही काल बाद पागलखानों में भेज दिये जाते हैं, उन्हें ही लाभ होता है। पागल की मनोदशा में कई वर्षों तक रहे हुए व्यक्ति को पागलखानों की चिकित्सा से भी अधिक लाभ नहीं होता। पागलखानों से लाभान्वित कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं, जो वास्तव में पागल नहीं होते; परन्तु किसी भी प्रकार की विक्षिप्तता के कारण पागल करार दिये जाते हैं।

पागलपन के प्रकार :—

पागलपन कई प्रकार के होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने इनका वर्गीकरण निम्न चार प्रकार से किया है :—

(१) 'मेनिक डीप्रेसन' अर्थात् आह्लाद-शोकातुर (२) 'मेले-न्कोलिया' अर्थात् विषाद-रोग (३) 'पेरानोइया' अर्थात् विकृत् महानता (४) 'स्किजोफ्रेनिया' अर्थात् सर्वनाशी पागलपन।

(१) 'मेनिक डीप्रेसन' अर्थात् आह्लाद-शोकातुर पागलपन में मनुष्य में दो विरोधी भावों का अतिक्रमण पाया जाता है। एक समय रोगी को बड़ी ही प्रसन्नता, चंचलता तथा स्फूर्ति देखी जाती है, दूसरे समय उसी रोगी में अत्यन्त निराशा, निष्क्रियता और संसार के प्रति उदासीनता के

भाव देखे जाते हैं। इस तरह के पागलपन में एक ओर बड़ी ही गति के साथ विचार भाव तथा क्रियाएँ उठती हैं तथा दूसरी ओर इन सभी में मुर्दनी-सी छा जाती है। कभी-कभी रोगी को एक ही प्रकार की मानसिक अवस्था की अनुभूति होती है, किन्तु प्रायः दोनों प्रकार की मानसिक अवस्थाओं की अनुभूति होती रहती है।

एक बार लेखक के एक मित्र की बहिन को आह्लाद एवं विषाद का रोग हो गया था। इस रोग की अवस्था में वह कितनी चंचल हो गयी थी कि दिन भर वह इधर-उधर दौड़ती दिखलाई पड़ती थी। वह पचासों व्यक्तियों से मिलती तथा बातचीत करती और कई राजनीतिक एवं सामाजिक विषयों पर बहस करती। इस लड़की की उम्र पन्द्रह साल की थी। एक बार राजनीतिक सभा हो रही थी, जिसमें बहुत से लोग गये थे। वह दौड़ती हुई आकर मंच पर चढ़ गई तथा वहाँ से भाषण करने लगी। किसी तरह उसे पकड़ कर बिठाला गया। थोड़ी देर बाद वह वहाँ से भाग गई। वह किसी भी विषय पर एक दो मिनट से अधिक नहीं बोल पाती तथा किसी भी जगह पाँच मिनट से ज्यादा नहीं ठहर पाती थी। वह लड़की बहुत दिनों तक इसी रोग में रही।

१७ वर्ष की एक दूसरी लड़की को यही रोग अचानक हो गया यह विश्वविद्यालय के महिला कालेज में आज से १६ वर्ष पूर्व इण्टर में पढ़ती थी। यह लड़की साधारणतः बड़ी ही सुशील तथा धीरे-धीरे बोलनेवाली थी। रोग की अवस्था में वह इतनी चंचल हो गई कि उसके साथ रहनेवाली लड़कियों को बड़ा ही आश्चर्य होने लगा। वह किसी भी क्लास में घुसकर लेक्चर देने लगती थी। जब उसे वहाँ से हटाया जाता था, तब हटाने वालों को भी वह समाज-शास्त्र पर लेक्चर झाड़ने लगती थी।

रोग के लक्षण :—आह्लाद-विषाद रोग में निम्नलिखित चार बातें पायी जाती हैं। (१) प्रत्यक्षीकरण की शक्ति में कमी (२) स्मरण की कमी (३) निर्णय में दोष, (४) भ्रम और अनुपस्थित पदार्थों को देखना।

रोगी के प्रत्यक्षीकरण की शक्ति के विषय में जाना गया है कि यदि

उसका किसी नये पदार्थ एवं नई घटना के प्रति ध्यान आकर्षित किया जाय, तो उसे ठीक से नहीं दीख पड़ता। यदि उसे किसी पत्र में से कोई बात पढ़कर दस मिनट बाद उसे बताने को कहा जाय, तो वह नहीं बता सकेगा। रोगी का ध्यान बड़ा ही चंचल होता है। इसी कारण वह देखी-सुनी तथा पढ़ी वस्तु का स्मरण नहीं कर पाता। उस व्यक्ति की स्मरण-शक्ति कम हो जाती है। ऊपर से तो रोगी किसी भी बात को ध्यान से याद करते दीख पड़ता है, किन्तु वास्तव में वह किसी भी बात पर एकाग्र नहीं होता। जिस व्यक्ति के मन में प्रबल संघर्ष चलते रहते हैं, उसकी चेतना एकमुखी नहीं होती और जिसकी चेतना एकमुखी नहीं होती, वह न तो किसी बात को ठीक से समझ सकता है, न ठीक से देख सकता है तथा न उसके बारे में कुछ स्मरण ही रख सकता है। आह्लाद-विषाद के रोगी की मानसिक दशा को जान कर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की ज्ञानात्मक शक्तियाँ या उसके भाव एवं क्रियात्मक प्रवृत्तियों पर कितना अधिक निर्भर करती हैं। जिस व्यक्ति के भावों अथवा क्रियात्नक प्रवृत्तियों में पारस्परिक विरोध रहता है, उसका देखना, सुनना-समझना भी ठिकाने का नहीं हता।

आह्लाद-विषाद के रोगी में ठीक से निर्णय करने की शक्ति नहीं रह जाती। उसके मन में बहुत-सी झूठी धारणायें उपस्थित रहती हैं। इन झूठी धारणाओं के अनुसार ही उनके निर्णय होते हैं। विषाद-युक्त रोगी की मिथ्या धारणायें आत्म-भर्त्सना संबन्धी ही होती हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार की आकस्मिक दुर्घटना से ग्रस्त हो जाए, तो वह किसी-न-किसी प्रकार अपने को ही दोषी मान बैठता है। किसी व्यक्ति की हत्या हो जाए, तो वह उस हत्या के लिए किसी-न-किसी प्रकार अपने ऊपर जिम्मेदारी ले लेता है। आह्लाद की अवस्था में रोगी के मन में दुःखद विचार नहीं आते। परन्तु उसकी धारणाएँ तथा कल्पनाएँ सर्वथा बेसिर-पैर की होती हैं। वह अपने आपको संसार का एक महान व्यक्ति मान लेता है तथा कुछ ऐसी योजनाएँ बनाता है, जिससे सारी सभ्यता में ही क्रांति हो जाए। इस रोग से पीड़ित एक व्यक्ति इन्द्र एवं वरुण को लम्बी-लम्बी

चिट्ठियाँ लिखा करता था। कलकत्ताके मेडिकल कालेजके विद्यार्थी कभी-कभी इस व्यक्ति के पास जाते तथा उससे प्रार्थना करते कि पानी का राजा अपना काम ठीक से नहीं कर रहा है। गर्मी के मारे लोग मरे जा रहे हैं। उनको हुक्म भेजिये कि वह पानी बरसावे। इनके कहने पर वह कभी वरुण को और कभी इन्द्र को लिखता था कि वे अपना काम ठीक से करें, नहीं तो उनके सब अधिकार छीन लिए जायँगे। इस रोग से व्याप्त कुछ व्यक्ति संसार के कुछ बड़े-बड़े लोगों को इस प्रकार सलाह देते हैं, मानों वे उनके गुरु हों। उनको यह समझने की शक्ति नहीं कि उनकी ये चिट्ठियाँ इन बड़े लोगों तक पहुँच ही नहीं पातीं तथा इन लोगों को इतनी फुर्सत कहाँ कि वे उनको पढ़ें।

आह्लाद-शोकातुर रोगीके मतिभ्रम उसकी मानसिक स्थिति के अनुसार होते हैं। आह्लाद की अवस्था में रोगी किसी आगन्तुक को अपने किसी सम्बन्धी के रूप में देखेगा और शोक की अवस्था में उसे किसी प्रबल शत्रु के रूप में। रोगी की आह्लादावस्था में उसे क्रोध और काम-वासना जल्दी से उत्तेजित हो जाती हैं। जब उसे शोक की अवस्था आती है, तो उसे भय और हीनता के भाव शीघ्रता से आते हैं। आह्लाद का रोगी दूसरों की आज्ञा का पालन नहीं करता। शोकातुर रोगी दूसरों की आज्ञा का पालन शीघ्रतासे करता है। आह्लाद की अवस्था में रोगी की बातचीत काम वासना सम्बन्धी होती है। शोकातुर अवस्था में रोगी काम-वासना सम्बन्धी कोई बातचीत नहीं करता।

आह्लाद-शोक के रोग का कारण खोजने पर पता चलता है कि अधिकतर यह रोग वंश परम्परा से आता है। पेशी और बीज महाशय का यह विचार है कि इसमें प्रधान कारण वंश-परम्परा ही है। जिस परिवार में पहिले से ही इस रोग के रोगी होते आये हैं, उसी में यह रोग पाया जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि इस रोग के होने में वातावरण का कोई हाथ नहीं है। एक ही प्रकार के वंश परम्परा के दो व्यक्ति भिन्न-भिन्न वातावरण में रहने के कारण भिन्न-भिन्न मानसिक अवस्था को प्राप्त होते हैं। जिस व्यक्ति के वातावरण में भावात्मक संघर्ष का अधिक

अवसर रहता है, प्रतिकूल वातावरण के कारण जिसकी प्रबल आकांक्षाओं का दमन होता रहता है, उसे ही यह रोग होता है।

शरीर-विज्ञान को प्रधानता देनेवाले मनोवैज्ञानिक इस प्रकार के पागलपन का प्रधान कारण शारीरिक गड़बड़ी को बताते हैं। मनुष्य के शरीर में बहुत-सी स्नायुओं से बनी ग्रंथियाँ हैं। ये ग्रंथियाँ विशेष प्रकारके रसों का उत्पादन करती है। जब इनकी कार्य-प्रणाली में गड़बड़ी हो जाती है और जब इनके-द्वारा विशेष प्रकार के जहर उत्पन्न होने लगते हैं, तभी मनुष्य को पागलपन होता है। इस प्रकार की गड़बड़ी अनुचित भोजन अथवा भोजनाभाव से होती है। इस सिद्धान्त में थोड़ी-बहुत सत्यता अवश्य है, क्योंकि जिस तरह मानसिक विकार शारीरिक विकार उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार शारीरिक विकार भी मानसिक विकार उत्पन्न करते हैं। परन्तु, वर्तमान समय के शरीर-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कुछ विशेष स्नायविक—ग्रंथियों की गड़बड़ी के कारण मनुष्य किसी विशेष प्रकार के भ्रमों का अनुभव क्यों करने लगता है और वह विशेष प्रकार के दिवास्वप्न क्यों देखने लगता है।

प्रो० मेकडूगल के अनुसार मनुष्य की दो प्रधान नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ हैं, एक आत्म-प्रकाशन की और दूसरी आत्म-समर्पण की। जब तक मनुष्य के जीवन में इन दो प्रवृत्तियों के बीच संतुलन रहता है, तब तक उसका जीवन सुचारुरूप से चलता रहता रहता है। जब वातावरण की विशेष स्थिति के कारण इन दोनों का संतुलन बिगड़ जाता है, तो उसे आह्लाद-शोक का रोग उत्पन्न हो जाता है।

सचमुच में प्रत्येक मनुष्य के मन में अहं-भाव की प्रबलता रहती है। जब मनुष्यके अहंकारकी भावना को धक्का पहुँचता है, तभी रोग की भावना को धक्का लगता है, तभी रोग की अवस्था उत्पन्न होती है। प्रतिकूल वातावरण में पड़ने पर कुछ लोग अपने अहंकार के भाव को छिपाये रखते हैं। वे ऊपर से बड़े ही शीलवान दिखाई देते हैं। इनके प्रत्येक कार्य में विनय देखा जाता है, परन्तु अहंभाव से शक्ति न होने के कारण उनका मन असंतुलित अवस्था में रहता है। उनका विनय-भाव थोड़े समय तक

उनके आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति को भले ही दबाए रखे; परन्तु एक समय ऐसा आता है कि अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही उनके आत्म-प्रकाशन का भाव या अहंमन्यता उखड़कर अनेक प्रकार के विवेक-हीन कार्यों में प्रकाशित होने लगती है।

सभी प्रकार के मानसिक रोगों में पैत्रिक दुर्बलता रहती है। जिस व्यक्ति का जन्मजात मानसिक स्वास्थ्य प्रबल होता है, वह वातावरण की प्रतिकूलता को सह लेता है। जिसका जन्मजात स्वास्थ्य दुर्बल होता है, वह प्रतिकूल वातावरण में पड़कर मानसिक रोगी बन जाता है। पागलपन के उत्पन्न होने में रोगी के बचपन के संस्कार भी बड़े महत्व के स्थान रखते हैं। बचपन के अवांछनीय संस्कार संचित होकर किसी एक विशेष घटना के समय विस्फोट के रूप में प्रकट होने लगते हैं। यह विस्फोटकर घटना व्यक्ति के अभिमान को अत्यधिक ठेस लगानेवाली होती है।

मेलेन्कोलिया (विषाद-रोग)

मेलेन्कोलिया मन के अत्यन्त दुःख की अवस्था है। मेलेन्कोलिया में मनुष्य संसार को दुख-रूप ही देखता है। ऐसी अवस्था में वह संसार से किसी प्रकार की आशा नहीं रखता है। संसार के सभी लोग उसे झूठे, स्वार्थी और निकम्मे दिखाई पड़ते हैं। उसे किसी भी व्यक्ति के प्रेम में विश्वास नहीं रहता। वह जिधर भी दृष्टि डालता है, उधर ही उसे अपनी मनोधारणा के प्रमाण भी मिलते हैं। मेलेन्कोलिया की अवस्था में मनुष्य खाने-पीने और शौच जाने आदि से भी उदासीन हो जाता है। उसे कोई खिला-पिला देता है, तो खा लेता है, वर्ना भूखा ही बैठा रहता है। उसकी मनोदशा बड़ी ही दयनीय हो जाती है। वह आत्म-हत्या के लिए प्रवृत्त रहता है। ऐसे रोगी को आत्म-हत्या से रोकने के लिये संभालने की भी आवश्यकता होती है। मेलेन्कोलिया के रोगी को अपने पास रखना एक बड़ी भारी जिम्मेदारी लेना है। कभी-कभी मेलेन्कोलिया का रोगी इस समय आत्म-हत्या कर लेता है, जब कि हम ऊपरी दृष्टि से उसे पूर्ण स्वस्थ देखते हैं और अपने-आप इधर-उधर घूमने की छुट्टी दे देते हैं।

मेलेन्कोलिया का रोगी यदि किसी रेलवे स्टेशन पर जाता है, तो रेल

देखते ही उसके मन में यह विचार आता है कि वह चलती इंजन के सामने लेट जाये। यदि वह घर की छत पर चढ़ता है, तो वहाँ से गिरकर मरने की प्रबल प्रेरणा उसे होती है। घोर मेलेन्कोलिया की अवस्था में रोगी में यह भी सामर्थ्य नहीं रह जाती कि वह आत्म-हत्या कर ले। अत-एव वह बचा रहता है। परन्तु जब वह अच्छा होने को होता है, तब उसमें आत्म-हत्या करने की सामर्थ्य आ जाती है। उसी समय उसकी जान बचाने की आवश्यकता होती है। ऐसे रोगी को बड़ी साधानी से रक्खा जाता है।

मेलेन्कोलिया का रोग मनुष्य की महत्वाकांक्षा में भारी ठेस लग जाने से उत्पन्न हो जाता है। डा० फ्राम के अनुसार यह रोग प्रबल काम-वासना के दमन से होता है। इस रोग का एक शिक्षा-प्रद उदाहरण बर्नार्ड हार्ट ने अपनी 'साइकोलाजी आफ इनसेनिटी' नामक पुस्तक में दिया है। बर्नार्ड हार्ट जिस पागलखाने के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे, उसमें एक महिला प्रति-दिन एक कोने में चुप-चाप बैठ जाती थी। वह किसी से बोलती-चालती नहीं थी और सबेरे से शाम तक अपने दोनों हाथों से इस प्रकार की चेष्टाएँ करती थी, मानो वह कोई चीज सी रही हो। वह अपनी धुन में इतनी व्यस्त रहती थी कि उसे आस-पास की कोई चीज नहीं दिखाई देती थी। इसे जब नहलाया-धुलाया जाता था, तभी वह नहाती थी। बार-बार कहने पर वह भोजन करती थी। वह क्या सोचती थी इसका पता किसी को नहीं था। इसके जीवन की विगत घटनाओं को खोजने से पता चला कि यह महिला एक मोची से विवाह करना चाहती थी। उसे आशा थी कि वह मोची उससे विवाह कर लेगा। परन्तु, उसकी इस अभिलाषा की पूर्ति नहीं हुई। इसके पश्चात् ही उसे मेलेन्कोलिया का रोग हो गया। अब वह प्रतीक रूप से वही क्रियायें करती रहती थी, जो उसका प्रेमी अपने वास्तविक जीवन में करता था। ये क्रियाएँ उसके अचे-तन मन-द्वारा अनायास होती थीं।

अभी हाल में ही काशी मनोविज्ञानशाला में एक पच्चीस वर्षीय युवती आयी। इस समय इस युवती की दो बच्चियाँ हैं। यह जब कभी आती, तब अपनी बहिन के साथ आती थी। यह सब समय अपनी बहिन

के साथ असम्बद्ध बातें करती रहती थी। वह अपने बच्चों को प्यार दिखाती और साधारण सामाजिक शिष्टाचार भी दिखाती थी। परन्तु हर समय बोलती ही रहती थी और उसके बोलने की प्रणाली में कोई क्रम-बद्धता नहीं रहती थी। इसका वर्तमान रोग स्किजोफ्रेनिया के रूप में था। आज से पाँच वर्ष पूर्व यह महिला किसी से बोलती-चालती नहीं थी। यह एक कमरे में उदासीन होकर बैठी रहती थी। इसे खाने-पीने की परवाह भी नहीं रहती थी। इस रोग का कारण जानने से पता चला कि रोगिनी अपनी किशोरावस्था में किसी ऐसे व्यक्ति को मन-ही-मन प्यार करने लग गई थी, जिससे उसका विवाह होना सम्भव नहीं था। जब उसकी इच्छा का अवरोध बहुत दिनों तक हुआ और इसके पूर्ण होने की कोई आशा नहीं रही, तो उसे विषाद का रोग उत्पन्न हो गया।

विषाद-रोग की अवस्था में मनुष्य का स्नेह पुरोगामी न होकर प्रतिगामी बन जाता है। डा० फ्रायड के अनुसार मनुष्य की प्रेम-शक्ति उसकी प्राथमिक अवस्था में पहुँच जाती है; अर्थात् उसका प्रेम स्वाश्रित हो जाता है। स्वाश्रित प्रेम ही मेलेन्कोलिया का रूप ले लेता है। स्किजोफ्रेनिया और पेरानोइया में भी यही होता है। मानसिक चिकित्सा के द्वारा उन्हीं रोगों का उपचार किया जा सकता है, जिनमें काम-शक्ति का दमन उसे स्वाश्रित प्रेम की अवस्था में नहीं ले जाता है।

पेरानोइया (विकृत्-महानता)

पेरानोइया का रोग मेलेन्कोलिया के रोग के समान ही बड़ा ही घातक रोग है। परन्तु जहाँ मेलेन्कोलिया में मानसिक रोगी केवल अपने को विनष्ट करना चाहता है, वहाँ पेरानोइया में वह दूसरे व्यक्तिका विनाश करना चाहता है। जब उसे दूसरे का विनाश करने में सफलता नहीं मिलती, तो वह आत्म-विनाश के लिए उन्नत हो जाता है। मेलेन्कोलिया का रोगी सदा अपने को ही त्रास देते रहता है। वह अकारण ही अपने आपको दुःखी बनाये रखता है, पेरानोइया का रोगी दूसरों को त्रास देता है। उसकी विशेष दुश्मनी अपने से बड़े लोगों के प्रति होती है। पेरानोइया का रोगी बचपन से ही पितृ-प्रेम से वंचित रहता है। उसमें पिता

के प्रति प्रबल द्वेष-भावना रहती है। यह द्वेष-भावना प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के ऊपर आरोपित हो जाती है, जिसमें वह पिता के गुण, उसका बड़प्पन अथवा श्रेष्ठता पाता है।

पेरानोइया के रोगी के आन्तरिक मन में अपने प्रति हीनता का भाव रहता है। यह हीनता का भाव एक विशेष प्रकार की ग्रन्थि रोगी के मन में बन कर अत्युच्च बनने की प्रेरणा पैदा करता है। ऐसे रोगी के मन में काम-वासना-सम्बन्धी अनेक उलझनें रहती हैं। कभी-कभी जननेन्द्रिय छोटी होने के कारण वह अपने को नपुंसक समझने लगता है। कभी अनेक प्रकार के व्यभिचार के कारण उसमें मानसिक नपुंसकता की प्रतिक्रिया स्वरूप वह अपने आपको दुनियादारी में दूसरों से श्रेष्ठ सिद्ध करने की असाधारण चेष्टा करता है। जब तक वह अपनी इस चेष्टा में सफल होता है, तब तक वह दूसरों का अहित भले ही करे, उसे पागलपन नहीं होता है। यह पागलपन उसी समय होता है, जब उसे अपने कार्यों में बहुत बड़ी असफलता हो जाती है। इस प्रसंग में पेरानोइया के रोगी के दो एक उदाहरण उल्लेखनीय हैं:—

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व लेखक के एक परिचित व्यक्ति को जो कालेज के अध्यापक थे, पेरानोइया का रोग हो गया था। इस रोगी अवस्था में वे सोचते थे कि उनके पीछे खुफिया पुलिस लगी है और उनके प्रत्येक काम को वह बड़ी सावधानी से देख रही है। वह अपने प्रत्येक मित्र को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। वे समझते थे कि वे सभी खुफिया विभाग के काम कर रहे हैं। अपनी स्त्री को भी वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। वे सोचते थे कि वह भी उनके दुश्मनों से मिली हुई है। अपनी सन्देहात्मक मनोवृत्ति के कारण वे अपनी स्त्री को घृणा की दृष्टि से देखने और उसे बार-बार पीटने लगे। जिस संस्था में वे काम करते थे, उसके अध्यक्ष को भी वे अनाप-सनाप कह बैठते थे। जब डाक्टरों ने बताया कि उनका दिमाग बिगड़ गया है, तो उन्हें नौकरी से हटा दिया गया फिर वे अपनी स्त्री को ही मारते-पीटते थे। वह बिचारी भी घर छोड़कर अपने मायके चली गई। उसके साथ उसके बच्चे भी चले गए। इस तरह इनकी बड़ी ही दयनीय

अवस्था हो गई। वे जानते थे कि उन्हें निर्दोष ही उनके पद से हटाया गया है। अतएव वे जिस संस्था में काम करते थे, उसमें जाकर कभी-कभी क्लास में अचानक घुस जाते और लड़कों के सामने लेक्चर देने लग जाते थे। उन्हें पकड़ कर किसी प्रकार से बाहर निकाला जाता था।

इनके रोग के कारण जानने के लिए जब उनके जीवन की प्रमुख भावात्मक घटनाओं को खोजा गया, तो पता चला कि ये विद्यार्थी-काल से ही बड़े महत्वाकांक्षी व्यक्ति थे। शरीर से ये बड़े ही दुर्बलकाय थे, परन्तु इनकी महत्वाकांक्षा इन्हें घोर परिश्रम करने के लिए बाध्य करती थी। घर में गरीबी रहने के कारण उन्हें स्वास्थ्य-वर्द्धक भोजन भी नहीं मिल पाता था, तिस पर भी ये दिन में दस बारह घंटे अध्ययन करते थे। इस प्रकार के असाधारण परिश्रम करने के कारण उन्हें विद्यार्थी-जीवन में ही क्षय-रोग हो गया। बहुत उपचार के बाद इस रोग से ये मुक्त हुए। कुछ समय के लिए उनकी पढ़ाई में बाधा अवश्य आई, परन्तु उन्होंने असाधारण परिश्रम करने की अपनी आदत न छोड़ी। अथक परिश्रम के परिणाम-स्वरूप उन्होंने विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि डी० लिट्० प्राप्त की। जब उन्हें यह उपाधि प्राप्त नहीं हुई थी, तभी उन्हें अध्यापन का कार्य मिल चुका था। उन्हें आशा थी कि डी० लिट्० की उपाधि मिलने पर विद्वत्-समाज में उनका बड़ा सम्मान होगा और अध्यापन का ऊँचा-से-ऊँचा पद उन्हें मिल जाएगा। परन्तु ऐसा न हुआ। उन्हें अपने प्रयास में कई बार विफल होना पड़ा। अब उनके मन में कल्पना आई कि संस्था के सर्वोच्च अधिकारी ही उनकी उपेक्षा करते हैं। वे उन्हें दबा कर रखना चाहते हैं। इसके कारण उन्होंने उस संस्था को ही छोड़ दिया। उन्होंने दूर स्थान पर दूसरी संस्था में नौकरी की। परन्तु यहाँ पर भी उन्हें उतना आदर प्राप्त नहीं हुआ, जितने की उन्हें आशा थी। इसका एक कारण उनका क्षीण-काय व्यक्तित्व और रहन-सहन की विलक्षता थी। परन्तु ये अपने दोषों को न देखकर उनकी असफलता के कारण को किसी कल्पित शत्रु के षड्यन्त्र में ही देखते थे। उनकी इस प्रकार की मनोभावना दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। फिर ये इस कल्पित शत्रु की

निन्दा बहुत से लोगों से करने लगे। इसके बाद उनके मन में कल्पना उठी कि उनका कल्पित शत्रु उन्हें वर्त्तमान पद से भी हटा देना चाहता है और इसके लिए बहुत से प्रमाण उनके विरुद्ध एकत्र कर रहा है। फिर वे अपने आस-पास के लोगों को ही अपने शत्रु का जासूस मानने लगे। इस प्रकार की मनोवृति इतनी बढ़ी कि वे अपने आपको चारों ओर शत्रुओं से घिरा पाने लगे। वे अनायास ही किसी भी व्यक्ति से लड़ने-झगड़ने और उसे गाली-गलौज करने लगे। दुर्बलकाय होने के कारण अधिक मार-पीट करने की क्षमता उनमें थी ही नहीं। परन्तु जिस संस्था में वे काम करते थे, उसके अधिकारी उनसे ऊब गए और उन्होंने उन्हें पद से हटा दिया। इस तरह उनका दिमाग और भी बे-ठिकाने हो गया। कुछ दिनों तक दुःखी जीवन व्यतीत कर उनका देहान्त हो गया।

पेरानोइया के रोगी के मन में काम-वासना का विकास स्वाभाविक रूप से नहीं होता। अतएव उसे स्त्रियों के प्रति सहज आकर्षण नहीं होता। पेरानोइया के बहुत से रोगियों में समलिंगी प्रबल काम-वासना उपस्थित रहती है। यह वासना काम-शक्ति के प्राकृतिक विकास में बाधा डालती है। इसके कारण पेरानोइया की प्रवृत्ति का व्यक्ति सरलता से विवाह नहीं करता। वह तो स्त्रियों के प्रति आकृष्ट ही नहीं होता और यदि वह उनसे सम्बन्ध स्थापित करता है, तो केवल ऐन्द्रिक सुख के लिए ही। पेरानोइया का होनहार रोगी पारिवारिक जिम्मेदारी से भागता है। वह व्यक्तिगत श्रेष्ठता प्राप्त करने की अत्यधिक चेष्टा करता है। वैवाहिक सम्बन्ध इस प्रकार की श्रेष्ठता में बाधक होता है, अतएव वह इस प्रकार के झंझटों में फँसना नहीं चाहता है। ऐसा व्यक्ति कभी-कभी बड़ा ही रूपवान और आकर्षक व्यक्तित्व का होता है। अतएव वह बहुत-सी नव-युवतियों को फँसाने में समर्थ होता है। परन्तु उनका जीवन खराब करने के लिए ही वह उनके प्रति अपना सम्मान दिखाता है। स्त्रियों के प्रति निर्दयता का व्यवहार करना मनुष्य में पेरानोइया की प्रवृति के उपस्थित रहने का एक लक्षण है।

कभी-कभी पेरानोइया का रोगी बहुत-सी स्त्रियों से व्यभिचार करता

है। फिर उसे अचानक किसी स्त्री को काम-वासना को तृप्त करने में असफलता होती है, जिससे उसे कुछ व्यंग्यात्मक शब्द सुनने पड़ते हैं। इसी समय उसे पैरानोइया का रोग उभड़ आता है। इस प्रकार के रोगी का उदाहरण हेनरी फिशर की 'एबनारमल साइकोलाजी' में दिया गया है।

बहुत ही आकर्षक व्यक्तित्व का एक नवयुवक बहुत-सी महिलाओं से प्रेम करता था। वह उनसे अपनी वासना की तृप्ति करता रहा, परन्तु किसी से विवाह नहीं करता था। इस तरह वह अपने आपको जीवन भर स्वतंत्र रखना चाहता था। अपनी जवानी के बीस वर्ष उसने इसी तरह गुजारे। एक बार जब वह एक बे-शरम महिला के साथ संभोग कर रहा था, तो उसने अपने आपको उसकी वासना को तृप्त करने में असमर्थ पाया। उस महिला से उसे नपुंसक की संज्ञा मिल गई। बस इसी समय से उसे पैरानोइया का रोग हो गया और उसे पागलखाने में जाना पड़ा।

वास्तव में जिन लोगों के व्यक्तित्व में मानसिक नपुंसकता रहती है, उनकी नपुंसकता की मनोवृति अनेक प्रकार से व्यक्त होती है। अपने से बड़े, समाज में उच्च अथवा किसी प्रकार के सम्मानित व्यक्ति से उनका सहज द्वेष हो जाता है। वे ऐसे व्यक्तियों की निंदा सदा करते रहते हैं। मानसिक नपुंसकता से पीड़ित व्यक्ति स्त्रियों के प्रति क्रूर रहते हैं। वे उन्हें सब प्रकार के ऐबों की खान बताते हैं। उनके लिए सब प्रकार के पापों का पुंज नारी ही है। ऐसे व्यक्तियों को बड़ी सरलता से अपनी स्त्री के सतित्व में अविश्वास हो जाता है। जहाँ वास्तविक कारण नहीं होता, वहाँ उनका कल्पित कारण ढूँढ़ लेता है। स्त्री को वे प्रेम का आश्रय न मानकर केवल भोग्य वस्तु ही मानते हैं। अतएव कभी-कभी मानसिक नपुंसकता के लोग बहुत-सी स्त्रियों से व्यभिचार तो करते हैं, पर प्रेम किसी से नहीं करते। मनुष्य में व्यभिचार की प्रवृति भी मानसिक नपुंसकता का प्रयास है। अतएव व्यभिचार के परिणाम-स्वरूप भी ऐसे लोगों में नपुंसकता आ जाती है और फिर उन्हें पैरानोइया का रोग हो जाता है।

अब यदि इस प्रकार की नपुंसकता के कारणों की भी खोज की जाए, तो हम उसे रोगी के बचपन के जीवन में पायँगे। जिन बालकों को पिता

का कठोर व्यवहार मिला है और जिनमें पितृ-द्वेष की प्रबल मानसिक ग्रंथि उत्पन्न हो गई है, वे एक ओर मानसिक नपुंसक बन जाते हैं और दूसरी ओर प्रत्येक ऐसे व्यक्ति से द्वेष करने लगते हैं, जो उनके पिता का प्रतीक हो, अर्थात् जिसमें किसी प्रकार की श्रेष्ठता पाई जाय। इसके परिणाम-स्वरूप उनमें एक ओर स्त्री-द्वेष की भावना हो जाती है और दूसरी ओर वे अपने आपको संसार का महान व्यक्ति बनाने की चेष्टा में लग जाते हैं। जब तक उन्हें इस कार्य में सफलता मिलती जाती है और जब-तक वे अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते जाते हैं, तब तक उनमें पेरानोइया का रोग प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु जब उन्हें विफलता मिलती है, तब उनका रोग अपने विकराल रूप में बाहर चला आता है। बहुत से लोग इस रोग के वीभत्स रूप के प्रकाशन के पूर्व ही आत्महत्या करके मर जाते हैं।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि सभी प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पति का एक प्रधान कारण काम-वासना के स्वाभाविक रूप से विकसित न होने का परिणाम है। काम-वासना मनुष्य के प्रेम प्रसार का साधन है। जब वासना के द्वारा केवल ऐन्द्रिक सुख होता है, तो प्रेम का प्रसार नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति करती है। मानसिक नपुंसकता काम-वासना के विकास में रुकावट का परिणाम है। जिन लोगों को अपने माता-पिता का समुचित प्रेम नहीं मिलता, उनकी काम-वासना उनके विकास से सम्बन्धित न रहकर उससे स्वतन्त्र हो जाती है। ऐसी ही अवस्था में अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं। प्रेम का सहयोग पाकर काम-वासना बली बनती है और उसके द्वारा संसार का रचनात्मक कार्य होता है। प्रेम के अभाव में काम-वासना दुर्बल अथवा विकृत हो जाती है। मनुष्य ऐसी अवस्था में हस्तमैथुन, समलिंगी भोग या वेश्या-गमन में ही रमन करने लगता है। फिर वह किसी भी एक आवेगात्मक घृणा होने पर मानसिक रोगी बन जाता है। पेरानोइया के रोगी में इस वासना का उचित विकास नहीं हो पाता।

समाज के बहुत से श्रेष्ठ माने गए पुरुषों में पेरानोइया की मनोवृत्ति छिपे रूप से रहती है। किसी देश के प्रतिष्ठित राजनैतिक नेता में इस प्रकार की मनोवृत्ति का होना कोई असाधारण बात नहीं। अधिनायकवाद का प्रवर्त्तन वे ही लोग करते हैं, जिनमें पेरानोइया की मनोवृत्ति गुप्त रूप से काम करती रहती है। डा० विलियम ब्राऊन के कथनानुसार जर्मनी के प्रसिद्ध अधिनायक हिटलर में इस प्रवृत्ति की प्रबलता थी। उसने अपने व्यक्तित्व से सारे देश को प्रभावित किया और उसने एक ऐसा विश्व-युद्ध खड़ा कर दिया, जिसमें करोड़ों लोगों की जानें गईं और अरबों की सम्पत्ति की बरबादी हुई। जिन लोगों ने हिटलर के नेतृत्व को माना, उन्हें ही सबसे अधिक कष्ट उठाना पड़ा और स्वयं हिटलर का जीवन भी आत्म-हत्या से समाप्त हुआ। संसार के सभी तानाशाहों में कुछ-न-कुछ पेरानोइया की प्रवृति रहती ही है। डा० विलियम ब्राऊन का कथन है कि किसी भी देश की सरकार के मन्त्रियों में पेरानोइया की मनोवृत्ति उपस्थित रह सकती है और यदि किसी देश के मन्त्री ऐसे हुए, तो उस देश का विनाश सुनिश्चित है। अतएव मंत्री-पदपर आने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति का मनोविश्लेषण होना नितान्त आवश्यक है। परन्तु यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जिस व्यक्ति में जितना ही अधिक पेरानोइया या आत्म-हीनता की प्रबल मानसिक ग्रंथि रहती है, वह गम्भीर मनोविज्ञान के अध्ययन का उतना ही शत्रु होता है। हिटलर ने जर्मनी के सभी मनोविश्लेषण-संस्थाओं को बन्द करा दिया था और उसने वहाँ के प्रमुख मनोविश्लेषकों का देश-निकाला कर दिया था। तानाशाही लोग बुद्धि-मापक परीक्षाओं अथवा मन के छिछले स्तरों के ज्ञान को बढ़ा सकते हैं; परन्तु जहाँ अन्तर्मुखता की वृद्धि की बात है अथवा मन के गंभीरतम भागों को जानने की बात है; वे इसे पागलपन या धूर्त-विद्या ही बतायँगे।

पेरानोइया के प्रकार

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने पेरानोइयाके निम्नलिखित छह प्रकार बताए हैं—

(१) त्रासात्मक पेरानोइया (२) न्यायालयात्मक पेरानोइया (३)

सुधारात्मक पेरानोइया (४) धार्मिक पेरानोइया (५) काम-वासनात्मक पेरानोइया (६) रोगात्मक पेरानोइया।

(१) त्रासात्मक पेरानोइया—त्रासात्मक पेरानोइया सभी प्रकार के पेरानोइयों से अधिक पाया जाता है। किसी भी मानसिक चिकित्सालय में पेरानोइया के रोगियों का बाहुल्य देखा जाता है। इस प्रकार के रोगी का एक उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। इस प्रकार के रोग में मनुष्य का मन बड़े ही दुःख में रहता हैं। वास्तव में उसकी अन्तरात्मा ही उसे दुःख देती है, अर्थात् उसका नैतिक सत्व ही उसे त्रास देता है। परन्तु वह अपने त्रास का आरोपण किसी ऐसे व्यक्ति या संस्था पर कर देता है, जो उसके नैतिक सत्व का प्रतीक हो। फिर वह सोचता है कि इस व्यक्ति ने सारे संसार में ऐसा जाल फैला रक्खा है कि उससे मिलनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसका दुश्मन बन जाए, और जिससे उसका सर्वनाश हो जाए। कभी-कभी ऐसा व्यक्ति अपने सम्बन्धियों, उसकी सेवा-सुशूश्रा करने वालों या डाक्टरों को ही अपना शत्रु मान लेता है और सोचता है कि वे उसे जहर देकर मार डालना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति को यह प्रमाण भी मिल जाता है कि उसके विरुद्ध लोग षड्यंत्र रच रहे हैं। कभी-कभी वह अपने पड़ोस में रहनेवाले किसी व्यक्ति पर घातक प्रहार भी कर बैठता है।

अभी हाल की ही बात है कि लेखक के पास एक रोगी के विषय में पत्र आया कि वह रोगी इस समय अपने आस-पास के सभी लोगों को अपना शत्रु मानने लगा है। कभी-कभी वह इसलिए भोजन नहीं करता है कि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि भोजन में जहर मिला दिया गया है। एक बार उसने अपने बड़े भाई को, जो उसे भोजन देने आए थे, डंडे से इस प्रकार मारा जिससे उनका हाथ ही टूट गया। इस रोग का प्रारम्भ उसे अपनी नौकरी की उन्नति में असफलता के कारण हुआ था। इस व्यक्ति की योग्यता साधारण थी, परन्तु असाधारण प्रयत्न करके उसने रेलवे विभाग में एक अच्छा स्थान पा लिया था। इसके कारण इस विभाग के बहुत से कर्मचारी उसे कुछ सहज द्वेष की दृष्टि से देखने लगे थे। परन्तु उसकी कल्पना ने तिल का ताड़ बना दिया। वह सोचने लगा कि सभी लोग उसके

विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे हैं और उसका उच्चाधिकारी उसका घोर शत्रु बन गया है। जब दूसरी बार उसे एक उच्च पद पाने की कोशिश में असफलता मिली, तो उसका रोग उभड़ आया।

त्रासात्मक पेरानोइया के रोगी में रोग होने के पूर्व ही असाधारण महत्वाकांक्षाएँ रहती हैं। अपनी महत्वाकांक्षाओं की प्राप्ति के लिए वह असाधारण प्रयत्न भी करता है। इससे महात्वाकांक्षा की प्रवृति और भी बढ़ती जाती है। यदि उसकी इस प्रवृति में रुकावट न हो, तो सम्भवतः वह सारे जगत का ही विजय करले। जगत के सभी लोक-विजेताओं में पेरानोइया की प्रवृति रहती है और उन्हें असफलता शत्रुओं की संख्या बढ़ जाने से होती है। कुछ लोग तो उनके वास्तविक शत्रु होते हैं, परन्तु अधिक संख्या कल्पित शत्रुओं की ही होती है। जहाँ उसका कोई शत्रु न होगा, वहाँ वह शत्रु बना लेगा।

एक बार नगरपालिका के एक साधारण क्लर्क ने असाधारण परिश्रम करके अनेक परीक्षाएँ पास कीं। इससे वह उत्तरोत्तर ऊँचे-ऊँचे पद पाते रहा। थोड़े ही समय में वह सर्वोच्च अधिकारी के दो तीन श्रेणी नीचे रह गया। अब उसने नगरपालिका के मेम्बरों को मिलाकर ऊँचे पद पाने की चेष्टा की और इस पद-प्राप्ति की चेष्टा में उसने नगर-प्रेसिडेंट का विरोध करने का भी साहस किया। इसमें उसे सफलता मिली। इससे उसका हौसला और भी बढ़ गया। अतएव वह सर्वोच्च पद पाने की चेष्टा करने लगा। इस कार्य में प्रेसिडेंट का विरोध और योग्यता की कमी के कारण उसे असफलता मिली। इस असफलता से वह इतना दुःखी हुआ कि उसे त्रासात्मक पेरानोइया हो गया। उसे नौकरी छोड़कर बैठ जाना पड़ा। वह अपनी रुग्णावस्था में सोचा करता था कि उसके शत्रु ने उसके पास गुप्तचर रख छोड़े हैं और उसका शत्रु उसे हानि पहुँचाने के लिए भूत-प्रेत और योगिनियों को भेजा करता है। दो-एक वर्षों तक अस्वस्थ रहने के बाद वह प्राकृतिक रूप से स्वतः ठीक हो गया।

(२) न्यायालयात्मक पेरानोइया—इस पेरानोइया का रोगी किसी-न-किसी व्यक्ति से सब समय मुकदमा लड़ते ही रहता है। जब उसके घर में

खाने-पीने के लिए भी पैसा नहीं रहता, तब भी वह किसी-न-किसी मुकदमें में लगा ही रहता है। उसके इस मुकदमेंबाजी का लक्ष्य उतना अधिक लाभ-प्राप्ति नहीं रहती, जितना अपने शत्रुको नीचा दिखाने की मनोवृत्ति। अपने प्रतिवादी से मेल-जोल करना उसे मौत के समान दिखाई देता है। ऐसा व्यक्ति किसी के प्रति सच्चा नहीं रहता। जिन लोगों से वह एक मुकदमें में सहायता पाते रहता है, उन्हीं को वह धोखा दे देता और अपनी मुकदमेबाजी का शिकार बना लेता है। जैसे शराबी और गँजेड़ी को शराब और गाँजे का नशा रहता है, उसी प्रकार न्यायालयात्मक पेरानोइया के रोगी को मुकदमेबाजी का नशा रहता है। ऐसे लोगों को दूसरे लोगों को दुःख देने में ही सुख मिलता है। इस प्रकार के रोगी बहुत से झूठे और जाली कागजात बना लेते और दूसरों को त्रास देने की मनोवृत्ति में किसी प्रकार की नैतिकता का विचार नहीं करते। इस प्रकार का एक रोगी आज से चालीस वर्ष पूर्व लेखक के गाँव में रहता था। यह बचपन से ही अनेक प्रकार की कुटेवों का शिकार था। झूठ बोलना, चोरी करना और सभी प्रकार के व्यभिचार में पड़ना इसके लिए सहज बात थी। एक बार वह चोरी में पकड़ा गया और उसे चार महीने की सजा हो गई। इसके बाद उसने कानून को खूब पढ़ा। फिर क्या था, उसने गाँव के बड़े-बड़े लोगों के विरुद्ध बहुत से जाली दस्तावेज बनाने शुरु किए। उसे कुछ साथी भी मिल गए। इस तरह दूसरों को दुःख देने वालों का एक गिरोह तैयार हो गया। किसी भी भले आदमी के साथ मार-पीट कर लेना और उनकी जमीन हथिया लेने के लिए उन्हें मुकदमें में फँसाना उसके लिए साधारण बात थी। उसके कारण सारा गाँव आतंकित रहने लगा। वह एक बहुत ही निम्न कुल का व्यक्ति था। परन्तु गाँव के सभी प्रतिष्ठित लोग उससे डरने लगे। बड़े लोगों को नीचे गिराने में उसे एक विशेष प्रकार का मजा आता। फिर कुछ लोगों ने उसकी हत्या कर डाली। गाँव के सभी लोग पहिले से ही उसके विरुद्ध थे। अतः उसके हत्यारों को बहादुर ही माना गया और पुलिस उन्हें हत्यारे प्रमाणित नहीं कर पाई।

(३) सुधारात्मक पेरानोइया—सुधारात्मक पेरानोइया का रोगी समाज में अनेक ऐसे दोष पाता है, जिसके कारण उसका मन अशान्त रहता है। समाज के भले-से-भले व्यक्ति में भी वह कोई बहुत बड़ा दोष देख लेता है और इसके कारण वह ऐसे व्यक्ति की हत्या तक कर डालने की कोशिश करता है। वास्तव में सुधारात्मक पेरानोइया का रोगी अपनी ही अन्तरात्मा में उपस्थित बुराइयों से सदा क्षुब्ध-मन रहता है। परन्तु जो बुराइयाँ उसके अन्तर्मन में उपस्थित हैं, उन्हींको वह समाज के दूसरों लोगों में वृहद् रूप से देखता है। इस प्रकार उसका मन समाज की बुराइयों में ही उलझा रहता है। समाज की एक बुराई का अन्त करने पर उसे दूसरी बुराइयाँ दीखने लगती हैं। 'जस-जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा' वाली कहावत उसमें चरितार्थ होती है।

सुधारात्मक पेरानोइया के रोगी में आत्म-निरीक्षण की शक्ति रहती ही नहीं। यदि कोई उसे अपने भीतर देखने की सलाह दे, तो वह ऐसे व्यक्ति का शत्रु बन जाता है। उसकी नैतिकता के सिद्धान्त बड़े ऊँचे होते हैं। वह सभी लोगों के आचरणों को इन ऊँचे सिद्धान्तों की कसौटी पर कसता है और उन्हें खोटा ही पाता है। जहाँ तक स्वयं के आचरण की बात है, वहाँ तक वह अपने जीवन में उन सिद्धान्तों को चरितार्थ ही करता है। कभी-कभी वह इन सिद्धान्तों के प्रतिकूल आचरण करता है, तो वह किसी-न-किसी प्रकार अपने इस आचरण को न्याय-युक्त ही सिद्ध कर लेता है। यहाँ उसका विवेक ही उसे धोखा दे देता है। सुधारात्मक पेरानोइया का व्यक्ति दूसरे प्रकार की पेरानोइया के व्यक्तियों के समान बहुतों को अपना शत्रु बना लेता है और उन्हें सुधारने के प्रयास में ही उसका प्राणान्त होता है। कभी-कभी वे ही लोग उसकी हत्या कर डालते हैं, जिन्हें सुधारने का प्रयास वह करता है। सुधारात्मक पेरानोइया के रोगी को अपनी नैतिकता का बड़ा ही अभिमान होता है और इसी अभिमान के कारण वह आत्म-विनाश करता है।

(४) धार्मिक पेरानोइया—धार्मिक पेरानोइया के लोग अपने आपको भगवान का एकलौता पुत्र, विशेष दूत अथवा स्वयं परमात्मा का अवतार

मानते हैं। वे सोचते हैं कि वे संसार को एक विशेष प्रकार की बात सिखाने के लिए आए हैं। कभी-कभी उन्हें कुछ अलौकिक शक्ति-प्राप्ति का वहम रहता है। भारतवर्ष के बहुत से योगी-यतियों में इस प्रकार का रोग पाया जाता है। ऐसे लोगों को बहुत से अनुयायी भी मिल जाते हैं। कुछ लोग इन लोगों के विषय में यह भी प्रसिद्ध कर देते हैं कि वे कोई बहुत बड़ी विभूति लेकर आए हैं और वे संसार के बहुत बड़े धर्मगुरु बनेंगे। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वे किसी बड़े महात्मा के अवतार हैं। किसी व्यक्ति के बारे में ऐसी शक्तियों का प्रमाण दिया जाता है कि उनके छूने मात्र से मनुष्य के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। अनेक प्रकार के चमत्कार धार्मिक पेरानोइया के परिणाम हैं। धार्मिक पेरानोइया के व्यक्ति अपने आपको एक विशेष प्रकार का अजनवी प्राणी मानते हैं। वे अनेक प्रकार के आडम्बरों को उपस्थित करके समाज के दूसरे लोगों के सामने किसी विशेषता को लेकर उपस्थित होते हैं। दूसरे लोगों को धोखा देने के लिए यदि ऐसा काम किया जाए, तो उसे पेरानोइया का लक्षण न मानना चाहिए। धार्मिक पेरानोइया का रोगी स्वयं अपने आन्तरिक भावों को नहीं जानता। वह अपने अनजाने ही संसार के एक विशेष व्यक्ति के रूप में प्रकट होने की चेष्टा करता है। डा० फ्रायड संसार के बहुत से धर्मगुरुओं की पेरानोइया की मनोवृत्ति को भले प्रकार से पहचान गए थे। इसीलिए उन्होंने अपनी 'फ्युचर आफ एन इलुजन' नामक पुस्तक में यह दर्शाने की चेष्टा की है कि जैसे-जैसे समाज में गम्भीर मनोविज्ञान का ज्ञान अधिक बढ़ेगा, तैसे-तैसे मानव की धार्मिक मनोवृत्ति और अलौकिक शक्ति की उपस्थिति के विश्वास का अन्त हो जाएगा। इस प्रकार की मनोवृति और विश्वास मानव-जाति के लिए एक पागलपन है। यह आन्तरिक आत्म-हीनता के भावों का परिणाम है। आत्म-हीनता का यह भाव भी अपने विषय में अज्ञ होने के कारण होता है। जिस मनुष्य को सच्ची महानता नहीं मिली, वह झूठी महानता की खोज में रहता है। सच्ची महानता आत्मज्ञान से प्राप्त होती है। मनोविज्ञान इस आत्म-ज्ञान का साधन है। अतएव मनोविज्ञान का अध्ययन मनुष्य को उसके सभी

प्रकार के पागलपनों से मुक्त कर देने का सर्वोत्तम साधन है। समाज में अनेक प्रकार की धर्मान्धता का प्रचार भी इस प्रकार से समाप्त हो जाता है।

(५) काम-वासनात्मक पेरानोइया—काम-वासनात्मक पेरानोइया के रोगी सोचा करते हैं कि वे बड़े ही रूपवान हैं और संसार की सबसे बड़ी रूपवती युवती उनपर विमोहित हो गई है। पुराणों में इसका बहुत अच्छा उदाहरण नारद-मोह में पाया जाता है। नारद ऋषि ने बहुत तपस्या करके काम-वासना पर विजय प्राप्त करने का अभिमान किया। परन्तु इस वासना ने भी उन्हें भले प्रकार से मूर्ख बनाया। वे एक ऐसी रूपवती कन्या के रूप में आसक्त हो गए, जिसे पाने की क्षमता मानव तो क्या देवता भी नहीं रखते थे। कहा जाता है कि भगवान ने इनकी आँखें खोलने के लिए इन्हें बन्दर की शक्ल दे दी थी। जब वे स्वयंवर-सभा में उपस्थित हुए, तब वे उस रूपवती युवती का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ऊँचे उठकर देखते तथा एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उछला करते थे। परन्तु वह युवती जब भी इनकी ओर देखती थी, तो बहुत ही बुरा मुँह बनाकर दूसरी ओर देखने लगती थी। बिचारे नारद की समझ में ही नहीं आता था कि उनके इतना रूपवान होते हुए भी, वह युवती उनकी ओर नजर क्यों नहीं डालती। पीछे उनके ही दो मित्रों ने, जो शिव के गण कहे जाते हैं, उन्हें बताया कि वे अपना चेहरा किसी आइने में देखें। इतना कहकर वे उनकी खिल्ली उड़ाते हुए भागे। नारदजी इसका कारण न समझ सके। जब उन्होंने अपना चेहरा दर्पण में देखा, तो अपने आपको बन्दर की शक्ल का पाया। वे क्रोध के मारे आग-बबूला हो गए। उन्होंने फिर अपने कल्याण-कर्त्ताओं को घोर अभिशाप दिया। वास्तव में पेरानोइया के रोगी को किसी प्रकार की सीख देना खतरे से खाली नहीं है। शिव के गणों को राक्षस बनना पड़ा और उस महिला को, जिसने उनका तिरस्कार किया था, पति-बिछोह का कष्ट सहना पड़ा।

ऊपर कही गई पौराणिक कथा कामवासनात्मक पेरानोइया के रोगियों की मनोवृत्ति को एक रूपक के रूप में व्यक्त करती है। हम प्रतिदिन इस प्रकार के रोग से पीड़ित बहुत से नवयुवकों को पाते हैं। कुछ व्यक्तियों

में यह रोग तब प्रकट होता है, जब वह अधिक बढ़ जाता है, इस प्रकार के रोगी का एक उदाहरण हाल ही में हमारे अनुभव में आया। यह रोगी पहिले लेखक का शिष्य ही था। उसका विवाह पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में हुआ था। किसी कारण-वश अपने ससुर के साथ उसका झगड़ा हो गया। अतएव उसने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया। इसी समय १९४१ के राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेकर वह जेल चला गया। चार-पाँच वर्षों तक वह अनेक प्रकार के राजनैतिक कार्यों में अपने को लगाए रखकर अपनी पत्नी से अलग रहा। फिर लेखक के समझाने-बुझाने पर उसने पत्नी को अपने घर लाना स्वीकार किया। इसी बीच उसकी पत्नी को कोई असाध्य रोग हो गया और वह मर गई। ससुर से झगड़े का कारण उसका अपनी पत्नी को मारना-पीटना ही था। इस प्रकार अब वह पत्नी से मुक्त हो गया। अब उसकी उम्र तीस वर्ष की हो चुकी थी। पत्नी से मुक्त होने पर उसने एक संस्था में पढ़ना आरम्भ किया। अपने भोजन का खर्च वह किसी प्रकार स्कालरशिप से चलाता, निःशुल्क पढ़ता और उसके कपड़े फटे-पुराने रहते थे। दारिद्रय का नग्न दृश्य उसके शरीर पर दीखता था। उसके चेहरे पर सूखापन दिखाई देता था और उसके गाल पिचके हुए थे। इसी बीच उसके मन में यह धारणा हो गई कि जिस संस्था में वह पढ़ता है, उसी के अध्यक्ष की लड़की उससे प्रेम करती है। वह उससे विवाह करने के लिए बड़ी ही उत्सुक है। केवल उसके पिता ही इस विवाह-संबन्ध में बाधक हो रहे हैं। यदि वह लड़की कहीं मार्ग से भी निकल जाए, तो वह सोच बैठता था कि वह उसे देखने ही आई थी। रास्ते में पड़े हुए कागजों में वह अपनी प्रेमिका के पत्रों की खोज किया करता था। थोड़े ही समय में उसके साथ पढ़नेवाले लड़के उसकी मखौल उड़ाने लगे, परन्तु वह यही सोचता था कि वे सब लोग उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उसे अपनी प्रेमिका से वंचित कर रहे हैं। इसकी मनोस्थिति का ज्ञान संस्था के उच्चाधिकारी को हो गया और उन्होंने उसे संस्था से निकाल दिया। तिस पर भी वह अपने घर नहीं गया, बल्कि संस्था के आस-पास मँड़राता

रहा। फिर उसकी माँ को बुलाकर उसे बड़ी कठिनाई से घर भेजा गया।

कामवासनात्मक पेरानोइयाका व्यक्ति प्रेम-सम्बन्ध के विलक्षण बातों में विश्वास करता है। हमारे पास आए हुए एक व्यक्ति को एक ऐसी झक लग गई थी कि वह अपनी स्त्री को अपने मित्र की स्त्री से बदल ले और वे एक दूसरे की स्त्री से काम-सम्बन्ध रक्खें। कितने ही लोग अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से बहुत से लोगों को अपने वश में कर लेते हैं। कुछ लोग कई स्त्रियों के साथ व्यभिचार करने में ही अपनी महानता देखते हैं। हाफमेन नामक इस प्रकार के एक वियेनानिवासी व्यक्ति का वृतान्त आज से बीस वर्ष पूर्व एक पत्रिका में निकला था। यह व्यक्ति बहुत ही रूपवान था और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से वह अनेक रूपवती युवतियों को वश में कर लेता था। वह युवक ऊपरी प्रेम-प्रदर्शन कर उन्हें अपने घर ले जाता था। फिर उनके साथ काम-तृप्ति कर वह उन्हें मार डालता था। वह उनके शवों को एक तहखाने में गड़वा देता था। इस प्रकार उसने कितनी ही युवतियों की हत्या कर डाली थी। जब एक बार उसने राज्य के एक उच्च कर्मचारी की लड़की को गायब किया, तो सारे शहर की बड़ी खोज हुई और फिर युवतियों के गायब होने का रहस्योद्घाटन हुआ। पुलिस-द्वारा पकड़े जाने के पूर्व ही इस व्यक्ति ने आत्म-हत्या कर डाली।

(६) रोगात्मक पेरानोइया—सम्भवतः रोगात्मक पेरानोइया के जितने व्यक्ति होते हैं, उतने और प्रकार की पेरानोइया के रोगी नहीं होते। परन्तु उन रोगियों की पहचान करना कठिन है। रोगात्मक पेरानोइया का व्यक्ति अपने आपको किसी काल्पनिक रोग से सदा पीड़ित माने रहता है। कभी वह सोचता है कि उसे पेट का केन्सर हो गया है। कभी उसे विचार आता है कि उसके पेट में ऐसा वायु-विकार है कि वह चम्मच भर दूध भी नहीं पी सकता है। कभी अकारण ही उसे क्षय-रोग का बहम हो जाता है। इस प्रकार के रोगों की चर्चा वह सभी से करता है। जो व्यक्ति उसके रोग को झूठा बताए, वह उसका जानी दुश्मन हो जाता है। वास्तव में अपने आपको रोगी प्रसिद्ध करके वह

दूसरों पर अपना आधिपत्य जमाने की चेष्टा करता है।

इस रोग से पीड़ित व्यक्ति, अपने रोग से मुक्त होने के लिये लम्बे-लम्बे उपवास भी कर डालता है। कभी-कभी वह किसी विशेष प्रकार का भोजन करने लगता है, जिसे खाकर साधारण मनुष्य जीवित भी नहीं रह सकता। अभी हाल में ही एक सत्रह वर्षीय लड़की हमारे यहाँ आई। यह लड़की आज तीन वर्षों से केवल सवेरे-शाम तीन छटाँक दूध पीकर जी रही है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं खा सकती थी। कोई भी दूसरा अन्न खाने पर उसके पेट में भयानक पीड़ा होने लगती थी। इतना कम खा करके भी वह भले प्रकार पढ़-लिख रही थी। वह इस वर्ष इण्टरमीडिएट की परीक्षा दे रही है। दुर्बलकाय होने पर भी वह रुग्णा नहीं प्रतीत होती।

रोगात्मक पेरानोइया के रोगी को अपने रोग की चर्चा सुनाने में ही सन्तोष मिलता है। वह अपने आपको अनेक चिकित्सकों को दिखाते रहता है, परन्तु किसी के ऊपर उसका विश्वास ही नहीं होता। वह विश्वासपूर्वक किसी भी डाक्टर से मन लगाकर चिकित्सा नहीं कराता।

स्किजोफ्रेनिया (विकेन्द्रित मन)

स्किजोफ्रेनिया बिहड़ पागलपन है। जब मनुष्य स्किजोफ्रेनिया की अवस्था में हो जाता है, तो उसका सामान्य स्वास्थ्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार स्किजोफ्रेनिया असाध्य मानसिक रोग है, अर्थात् एक बार स्किजोफ्रेनिया होने से मनुष्य को पुनः संतुलित स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु अधिकांश मनोवैज्ञानिक यही मत रखते है कि स्किजोफ्रेनिया से भी मनुष्य स्वास्थ्य-लाभ कर लेता है। कुछ लोगों का मत है कि यदि रोगी स्किजोफ्रेनिया से अच्छा हो जाए, जो समझना चाहिए कि वह स्किजोफ्रेनिया था ही नहीं, बल्कि किसी दूसरे प्रकार के रोग को गलती से स्किजोफ्रेनिया मान लिया गया था।

स्किजोफ्रेनिया को अँग्रेजी में डिमेनसिया प्रीकॉक्स अर्थात् समय के पूर्व मानसिक शक्तियों के विघटन का रोग भी कहा जाता है। ऐसे तो

सभी लोगों की मानसिक शक्ति एक समय विघटित हो ही जाती है। इसीलिए बुढ़ापे को दूसरा बचपन कहा जाता है। यदि किशोरावस्था अथवा जवानी में मनुष्य में शैशव के लक्षण दिखाई देने लगें, तो हमें समझना चाहिए कि उस व्यक्ति का मानसिक विकास रुक गया है और उसने आत्म-विनाश का मार्ग पकड़ लिया है। स्किजोफ्रेनिया के विषय में कुछ लोगों का मत है कि यह शारीरिक रोग है और इसके रोगी के स्नायु-तन्तु पहिले से ही ऐसे कमजोर रहते हैं कि उनपर थोड़ा-सा भी खिंचाव पड़ने पर वे अपनी शृंखला से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार की स्नायविक दुर्बलता मनुष्य की वंश-परंपरा से निकलती है। अतएव यदि स्किजोफ्रेनिया के वंश-वृक्ष को देखा जाए, तो पता चलेगा कि इस रोगी के पूर्वजों में भी कभी इसी प्रकार का रोग हुआ था तथा उन पूर्वजों से जन्मे हुए दूसरे लोगों में भी यह रोग पाया जाता है, अर्थात् स्किजोफ्रेनिया की प्रवृत्ति मनुष्य में जन्म से ही आती है और वंश-परंपरा से वितरित होती है।

इस मत के भिन्न दूसरे पण्डितों के भी मत हैं। पहिले प्रकार के मत के प्रवर्त्तक डाक्टरी बुद्धि के लोग होते हैं और दूसरे प्रकार के मत के प्रवर्त्तक प्रधानतः मनोवैज्ञानिक होते हैं। इस मत के अनुसार इस रोग का प्रधान कारण भावों का संघर्ष ही होता है। जब किसी मनुष्य को आन्तरिक भावात्मक संघर्ष के साथ बाहरी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, और जब उसकी समस्याएँ इतनी जटिल हो जाती हैं कि वह उन्हें सुलझाने में अपने आपको असमर्थ पाता है, तो उसे स्किजोफ्रेनिया का रोग होता है। यह मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण के ऊपर निर्भर करता है कि प्रतिकूल भीतरी और बाहरी परिस्थितियों के आनेपर वह उनका सामना बहादुरी से करेगा और उनपर विषय प्राप्त करने में समर्थ होगा या उनसे घबड़ाकर अपनी चेतना को ही खो देगा।

मान लीजिए कि एक व्यक्ति को बार-बार कामोत्तेजना होती है और इसके कारण उसे कई प्रकार के व्यभिचार करने पड़ते हैं। फिर वह इसके लिए आत्म-भर्त्सना भी करता है। इसी तरह वह दूसरे से झगड़ने की

अपनी आदत, देर से उठने और काम को भूल जाने की आदत से परिशान है। जब ऐसे व्यक्ति के अपने श्रध्येय लोगों से निंदा सुननी पड़ती है, पैसे की चिन्ता उसे खाने लगती है, परीक्षा का भय सताने लगता है तथा प्रबल शत्रुओं का सामना करना पड़ता है, तब वह अपनी इन सब परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने की आशा न कर स्किजोफ्रेनिया का रोगी बन जाता है।

स्किजोफ्रेनिया भाव की दृष्टि से मेलेन्कोलिया और पेरानोइया से विलक्षण रोग है। जहाँ मेलेन्कोलिया में रोगी के सभी भाव दुःख-मूलक होते और विषाद उत्पन्न करते है और जहाँ पेरानोइया के रोगी के भाव उसे सदा एक प्रकार के भावों की नशाखोरी में बनाए रखते हैं वहाँ स्किजोफ्रेनिया के रोगी में भावों की स्थिरता अथवा भाव-शून्यता पाई जाती है। इसी कारण स्किजोफ्रेनिया के रोग में उसकी सेवासुश्रूषा करने वाले लोगों को सबसे अधिक धोखा खाने की संभावना रहती है। मेलेन्कोलिया के रोगी के प्रति सावधानी इसी बात में रखनी पड़ती है कि वह आत्म-हत्या न कर ले और पेरानोइया के रोगी के विषय में सावधानी दूसरों को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति से रखनी पड़ती है। किन्तु स्किजोफ्रेनिया के रोगी के विषय में यह नहीं सोचा जा सकता कि किस समय उसमें आत्म-घात या पर-घात की प्रवृत्तियाँ उमड़ पड़ेंगी और रोगी अचानक क्या कर डालेगा। साधारणतः स्किजोफ्रेनिया का रोगी बाह्य-जगत से उदासीन-सा रहता है और बड़ी-से-बड़ी उत्तेजक घटनाओं से उसे कोई भावात्मक उत्तेजना नहीं होती। कभी-कभी स्किजोफ्रेनिया का रोगी रोने की परिस्थिति में हँसता हुआ और हँसने की परिस्थिति में रोता हुआ देखा जाता है। मेलेन्कोलिया और पेरानोइया में रोगी के भाव शीघ्रता से नहीं बदलते। उसकी कल्पनाएँ और विचार भावों के साथ तारतम्यता रखते हुए युक्ति-संगत दिखाई देते हैं। परन्तु स्किजोफ्रेनिया में यह तारतम्यता नहीं रह जाती है। स्किजोफ्रेनिया की मनोस्थिति स्वप्न की मनोस्थिति जैसी होती है। जैसे स्वप्न में एक घटना का सम्बन्ध दूसरी घटना से नहीं रहता, उसी प्रकार स्किजोफ्रेनिया में एक कल्पना से

दूसरी कल्पना अथवा या एक क्रिया से दूसरी क्रिया में संगत तारतम्य नहीं पाया जाता। जिस प्रकार विवेक का नियंत्रण स्वप्न-चेतना पर काम नहीं करता, उसी प्रकार स्किजोफ्रेनिया में भी विवेक के नियन्त्रण का अभाव रहता है। वास्तव में ऐसा रोगी जाग्रत स्वप्नावस्था में रहता है।

स्किजोफ्रेनिया का रोगी बाहरी जगत से उदासीन अथवा भाव-शून्य रहता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उसमें किसी प्रकार के भाव रहते ही नहीं। उसके भाव वास्तव में बाहर की ओर प्रवाहित न होकर अपने आप में ही केन्द्रित रहते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार स्किजोफ्रेनिया में रोगी की काम-शक्ति स्वाश्रित प्रेम की अवस्था में रहती है। इसीलिए इस रोग के होने के पूर्व स्किजोफ्रेनिया का रोगी हस्तमैथुन की कुटेव में पड़ा हुआ रहता है। इसके लिए उसे आत्मग्लानि होती है। परन्तु उसमें इस आदत को रोकने की शक्ति नहीं रहती। कभी-कभी स्किजोफ्रेनिया के रोग के उभड़-आने के बाद रोगी निर्लज्ज रूप से हस्त मैथुन करने लगता है, अर्थात् उसकी दबी हुई स्वाश्रित काम-प्रवृति अपना बीभत्स नृत्य दिखाने लगती है।

स्किजोफ्रेनिया के सभी रोगियों में काम-वासना का दमन पाया जाता है। जब काम-वासना के प्रकाशन का कोई बाहरी मार्ग नहीं मिलता, तो यह वासना विस्फोट के रूप में बाहर निकल आती है। जो काम-वासना का प्रकाशन विक्षिप्तता में गुप्त रूप से होता है, वही स्किजोफ्रेनिया में बहुत-कुछ खुले रूप से होने लगता है। जिन लोगों को बचपन से ही लाड़-प्यार से रक्खा जाता है और जिन्हें अनेक प्रकार के कामोत्तेजक अवसर मिलते रहते हैं, उन लोगों को जब अपनी वासना के नियंत्रण की आवश्यकता पड़ती है और जब उन्हें बाहरी वातावरण से संघर्ष करना पड़ता है, तब ऐसे लोगों को स्किजोफ्रेनिया का रोग हो जाता है। इस प्रसंग में अपनी 'एन आउटलाइन आफ एबनारमल साइकोलाजी' में दिया हुआ मेकडुगल का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक नवयुवक स्किजोफ्रेनिया के रोग से पीड़ित होकर मानसिक चिकित्सालय में लाया गया। इसके जीवन की विगत घटनाओं के अध्ययन

से पता चला कि वह बचपन से ही बड़े लाड़-प्यार से पाला गया था। उसकी सभी इच्छाओं की पूर्ति होती रहती थी। जब वह वह किशोरावस्था में पहुँचा, तो उसे हस्तमैथुन की आदत लग गई। पढ़ाई-लिखाई में वह बहुत ही साधारण योग्यता का था। वह अधिक परिश्रम नहीं कर सकता था। किन्तु अच्छे परिवार में जन्म लेने के कारण उसे ऐसा पद मिल गया, जिसे सम्हालने की पूरी योग्यता उसमें नहीं थी। उसे अपने पद में तरक्की भी सिफारिसोंके कारण जल्दी-जल्दी मिलती गई। वह अपने पद के कार्य के भार को नहीं सम्हाल सकता था, परन्तु वह दूसरे लोगों से सहायता भी इसलिये नहीं लेता था कि कहीं उन्हें इसकी योग्यता का ज्ञान न हो जाए। इस प्रकार उसकी जिम्मेदारियों का बोझ और उसकी चिन्ता बढ़ते गए। कुछ समय तक चिन्ता की परेशानी के कारण वह चुपचाप रहने लगा। इसी बीच उसे स्किजोफ्रेनिया का रोग हो गया।

स्किजोफ्रेनिया का रोग कभी-कभी जटिल शारीरिक रोगों के बाद भी हो जाता है। टायफाइड के बाद कुछ लोगों को स्किजोफ्रेनिया का रोग हो जाता है। जिन लोगों के आन्तरिक मन में भारी संघर्ष होता रहता है, वे इस संघर्ष को रोगसे उत्पन्न स्नायविक दुर्बलता की अवस्था में सम्हाल नहीं पाते। अतएव ऐसी अवस्था में एक ओर स्नायुओं का संगठन बिगड़ जाता है और दूसरी ओर भीतरी मनके भावों का नियंत्रण भी उठ जाता है।

मेकडुगल ने स्किजोफ्रेनिया के रोग के तीन प्रकार बताए हैं; हेवेफ्रेनिक, केटाटोनिक और पेरानाइड। हेवेफ्रेनिक स्किजोफ्रेनिया में रोगी में समाज के प्रति भाव-शून्यता पाई जाती है। वह आनन्द देनेवाली घटनाओं से न तो आनन्दित होता है और न दुख देनेवाली घटनाओं से दुःखी ही। वास्तव में उसके भाव बाहर की ओर प्रवाहित न होकर भीतर की ओर ही प्रवाहित होते रहते हैं। ऐसा रोगी पागलखाने में उदासीन-बैठा रहता है। किसी से बोलने-चालने का प्रयास भी वह नहीं करता।

केटाटोनिक स्किजोफ्रेनिया में कुछ निरर्थक शारीरिक चेष्टाएँ बार-बार दुहराई जाती हैं। इन चेष्टाओं का अर्थ रोगी को देखने-वाला

व्यक्ति बिलकुल नहीं समझ पाता है। परन्तु रोगी के आन्तरिक मन के लिए इनका विशेष अर्थ होता है। कभी-कभी ऐसा रोगी अपने मुँह को विशेष प्रकार का बनाता है अथवा हाथ को विशेष प्रकार से मटकाता रहता है। एक महिला अपने हाथ को सिर के आस-पास घूमा करके अपने ललाट के बीच में लगाया करती थी। एक किशोर बालक अपने कंधों को विशेष प्रकार से हिलाकर अपने मुँह को अनोखी तरह से बनाया करता था। इस तरह की क्रियाएँ हिस्टीरिया का रोगी भी करता है। परन्तु हिस्टीरिया के रोगी की सामान्य चेतना सुरक्षित ही बनी रहती है। यदि उसे बेहोशी भी होती है, तो वह थोड़े ही समय के लिये। स्किजोफ्रेनिया का रोगी बेहोश नहीं होता है। वह सामान्य लोगों के समान ही बातचीत करते रहता है, परन्तु उसकी विचार-प्रणाली में कोई क्रमबद्धता नहीं रहती है। जैसे ऊपर बताया गया है कि इसके रोगी आधे सोते और आधे जगते रहते हैं।

पेरानोइड स्किजोफ्रेनिया का रोगी पेरानोइया के रोगी के समान ही दुःखी रहता है। उसके मस्तिष्क में अनेक प्रकार की सन-सनाहट और गुन-गुनाहट होती ही रहती है। उसे कई प्रकार के निराधार भ्रम या कल्पनाएँ उठा करती हैं। वह कभी-कभी अपने आपको भूत-प्रेत से घिरा हुआ देखने लगता है। इस रोग से पीड़ित एक प्रौढ़ महिलाने अपने सभी कपड़ों को इसलिए जला डाला कि वह समझती थी कि उसमें चुड़ैलन घुस गई है। जब उसकी कीमती साड़ियाँ जल रही थीं, तो वह कहती थी कि साड़ियों के साथ-साथ वे सभी चुड़ैलन जल रही हैं, जो उसे त्रास दिया करती थीं। यह महिला अपने आपको नव-वधू ही समझती है। उसे विधवा हुए पच्चीस वर्ष हो गए हैं, परन्तु वह अपने शरीर का शृंगार सधवाओं की तरह ही करती है। उसे भ्रम है कि उसके पति कहीं बाहर गए हैं और वे शीघ्र ही आनेवाले हैं। पेरानोइड स्किजोफ्रेनिया के रोगी के कार्य-कलापों में किसी प्रकार की बाधा पड़ने से रोगी बाधा डालने वाले व्यक्ति की कोई भी हानि कर सकता है। अतएव ऐसे रोगी से सचेत और सावधान रहना नितान्त आवश्यक है।

स्किजोफ्रेनिया का रोग आन्तरिक भावात्मक संघर्ष के कारण उत्पन्न होता है। जिस व्यक्ति का वाल्यकाल भाव-पुष्टि के वातावरण में नहीं व्यतीत हुआ और जिसे अपनी युवावस्था में समुचित काम-तृप्ति नहीं हुई, उसे इस रोग के होने की संभावना रहती है। एक पच्चीस वर्षीय महिला के इस रोग से पीड़ित होने के कारण को जानने से पता चला कि इस महिला का बचपन बड़ी ही निगरानी के वातावरणमें व्यतीत हुआ। युवावस्था प्राप्त होने पर उसका मन किसी ऐसे व्यक्ति पर अटक गया, जिससे उसका विवाह होना असंभव था। वह मन-ही-मन अपने भावों के संघर्ष में अपना समय व्यतीत करती थी। कुछ काल के बाद उसे पागलपन आ गया। यह पागलपन उसके विवाह होने से और भी बढ़ गया। यह महिला अपने ही लोगों को गाली-गलौज करती अथवा मारने दौड़ती थी। पीछे उसने मौन धारण कर लिया। इसके बाद वह लोगों से बात-चीत करती है, पर वह बात-चीत निरर्थक होती है। वह अपने बच्चों की देख-भाल थोड़ी-बहुत कर लेती, अपने कपड़े-लत्ते सम्हालती और घर का भी कुछ काम कर लेती है; परन्तु अपनी अवस्था और शिक्षा के अनुरूप वह कुछ भी काम नही कर पाती। उसके काम उसी प्रकार के होते हैं, जैसे आठ वर्ष के बच्चे का।

एक दूसरे नवयुवक को यह रोग चौबीस वर्ष की अवस्था में हो गया था। इस रोग के होने के पूर्व उसे अपनी स्त्री के प्रेम के सम्बन्ध में सन्देह रहा करता था। रोग उसे तब आया, जब उसे एक बार भयानक शारीरिक रोग हुआ। शारीरिक रोग से मुक्त होते ही उसे स्किजोफ्रेनिया का रोग हो गया। यह युवक बड़ा ही भावुक था। बचपन से ही इसे लाड़-प्यार से रक्खा गया था। अतएव उसमें भावुकता बढ़ गई थी। वह कुछ काम-कुटेवों में भी पड़ गया था। युवावस्था प्राप्त होने पर इसे भूत-प्रेत का डर लगता था। ये सब मानसिक असाधारणतायें उसे स्किजोफ्रेनिया तक न ले जातीं, यदि उसे अपनी स्त्री के प्रेम में सन्देह और शारीरिक रोग न होते। यह व्यक्ति कुछ समय तक मानसिक चिकित्सालय में रहा और अब वह स्वस्थ होकर सरकारी कर्मचारी बन गया है।

हमने विषम पागलपन के अनेक प्रकारों का वर्णन ऊपर किया है। इन रोगों को साधारणतः असाध्य रोग कहा जाता है। परन्तु रोग की प्रारम्भिक अवस्था में यदि कुशल मानसिक चिकित्सक के निरीक्षण में ये रहें, तो ये रोग अच्छे भी हो जाते हैं। हमारी जानकारी में कुछ मेलेन्कोलिया, पेरानोइया और स्किजोफ्रेनिया के रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर चुके हैं। मानसिक चिकित्सालयों में इन रोगों का उपचार इनसोलिन इंजेक्शन, बिजली के झटके और रचनात्मक कार्यों में प्रोत्साहन-द्वारा किया जाता है। कुछ रोगियों के लिए कुछ भी रचनात्मक कार्य देना कठिन होता है। उनके लिए मानसिक चिकित्सालय केवल एक आराम-गृह अथवा जेल का ही काम करता है।

———

बारहवाँ प्रकरण

मानसिक विकार और शारीरिक रोग

मानसिक विकार क्या है ?

मनुष्य का स्वभाव पौधे के समान है, जो अपनी जड़ों-द्वारा भूमि से रस को खींचता है और धरातल के ऊपर आकर प्राण-प्रद वायु को ग्रहण करता तथा सूर्य की रोशनी पाकर रंग-विरंगा बनता है। पौधे के विकास का लक्ष्य सुन्दर पुष्प और फल का पैदा करना होता है और उसका जितना ही भाग हमें दिखाई देता है, वह सभी आकर्षक होता है। एक सजीव पौधे को देखकर सभी लोगों का मन प्रसन्न होता है और हमें यह इच्छा होती है कि वह हमारे पास रहे। परन्तु इस पौधे का बल उन शक्तियों पर निर्भर करता है, जिनके प्रकाश में आने पर उसका सभी सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। मल-मूत्र के बने खाद्य से पौधे की जड़ें अपना रस खींचती हैं। वे यह कार्य पृथ्वी की सतह के नीचे करती हैं। अतएव इसका ज्ञान हमें नहीं होता। पौधे की जीवन-प्रणाली में यह शक्ति है कि प्रत्येक प्रकार की गन्दगी को वह रूप-सौन्दर्य में परिणत कर देती है। जब पौधे में यह शक्ति नहीं रहती, तब हम उसे रुग्न कहते हैं। ऐसा पौधा अपने मिले हुए खाद्य से लाभ न पाकर स्वयं दूसरे पौधों का खाद्य बन जाता है।

जिस प्रकार एक पौधे का व्यक्तित्व धरातल पर प्रकाशित होता है, उसी प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व भी समाज में प्रकाशित होता है। मनुष्य के व्यक्तित्व को बल देनेवाली शक्तियाँ उसके अचेतन मन में काम करती हैं। जिस व्यक्तित्व का अभिमान वह करता है, वह उसके चेतन मन की वस्तु है। जब तक मनुष्य के अचेतन मन से प्राप्त शक्तियाँ उसके चेतन मन को पुष्ट बनाती रहती हैं, तब तक मनुष्य का व्यक्तित्व बली रहता है। किन्तु

जब इन शक्तियों के ऊर्ध्वगामी प्रवाह में रुकावट हो जाती है, तब मनुष्य का व्यक्तित्व दुर्बल हो जाता है। मानसिक शक्तियों के ऊर्ध्वगामी प्रवाह में रुकावट होने का नाम ही मानसिक विकार है। मनुष्य के व्यक्तित्व का बल उसके उन भावों और इच्छाओं पर निर्भर है, जिनके प्रकाशन से हम प्रसन्न न होकर क्षुब्ध होंगे। परन्तु यदि मनुष्य के व्यक्तित्व की जड़ में इस प्रकार की भावनाएँ और वासनाएँ न हों, तो उसमें रूप का वह लावण्य और दृढ़ता भी न आए, जिसके कारण हम उसकी प्रशंसा करते हैं। प्रतिक्षण मनुष्य के व्यक्तित्व में एक विशेष प्रकार के शोध की क्रिया होती रहती है, जिससे उसके अचेतन मन के अशुद्ध भाव शुद्ध बनकर उसी प्रकार व्यक्तित्व को बल देते हैं, जैसे भूमि के नीचे गड़े हुए मल-मूत्र पौधे के व्यक्तित्व को बल देते हैं। जब कभी इस रासायनिक क्रिया में उलझन उत्पन्न हो जाती है, तभी मानसिक विकार की उत्पत्ति होती है। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाए, तो जिन तत्वों पर मनुष्य का प्रकाशित व्यक्तित्व आधारित है, वे उपेक्षनीय नहीं हैं। वे मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह तत्व न तो बुरा है, और न भला। उसका भला-बुरा होना उसके उपयोग पर निर्भर है। जब हम अचेतन मन के किसी भाव को बुरा समझकर उसका उपयोग न कर उसे दमित करते हैं, तभी यह भाव मानसिक विकार में परिणत हो जाता है। फिर वह मनुष्य के व्यक्तित्व का बल न बढ़ाकर उसे रोगी बना देता है। मान लीजिए कि किसी रूपवान महिला को देखकर हमें उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न हो गया। आकर्षण की इस प्रवृत्ति को हम किसी कला, कविता अथवा रोगियों की शारीरिक सेवा कर उपयोग में ला सकते हैं। परन्तु यदि हम उसका ऐसा उपयोग न कर उसकी कामुकता को जान-और उसे गन्दा कह कर दबा देते हैं, तो वह भाव हमारी चेतना से लुप्त अवश्य हो जाता है, परन्तु अब वह समारे प्रकाशित व्यक्तित्व को अनेक प्रकार की क्षति पहुँचाता है। इसी के द्वारा कितने ही लोगों को गन्दगी का भय अथवा सफाई की झक उत्पन्न हो जाती है। अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल काम-वासना की तृप्ति करने पर और फिर उसे गन्दी अथवा

शैतानी समझ कर दमित करने से कितने ही लोगों को एक्जिमा, दमा तथा हृदय के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मनुष्य अपने अचेतन मन की भावनाओं का जिस प्रकार का नामकरण करता है, वे उसके लिए उस प्रकार की बन जाती है। अचेतन मन की प्रबल वासनाओं में कामवासना ही मुख्य है। जो व्यक्ति इस वासना को गंदी समझकर दमित करता है, उसके लिए वह गंदी ही बन जाती है। फिर ऐसे व्यक्ति को गंदगी का भय हो जाता है, और यदि उसने इस वासना के वशीभूत होकर कोई कार्य किया है, तो प्रायश्चित के रूप में उसके शरीर में कोई घृणित रोग; जैसे बवासीर, एक्जिमा अथवा कुष्ठ रोग हो जाता है। इस तरह कितने ही रूपवान युवकों को आत्मग्लानि के कारण मुँह और हाथ पर सफेद कुष्ट हो जाता है। ऐसा रोग उन्हीं लोगों को होता है, जिन्हें एक ओर प्रबल नैतिक बुद्धि है और दूसरी ओर वासना की प्रबलता भी है। जो वासना उनके व्यक्तित्व का बल बढ़ा सकती थी, उनके शरीर को अधिक सुंदर बना सकती थी, वही जब दमित होती है, तो मानसिक विकार में परिणत होकर रूप का विनाश करने लगती है।

मनुष्य यदि अपने अचेतन मन के तत्वों को बिना रुकावट के प्रकाशित होने दे, तब उसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार के मानसिक विकारों का निर्माण न होगा। परंतु उसका व्यक्तित्व पाशविक स्तर से ऊँचा भी न उठेगा। पशु के जीवन का प्रधान भाग उसका शरीर और इन्द्रियाँ हैं। मानव-जीवन का प्रधान अंग शरीर और इन्द्रियाँ न होकर उसका विवेक, नैतिक बुद्धि और आध्यात्मिकता है। यदि मनुष्य अपनी पाशविक वासनाओं को भी स्वच्छंदता से प्रकाशित होने दे, तो वह अपनी उस विशेषता को खो देगा, जिसके कारण वह सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणी कहा जाता है। अतएव अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों पर रोक-थाम करना मनुष्य के लिए नितांत आवश्यक है। परंतु जब इस रोक-थाम का लक्ष्य अपनी मानसिक शक्तियों का उदात्तीकरण न होकर केवल उनका अवरोधमात्र हो जाता है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व उलझनों अथवा मानसिक विकारों से भर जाता है। यही मानसिक विकार शारीरिक रोग भी बन जाते हैं।

जब हमारे मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रतिक्षण पैदा होनेवाली नई मानसिक शक्ति को भी विकार के रूप में परिणत कर देता है। जिस प्रकार फोड़ा जब तक फूटकर बहने नहीं लगता, तब तक वह बढ़ता ही जाता है; उसी प्रकार जब तक कोई मानसिक विकार प्रकाशित नहीं होता, तब तक वह बढ़ने ही जाता है। मानसिक विकार का किसी रूप से प्रकाशित होना उसके शुभ लक्षण को दर्शाता है।

मानसिक विकार का प्रकाशन

मानसिक विकार दो प्रकार से प्रकाशित होता है; एक मानसिक रोग के रूप में और दूसरा शारीरिक रोग के रूप में। आधुनिक मनोविज्ञान की खोज से पता चला है कि मनुष्य के सत्तर प्रतिशत शारीरिक रोगों के गुप्त मानसिक कारण होते हैं। हमारे जीवन की दुर्घटनाओं में भी मानसिक कारण पाया गया है। किसी के घर जाते समय ठोकर लगने को हम आकस्मिक घटना कहते हैं, परंतु यदि हम अपने अचेतन मन की खोज करें; तो हमें उसका मानसिक कारण मिल जायगा। जब हमारे मन में किसी प्रकार की उलझन रहती है और हम अपने अभिमान-युक्त कर्तव्य बुद्धि के कारण किसी विशेष काम को करने से अपने आप को नहीं रोक पाते, तो कोई दुर्घटना अथवा कोई शारीरिक रोग या चोट हमें उस काम को करने से रोक देती है। लेखक के एक मित्र को बहुत दिनों से एक्जिमा का रोग है। इस रोग को साधारणतः हम शारीरिक रोग ही मानते हैं और उसका कारण भी शारीरिक जानते हैं। परंतु इस रोग का प्रधान कारण मानसिक होता है। यह उस कथन से स्पष्ट होता है कि जब उन्हें यह रोग दबा हुआ रहता है, तब उनके मन में अनेक त्रास देनेवाले विचार आया करते हैं। रोग की दमित अवस्था में उन्हें चिड़चिड़ाहट, घबराहट, बेचैनी अथवा हृदय की धड़कन हो जाती है। उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि वे पागल हो जायँगे। जब उनका एक्जिमा फोड़े के रूप में होकर बहने लगता है, तो उनके मस्तिष्क में आराम आ जाता है।

उक्त मित्र के घरेलू जीवन के अध्ययन से पता चला कि उन्हें अपनी पत्नी से भारी असंतोष है। पत्नी एक संपन्न परिवार से आई है। अतएव

मित्र का अपनी स्त्री पर वैसा रोआब नहीं रह सका, जैसा वे चाहते थे। अपनी इच्छा की अवहेलना होने पर वे पत्नी से मन-ही-मन झुँझलाते रहते। समाज में प्रतिष्ठा बनाए रखने के कारण वे अधिक गाली-गलौज नहीं करते थे। परंतु उनके मन में अपनी पत्नी के प्रति अनेक दुर्भावनाएँ उठा ही करती थीं। उन्हें अपनी पत्नी के सतीत्व में भी संदेह था। वे अपने बड़े लड़के को, जो देखने में बड़ा सुंदर था, अपने द्वारा जन्म पाया न मान कर किसी दूसरे का लड़का मानते थे। इस संदेह को उन्होंने अपनी स्त्री से भी प्रकाशित कर दिया था। इसलिए पति-पत्नी में सदा खिंचाव की अवस्था बनी रहती थी। इस खिंचाव को उनका एक्जिमा का रोग समय-समय पर कम कर देता था।

एक्जिमा और दमा का रोग प्रायः एक दूसरे के सहगामी होते हैं। दोनों ही राज रोग हैं। एक्जिमा के दमित होने पर दमा बढ़ जाता है और दमा के कम होने पर एक्जिमा। हमारे एक परिचित व्यक्ति को दमा और एक्जिमा दोनों ही रोग हैं। जब दमा कम होता है, तो एक्जिमा बढ़ जाता है और एक्जिमा के कम होने पर दमा बढ़ जाता है। इस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि बहुत प्रबल है। उसका दाम्पत्य-जीवन उपर्युक्त मित्र की अपेक्षा ज्यादा दुःखी है। उसकी स्त्री उसके वश में न रह कर स्वतंत्र रूप से रहने लगी है। स्त्री-पुरुष में सदा ही खिंचाव बना रहता है। इस व्यक्ति के दो बच्चे भी हैं। ये बच्चे अपने पिता के संरक्षण में ही रहते हैं और उनकी माँ उनसे वञ्चित हो गई है। इस व्यक्ति के मन में क्या-क्या उफान उठते हैं इसका ज्ञान किसी को नहीं है। समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के कारण वह अपने मनोभावों की चर्चा किसी के सामने नहीं कर सकता है। फिर मनुष्य के दमित भाव किसी-न-किसी रूप में अपने प्रकाशन का उपाय निकाल ही लेते हैं। वे दुखदाई शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेते हैं। यह मानसिक आरोग्य-प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। मानसिक रोग का शारीरिक रोग में परिवर्त्तित होना उसको समाप्त करने का एक साधन है। अतएव शारीरिक रोग पैदा करके प्रकृति हमारी रक्षा ही करती है। यदि रोगी को मानसिक रोग उसी रूप में रह जाय, तो

उसका जीना ही कठिन हो जाय। शारीरिक रोग की अपेक्षा मानसिक रोग अधिक असह्य होता है। इसीलिए प्रकृति मानसिक रोग को उपयुक्त शारीरिक रोग में रूपांतरित कर देती है।

उपर्युक्त दृष्टान्त से सम्भवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी मनुष्य के दूसरे व्यक्ति के प्रति द्वेष के विचार ही मूलतः मानसिक विकार हैं और यही रोग के कारण हैं। इस प्रकार के विचार में आंशिक सत्य है। मनुष्य के द्वेष-युक्त विचार ऐसे जहरीले मानसिक कीटाणु हैं, जो अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों के कारण बन जाते हैं। परन्तु इन जहरीले कीटाणुओं का भी एक अदृश्य कारण होता है। जिस प्रकार बाह्य जगत में जहरीले कीटाणु किसी प्रकार की भौतिक गन्दगी पर पनपते हैं, उसी प्रकार मानसिक जगत में दुर्विचार रूपी जहरीले कीटाणु अदृश्य मानसिक गन्दगी के ऊपर पनपते हैं। दूसरे व्यक्ति को द्वेष से देखनेवाला व्यक्ति अपने आपको ही द्वेष की दृष्टि से देखता है। उसके अचेतन मन में उसकी भोग-प्रवृत्तियों और नैतिक संस्कारों में अनवरत संघर्ष चलते रहते हैं। इस संघर्ष के परिणाम-स्वरूप ऐसे व्यक्ति की इच्छा-शक्ति दुर्बल हो जाती है और उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। फिर जो व्यक्ति अपना ही शत्रु है; वह अपने आस-पास शत्रुता का वातावरण उत्पन्न कर लेता है। इस प्रकार शत्रुता के वातावरण का बाहर उपस्थित होना आन्तरिक मन की शत्रुता का आरोपण-मात्र होता है। बाहरी शत्रुओं के प्रति द्वेष के विचार मनुष्य के मानसिक अथवा शारीरिक रोग के समीपवर्त्ती कारण होते हैं। परन्तु रोग का दुरस्थ कारण अपने आप में ही होता है। मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित रहने के कारण मनुष्य उसे जान नहीं पाता। जब मनुष्य अपने आन्तरिक मन में साम्य उत्पन्न कर लेता है, तो एक तो उसके बाहरी शत्रुओं का अन्त हो जाता है और दूसरी ओर उसके मानसिक और शारीरिक रोग भी समाप्त हो जाते हैं।

शारीरिक और मानसिक रोग की तात्विक एकता

शारीरिक और मानसिक रोग तात्त्विक दृष्टि से एक ही हैं यह न

केवल मानसिक विकारों के शारीरिक रोगों में प्रकाशन से स्पष्ट होता है, वरन् शारीरिक रोग के समाप्त होने पर मानसिक रोग के उत्पन्न होने या बढ़ जाने से भी सिद्ध होता है। हमने ऊपर बताया है कि एक्जिमा मानसिक विकारों का प्रकाशन है। एक्जिमा के दब जाने से अनेक प्रकार की मानसिक बेचैनी, अकारण चिन्ता और भय तथा झक उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार कभी-कभी मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक असंतोष होने पर क्षय रोग की झक अथवा वास्तविक क्षय रोग हो जाता है। इस रोग के शान्त होने पर कोई दूसरा शारीरिक रोग अथवा किसी विशेष प्रकार की झक उत्पन्न हो जाती है। इस सिद्धान्त की सत्यता हमारी चिकित्सा में आए निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है।

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व लेखक के पास एक सम्पन्न परिवार के एक ऐसे रोगी का पत्र आया, जिसे गन्दी वस्तुओं से असाधारण भय उत्पन्न हो गया था। उन्हें यह झक उत्पन्न हो गई थी कि वे कहीं अपनी पेशाब न पी लें अथवा अपना पैखाना मुँह में न डाल लें। वे इस झक से मुक्त होने की जितनी ही चेष्टा करते थे, वह उतनी ही बढ़ती जाती थी। उनकी उम्र लगभग पचास वर्ष की थी और वे अपने व्यापार के काम-कार्य को साधारणतः भले प्रकार से सम्हालते थे। परन्तु अपने आपको सम्हालने का उनका विश्वास जाता रहा था। वे धोती और पजामा न पहनकर सदा पैंट पहना करते और उसमें दो-दो बेल्ट बाँधा करते थे। उन्हें अपने पास सदा एक ऐसे व्यक्ति को रखना पड़ता था, जो उन्हें पखाना छूने से सदा रोके और जब उन्हें यह वहम हो जाए कि उन्होंने पखाना छू लिया है, तो वह उन्हें बताए कि उन्होंने पखाना नहीं छुआ है। लेखक इस व्यक्ति से जब मिला, तो उसने अपने इस रोग का इतिहास बताते हुए निम्नलिखित वृतान्त सुनाया—

'मुझे यह रोग आज से सात वर्ष पहिले से है। इस झक के पहिले मुझे क्षय-रोग होने का भय सताता था। इस भय का कोई सामान्य कारण नहीं है, पर यह भी एक प्रकार की झक थी। मैंने क्षय-रोग के बारे में बहुत कुछ पढ़ा था। मैंने डाक्टरी पुस्तकों से यह जान लिया था कि यह रोग

बड़ा ही संक्रामक है। क्षय-रोग के किसी भी रोगी के पास बैठने-उठने से यह रोग लग जाता है। जब से मैंने क्षय-रोग के बारे में ये बातें जानी, तब से मुझे भय हो गया कि कहीं किसी क्षय-रोगी के पास बैठने से मुझे भी क्षय-रोग न हो जाए। यह जानना तो बड़ा ही कठिन है कि किस व्यक्ति को क्षय-रोग है और किसे नहीं है। अतः मैं किसी भी व्यक्ति के बहुत पास नहीं बैठता था। यदि कोई व्यक्ति मेरे बहुत समीप आकर बातचीत करे, तो मैं उससे दूर हट जाता था। मुझे सदा डर लगा रहता था कि कहीं उसके शरीर के कीटाणु मेरे शरीर में न प्रवेश कर जाएँ। इसके कारण कभी-कभी मुझे बड़ी मानसिक परेशानी हो जाती थी। साधारणतः लोगों की आदत बहुत पास आकर बातचीत करने की होती है। जैसे-जैसे मैं उनसे हटते जाता था, तैसे-तैसे वे मेरे पास आते जाते थे। इसके कारण मैं उनसे ठीक से बातचीत भी नहीं कर पाता था और कभी-कभी मुझे कोई बहाना बताकर बीच में ही बात समाप्त कर देनी पड़ती थी।

एक बार मुझे कुछ खाँसी और बुखार की बीमारी हो गई। बस, मैंने समझ लिया कि मुझे क्षय-रोग हो गया है। मेरा शरीर दिन-प्रति-दिन दुर्बल होने लगा और मेरा चेहरा पीला पड़ गया। इस बीमारी में मैं तीन महीने रहा। इससे मैं इतना दुर्बल हो गया कि चारपाई से नहीं उठ पाता था। वास्तव में मुझे क्षय-रोग नहीं था, परन्तु मेरी आन्तरिक धारणा यही हो गई थी कि मुझे क्षय-रोग हो गया है। एक बार जब मैं इस रोग से ग्रसित था, तब मैं पखाने के लिए गया और जब मैं पखाना कर रहा था, तो अचानक मुझे यह कल्पना आई कि कहीं पखाने को उठाकर मैं अपने मुँह में न ले लूँ। इस कल्पना के मन में आते ही मैं बहुत घबड़ा गया और बड़े जोरों से चिल्लाया। उस समय मेरी अवस्था अर्द्ध-विक्षिप्त-सी हो गई थी। मेरी स्त्री दौड़ी हुई आई और उसने किसी प्रकार मुझे बिस्तर तक पहुँचाया। तभी से मुझे सदा यह झक उत्पन्न हो गई कि कहीं मैं अपने पखाने-पेशाब को छू अथवा उन्हें मुँह में डाल न लूँ। मेरा शारीरिक रोग तो जाता रहा, परन्तु उसके स्थानपर यह झक

मुझे सात वर्षों से त्रास दे रही है। इस बीमारी से मुक्त होने के लिए मैंने अनेक उपाय किए, परन्तु कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हुई।'

उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि शारीरिक रोग मानसिक रोग को कम करता है और शारीरिक रोग के अभाव में मानसिक रोग बढ़ जाता है। मानसिक असन्तोष किस प्रकार वास्तविक शारीरिक रोगों में परिणत हो जाता है इसका एक बड़ा ही शिक्षाप्रद उदाहरण हमारे उपचार में आए हुए एक बड़े होनहार युवक की जीवनी से स्पष्ट होता है। यह युवक इस समय विश्वविद्यालय का कुशल विद्यार्थी है। इस समय इसकी अवस्था अट्ठाईस वर्ष की है। आज से दस वर्ष पूर्व, जब यह विद्यार्थी कालेज की कक्षा का विद्यार्थी था, तो वह अनेक प्रकार के मानसिक असंतोषों से पीड़ित था। उसने बचपन से ही देखा कि उसके पिता-माता में सदा अनबन रहती है। उसके पिता उसकी माँ को छोटी-छोटी बातों के लिए पीट देते थे। उसकी दादी और उसकी बुआ सदा उसके पिता से उसकी माँ की शिकायत करती थीं। इसी के कारण उसकी माँ पीटी जाती थी। माँ अपने बच्चे को बहुत ही प्यार करती थी। अतएव बच्चे के कोमल भावों पर माता के दुःख और पिता की क्रूरता का बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ा। वह अपने पिता को भीतर-ही-भीतर एक क्रूर व्यक्ति मानने लगा। पिता के द्वेष के कारण उसके जीवन में सदा असन्तोष रहा करता था। इस असन्तोष के परिणाम-स्वरूप किशोरावस्था में उसे प्रबल कामुकता आई और अनेक प्रकार के काम-कुटेवों का शिकार उसे होना पड़ा। फिर उसे पश्चाताप की मनोवृत्ति ने त्रास दिया और अपने कृत्यों के लिए आत्महत्या के विचार उसके मन में आने लगे। जब इस व्यक्ति का विवाह हुआ, तब भी उसकी असाधारण कामुकता बनी रही। विवाह के कुछ दिन पश्चात उसकी स्त्री क्षय-रोग से मर गई। परन्तु उसके मन में यही विचार बैठ गया कि उसकी अत्यधिक कामुकता के कारण ही उसकी स्त्री को क्षय का रोग एवं देहान्त हुआ।

अब तो वह युवक अपने आपको एक पापी और हत्यारे के रूप में मानने लगा। इधर उसकी माँ भी घरेलू झगड़ों से त्रस्त होकर पागल हो

चुकी थी। युवक को अब न तो कोई बाहर चैन देनेवाली वस्तु थी और न भीतर। अब उसे विषाद रोग के विचार बार-बार सताने लगे। वह किसी ऐसे योगी या महात्मा की खोज करने लगा, जो उसे किसी प्रकार शान्ति-प्रदान करे। पढ़ाई-लिखाई में उसका मन बिल्कुल नहीं लगता था। कभी-कभी उसे अपने पुराने कुकृत्यों के विचार सताते और कभी बाहरी मानवता-हीन वातावरण। इसी बीच उसने एक साधु के आदेशानुसार एक लम्बा उपवास किया। इस उपवास के बाद उसे क्षय-रोग हो गया। इस युवक को दो सालों तक क्षय-रोग के सेनेटोरियम में रहना पड़ा। इस समय उसे अनेक प्रकार के आध्यात्मिक चिंतन और आत्म-विश्लेषण करना पड़ा। जब इस युवक की शारीरिक चिकित्सा सेनेटोरियम में हो रही थी, तभी उसका मानसोपचार हमारे द्वारा हो रहा था। उससे उसकी पुरानी धारणाओं को परिवर्तित किया गया और उसे अपने सम्बन्धियों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास कराया गया। आत्म-निर्देश और मनो-विश्लेषण-द्वारा उसके अन्तर्मन के विभाजन को मिटाया गया। इससे रोगी के भीतरी मन में समाज-सेवा की इच्छा दृढ़ हुई। फिर वह क्षय-रोग से मुक्त हो गया। रोग से मुक्त होने पर उसने समाज-सेवा के अनेक काम अपने हाथ में लिए और इसके बाद आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध करने के लिए वह विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षा में अध्ययन करने लगा।

उपर्युक्त उदाहरण में अपने आपके प्रति असन्तोष का भाव किस प्रकार शारीरिक रोग में व्यक्त होता है और जब यह असन्तोष समाप्त हो जाता है, तब किस प्रकार शारीरिक रोग भी समाप्त हो जाता है यह स्पष्टतः ज्ञात होता है। यही बात लेखक के एक दूसरे प्रतिभावान छात्र की जीवनी से भी स्पष्ट होती है। यह छात्र वर्तमान समय में एक कुशल सरकारी कर्मचारी है। इसने अपनी अन्तिम कक्षा की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की और कक्षा के डेढ़-सौ छात्रों में प्रथम आया। परन्तु इस कक्षा के पास करने के पूर्व उसने सभी परीक्षाएँ बीमारी की अवस्था में दीं। जब यह नवीं कक्षा में था, तभी से उसकी मानसिक स्थिति ऐसी हो गई थी

कि वह परीक्षा के समय अवश्य ही किसी घोर बीमारी से पीड़ित हो जाता था। उसे पन्द्रह वर्ष की अवस्था में क्षय-रोग हो गया था, जिसके कारण उसे एक साल सेनेटोरियम में रहना पड़ा।

लेखक के उपचार में आनेपर इसका मनोविश्लेषण के ढंग से अध्ययन किया गया। अपनी जीवनी और कामुकता के अनुभवों को बताते हुए उसने एक मार्मिक घटना सुनाई। जब वह चौदह वर्ष का था, तब वह एक बछिया की योनी में उँगली लगाकर कामोत्तेजना का आनन्द लेता था। वह बिचारी बछिया इधर-उधर उछल-कूद करती थी, परन्तु वह उसे तंग ही करते रहता था। इस तरह की काम-क्रीड़ा का क्रम तीन महीने तक चलता रहा। इसके बाद वह बछिया मर गई। अब इस बालक के मन में यह कल्पना उठी कि उसको काम-क्रीड़ा के प्रयास करने के कारण ही वह बछिया मर गई। अतएव वही उस बछिया का हत्यारा है। यह बालक उच्च ब्राह्मण कुल का व्यक्ति है। उसके पिता बड़े नैतिक व्यक्ति हैं, जो पूजा-पाठ में अपना काफी समय देते हैं। अतएव बछिया की हत्या का विचार उसके मन से कभी नहीं जाता था। वह जानता था कि उसका दण्ड उसे अवश्य मिलेगा। जब उसे क्षय-रोग हो गया, तब उसके मन में यही विचार आया कि यह रोग उसे उस बछिया की हत्या के परिणाम-स्वरूप ही आया है और यह रोग उसका प्रायश्चित है। जब यह बालक क्षय-रोग के चिकित्सालय में रह रहा था, तब एक महिला भी उस चिकित्सालय में थी। वह इस महिला की सेवा अनेक प्रकार से करने लगा और उसका स्नेह-पात्र बन गया। इस संगति के परिणाम-स्वरूप उसके अपने प्रति आत्मभर्त्सना के भाव बदल गए, पर उसका पूर्णतः अन्त नहीं हुआ। इसके कारण वह क्षय रोग से तो मुक्त हो गया, परन्तु समय-समय पर उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग होते रहते थे। परीक्षा के समय उसे कोई घोर शारीरिक रोग इसलिए होता था कि कोई भी परीक्षा उसे नैतिक परीक्षा के प्रतीक-सी प्रतीत होती थी। जो व्यक्ति नैतिक परीक्षा में असफल हुआ है, वह सभी परीक्षाओं को भय की दृष्टि से देखने लगता है। जब इस युवक ने मनोविश्लेषण करके आत्म-समन्वय

स्थापित किया, तब उसका परीक्षा-सम्बन्धी भय जाता रहा और इसके परिणाम-स्वरूप वह अपनी अन्तिम कक्षा की परीक्षा के अवसर पर बीमार नहीं पड़ा और अपने परिश्रम के बल पर सर्वप्रथम होकर उत्तीर्ण हुआ। इस तरह हम देखते हैं कि मानसिक विकार के उपस्थित रहने पर शारीरिक व्याधि बनी रहती है और इस विकार के अन्त होने पर शारीरिक व्याधि का भी अन्त हो जाता है। यह युवक अब शरीर से पूर्णतः स्वस्थ है और अपने सभी कामों में कुशल पाया जाता है।

काम-वासना का दमन और शारीरिक रोग

ऊपर बताया जा चुका है कि मनुष्य की सबसे प्रबल वासना काम-वासना है। इस वासना की शक्ति के सदुपयोग से मनुष्य का व्यक्तित्व बली होता है और वह अनेक प्रकार के समाजोपयोगी कार्य करता है। परन्तु जब इस वासना की शक्ति का अवरोध हो जाता है, तब वह अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों में परिणत होकर प्रकाशित होती है। जिस प्रकार दमित काम-वासना अकारण चिन्ता और भय तथा अनेक प्रकार की झक उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वह पेट का शूल, हृदय का रोग, दमा, सिर की पीड़ा और नपुंसकता में भी प्रकाशित होती है। काम-वासना का प्रेम के भाव से घनिष्ट सम्बन्ध है। काम-वासना के दमन के साथ-साथ प्रेम का भी दमन होता है। जब कोई व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के प्रेम से वंचित होता है, जिसकी उसे आशा रहती है, तब वह जीवन से ही निराश हो जाता है। ऐसी ही अवस्था में उसे विशेष प्रकार का असाध्य मानसिक रोग होता है। दमा का रोग ऐसे रोगों में से एक है। पाल शिल्डर के कथनानुसार दमा प्रतीक रूप से जीवन का त्याग है। जिस व्यक्ति की आशाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसके प्राणों की गति भी अवरुद्ध होने लगती है। प्राणों की गति के अवरुद्ध रूप से चलने का नाम ही दमा है। यह रोग संकट काल में बढ़ जाता है, अर्थात् जब कभी रोगी के समक्ष जीवन की समस्याएँ जटिल हो जाती हैं, तब उसका रोग भी बढ़ जाता है। जैसे-जैसे रोगी का वातावरण उसके अनुकूल होता है और उसके जीवन की समस्याएँ हल

होती हैं, तैसे-तैसे उसका रोक मिटता जाता है। इस प्रकार रोगी के मन और उसके रोग का घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु दमा को मनुष्य का मूल रोग मान लेना भूल है। मनुष्य का मानसिक विकार यदि दमा के रूप में प्रकट न हुआ, तो वह किसी दूसरे शारीरिक अथवा मानसिक रोग; जैसे अकारण चिन्ता और भय किंवा अनिद्रा में ही व्यक्त होता है। जब इन मानसिक रोगों के रोगी को दमा उभड़ आता है, तो उसका मानसिक रोग नष्ट हो जाता है।

क्रोध और शारीरिक रोग

मानव-स्वभाव में क्रोध बड़ा ही विनाशकारी संवेग है। क्रोध के प्रकाशन से दूसरे का नुकसान होता है और उसके दमित होने से अपने आपका ही नुकसान होता है। क्रोध के बार-बार प्रकाशन से भी मनुष्य क्षीणकाय हो जाता है और उसे अनेक प्रकार के रोग सरलता से पकड़ लेते हैं। जब मनुष्य की किसी प्रबल वासना की तृप्ति में बाधा पड़ती है, तो उसे क्रोध का भाव उत्पन्न होता है। क्रोध का दमन आत्म-हत्या के भाव तथा क्षय-रोग में प्रकट होता है। दमित क्रोध हृदय और फेफड़े के रोग उत्पन्न करता तथा सिर की पीड़ा और अन्धापन लाता है। यही पेट का शूल, पेट का केन्सर तथा बवाशीर की बीमारी बन जाता है। किसी व्यक्ति के प्रति वैर-भाव अथवा घृणा का होना क्रोध के आवेग का ही परिणाम है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वैर को क्रोध का आचार अथवा मुरब्बा कहा है। वैर और घृणा स्थायी भाव हैं, तथा क्रोध संवेग। मनुष्य के जीवन में जितनी हानि अवांछनीय स्थायी भाव की उपस्थिति से होती है, उतनी हानि अवांछनीय संवेग से नहीं होती। किसी व्यक्ति के प्रति घृणा और वैर के स्थायी मनोभाव रखने से इन मनोभावों के पालनेवाले व्यक्ति को स्थायी शारीरिक क्षति हो जाती है। कितने ही लोगों को अपने समीप के सम्बन्धी के प्रति द्वेष-भाव रखने के कारण आँखोंका अन्धापन आ जाता है। इस प्रसंगमें डा० ब्राउन का दिया हुआ एक उदाहरण, जिसे डम्बल महाशय ने अपनी 'फण्डामेन्टलस आफ साईकोलाजी' नामक पुस्तक में उल्लेखित किया है, बड़ा ही शिक्षाप्रद है-

एक प्रतिष्ठित परिवार के व्यक्ति को अपनी स्त्री के प्रति संदेह हो गया कि वह व्यभिचारिणी है। पति-पत्नी दोनों की उम्र चालीस वर्ष के ऊपर थी और समाज में इस परिवार की अच्छी प्रतिष्ठा थी। जब इस व्यक्ति को अपनी स्त्री की व्यभिचार-चेष्टाओं का प्रमाण मिल गया, तब भी वह उसके विरुद्ध कुछ भी न कर सका। वह उसे व्यभिचार से रोक नहीं सकता था और लोक में प्रतिष्ठा होने के कारण वह उसे तलाक भी नहीं दे सकता था। मन-ही-मन वह अपनी पत्नी को खूब घृणा करने लगा। कुछ दिनों तक इस प्रकार की मनोस्थिति में रहने के बाद उसे अंधापन आ गया।

लेखक के एक शिष्य को कुछ वर्षों पूर्व आँख में फूली पड़ गई थी और वह बढ़ती ही जाती थी। उसने अपने रोग की प्रर्याप्त डाक्टरी चिकित्सा की, परन्तु वह अच्छा नहीं हुआ। फिर उसने प्राकृतिक चिकित्सा प्रारम्भ की। इसी बीच वह लेखक से मिला। वह अपने रोग से परेशान था। उसने शारीरिक रोगों के मानसिक कारण के होने की चर्चा सुनी थी। अतएव उसको अपनी आँखों के रोग के मानसिक कारण होने की संभावना पर कुछ विश्वास हो गया था। इस छात्र की मनो-स्थिति के अध्ययन से पता चला कि जहाँ वह काम करता था, वहाँ उसका आफिसर बात-बात में उसके काम की आलोचना करता था। अतएव उसे अपनी नौकरी पर रहना भार-रूप बन गया था। यह शिष्य एक उच्च घराने का व्यक्ति है, अतएव उसे अपने आफिसर की आलोचना असह्य होती थी, परन्तु उसे इसे सहना ही पड़ता था। वह इस आफिसर को अपने सामने देखना नहीं चाहता था, परन्तु वह उसे वहाँ से हटा भी नहीं सकता था। इस प्रकार की जटिल समस्या को सुलझाने के लिए प्रकृति ने एक अनोखा उपाय निकाला। उसने इस व्यक्ति को आँखों का रोग उत्पन्न करा दिया, जिसके कारण वह अपनी जगह से हट कर अपने घर चला आया। जब तक वह घर में रहता था, तब तक उसका रोग कम रहता, परन्तु पुनः नौकरी पर जाते ही उसका रोग बढ़ जाता था। इस छात्र को लेखक ने सलाह दी कि वह उस स्थान को ही छोड़ दे, जिसमें

उसे बार-बार क्रोध का अनुभव करना पड़ता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसकी आँखों का रोग शीघ्रता से जाता रहा। यदि वह अपने मनोभावों को बदले बिना अपने पुराने स्थान में बना रहता, तो यह सम्भव था कि वह अपनी आँखों को ही खो देता। यदि हम किसी व्यक्ति को ऐसे लोगों के बीच रख दें, जिन्हें वह देखना नहीं चाहता, तो उसकी आँखों की ज्योति घट जाती है। ईर्ष्या और द्वेष शरीर में एक प्रकार का विष उत्पन्न कर देते हैं। यह विष एक ओर मन को प्रभावित करता है और दूसरी ओर शरीर को। बुद्धि को प्रभावित करनेके कारण इस विषसे मनुष्य अपने विवेक को खो देता है और शरीर को प्रभावित करने के कारण इस विष से आँखों एवं दूसरे प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाता है।

साधारणतः सास-बहू में मनोमालिन्य रहा करता है। जब सास-बहू का मनोमालिन्य बहुत अधिक बढ़ जाता है, तो वह मानसिक अथवा शारीरिक रोगोंका रूप धारण कर लेता है। जो स्त्रियाँ लड़-झगड़कर अपने क्रोध को प्रकाशित कर देती हैं, उन्हें इतने जटिल मानसिक और शारीरिक रोग नहीं होते, जितने जटिल रोग बाहरी आचरण में सौजन्यता और शील दिखाते हुए भीतरी मन में क्रोध रखनेवाली स्त्रियों को होता है। जब व्यक्ति के क्रोध का दमन बाहरी वातावरण के कारण और अपने को रोकने के कारण होता है, तब जो शारीरिक रोग होते हैं, उससे जटिल शारीरिक रोग उस समय होता है, जब मनुष्य के क्रोध का दमन उसकी नैतिक बुद्धि-द्वारा होता है और स्वयं रोगी इस बात को नहीं जानता कि उसके मन में अपने नजदीक के सम्बन्धी के प्रति द्वेष-भावना है। मनुष्य की द्वेष-भावना उसके आन्तरिक मन में जितनी ही अधिक प्रवेश करती है, वह उतना ही अधिक घातक बन जाती है। सास-बहू के द्वेष की मनोवृत्ति के कारण कभी बहू और कभी सास को अंधापन आ जाता है। जहाँ घर में सास का स्थान बहू से ऊँचा है, वहाँ बहू को और जहाँ बहू का स्थान सास से अधिक ऊँचा हो, वहाँ सास को हानि पहुँचती है। लेखक की चिकित्सा में आई हुई आँखों के रोग से पीड़ित एक महिला की जीवनी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

लेखक के पास एक प्रौढ़ महिला मानसिक रोग से पीड़ित होने के कारण लाई गई। इस महिला को आँखों का अँधापन भी था। परन्तु जिन लोगों के आश्रय में यह महिला रहती थी, उन्हें ज्ञात नहीं था कि उसकी आँखों के रोग का भी मानसिक कारण हो सकता है। यह महिला रात में नींद की अवस्था में अनेक प्रकार के गीत गाती और कई प्रकार की बात-चीत करती थी। उसकी आँखों के रोग का कारण पूछने से पता चला कि वह एक दिन अचानक ही अँधी हो गई। जब एक दिन वह सोकर उठी, तो उसने अपनी आँखों में दर्द की अनुभूति की और उसी समय उसे पता चला कि वह कुछ भी देख नहीं सकती। उसने आँखों की बहुत चिकित्सा कराई, पर सब व्यर्थ गई। जब किसी रोग का प्रयीत भौतिक कारण नहीं होता, तो हमें समझना चाहिए कि इसका कोई गुप्त मानसिक कारण अवश्य होगा। यह गुप्त कारण रोगी की अचेतनावस्था अथवा स्वप्नों में प्रकट होता है। अतएव हमने उस महिला के पास रहनेवाली एक छात्रा से कहा कि यह महिला अपनी स्वप्नावस्था में जो कुछ गाना गाती अथवा बात-चीत करती है, उसे ठीक-ठीक तरह से लिख लिया जाए। इस छात्रा ने वही किया। उसी दिन जब वह महिला सो गई थी, तो उसने स्वप्न में गीत गाना और बकना आरम्भ किया। पास में दूसरे बिस्तर पर लेटी हुई छात्रा इसके प्रति पहिले से ही सावधान थी। वह अपने बिस्तर से उठ कर उस महिला के पास गई। महिला का मुँह ढँका हुआ था। जैसे ही वह लड़की उसके पास आई, तो उसने ढँके हुए मुँह की अवस्था में ही यह जान लिया कि कोई व्यक्ति उसके पास आया है। उसके स्वप्न में यह लड़की माँ के रूप में दिखाई दी। उसने इस लड़की से कहा—'माँ, तुम आ गई, बैठ जाओ।' इस पर लड़की उसके सिरहाने बैठ गई। इसके बाद लड़की का भाई उस महिला के बिस्तर के पास आया। इस समय भी उस महिला का मुँह ढँका हुआ ही था। महिला ने अपने स्वप्न में उसे एक ऐसे लड़के के रूप में देखा, जो उसे पहिले त्रास दिया करता था। यह लड़का उसकी बहिन का लड़का था। इस महिला को विधवा होने के पश्चात अपनी बहिन के घर में ही

पेट पालने के लिए रहना पड़ता था। इसके बहिनोई और उनके लड़के इसके प्रति बड़ा ही दुर्व्यवहार करते थे। उसने अपने स्वप्न में कहा—'गणेश आगया है।' यह कहकर वह चुप हो गई। कुछ देर के बाद वह चिल्लाकर बोली—'गणेश, मेरे पास से हट जाओ।' फिर कुछ देर तक वह चुप रही। फिर अनेक बातें वह उस लड़की के सामने बोलने लगी, जिसे वह माँ के रूप में अपने स्वप्न में देख रही थी। फिर वह कुछ देर तक रोने लगी। इसके बाद उसने अचानक यह कहा—'जिस प्रकार मैं अपनी माँ के लिए रो रही हूँ, उसी प्रकार तुम भी अपने लड़के के लिए रोओगे।'

यह महिला बाल-विधवा थी। विधवा होने के पश्चात् वह अपनी माँ के पास रहती थी। फिर उसे अपने जीजा के पास रहना पड़ा। इसी समय उसकी माँ मर गई। जीजा ने उसे इस समय अपनी माँ के पास नहीं जाने दिया। उस समय वह माँ के लिए बहुत रोई थी और अपने जीजा के प्रति उसने बड़े ही क्रोध का अनुभव किया था। इसके बाद उसके आचरण में विलक्षण परिवर्त्तन हो गया। वह अपनी माँ की मृत्यु को बिल्कुल भूल गई और अपने सम्बन्धियों के प्रति क्रोध प्रकाशित करना उसने बन्द कर दिया। वह अपने आचरण में बड़ी ही सुशीला बन गई। इसी समय वह लेखक के मित्र के घर लाई गई। वह अपने पुराने दुःखमय जीवन की घटनाओं को बिल्कुल भूल चुकी थी। उसका स्मरण कराने पर भी उसे कुछ भी याद नहीं आता था। उसका आचरण-व्यवहार शीलयुक्त हो गया और वह घर के सभी काम चतुरता से करती थी, परन्तु उसके मन में क्रोधाग्नि भरी हुई थी और इसी के कारण वह अँधी हो गई थी।

जब स्वप्न पूर्ण होने पर यह महिला जागी और जब छात्रा ने उसके स्वप्न के बारे में उससे पूछा, तो उसने इतना ही कहा कि मैंने अपनी माँ का स्वप्न देखा है। स्वप्न की दूसरी कोई भी बात उसे याद न थी। उसके अचेतन मन में पड़ी हुई दुःख की स्मृति चेतना के समक्ष नहीं आई। उसे जो कष्ट अपनी ससुराल और बहनोई के घर हुए, उन्हें वह

भुला चुकी थी और यदि वह उसे याद रखती; तो उसका जीवन ही भार-रूप हो जाता। उक्त महिला के मन में अपने सम्बन्धियों के प्रति अनेक प्रकार के क्रोध-जनक विचार थे, जिन्हें वह बाहरी आचरणों में प्रकाशित नहीं कर सकती थी। उनकी स्मृति भी उन्हें बड़ी दुःखद थी। उसकी आँखों के रोग और स्वप्न में बड़-बड़ाने का कारण अब प्रत्यक्ष हो गया।

प्रबल क्रोध के विचार मनुष्य को कभी-कभी आँखों की पीड़ा पहुँचा-कर धीरे-धीरे अन्धा करते हैं और कभी वे उसे अचानक ही अन्धा कर देते हैं। अपने से बड़े व्यक्ति के प्रति किया गया क्रोध मनुष्य में अन्धापन ले आता है। जिस व्यक्ति को हमारा आन्तरिक मन अपने सामने से हटाना चाहता है, परन्तु उसको हटाना हमारी सामर्थ्य के बाहर की बात होती है, उसे बार-बार देखने से आँखों का अन्धापन आ जाता है। यह अचेतन मन का अप्रिय व्यक्ति को सामने से हटाने का उपाय है—'मुँदिय आँख कतहुँ कोउ नाहिं।'

लेखक के एक मित्र को अपनी परीक्षाओं में असाधारण सफलता मिली। इसके कारण समाज में उनका बहुत कुछ प्रभाव बढ़ गया। इसके परिणाम-स्वरूप उनका संघर्ष अपने बड़े आफिसर से ही हो गया। वे इस आफिसर के प्रतिकूल अनेक प्रकार का षड़यन्त्र करने लगे। इसमें उन्हें आंशिक सफलता मिली, परन्तु उनकी मानसिक अवस्था क्लेश की ही बनी रही। कुछ दिनों के पश्चात् उन्हें आँखों की जटिल पीड़ा हुई। उनकी आँख का आपरेशन दो बार हुआ और अनेक प्रकार की चिकित्सा की गई, परन्तु उन्हें अन्त में अन्धा होना ही पड़ा। जैसे-जैसे आँखों का इलाज होता गया, तैसे-तैसे रोग भी बढ़ता ही गया।

लेखक के एक छात्र को अन्धापन अपने पिता के प्रति द्वेष-बुद्धि रखने से हो गया। उसे न कान से ठीक से सुनाता है और न आँखों से ठीक से दिखाई देता है। कुछ बातें कहने के लिए उसे चिल्लाकर बोलना पड़ता है। उसकी एक आँख तो बिल्कुल ही जाती रही और एक से थोड़ा दीखता है। वह रात को घर से बाहर निकल नहीं सकता। बाहर

निकलने पर उसे डर लगता और घबड़ाहट होती थी। वह अधिक चल भी नहीं सकता। उसके पैर लड़खड़ाते रहते हैं। ऊपर से इसका व्यवहार बड़ा ही शीलयुक्त है, परन्तु उसके आन्तरिक मन में अपने पिता के प्रति प्रबल क्रोध के विचार हैं।

प्रबल ईर्ष्या के विचार किस प्रकार मनुष्य को अन्धा कर देते हैं, इसका एक उदाहरण, जो लेखक के एक छात्र ने हाल ही में सुनाया, उल्लेखनीय है। इस छात्र के मुहल्ले में एक ऐसा व्यक्ति रहता था, जिसे मुकदमेंबाजी की लत लग गई थी। इस समय वह अपने से एक प्रबल मुकदमेंबाज से अपने हिस्से के लिए मुकदमा लड़ रहा था। प्रतिवादी का पक्ष बहुत प्रबल था। मन-ही-मन वह निराश हो रहा था। परन्तु वह समझौता करने के लिए भी तैयार न था। एक बार जब मुकदमे की पेशी के दिन वह कचहरी में गया था, और मुकदमे की पुकार होने-वाली थी, उसी समय वह बाहर खुली धूप में टहल रहा था। इसी समय अचानक उसने आसमान की ओर देखा। जाड़े के दिन थे और सूर्य का प्रकाश आ रहा था। परन्तु उसे आकाश में बादल दिखाई दिए। इस अजनबी अनुभव को देखकर उसे विश्मय हुआ। उसने अपने साथियों से कहा 'देखोजी, आसमान में ये बादल कैसे घिर आए ?' उसके साथियों ने कहा "बादल कहाँ है ? आसमान तो साफ है, कहीं तुम स्वप्न तो नहीं देख रहे हो ?" यह बात सुनकर उसे बहुत धक्का लगा। थोड़ी ही देर में उसने देखा कि जिस धुँधलाहट को वह आसमान में देख रहा था, वह सारी जगत में छा गई। तब से वह अन्धा ही हो गया।

जब मनुष्य किसी ऐसी उलझन में पड़ जाता है, जहाँ से निकलने का मार्ग उसकी बुद्धि नहीं खोज पाती; तब उसकी बुद्धि की मार्ग देखने की असमर्थता प्रतीक रूप से आँखों का अन्धापन बन जाती है। मनुष्य का अचेतन मन बड़ा ही भोला है। वह बौद्धिक सूझ की कमी को आँख की सूझ की कमी में परिणत कर लेता है। अतएव बुद्धि का अन्धापन आँखों का अन्धापन हो जाता है। जब ऐसी अवस्था में मनुष्य को फिर कोई मार्ग सूझ जाता है, तब उसका अन्धापन समाप्त हो जाता है।

क्रोध के विचार और क्षय रोग

जिस प्रकार क्रोध के विचार आँखों को अन्धा कर देते हैं; उसी प्रकार वे क्षय-रोग भी उत्पन्न कर देते हैं। मनुष्य को यह रोग तब होता है, जब वह अपने ही लोगों के प्रति अथवा अपने आपके प्रति क्रोध का विचार लाता है। अपने आपके प्रति किया गया क्रोध आत्म-ग्लानि या आत्म-भर्त्सना बन जाता है। मनुष्य न तो अपने समीपस्थ सम्बन्धियों के प्रति किए गए क्रोध का स्मरण रखना चाहता है और न अपने आपके प्रति किए गए क्रोध का। इन दोनों प्रकार के क्रोधों का वह दमन करता है। इस प्रकार वह भीतरी मन से जैसा है, उसका ठीक विपरीत बाहरी मन से बन जाता है। परन्तु किसी प्रकार के कलुषित विचार के दमित होने पर वे और भी अधिक कलुषित और प्रबल हो जाते हैं। फिर वे किसी शारीरिक रोग के रूप में प्रकट होते हैं। इसके कारण मनुष्य को पेट के फोड़े, गठिया अथवा क्षय-रोग हो जाता है। दमित क्रोध के विचारों के कारण क्षय-रोग की उत्पत्ति के दो उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। कभी-कभी मनुष्य को क्षय-रोग नहीं होता, परन्तु उसका भय उसे उसी प्रकार त्रास देता है, जैसा वास्तविक क्षय-रोग उससे पीड़ित व्यक्ति को मानसिक त्रास देता है। इस प्रसंग में ट्रेनिंग कालेज में पढ़नेवाली लेखक की एक छात्रा का उदाहरण उल्लेखनीय है।

आज से दस वर्ष पूर्व ट्रेनिंग कालेज की एक छात्रा, जिसकी उम्र कोई बाईस वर्ष की थी, अपने क्षय-रोग के होने के विषय में हमसे सलाह लेने आई। देखने में वह मोटी-ताजी थी, परन्तु क्षय-रोग का विचार उसे सदा मानसिक त्रास देता रहता था। उसने अपने शरीर की परीक्षा कई डाक्टरों से कराई और उसके शरीर में कोई रोग नहीं पाया गया। एक डाक्टर ने उसके बार-बार पूछने पर यह कह दिया कि उसे अभी तो क्षय रोग नहीं है, पर इसके होने की संभावना है। तब से वह भयभीत हो गई। उसे क्षय-रोग का विचार हर समय और भी त्रास देने लगा। वह कहती थी कि इस विचार के मारे मेरा मन किसी काम में नहीं लगता। मैं नहीं चाहती कि मैं क्षय-रोग के विषय में सोचूँ, पर मुझे इसका विचार आ ही

जाता है। मैं प्रतिदिन सोचती हूँ कि मैं शरीर का ताप न लूँ, पर मुझे बाध्य होकर शरीर का ताप लेना ही पड़ता है। मेरी इच्छा न रहने पर भी मैं अनायास अलमारी के पास जाती हूँ, और वहाँ से थर्मामीटर उठाकर अपने शरीर से लगाती हूँ। यह कार्य मुझे दिन में कई बार करना पड़ता है। इस कार्य के किए बिना मुझे चैन ही नहीं मिलता। मैं देखती हूँ कि थर्मामीटर कुछ-न-कुछ ताप दिखाता ही है। मैं अपने को शरीर से पूर्ण स्वस्थ समझती हूँ। परन्तु थर्मामीटर में एक डिग्री ताप अधिक रहता ही है।

उस महिला की मनोदशा जानने से पता चला कि उसे रात में ठीक से नींद नहीं आती और वह भयंकर स्वप्न देखती है। वह अपने आच-रण को आदर्श आचरण बनाना चाहती है और छोटी-सी भूल के लिए भी अपने आपको खूब कोसती है। वह जितनी नुक्ताचीनी अपने आपकी करती है, उतनी और किसी की नहीं करती। एक दिन कोई दूसरी स्त्री इससे बिगड़ गई। यह सर्वथा निर्दोष थी, परन्तु उस स्त्री ने इसे बहुत कुछ भला-बुरा कह सुनाया। वह कुछ नहीं बोली। पीछे उसकी दूसरी सहेलियों ने उसकी चुप्पी के लिए उसकी भर्त्सना की। इस पर उसे आत्म-ग्लानि हुई। एक दूसरे दिन उक्त स्त्री का झगड़ा किसी दूसरी महिला से हो गया। अब तो उसे खूब गालियाँ खानी पड़ीं। इस प्रकार अपने शत्रु को अपमानित होते हुए देखकर उस छात्रा को मन-ही-मन प्रसन्नता हुई। पीछे उसकी नैतिक बुद्धि जागरित हो गई और वह अपने आपको अपनी इस नीचता के लिए कोसने लगी।

इस महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि उसके मन में अपनी सास के प्रति प्रबल द्वेष के विचार उपस्थित हैं। उसका पति अपनी माता की बात मानता था। इसलिए अपने पति के प्रति भी उसके मन में दमित क्रोध की भावनाएँ थीं। इस महिला का बाल्यकाल प्रबल नैतिक वातावरण में व्यतीत हुआ। अतएव अपने मनमें उपस्थित द्वेष-युक्त विचारों को स्वीकार करना उसके लिए अत्यन्त कठिन था। किसी प्रकार के अनैतिक चिन्तन के लिए उसे बड़ी आत्म-भर्त्सना होती थी। इसके कारण उसे

आत्म-हत्या के विचार आ जाते थे। यही आत्म-हत्या के विचार रूपान्तरित होकर क्षय-रोग की झक में प्रकाशित होते थे। क्षय-रोग का विचार जब किसी व्यक्ति के मन में देरतक स्थायी रहता है, तो वह आत्म-निर्देश होकर कभी-कभी वास्तविक क्षय-रोग में प्रकट होता है। प्राकृतिक चिकित्सा के विशेषज्ञ डा० लिन्डलहर का कथन है कि आत्म-भर्त्सना मानसिक क्षय है। यह मानसिक क्षय दीर्घकाल तक किसी व्यक्ति के जीवन में उपस्थित रहने पर शारीरिक क्षय-रोग में परिणत हो जाता है।

किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति प्रबल क्रोध के विचार दमित होने पर क्षय रोग का भय उत्पन्न हो जाता है। इसका एक उदाहरण स्वयं लेखक के जीवन में ही पाया जाता है। आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व मुझे अचानक यह विचार त्रास देने लगा कि मुझे क्षय-रोग होने वाला है। इस समय मैं बहुत से काम हाथ में लिए हुए था। दो पुस्तकों का प्रकाशन भी हो रहा था। अतएव कालेज की छुट्टी होने पर भी मैं काशी छोड़कर अपने देहात के घर को आराम के लिए नहीं जा सकता था। इस समय खाँसी, कमर की दर्द और छाती में कुछ पीड़ा बनी रहती थी। मैं न तो थर्मामीटर से अपना ताप लेता था और न किसी डाक्टर के पास ही जाता था। मुझे डाक्टर की बात से भी भय था। यदि कहीं किसी डाक्टर ने कह दिया कि तुम्हें क्षय-रोग की सम्भावना है, तो इस रोग के विचार से मुक्त होना अत्यन्त कठिन हो जायगा। अतएव मैंने इस विचार को भुलाने की चेष्टा की। परन्तु भूलने के प्रयास में यह विचार और भी प्रबल होता गया। अतः एक मित्र की सलाह से मुझे आराम के लिए अपने देहात के घर में जाना पड़ा। वहाँ पहुँचने पर मुझे खबर मिली कि मेरी सास बहुत बीमार है और वह मुझे देखना चाहती हैं। जब मैं ससुराल पहुँचा, तो वहाँ देखा कि सास को क्षय-रोग हुआ है और वह एक चारपाई पर पड़ी हुई अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही हैं। उसे रहने के घर से अलग एक दूसरे घर में रख दिया गया था। मैं पाँच मिनट तक उनके सामने रहा। परन्तु इतनी देर में ही क्षय-रोग से मरते हुए रोगी का दृश्य मेरे मन पर पूरी तरह से असर कर गया। जब रात को मैं सोया, तो मैंने

सपने में देखा कि मुझे क्षय-रोग हो गया है और इस रोग से मैं मर चुका हूँ। लोग मेरे शव को अर्थी पर उठाकर जलाने ले जा रहे हैं। जब शरीर को चिता पर रख दिया गया, तब स्वप्न में ही यह विचार आया कि मैं मरा तो नहीं हूँ, पर लोग मुझे जिन्दा ही जला रहे हैं। मुझे घबड़ाहट हुई और इसी घबड़ाहट में नींद खुल गई।

जिस समय मैं अपने इस भयानक स्वप्न से जागृत हुआ उस समय आधी रात थी। मेरे मन में विचार आया कि मुझे क्षय रोग से भय न कर उससे मरने के लिए तैयार हो जाना चाहिए। आखिर मरने का कारण कोई-न-कोई होता ही है और मनुष्य चाहे जैसे ही मरे उसे शरीर छोड़ते पीड़ा अवश्य ही होती है। जब मरने के लिए मैंने मानसिक तैयारी कर ली, तब मैंने अपनी जिम्मेदारियों और दूसरे लोगोंके प्रति राग-द्वेष के भावों पर विचार किया। अपने मनकी खोज करने पर पता चला कि मेरे मनमें अपने उच्चाधिकारी के प्रति प्रबल क्रोध के विचार उपस्थित हैं। मैं इन विचारों को भूल चुका था। बाहर से मैं इस अधिकारी के प्रति बड़ी ही सौजन्यता का व्यवहार करता था। परन्तु मेरे अचेतन मन के गंभीर स्तर में उनके प्रति प्रबल क्रोध के विचार थे। उक्त गम्भीर मानसिक अवस्था में ये सभी छिपे हुए बिचार चेतना के स्तर में आ गए। फिर मैंने इस अधिकारी के प्रति मन-ही-मन मैत्री-भावना का अभ्यास किया। इस समय इसे चेहरे का लकवा हो गया था। उसकी इस दशा के प्रति मन में करुणा के भाव लाए गए। इस प्रकार के अभ्यास से मेरा क्षय-रोग का विचार सब समय के लिए मन से जाता रहा। फिर मैं एक ही सप्ताह में अपने देहात के घर वापस आ गया। तब से इस विचार ने आज दिन तक कोई त्रास नहीं दिया।

किसी प्रकार के अशुभ विचारों का रेचन आत्म-विश्लेषण-द्वारा करना और उनमें परिवर्तन करने के लिए मैत्री-भावना का अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। जब मनुष्य शरीर को सम्पूर्ण शिथिल करके चुपचाप बैठकर अपने भीतरी मन की क्रियाओं को साक्षी-भाव से देखता है और सभी भली-बुरी भावनाओं को बिना रोक-टोक के चेतना के समक्ष आने की छूट देता है, तब उसे अपने बहुत पुराने अनुभव अनायास ही याद आ जाते

हैं। कभी-कभी वह पाँच वर्ष की अवस्था में घटित अप्रिय घटना को भी उसी प्रकार अपनी कल्पना में घटित होते देखता है, जिस प्रकार वह अभी घटित हो रही हो। अपने मन को इस प्रकार ढील देने पर उसके अचेतन मन में उपस्थित अनेक मानसिक ग्रन्थियाँ अनायास ही खुल जाती हैं। जब इस प्रकार मनुष्य की कलुषित भावनाएँ चेतना के स्तर पर आ जाती हैं, तब उसकी किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक रोग उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। परन्तु अचेतन मन के दमित भाव जब पहिले-पहल चेतना पर आते हैं, तो वे उसी प्रकार की मानसिक बेचैनी उपस्थित करते हैं, जिस प्रकारको मानसिक बेचैनी व्यक्तिको प्रथमबार उनके मन में आने के समय हुई थी। इतना ही नहीं, कभी-कभी अचेतन मन के ये भाव चेतना के समक्ष बड़े ही विकराल रूप से उपस्थित होते हैं। इसके कारण मनुष्य बहुत ही घबड़ा जाता है और कभी-कभी हाथ-पैर पटकने और नाचने-कूदने तथा चिल्लाने लगता है। परन्तु इस प्रकार की चेष्टाओं से अचेतन मन की अवांछनीय भावनाओं का बल कम हो जाता है। वे फिर विवेक के नियंत्रण में आ जाती हैं। फिर प्रति भावना के अभ्यास के द्वारा उसमें सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। दमित क्रोध के विचार दमितावस्था में शारीरिक और मानसिक रोगों से प्रकाशित होते हैं, परन्तु जब वे चेतना के स्तर पर लाये जाते हैं, तब वे अपने पुराने रुप में ही प्रकाशित होते हैं। चेतना के स्तर पर आने पर उन्हें मैत्री-भावना के अभ्यास-द्वारा परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार लेखक का क्षय-रोग का भय समाप्त हुआ। इसके लिये अपने दमित भावों के प्रति प्रथमतः साक्षी-भाव धारण किया गया; फिर चेतना में आए क्रोध के भावों को मैत्री-भाव से परिवर्तित किया गया। अपने मन के सभी प्रकार के कलुषित भावों की समाप्ति इसी प्रकार से की जा सकती है।

मानसिक विकारों का पेट के रोगों में परिणत होना।

मनुष्य के कलुषित मनोविकार पेट के रोगों में परिणत हो जाते हैं। पेट के स्थायी रोग का मानसिक विकारों से बड़ा ही घनिष्ट संबन्ध रहता है। विलियम स्टैकिल ने अपने ४० वर्ष के मानसिक चिकित्सा के अनुभव

के आधार पर अपनी 'प्रैक्टिस आफ साइकोथेराप्यूटिक्स' नामक पुस्तक में बताया है कि ऐसा कोई भी पेट का रोगी हमारे पास नहीं आया, जिसके रोग का कुछ-न-कुछ मानसिक कारण न हो। बहुत दिन तक ठहरनेवाली किसी समीपस्थ व्यक्ति के प्रति द्वेष अथवा घृणा की भावना पेट का 'कैन्सर' बन जाती है। कभी-कभी ऐसे रोगियों की आँत का आपरेशन होता है। एक बार इस तरह 'कैन्सर' ठीक होने पर फिर से फोड़ा होने लगता है। लेखक की एक छात्रा को अपने पति के प्रति प्रबल घृणा के भाव थे। उसका पति इस महिला को व्यभिचारिणी समझता था। वास्तव में इस महिला का प्रेम किसी दूसरे व्यक्ति से था और विवाह किसी दूसरे व्यक्ति से हो गया था। जब रूपवान स्त्री का विवाह किसी अनचाहे या कुरूप व्यक्ति से हो जाय, तो उस स्त्री को किसी प्रकार का मानसिक अथवा शारीरिक रोग हो जाता है। जब ऐसी स्त्री को अपनी इच्छा के प्रतिकूल ही अपने पति के पास रहना पड़े और पति उससे व्यंगात्मक बातें कहता रहे, जिसका वह खुल कर उत्तर न दे सके, तब दमित क्रोध पेट का रोग बन जाता है। उपर्युक्त महिला के जीवन में ऐसा ही हुआ। रोगी रहने पर उसे अपने पिता के घर रहना पड़ा। वह वहाँ कई वर्षों तक बीमार ही बनी रही। उसके आँत के फोड़े का आपरेशन एक कुशल डाक्टर ने किया। अपनी रुग्णावस्था में ही उसने विद्याध्ययन करके स्कूल और कालेज की सभी परीक्षाएँ प्राइवेट ही पास की। उसके पेट का रोग एक बार अच्छा होकर फिर से होने लगा था। इसी बीच वह लेखक के उपचार में आई। वह प्रतिदिन ढाई महीनों तक अपने जीवन की दुःखद कथाएँ रोज सुनाती थी। इस प्रकार उसके दमित घृणा के भावों का रेचन हो गया। उसे फिर रचनात्मक कार्य और मैत्री-भावना के अभ्यास में लगाया गया। इसी बीच उसने विश्वविद्यालय की ऊँची-ऊँची परीक्षाएँ पास कर लीं और आर्थिक दृष्टि से (पति से) स्वावलम्बी हो गई। अब उसे क्रोध के भावों का अनुभव करने का कोई अवसर ही न था और न रोग को पोषे रखने की कोई आवश्यकता ही थी। अपनी असहायावस्था में ही मनुष्य को प्रबल ध्वंसात्मक सम्वेगों की अनुभूति होती

है। इसके दमन से ही उसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब मनुष्य अपनी परिस्थितियों का सामना करने की सामर्थ्य का अनुभव करने लगता है, तब उसे न तो प्रबल ध्वंसात्मक आवेगों की अनुभूति होती है और न ऐसे आवेगों के दमन की आवश्यकता ही पड़ती है। अतएव उसके शरीर में ऐसे विष का उत्पादन ही नहीं होता, जिसके कारण उसे दमा, क्षय अथवा पेट के फोड़े या अँतड़ियों के विकार उत्पन्न हों। प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्पन्न हुए मानसिक विकार परिस्थितियों के अनुकूल होने पर शीघ्रता से समाप्त हो जाते हैं। ये मनोभाव मानसिक रेचन और प्रतिभावना के अभ्यास से भी समाप्त होते हैं।

लेखक के एक २४ वर्षीय शिष्य को ४ वर्ष से पेचिश का रोग था। उसके पेट में मरोड़ उठती थी। उसने अपने पेट की परीक्षा लखनऊ और बम्बई के कुशल डाक्टरों से कराई। पर उसके रोग के कारण का कोई पता न चला और न रोग ही गया। उसका रोग थोड़े समय के लिये अच्छा हो जाता था, पर फिर वह जैसे-का-तैसा हो जाता था। जब इस व्यक्ति की चिकित्सा मनोविश्लेषण-विधि से की गई और उससे मानसिक शैथिलीकरण का अभ्यास कराया गया, तो उसका रोग जाता रहा। इस रोग के कारण इस शिष्य को अपनी पढ़ाई छोड़नी पड़ी थी। जब वह इस रोग से मुक्त हुआ, तो वह कालेज की परीक्षा में सर्वप्रथम आया।

लेखक के एक धनी मित्र को आज से १२ वर्ष पूर्व पेट का रोग हो गया था। उस समय उनकी अवस्था ३० वर्ष की थी, पर वे इतने कृशकाय दिखते थे मानो ५० वर्षीय वृद्ध हों। उन्हें यह रोग सात वर्ष तक रहा। इसके कारण वे ठीक से भोजन नहीं कर पाते थे। उनके पेट में सदा हल्का दर्द बना ही रहता था। कभी-कभी पेट से आँव भी आती थी। उन्हें भूख सदा लगी रहती थी; पर तृप्ति कभी नहीं होती थी। उन्होंने एलोपैथिक, आयुर्वेदिक, होम्योपैथिक और प्राकृतिक चिकित्सा के सभी उपचार कराए, पर कोई स्थायी लाभ न हुआ। पीछे उनका उपचार मानसिक-चिकित्सा-प्रणाली से हुआ। इनकी दमित मनोभावनाओं के अध्ययन से पता चला कि उनके मन में अपने चाचा के प्रति प्रबल

घृणा की भावना थी, जिसे उन्होंने सौजन्य और सामाजिक शिष्टाचार के कारण भुला रक्खा था। इसके परिणामस्वरूप पहले तो उन्हें आँत के फोड़े हुए और बाद में पेट की स्थायी पीड़ा होती रहती थी। अपने चाचा के प्रति घृणा के भावों का रेचन होने पर और उनके प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने पर उनके पेट का रोग जाता रहा। जब इनके पेट का रोग प्रबल नहीं होता था, तो मन में निराशा और आत्महत्या के विचार आते रहते थे। संभव है यदि उन्हें पेट का रोग न होता, तो वे पागल हो जाते या आत्महत्या कर डालते। पेट के रोग ने कलुषित दमित भावों का रेचन करके उनकी रक्षा कर ली।

लेखक के पास आये एक दूसरे मानसिक रोगी को यह भ्रम हो गया था कि उसके पेट में विशेष प्रकार के कीड़े हो गये हैं, जो उसका खून चूस डालते हैं। इसी कारण सदा पेट में पीड़ा होती रहती थी। जब एक्स-रे कराने पर ज्ञात हुआ कि उसके पेट की स्थिति दूसरे व्यक्तियों के समान सामान्य ही है और जब उसे ज्ञात हुआ कि उसके पेट में कोई विशेष प्रकार का कीड़ा नहीं है, तब उसके पेट की पीड़ा ने दूसरा रूप धारण कर लिया और वह वायु का विकार बन गई। उसके पेट में अब शूल उठने लगा। यदि वह एक चम्मच भी दूध पी ले, तो तुरन्त ही उसे वायु उत्पन्न हो जाती थी और इसके कारण वह बेचैन हो जाता था। उसे न केवल पेट की पीड़ा होती थी, वरन् यह वायु मस्तिष्क पर चढ़कर टकराने लगती थी। इससे यह स्पष्ट है कि उसका शारीरिक रोग प्रधानतया मानसिक ही था। पर उसे पीड़ा वैसे ही होती थी; जैसे वह रोग पूर्णतया शारीरिक ही हो। आयुर्वेद में मानसिक रोग को वात-विकार ही बताया गया है। अतएव जब कोई रोगी वात-विकार की शिकायत करे, तो हमें अनुमान कर लेना चाहिये कि उसे मानसिक रोग है। हिस्टीरिया, दमा, हृदय-कम्पन और पेट का शूल इन सभी रोगों में वात-विकार रहता है; इन रोगों में मनुष्य को मानसिक बेचैनी, अकारण भय और चिन्ता तथा अनिद्रा की अवस्था रहती है। वात-विकार के रोगियों की काम-वासना अतृप्त रहती है। जो लोग अपनी काम-वासना की तृप्ति नैसर्गिक

रूप से न कर कृत्रिम रूप से करते हैं; अर्थात् जो हस्तमैथुन, समलिंगी व्यभिचार और वेश्यागमन करते हैं या सन्तति-निग्रह के उपायों को काम में लाते हैं,उन्हें अनेक प्रकार के वायु-विकार उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हें किसी-न-किसी प्रकार की कल्पित अथवा वास्तविक पेट, हृदय, सिर अथवा फेफड़े का रोग हो जाता है।

हमारे एक छात्र को अपनी युवावस्था में पेट की बीमारी इतना सताती थी कि वह चिल्लाता रहता था। उसे अनुभव होता था कि उसके पेट में वायु बढ़ रही है। इस प्रकार वायु के बढ़ जाने से वह इतना बेचैन हो जाता था कि कभी-कभी वह अपना सिर चारपाई पर पटक देता था। वह अपने आपको सर्वथा निकम्मा मान बैठा था। वह अपने बिस्तर से भी नहीं उठ पाता था। उसका शरीर बहुत मोटा-तगड़ा था; उसका वजन था एक मन पच्चीस सेर। पर वह सोच बैठा था कि वह बिल्कुल निकम्मा हो चुका है और अपने हाथ को बिस्तर से ही नहीं उठा सकता है। पेशाब-पाखाना के लिए भी दूसरे लोग उसे उठाते थे। डाक्टर लोग उसके शरीर में कोई रोग नहीं पाते थे और उसके घर के लोग उसे रोग का बहाना बनाने का आरोप लगाते थे। परन्तु जैसे-जैसे वे उसकी चिकित्सा कराते गए, तैसे-तैसे उसका रोग बढ़ता ही गया। यह रोगी किसी प्रकार की दवा नहीं खाना चाहता था। इस पर एक होमोपैथिक डाक्टर ने पानी में दवा मिलाकर उसे अनजाने ही पिलाने की सलाह दी। इस पर उसे भ्रम हो गया कि उसके घर के लोग उसे जहर दे देना चाहते हैं। वह न तो घर का बना भोजन करता था और न नल का पानी ही पीता था। उसे प्राकृतिक चिकित्सा की झक सवार हो गई थी। अतएव वह अपने सामने बड़े से निकला हुआ कुएँ का पानी और अपने सामने दुहा गया गाय का दूध पीता था। जब कभी उसके पेट का विकार बढ़ता, तो ताजा दूध पीने पर वह शान्त हो जाता था। पेट के रोग के साथ-साथ इस व्यक्ति को हृदय का रोग भी था। इस रोग के कारण वह हिल-डुल भी नहीं सकता था।

इस रोगी की चिकित्सा मनोविश्लेषण और आत्म-निर्देश की विधि से की गई। उसके जीवन की पुरानी घटनाओं को जानने से पता

चला कि इस व्यक्ति को अपनी किशोरावस्था में कृत्रिम रूप से वीर्य-स्खलित करने की कुटेव पड़ गई थी। पीछे उसने एक प्रतिष्ठित व्यक्ति की पुस्तक में इन कुटेवों के दुष्परिणाम को भी जाना। उस पुस्तक में लिखा था कि जो व्यक्ति इन प्रकार की कुटेवों में पड़ जाता है, वह अपने चित्त की एकाग्रता और स्मरण-शक्ति को खो देता है। फिर उसे कुपच का रोग हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को हृदय का रोग और शरीर का निकम्मापन आ जाता है। इस प्रकार के विचारों ने इस रोगी को भयभीत कर दिया। भय के विचार उसके भीतरी मन में घर कर गए। वह मन-ही-मन अपने भावी दुःखद जीवन की घटनाओं की कल्पना तथा आत्म-भर्त्सना करता था। कुछ समय के बाद वह अपनी ग्लानि-जनक बातों को भूल गया और उन्हीं शारीरिक रोगों का शिकार हो गया, जिनसे वह डरता था। जब उसके दमित भय के भावों का रेचन हुआ, तब उसका शारीरिक रोग थोड़े ही काल में जाता रहा। इस रोगी ने लेखक के पास सभी प्रकार की आत्म-स्वीकृतियाँ कीं। उसके मन की बातों को जानकर उसे आश्वासन दिया गया और फिर उसकी मानसिक शक्ति को रचनात्मक कार्यों में लगाया गया। अब तक यह व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः स्वस्थ है, किन्तु पारिवारिक जीवन में अनुकूलता न प्राप्त करने के कारण एक-न-एक मानसिक उलझन उसे बनी ही हुई है।

पेट के रोगी के भीतरी मन में दमित काम-वासना के विचार रहते हैं, जिन्हें वह बहुत गन्दे मान बैठता है। इस प्रकार के रोग से पीड़ित एक नवयुवक आज से दस वर्ष पूर्व हमारे पास आया। इसे अपनी साधारण-सी बात भी दूसरे से कहने में बड़ी शर्म लगती थी। वह किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति से खुलकर बातचीत नहीं कर सकता है। वह उसकी ओर ऊँची दृष्टि करके नहीं देख सकता था। उसे सदा पेट की गड़बड़ी रहती थी। इसके साथ-साथ उसे गन्दगी के विचार परेशान किया करते थे। जब वह थाली परोसकर खाने बैठता, तो खाने की वस्तुएँ पैखाने के रूप में दीखने लगतीं। जब कोई व्यक्ति उसकी थाली में घी परोसता, तब घी की धार देखकर उसे मूत्र की धार का स्मरण हो आता। फिर वह

उस दिन भोजन ही नहीं कर पाता था। इसके कारण उसने घी खाना ही छोड़ दिया था। जब इस व्यक्ति की चिकित्सा मनोविश्लेषण-विधि से की गई, तब उसके मन में दमित समलिंगी व्यभिचार की वासना पाई गई। इस प्रकार की वासना की भर्त्सना उसकी नैतिक बुद्धि करती थी। इसी के कारण उसे एक ओर गन्दगी का भय सताने लगा और दूसरी ओर उसे पेट का रोग हो गया। जब इस व्यक्ति के दमित भावों का रेचन हुआ और उसकी काम-शक्ति को रचनात्मक भावों में लगा दिया गया, तब उसके पेट का रोग और गन्दगी की झक दोनों ही समाप्त हो गए।

अपनी स्त्री के प्रति दमित घृणा के विचार मनुष्य में पेट का शूल, नपुंसकता और हृदय के रोग उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार के रोग से पीड़ित एक व्यक्ति का शिक्षाप्रद उदाहरण डाक्टर विलियम स्टेकिल ने अपनी पुस्तक 'प्रैक्टिस आफ साइकोथ्रेपी' में दिया है। एक चालीस वर्षीय धनी व्यक्ति ने एक नवयुवती से विवाह किया। इसके पूर्व वह अपनी पहिली स्त्री से अनबन होने के कारण उसे तलाक दे चुका था। विवाह करने के पूर्व उसने विलियम स्टेकिल से इस विषय में सलाह ली थी और उन्होंने यही कहा था कि वह इस कार्य में जल्दी न करे। परन्तु उसने डाक्टर स्टेकिल की कुछ न सुनी। विवाह होने पर कुछ दिनों तक उनका जीवन भले प्रकार से व्यतीत हुआ। परन्तु बाद में यह स्त्री एक ओर बड़ी खर्चीली हो गई और दूसरी ओर छिपकर पर-पुरुषों से प्यार करने लगी। वह इस महिला को अपनी जायदाद बरबाद करने से रोक भी नहीं सकता था और न अब वह उसे तलाक ही दे सकता था। वह मन ही-मन घुलने लगा। इसके परिणाम-स्वरूप उसे आँत के फोड़े हो गए। इसका उसने आपरेशन कराया, परन्तु इस प्रकार आपरेशन कराने से फोड़ों का होना बन्द नहीं हुआ। उसे अपनी आँत का आपरेशन बार-बार कराना पड़ा और इसी प्रकार उस आपरेशन से ही उसकी मृत्यु हो गई।

मनुष्य के किस अंग को रोग पकड़ता है ?

मनुष्य के दूषित भाव शरीर के जिस अंग से सबसे अधिक संबंध रखते हैं, उसी अंग में विशेष प्रकार का रोग होता है। किसी व्यक्ति

से हम क्रुद्ध हैं, उसे यदि हम भीतरी मन से देखना नहीं चाहते, परन्तु उसे देखना पड़ता है तो हमें आँखों का रोग होता है। यदि हम भीतरी मन से उसे प्यार नहीं करते, परन्तु उसके साथ रहना पड़ता है तो हमें हृदय का रोग होता है और यदि उससे सम्बन्धित अप्रिय बातों को पेट में रखते हैं, तो हमें पेट का रोग होता है। हमारे मन के जहरीले विचार अपने व्यक्तित्व के भीतर छिपे न रहकर रोग के रूप में बाहर निकल आते हैं। अपने से बड़े व्यक्ति के प्रति किए गए क्रोध का दमन मनुष्य को अन्धा बना देता है, अपने समान व्यक्ति के प्रति किया गया क्रोध हृदय का रोग अथवा दमा उत्पन्न करता है और अपने से निम्नकोटि के व्यक्ति के प्रति किया गया क्रोध पेट का रोग अथवा बवासीर उत्पन्न करता है। जिस घृणित भाव को हम अपनी क्रिया अथवा वाणी-द्वारा प्रकाश में नहीं लाना चाहते, वही घृणित भाव शारीरिक रोग का रूप धरकर किसी विशेष प्रकार के घृणित रोग के रूप में प्रकाशित होता है। इस प्रकार वह हमारे भीतरी मन की भावनाओं को व्यक्त करता है और जिस बात को हम प्रकाशित नहीं करना चाहते, उसे हमारी इच्छा के विरुद्ध प्रकाशित कर देता है। दूषित भावों का रोग के रूप में प्रकाशन इसी-लिये होता है जिससे मनुष्य झूठी नैतिकता से मुक्त हो, उसका अभिमान घटकर उसे साम्यावस्था की प्राप्ति हो। रोग छिपे दोष को व्यक्त करके उससे मुक्त होने में सहायक होता है। उन्हीं लोगों को इस प्रकार के शारी-रिक क्लेश अधिक होते हैं, जिनकी नैतिक धारणाएँ बहुत ही ऊँची हैं, जो बहुत ही बड़े आदर्शवादी हैं और जिन्हें अपनी नैतिकता और आदर्शवादिता का अत्यधिक अभिमान है। इन लोगों का मन सदा आन्तरिक खिंचाव की अवस्था में बना रहता है। उनकी अत्युच्च नैति-कता और आदर्शवादिता उनके अव्यक्त मन की प्रबल कलुषित भावनाओं को अपनी दृष्टि से ओझल रखने के लिए आवश्यक होती है। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको भुलाने के अनेक उपाय रच लेता है। यदि ऐसे व्यक्ति को उसके भीतरी मन में उपस्थित दोष को कोई व्यक्ति बताने की चेष्टा करे, तो वह उसका घोर शत्रु हो जायगा। अपनी नैतिकता के अभि-

मान को घटाना मनुष्य को इञ्च-इञ्च कर मारने के समान प्रतीत होता है; अतएव जो व्यक्ति हमारे इस प्रकार के अभिमान में दोष बताने की चेष्टा करता है, उसके हम घोर शत्रु बन जाते हैं। जिस काम को न तो हमारे मित्र तथा सम्बन्धी कर सकते हैं और न जिसे हम स्वयं ही कर सकते हैं, उसे सर्वशक्तिमान प्रकृति स्वयं करती है। वह हमारे शरीर में विशेष प्रकार के रोग उत्पन्न करके हमारे तत्सम्बन्धी अभिमान को घटाती है। इस प्रकार प्रकृति हमारे दूषित मनोभावों का विशेष तरह से रेचन करके हमारी आध्यात्मिक शुद्धि करती है। इस तरह से हमारा अपनी नैतिकता का अभिमान प्राकृतिक रूप से कम होता है। फिर हम जैसे भीतरी मन से हैं, वैसे अपने आपको जानने लगते हैं। इन रोगों से व्यक्ति को दुःख अवश्य होता है, परन्तु, इन दुःखों का लक्ष्य मनुष्य के जीवन का ढोंगीपन, आन्तरिक विषमता और तज्जनित मानसिक दोषों का अन्त करना होता है। शारीरिक रोग मनुष्य के व्यक्तित्व की शुद्धि के दैविक अथवा आध्यात्मिक उपाय हैं। इनसे मनुष्य के जीवन की एकांगिता समाप्त हो जाती है और उसकी अनेक प्रकार की प्रगति के लिये मार्ग खुल जाता है।

आज से पन्द्रह वर्ष पूर्व मेरी एक छात्रा को प्रबल बवासीर का रोग हुआ। यह छात्रा बी० ए० की परीक्षा की तैयारी कर रही थी। वह एक अनाथ लड़की थी। उसके माता पिता मर चुके थे और उसके मामा उसे पालते थे। गरीब होने के नाते उसे बी० ए० की परीक्षा की तैयारी प्रायवेट ही करनी पड़ी। वह मुझसे समय-समय पर अपनी पढ़ाई में सहायता लिया करती थी। इस समय वह अपने जीवन की दुःखद बातें भी थोड़ी-बहुत सुना दिया करती थी; परन्तु, मुझे उसके जीवन के वास्तविक रहस्य का पता नहीं था।

जब उसे बवासीर का रोग हुआ, तो उसने अपनी पीड़ा की अवस्था में मुझे एक युवक के द्वारा बुलवाया। यह युवक पास के एक सरकारी दफ्तर में क्लर्क का काम करता था। इस छात्रा ने इस युवक से कहा था कि यदि प्रोफेसर साहब मेरे ऊपर अपना हाथ फेर देंगे, तो मेरी पीड़ा अवश्य ही कम हो जायगी। उसकी श्रद्धा को देखकर मैं वहाँ गया और

उसके इच्छानुसार उसे शारीरिक शैथिलीकरण की क्रिया कराकर उसके ऊपर पास देने के रूप में हाथ फेरा। इससे सचमुच में ही उसकी शारीरिक वेदना कम हो गई। इसके बाद उसके बवासीर के रोग का आपरेशन स्थानीय अस्पताल में हुआ। इस आपरेशन के पूर्व इस महिला ने अपने कष्ट की अवस्था में अपने सभी दुःखद और कलुषित भावों को मेरे सामने व्यक्त किया। इस छात्रा के मन में अपने बहनोई और दूसरे सम्बन्धियों के प्रति प्रबल घृणा के भाव थे। उसके पिता-माता ने उसे उसके बहनोई के सुपुर्द कर दिया था। वे उसे भोजन देने के बदले में वेश्या का काम कराना चाहते थे। इस समय उसकी उम्र तेरह साल की ही थी। वह बहनोई के घर से भागकर मामा के घर आई। मामा के कोई संतान नहीं थी। उसकी स्त्री मर चुकी थी। उसके मित्रों ने उसके धन का अपहरण कर लिया था, अतएव यह अर्धविक्षिप्त-सा व्यक्ति हो गया था। जब यह छात्रा उसके पास रहती थी, तब उसे मामा की पूरी सेवा करनी पड़ती थी और अपनी विक्षिप्तावस्था में वह उसे कभी-कभी पीटा भी करता था। छात्रा की उम्र बाईस साल की हो चुकी थी, परन्तु उसके विवाह का कोई भी प्रबन्ध न था। यह मामा उसके आचरण पर अत्यधिक संदेह करता था और किसी नवयुवक से उसकी बातचीत सहन नहीं कर सकता था। इससे उसका जीवन अत्यन्त दुःखी हो गया था। वह अपने मनोभावों को किसी व्यक्ति के सामने प्रकाशित कर ही नहीं सकती थी। यदि वह अपने मनोभावों को दूसरे लोगों के समक्ष प्रकाशित करती, तो वे उसकी बदनामी फैलाने के सिवा और करते ही क्या। अपने क्रोध के भावों को उसे सदा दबाते रहना पड़ा। यही भाव बहुत दिनों तक दमित रहकर बवासीर का रोग बन गया। जब उसने अपने मनोभावों और अपनी गुप्त बातों को मुझे कह सुनाया, और जब उसे मेरी सहानुभूति प्राप्त हुई, तब उसके बवासीर का रोग नैसर्गिक रूप से शीघ्रता से समाप्त हो गया।

मेरे पास जो युवक आया था, वह इस छात्रा को प्यार करता ही था, परन्तु, ये दोनों व्यक्ति एक ही जाति के नहीं थे। अतएव उनके विवाह-सम्बन्ध में सामाजिक अड़चन थी। इस अड़चन को नगर के प्रतिष्ठित

आर्यसमाजी नेताओं की सहायता से दूर किया गया और उनका विवाह वैदिक विधि से आर्यसमाज-मन्दिर में करा दिया गया। इसके बाद इस महिला के जीवन का विकास नए रूप से हुआ। वह अपने पति के घर रहने लगी। थोड़े ही काल में परिश्रम करके उसने ट्रेनिंग की परीक्षा पास की और स्थानीय स्कूल की एक सफल अध्यापिका बन गई।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि इस प्रकार के प्रत्येक शारीरिक रोगी के जीवन में कुछ ऐसी घटनाएँ अवश्य घटित होती हैं जिन्हें प्रकट रूप से समाज के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता। उनमें कई शर्म की बातें और कई घृणित बातें रहती हैं। अपने श्रद्धालु व्यक्ति के समक्ष जब तक इन बातों को नहीं कहा जाता, तब तक रोग की समाप्ति नहीं होती। बिना शर्म की अनुभूति किए रोगी जिन बातों को मानसिक चिकित्सक के समक्ष कह देता है, उनमें रोग का कारण नहीं रहता है। रोग का कारण ऐसी बातों में रहता है, जिन्हें रोगी भूल चुका है, जिनकी याद आने से रोगी के अभिमान को ठेस पहुँचती है, जिनका समाज में प्रकाशन होने से व्यक्ति समाज में अपना सम्मान खो देता है और जिनकी आत्म-स्वीकृति चिकित्सक के समक्ष करने से रोगी को अत्यन्त मानसिक क्लेश होता है। रोगी अपनी भूल के लिए कभी-कभी फूट-फूटकर रोने लगता है। इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति एक भारी अग्नि-परीक्षा है। जब तक मनुष्य के मिथ्याभिमान की समाप्ति नहीं हो जाती, जब तक उसकी अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती, तब तक उसके शारीरिक रोग में कमी नहीं होती।

इस प्रकार की आत्म-स्वीकृति करना किसी व्यक्ति के लिए अत्यन्त कठिन कार्य है। जिन बातों की आत्म-स्वीकृति से रोगी को लाभ होता है, वे उसकी स्मृति-पटल पर शारीरिक और मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में ही आती हैं। वे ऐसे ही व्यक्ति के सामने स्मृत होती हैं, जिन पर रोगी का अत्यन्त विश्वास है और जिसे रोगी हृदय से स्नेह करता है। वास्तव में चिकित्सक का स्नेह भी रोगी के हृदय के परिष्कृत होने में मौलिक सहायता करता है। रोग की समाप्ति के लिए न केवल दूषित भावों का परिवर्तन होना, वरन् उनके स्थान पर शुद्ध भावों का दृढ़ होना

नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार के भावों का परिवर्तन होना व्यक्तिगत मानसिक सम्पर्क से ही सम्भव होता है।

आरोग्य-प्राप्ति की प्रक्रिया

ऊपर बताया जा चुका है कि शारीरिक रोग स्वयं मौलिक रोग नहीं है। मनुष्य का मौलिक रोग मानसिक रोग होता है। प्रकृति किसी प्रकार के दोष हमारे व्यक्तित्व में ठहरने नहीं देती। वह सब समय हमारी प्राकृतिक चिकित्सा करती रहती है। वह हमारे गुप्त रोग को प्रकट रोग में प्रकाशित कर देती है। मनुष्य का गुप्त रोग उसके प्रकट रोग से अधिक हानिकर होता है। गुप्त रहने के कारण रोग दिन-प्रति-दिन बढ़ता जाता है और हम उसका कोई उपचार नहीं कर पाते। रोग प्रकट होने पर हमें कष्ट अवश्य देता है, परन्तु इससे उस विकार की समाप्ति होती है जो हमारे रोग का मूल कारण है। कहा जाता है कि बिना भोग के पाप का क्षय नहीं होता है। अतएव किसी प्रकार की आध्यात्मिक बुराई का शारीरिक रोग में प्रकाशित होना हमारे व्यक्तित्व में नैसर्गिक उपचार की प्रणाली की एक प्रक्रिया मात्र है।

कभी कभी शारीरिक व्याधियों को मानसिक चिकित्सक मानसिक रोग के लक्षण मात्र मानते हैं। इन लक्षणों का समय के पूर्व शान्त होना रोगी के लिए लाभप्रद नहीं है। प्रत्येक प्रकार का रोग हमें विशेष प्रकार की शिक्षा देने अथवा हमारे मन में विशेष प्रकार का परिवर्तन करने आता है। उस परिवर्तन करने के पूर्व ही यदि वह समाप्त हो गया तो उसने अपना कोई भी सच्चा काम नहीं किया। ऐसे रोग से रोगी को कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। समय के पूर्व समाप्त हुआ रोग अनेक रूप धारण करके बार-बार मनुष्य को त्रास देता है। वही रोग रोगी का लाभ करता है जो रोगी से आत्म-स्वीकृति कराकर उसके बढ़े-चढ़े अभिमान को संतुलित करता है।

प्रत्येक शारीरिक रोग की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहिली अवस्था में रोग बढ़ता है, दूसरी अवस्था में वह स्थिर रहता है और तीसरी अवस्था में वह अपने आप घटने लगता है। रोग किसी-न-किसी प्रकार के विकार

को हमारे व्यक्तित्व के बाहर निकालता है; चाहे यह विकार शारीरिक हों या मानसिक। विकार वह तत्व है, जो हमारे शुद्ध सत्व से मेल नहीं खाता; अर्थात् जो मनुष्य को विश्व-प्रेम की ओर न ले जाकर संकुचित बनाता है, मानसिक स्वतन्त्रता प्रदान न कर शारीरिक मोह में फँसता है। मानसिक विकार शारीरिक रोग का रूप धारण करता है। यदि प्राकृतिक रूप से इस रोग को चलने दिया जाय, तो एक समय ऐसा आवेगा; जब यह रोग अपने आप ही शान्त हो जाएगा। यह बात न केवल शारीरिक रोग के विषय में सत्य है, वरन् मानसिक रोगों के विषय में भी सत्य है। बहुत से मानसिक रोग शारीरिक रोगों में परिवर्तित न होकर विक्षिप्त चिन्तन और विक्षिप्त क्रियाओं में ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार से विक्षिप्तता का प्रकाशित होना भी मानसिक रोग को समाप्त करता है। युंग महाशय का कथन है कि प्रत्येक प्रकार का मानसिक रोग प्रकाशित होकर कुछ समय के बाद अपने आप शान्त हो जाता है। स्वयं प्रकृति ही रोगी को स्वास्थ्य की ओर बढ़ाती है।

परन्तु हमें यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि रोग मानसिक विकार का रेचन मात्र है। इसमें स्वयं स्वास्थ्य-वर्धन की क्षमता नहीं है। स्वास्थ्य-वर्धन जीवन-शक्ति की वृद्धि पर निर्भर करता है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य स्वच्छ जलवायु और पौष्टिक आहार से सुधरता है, उसी प्रकार मानसिक स्वास्थ्य प्रेम के वातावरण में रहने और मैत्रीभावना के अभ्यास से बढ़ता है। प्रेम वह अमृत है, जिसके पान करने से मृतप्राय मनुष्य का व्यक्तित्व भी पूरी शक्ति से उठ खड़ा होता है और अपने चमत्कारिक कार्य-कलापों से विश्व को विस्मय में डाल देता है। मनुष्य में नए उत्साह और नवजीवन लानेवाली संजीवनी सहानुभूति है।

जब मनुष्य के मन में एक बार नव-शक्ति का संचार हो जाता है, तब जिस तरह बहती हुई सरिता में कोई गन्दगी ठहर नहीं पाती, उसी प्रकार मनुष्य के मन में किसी प्रकार का मानसिक विकार नहीं ठहर पाता। जिस तरह हमारे भौतिक वातावरण में उपस्थित जहरीले रोग के कीटाणु दुर्बल व्यक्ति के शरीर में वायु के साथ प्रवेश करके उसमें रोग उत्पन्न

करते हैं, परन्तु स्वस्थ पुरुष के शरीर में पहुँचते ही वे स्वास्थ्यवर्धक कीटाणुओं द्वारा हड़प लिए जाते हैं, उसी प्रकार जिस मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन भले प्रकार से चलता है, सामाजिक वातावरण में उपस्थित कलुषित विचार उसको क्षति नहीं पहुँचाते। यदि ये विचार उसके व्यक्तित्व में प्रवेश कर जाएँ तो वे इस प्रकार परिवर्तित हो जाते हैं कि वे उसके व्यक्तित्व के बल को घटाने के बदले बढ़ाते ही हैं। रचनात्मक कार्य में लगे हुए व्यक्ति के विचार सदा उज्वल और आशातीत होते हैं। ऐसे व्यक्ति के समीप कोई लज्जा, ग्लानि, घृणा, क्रोध तथा निराशा आदि के विचार ठहर नहीं पाते। अतएव मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने वर्तमान रोग को प्रकृति की कृपा मानकर संतोषपूर्वक सहन करें और फिर अपने आपमें उचित स्थायी परिवर्तन लाएँ। यदि हम अपने आपको सदा लोकोपकारी रचनात्मक कार्य में लगाए रक्खें और अपने रोग के विषय में सोचने के लिए अपने आपको फुर्सत ही न दें, तो हमें स्थायी आरोग्य बना रहे। निकम्मे व्यक्ति को ही सब प्रकार के दूषित विचार त्रास देते हैं। लिएडलहर महाशय का अपनी 'नैचरल थैरोपेटिक' नामक पुस्तक में दिया गया यह विचार माननीय है कि आत्म-भर्त्सना और आत्म-ग्लानि के भावों को नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको पूरे मन से दूसरे की सेवा में खो देना है।

तेरहवाँ प्रकरण

मनुष्य का अभिमान और मानसिक रोग

मनुष्य जो कुछ करता और सोचता-समझता है, उसका उसे अभिमान होता है। उसके कार्य बाहरी वातावरण के क्षेत्र और अपने मानसिक क्षेत्र में होते हैं। जीवन की सफलता के लिए मनुष्य को न केवल बाहरी प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है, बल्कि अपने भावों पर भी उसे नियंत्रण रखना पड़ता है। यह सब कार्य मनुष्य का अहंकार ही करता है। इस अहंकारी प्रमाता का संचित अनुभव मनुष्य के अचेतन मन का भाग उसी प्रकार बन जाता है, जिस प्रकार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ उसके अचेतन मन का भाग होती हैं। हमारे अचेतन मन का यह भाग हमें आत्म-नियंत्रण में बड़ी सहायता करता है। इसके कारण हमें जान-बूझ कर अपनी प्रबल प्रवृत्तियों को रोकने की चेष्टा बार-बार नहीं करनी पड़ती। यह कार्य हमारे अनजाने ही होता रहता है। मन का वह भाग जो हमारे अनजाने ही इस प्रकार हमारे लाभार्थ नियामक का कार्य करता रहता है, उसे ही आधुनिक मनोविज्ञान में सुस्वत्व, नियामक सत्व अथवा सुपरइगो कहा है।

मानव-जीवन की सफलता में सुस्वत्व नियामक मन का बड़ा ही महत्व है। इसका विकास मनुष्यके जीवनमें धीरे-धीरे होता है और जब से बालक में सोचने अथवा भले-बुरे पहचानने की शक्ति आती है, तभी से इसका निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। दो-तीन वर्ष की अवस्था से ही सुसत्व के निर्माण का प्रारम्भ होता है और प्रौढ़ावस्था तक इसका गठन होता रहता है। सुसत्व के निर्माण में माता-पिता, शिक्षक, धर्म-गुरु और समाज सभी का स्थान रहता है। इस सुसत्व का प्रधान कार्य मनुष्य के अनेक प्रकार की भोगेच्छाओं पर उचित नियंत्रण रखना है। जब किसी बालक का जीवन बिना किसी की देख-रेख के अथवा लाड़ में या ढीले-ढाले माता-पिताओं के नियंत्रण में बीतता है, तब उसके सुसत्व का निर्माण भी उसी प्रकार हो जाता है। ऐसे लोग जीवन में अनेक प्रकार की नैतिक भूलें

करते हैं। ढीले-ढाले सुसत्व के लोगों का सम्मान समाज में नहीं होता, परन्तु उन्हें किसी अनुचित कार्य के लिए आत्म-ग्लानि भी नहीं होती। उन्हें निराशा केवल बाह्य जगत में असफलता के कारण होती है, न कि आन्तरिक जगत में असफलता के कारण। अपने चरित्र की कमियों के कारण जब ऐसे लोगों के जीवन में बार-बार असफलता मिलती है, तो ये मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं; अथवा किसी प्रकार के काम की जिम्मेदारी से बचने के लिए वे रोग का आवाहन करते हैं। इस प्रकार अपने आन्तरिक मन से चाहा हुआ रोग उन्हें प्राप्त भी हो जाता है। इस तरह अपने अभिमान की रक्षा के लिए मनुष्यों को अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग होते हैं।

उपर्युक्त स्थिति में दुर्बल सुस्वत्व की अवस्था देखी जाती है। इसके प्रतिकूल वह मानसिक अवस्था होती है, जिसमें मनुष्य का सुस्वत्व अति कठोर होता है और इसके कारण मनुष्य की अनेक प्रकार की इच्छाओं की तृप्ति ही नहीं होती। इनका दमन मनुष्य का सुस्वत्व उसके अहंकार के अनजाने ही करता है। दमन होने से मनुष्य की दमित इच्छाओं की शक्ति बढ़ती ही जाती है। इन इच्छाओं में प्रधान इच्छा कामेच्छा रहती है। ये इच्छाएँ अनेक प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ अर्थात् षडयंत्रकारी दल बनकर मनुष्य के भीतरी मन में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति पैदा कर देती हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य के अचेतन मन में उसके अनजाने ही चला करता है। अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में मनुष्य की वही दशा रहती है, जो आपस में फूट रखनेवाले परिवार अथवा आन्तरिक संघर्ष से व्याप्त रहने वाले राष्ट्र की रहती है। परिवार के लोगों में आपस में फूट रहने पर परिवार निर्बल हो जाता है। उसी प्रकार राष्ट्र भी अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में निर्बल हो जाता है। जब किसी राष्ट्र में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति रहती है, तो राष्ट्र के असंतुष्ट वर्ग उसे भीतर से दुर्बल बनाने की चेष्टा करते हैं और किसी बाहरी शत्रु से भी षडयंत्र करते हैं। वे राष्ट्र पर उसे आक्रमण करने के लिये न्योता देते हैं। इन्हीं के प्रोत्साहन के कारण बाहरी राष्ट्र किसी राष्ट्र पर आक्रमण करता है।

मनुष्य का अहंकार किसी राज्य की राजसत्ता के समान है। इसी अहंकार की सहायता उसका सुरवत्व (नियामक मन) करता है। यदि नियामक मन कठोर रहा और उसने व्यक्तित्व के अनेक प्रकार के तत्वों का दमन निर्दयता से किया, तो मनुष्य का व्यक्तित्व उसी प्रकार असंतुष्ट रहेगा, जिस प्रकार अराजक वर्गों की उपस्थिति बनी रहने पर किसी राज्य की स्थिति दृढ़ नहीं रहती। ऐसी अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व के असंतुष्ट तत्त्व सुरवत्व की आँख बचाकर अनेक प्रकार के रूप रखकर उसी प्रकार चेतना की सतह पर आ जाते हैं, जिस तरह राज के षडयंत्रकारी लोग राज के कर्मचारियों के स्वांग रचकर बाहर आजाते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की मानसिक विषमताओं की उत्पत्ति होती है। किसी प्रकार के बाहरी रोग का व्यक्तित्व को आघात पहुँचाना उसी तरह है, जिस तरह कि राज्य के भीतरी शत्रुओं के कारण राज्य के बाहरी शत्रु का आक्रमण करना। कभी-कभी मनुष्यको किसी असाध्य रोग होने अथवा संकट में पड़ने के पश्चात् मानसिक रोग उभड़ता है। मनुष्य की दमित प्रवृत्तियाँ अपना उचित अवसर जोहती रहती हैं और बाहरी आपत्ति के कारण जब अहंकार का नियंत्रण शिथिल हो जाता है तब वे बाहर चली आती हैं।

इस प्रकार सुरवत्व की कठोरता उसी प्रकार मानसिक रोग का कारण बनती है, जिस प्रकार उसकी शिथिलता मानसिक रोग का कारण बनती है। मनुष्य को अपने विशेष प्रकार की नैतिकता का अभिमान उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार उसे अपनी दूसरी प्रकार की सफलताओं का अभिमान होता है। जब तक यह अभिमान सीमित और संतुलित रहता है, तब तक उसे किसी प्रकार की मानसिक बेचैनी नहीं होती और न किसी प्रकार का मानसिक रोग ही होता है। जब मनुष्य का अभिमान किसी विशेष ओर अत्यधिक बढ़ जाता है, तो वह उसी ओर किसी विशेष प्रकार की कमी का परिचायक होता है। वास्तव में मनुष्य के अभिमान की वृद्धि विशेष प्रकार की कमी का परिचायक है। नैतिकता का अत्यधिक अभिमान होने पर मनुष्य की सामान्य प्राकृतिक इच्छाओं का उसके अनजाने ही दमन होता है। फिर इस दमन के कारण उसे अपने अभिमान

को और भी बढ़ाना पड़ता है।

जिस प्रकार राज्य में चोर-डाकू के बढ़ जाने पर राज्य का खर्च बढ़ जाता है, उसी प्रकार जब मनुष्य के बहुत से आन्तरिक अशान्त तत्त्वों की वृद्धि हो जाती है, तब उसे अपने अभिमान को भी बढ़ाना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी भोग-प्रवृत्तियों से अत्यधिक सतर्क रहना पड़ता है। इस प्रकार की सतर्कता न केवल उसके अचेतन मन में कार्य करती है, वरन् वह उसके चेतन मन में भी कार्य करती है। इस तरह ऊपरी दृष्टि से उसके व्यक्तित्व का बल बढ़ा हुआ दिखाई देता है। परन्तु राज्य को सम्हालने में अधिक खर्च करनेवाली सरकार के समान यह व्यक्ति भीतर से खोखला रहता है। सदा मानसिक खिंचाव की अवस्था में रहने के कारण ऐसा व्यक्ति महत्व के रचनात्मक कार्य नहीं कर पाता। वह बहुत यत्न करके भी बहुत साधारण से कार्य कर पाता है। ऐसे व्यक्ति को भीतरी मन में चलनेवाले अन्तर्द्वन्द्व के कारण अप्रिय और भयानक स्वप्न होते हैं और उसे रात को ठीक से नींद नहीं आती, सोकर उठने पर वह थकावट का अनुभव करता है। यदि वह कोई काम हाथ में लेवे, तो उसे असफलता के विचार घेर लेते हैं। इसके कारण वह किसी काम को मनोयोग से नहीं कर पाता। उसका मन सभी कामों में डाँवाडोल रहता है। ऐसी अवस्था में जब मनुष्य के मन में कोई अभद्र विचार आ जाता है, तो वह उसे निकाल नहीं पाता है। ऐसे व्यक्ति को कुछ समय बाद जीवन की छोटी-छोटी कठिनाइयाँ भी बेहद परेशान करने लगती हैं। जैसे जैसे वह इन कठिनाइयों को सुलझाने की चेष्टा करता है तैसे-तैसे उनकी संख्या और जटिलता बढ़ती ही जाती है। जब इस प्रकार मनुष्य का मन निर्बल हो जाता है, तब उसके भीतरी मन में छिपे हुए शत्रु उसके नियामक के प्रतिबन्ध को तोड़कर बाहर चले आते हैं। ऐसी अवस्था में मनुष्य कभी-कभी अपनी पूरी चेतना को खो देता है और कभी वह अपने आपको सम्हालने की भी चेष्टा करता है।

रोग-द्वारा अभिमान की कमी

रोग मनुष्य के अभिमान को कम करने का नैसर्गिक उपाय है।

मनुष्य अपने भीतरी मन की वस्तु-स्थिति को अनेक प्रकार से छिपाता है। यदि वह जैसा है, वैसा ही अपने आपको जाने और वैसा ही अपने आपको संसार में प्रसिद्ध करे, तो उसे किसी प्रकार के मानसिक या शारीरिक रोग भोगने की आवश्यकता ही न पड़े। रोग व्यक्ति को सुधारने की प्राकृतिक प्रक्रिया है। सुधारने की आवश्यकता वहीं होती है, जहाँ मनुष्य स्वयं है कुछ और, और समझता है कुछ और।

जब मनुष्य के मन में प्रबल भोग-प्रवृत्तियाँ रहती हैं और जब वह उनकी आत्म-स्वीकृति नहीं करता, तो उसे बाध्य होकर अपने अन्तर्मन की वस्तु-स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है। पाशविक प्रवृत्तियों की आत्म-स्वीकृति करने से मनुष्य का नैतिकता का अभिमान घटता अवश्य है, परन्तु उसे वे क्लेश नहीं सहन करने पड़ते, जो उसे ढोंगी जीवन के कारण सहन करने पड़ते हैं। मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ अपनी स्वीकृति कराने के लिए अनेक प्रकार के जाल रचती हैं। इसी के कारण मनुष्य पर अनेक संकट आते तथा उसे मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं। मनुष्य अपने आन्तरिक मन के सत्य को कितना भी क्यों न छिपाए, वह बाहर आ ही जाता है। अपने भीतरी मन की वस्तुस्थिति अकारण भय, चिन्ता और अनेक प्रकार की झक के रूप में प्रकट होती हैं।

हमारे उपचार में आए हुए एक प्रतिष्ठित ४८ वर्षीय व्यक्ति का अनुभव इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। यह व्यक्ति अट्ठारह वर्ष की अवस्था से घर-द्वार छोड़कर साधु हो चुका है। इसने अपनी साधना की अवस्था में बहुत-सी विद्याओं का अध्ययन किया, पाठशालाओं में अध्यापन किया और चिकित्सा का कार्य विधिवत् सीखकर रोगियों की चिकित्सा की। हमसे सलाह लेने के कुछ ही पहिले इन सब कामों को छोड़कर वह योगाभ्यास में लगा हुआ था। इस अभ्यास के करते समय उसे अनायास एक झक उत्पन्न हो गई। जब वह किसी स्त्री की ओर देखता, तब उसका ध्यान उसके वक्षस्थल पर ही जम जाता था। वह अपनी इस मानसिक स्थिति से बेहद परेशान था। अतएव उसने स्त्रियों को अपने पास आने से रोक दिया और जहाँ तक हो सकता था, वह उनकी ओर देखता ही नहीं था तथा

जिस स्थान पर अधिक स्त्रियों के मिलने की संभावना होती, वहाँ वह जाता ही नहीं था। इस प्रकार वह एकान्त-सेवी हो गया। परन्तु उसे अपनी संस्था के लाभार्थ यदा-कदा यहाँ-वहाँ जाना ही पड़ता था। वह स्त्रियों की ओर तो नहीं देखता था, परन्तु पुरुषों से उसे बातचीत करनी पड़ती थी। इनसे बातचीत करने में भी उसे कठिनाई का अनुभव होने लगा। उसकी समझ में उसकी दृष्टि उनकी जननेन्द्रिय की ओर जाने लगी। इसे बचाने के लिए उसे किसी पुस्तक अथवा अखबार को अपने सामने रखकर लोगों से बातचीत करनी पड़ती थी। कभी-कभी जब उसे आमने-सामने बात करनी पड़ती तो वह अपनी दृष्टि को दृढ़ता से उपस्थित व्यक्ति के ललाट पर जमाकर उससे बातें करता था।

उक्त प्रकार की चेष्टा थोड़े समय तक करते रहने पर उसे विशेषरूप से विकृत मुँह बनाने और ओंठ मटकाने की आदत पड़ गई। अब वह इससे और भी परेशान हो गया। उसने अपनी इस मानसिक अवस्था से मुक्त होने के लिए किसी मनोवैज्ञानिक से सलाह ली। इस मनोवैज्ञानिक ने बताया कि तुम्हें स्नायुओं का खिंचाव हो गया है, जिसका कारण काम-वासना का दमन है। बात-बात में उसने अनायास पूछ लिया "क्या तुम्हें सिर की पीड़ा तो नहीं है?" बस, उसी समय से उसे सिर की पीड़ा भी होने लगी और फिर दिन-प्रति-दिन वह बढ़ती ही गई। इसी अवस्था में हमसे इसका सम्पर्क हुआ। सम्पर्क होने के समय उसका मन इतना अस्थिर रहता था कि पाँच-छः पन्ने की चिट्ठी लिखने के लिए उसे कई बार बैठना पड़ता। इसके जीवन की घटनाओं के अध्ययन से पता चला कि यह रोग उसे प्रबल काम-वासना के दमन के कारण ही नहीं, अपितु साधु होने के पूर्व उसका अनैतिक रीति से तृप्त करने के कारण हुआ था। उसने अपने एक मित्र की स्त्री के प्रोत्साहित करने पर उसके साथ काम-सम्बन्ध स्थापित किया, जिसके कारण बाद में उसे बड़ी ही आत्म-ग्लानि हुई। इस पाप के प्रायश्चित्त के हेतु ही इसने अपनी नव-विवाहिता वधू और माता-पिता को छोड़कर संन्यास ले लिया और अपने पुराने कृत्य की स्मृति को भुलाने के लिए घोर अध्ययन, अध्यापन,

चिकित्सा तथा योगाभ्यास का यत्न किया। इन सब कार्यों से समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई। उससे परिचित गृहस्थ लोग उसे बहुत सम्पत्ति देने लगे और साधुओं में भी उसका सम्मान बढ़ गया। पर यह बढ़ा हुआ अभिमान ही उसे भार-रूप बन गया। वह अपने पुराने कृत्यों को तो भुला ही चुका था। वह यह जान ही नहीं सकता था कि उसने पहिले जिन प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर अनेक प्रकार के अनैतिक आचरण किए थे, वे प्रवृत्तियाँ समाप्त नहीं हुई हैं, वरन् उनका प्रबल आवेग आज भी क्रियमान है। वह अपने भीतरी मन की वस्तुस्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। परन्तु उसके रोग की समाप्ति तब तक नहीं हुई, जब तक उसने सभी पुरानी घटनाओं के महत्व को अपने वर्तमान जीवन में नहीं पहचाना। जब उसने अपने साधुत्व के अभिमान को त्यागकर समाज-सेवा के कार्य को अपनाया और स्त्री-बच्चे और बूढ़े सभी लोगों की शारीरिक चिकित्सा करने लगा, तब उसके रोग की समाप्ति हुई।

मनुष्य की काम-शक्ति का शोध अनेक प्रकार के रचनात्मक कार्यों तथा समाज-सेवा से होता है। परन्तु मनुष्य इस शक्ति का उपयोग तभी कर सकता है, जब वह उसे अपने अचेतन मन से बाहर लाए। यह शक्ति अनेक प्रकार की जटिल ग्रन्थियों में फँसी हुई अचेतन मन में पड़ी रहती है। इसे दमित रखने के लिए मनुष्य को अपने अभिमान को बढ़ाए रखना पड़ता है। रोग मनुष्य के अभिमान को नैसर्गिक रूप से कम करके इस शक्ति को प्रकाश में लाता है, अथवा इस शक्ति के नैसर्गिक रूप से प्रकाशित होने पर मनुष्य के अभिमान को ठेस पहुँचती है, उसे दुःख होता है; और इसी को रोग कहा जाता है। रोग दुःखदायी अवश्य है, पर वह मनुष्य का सच्चा अथवा आध्यात्मिक मित्र है। वह मनुष्य के अभिमान को घटाकर उसके आन्तरिक जीवन में संतुलन लाता है। इसके कारण ही मनुष्य अन्तर्मुखी बनता और अपने आपको पहिचानने की चेष्टा करता है। यदि मनुष्य को रोग न हो, तो वह अपने आपको बाहरी आडम्बर में ही भुलाए रक्खे और अपने मन की वस्तु-स्थिति को पहिचानने की और उसमें वास्तविक सुधार

करनेकी उसे प्रेरणा ही न हो। जब मनुष्य अपने भीतरी और बाहरी मनमें, नैतिक और भोगेच्छुक मन में, समन्वय स्थापित कर लेता है, तब रोग की समाप्ति हो जाती है। इस पुस्तक के नवें प्रकरण में दिए गए अनेक उदाहरणों से यही स्पष्ट होता है कि अपने आपको भुलाने की चेष्टा के कारण ही मनुष्य में अनेक प्रकार की झक, इल्लत और हठी क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं।

बहुत से लोग समाज के सामने अपने आपको बड़े वीर के रूप में प्रसिद्ध करते हैं, परन्तु भीतरी मन से उनमें हिम्मत नहीं रहती। जो व्यक्ति भीतरी मन में जितना ही डरपोक रहता है, वह दूसरों के समक्ष उतना ही साहस दिखाने की चेष्टा करता है। ऐसे लोगों को लड़ाई के समय किसी विशेष अंग का लकवा हो जाता है। युद्ध के मैदान में जाने से प्रत्येक सिपाही को कुछ-न-कुछ डर होता है और जब तोप या बम का गोला फटता है, तो सभी का हृदय दहल उठता है। जब अपनी बहादुरी की डींग मारनेवाले व्यक्ति को ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है, तो उन्हें किसी विशेष अंग का लकवा हो जाता है। यह लकवा उसकी वीरता का भण्डाफोड़ कर देता है। मैकडुगल महाशय ने अपनी 'एबनारमल साइकालोजी' नामक पुस्तक में एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण दिया है, जो अपने समीप बम का एक गोला गिरने के कारण खुली हुई मुखाकृति की लकवा की अवस्था में रह गया। इस घटना के पश्चात् उसका मुँह बन्द नहीं होता था। इस घटना की स्मृति सिपाही को नहीं थी। जब सम्मोहन-द्वारा उसे पुरानी घटना की याद कराई गई, तो उसका रोग जाता रहा। मैकडुगल का कथन है कि दमित भय ही उसके मुँह के लकवे का कारण है। जब भय के भाव का रेचन हुआ, तो उसका लकवा जाता रहा। परन्तु वास्तव में उसके लकवे का कारण बाहरी परिस्थिति नहीं, वरन् उसके आन्तरिक मन की परिस्थिति थी। वह व्यक्ति अपने आपको एक बड़े वीर के रूप में प्रसिद्ध किए हुए था, पर उसके हृदय में भय था, जिसे वह स्वीकार नहीं करना चाहता था। बम के गोले के फटने पर जब उसे लकवा हुआ, तब उसके

भीतरी मन की कायरता बाहर आ गई। जैसा कि प्रो० हेडफिल्ड ने बताया है कि इस व्यक्ति के लकवे ने उससे अपनी इच्छा के विरुद्ध आत्म-स्वीकृति कराई। अब जिन लोगों के सामने वह डींग मारता था, वे भी जान गए कि वह कितना वीर है। मनुष्य के सभी रोग इसी प्रकार मनुष्य से बरबस आत्म-स्वीकृति करा लेते हैं।

हीनता की भावना

मनुष्य का अभिमान उसकी चेतना में दो प्रकार से व्यक्त होता है—एक हीनता की भावना के रूप में और दूसरा उच्च अहंकार के रूप में। दोनों ही प्रकार की मनोदशाएँ मनुष्य के लिये दुःखद हैं। जिस मनुष्य को अपनी कमी का सब समय अनुभव होता रहता है, वह तो प्रत्यक्ष रूप से दुखी है, परन्तु जिस व्यक्ति को अपनी कमी का अनुभव न होकर अपनी महानता का अनुभव होता है, वह भी अप्रत्यक्ष रूप से दुःखी रहता है। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति सम्मान के भूखे रहते हैं। हीनता के भाव से पीड़ित व्यक्ति अपनी वर्तमान स्थिति को स्वीकार नहीं करता। वह उससे मुक्त होना चाहता है, परन्तु इस मुक्ति की सामर्थ्य वह अपने में नहीं पाता। इस प्रकार की मनोदशा अपने मानसिक साम्य को खोने की दशा है। यह एक रोग की दशा है। जिस व्यक्ति की आकांक्षाएँ अपनी योग्यता से अधिक चढ़ी-बढ़ी रहती हैं, उसे इस प्रकार की मनोदशा में आना पड़ता है। यदि मनुष्य अपनी आकांक्षाओं, आशाओं को कम कर दे, तो उसके मन का हीन-भाव शीघ्र ही नष्ट हो जाय।

अपनी हीनता के भाव का निवारण अपनी सामर्थ्य और कार्य-क्षमता को बढ़ाकर भी किया जा सकता है। परंतु हीनता के भाव की उपस्थिति रहने पर मनुष्य कोई रचनात्मक कार्य कर ही नहीं पाता। रचनात्मक कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिये मनुष्य को उसका प्रारम्भ बहुत नीचे से करना पड़ता है। उसे थोड़ी ही सफलता से सन्तोष करना पड़ता है और देर तक एक ही काम में लगे रहना पड़ता है। हीनता की भावना से परेशान रहनेवाले व्यक्ति की मनोदशा इसके प्रतिकूल होती है। वह छोटे काम से सन्तोष नहीं करता। वह अपनी तुलना किसी ऐसे व्यक्ति से करता

रहता है, जिसकी बराबरी करने की उसमें क्षमता नहीं। उसके मनसूबे बहुत ऊँचे होते हैं। उसे डर लगा रहता है कि छोटे काम को हाथ में लेने पर कहीं दूसरे लोग उसकी खिल्ली न उड़ावें।

ऐसा व्यक्ति अत्यन्त बहिर्मुखी होता है। अपनी स्थिति का मूल्यांकन स्वयं न कर वह दूसरे के विचारों-द्वारा सञ्चालित होता है। जब कहीं वह घर के बाहर जाता या कोई कार्य करता है, तब वह सोचता है कि संसार के सभी लोग उसी की ओर देख रहे हैं और वे उसके प्रत्येक कार्य की आलोचना करते हैं। वह इन लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए अनेक प्रकार की चेष्टा करता है, परन्तु वह अपने आचरण, रूप-रंग या कार्यों में कोई ऐसी बात ले आता है, जिसके विषय में वह कल्पना करता है कि दूसरे लोग उसकी अवश्य आलोचना करते होंगे। यदि किसी व्यक्ति ने थोड़ी-सी भी उसकी किसी बात की आलोचना कर दी, तो वह मृत्यु होने जैसा अनुभव करता है। इस प्रकार के लोग अपने सभी कामों को, अपने रूप-स्वरूप को, बेहद सम्हालते हैं। वे बड़ी सावधानी से बातचीत करते हैं, परन्तु उन्हें आत्मभर्त्सना का कोई-न-कोई कारण मिल ही जाता है। इस प्रकार के मानसिक रोगी का एक उदाहरण हमने इस पुस्तक के १५७ पृष्ठ में दिया है। यह व्यक्ति अपनी हीनता के भाव से इतना परेशान हो गया था कि वह इसके कारण आत्म-हत्या करने के लिये उद्यत हो गया था।

लेखक का एक दूसरा छात्र इसी मनोदशा से परेशान था। वह एक अच्छा रूपवान युवक है। उसने विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा भले प्रकार से पास की थी। वह सभी समय अच्छा विद्यार्थी रहा। उसकी बुद्धि तीव्र थी। उसका विवाह भी एक पढ़ी-लिखी उच्च कुल की कन्या से हुआ। विवाह के दिन से ही उसकी मनोदशा बहुत बिगड़ गई। वह इस विवाह-सम्बन्ध से जो धन-दौलत और सम्मान पाने की आशाएँ करता था, वे कुछ भी पूरी न हुईं। वह सोचता था कि उसका ससुर उसे उसकी पत्नी के साथ विलायत पढ़ने को भेजेगा। परन्तु उसकी अभिलाषा में भारी ठेस लगी। उसे एक साधारण मास्टर अथवा कालेज का लेक्चरर बनना पड़ा।

इस व्यक्ति को बचपन से ही अपने पिता और भाइयों का प्यार नहीं मिला था। उसके पिता ने उसकी माँ को अलग रख दिया था और लड़के को सारा समय अपनी माँ के पास ही बिताना पड़ा। पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। इस विमाता से पिता को कई बच्चे थे, जिनसे इस व्यक्ति का कोई स्नेह नहीं था। विमाता के मरने के पश्चात् पिता ने अपना प्रेम-सम्बन्ध एक नीच कुल की स्त्री से स्थापित कर लिया था। इस प्रकार इस व्यक्ति के जीवन में बहुत सी ऐसी बातें थीं जिनके कारण उसे अपने आपको हीन समझना स्वाभाविक था। वह अपनी इन बातों को दूसरों से छिपाने और स्वयं उन्हें भुलाने का यत्न करता रहा।

जब उसका विवाह हुआ, तो उसे आशा हुई कि वह अब अपनी पुरानी कमी को पूरा कर लेगा और समाज में एक बड़ी प्रतिष्ठा का स्थान प्राप्त कर लेगा। परन्तु जब ऐसा न हुआ, तो उसने अपने मन का साम्य खो दिया। उसे अनेक प्रकार की अकारण चिन्ता, भय और अनिद्रा के रोग सताने लगे। कुछ दिन तक उसे एक मानसिकोपचार-गृह में रहना पड़ा।

इस युवक के मन की हीनता का भाव इस रोग के पश्चात् नहीं गया। उपचार-गृह से छुट्टी पाकर उसने एक कालेज में लेक्चरर की नौकरी पाई। वह एक योग्य शिक्षक है। परन्तु उसे सदा डर लगा रहता था कि उसके साथी अथवा उसके विद्यार्थी उसकी किसी बात की आलोचना न कर दें। इसलिये वह कालेज में भली प्रकार से सुसज्जित होकर जाता और पढ़ाने-लिखाने का काम विधिवत् करता। वह विद्यार्थियों से कक्षा के बाहर बहुत कम मिलता ताकि वह उनका सम्मान बनाये रखें। कहा जाता है कि अधिक सम्पर्क से अपमान ही मिलता है।

एक बार यह युवक अपना काम करके कालेज से लौट रहा था। शहर की एक चौमुहानी पर कालेज के कुछ विद्यार्थी खड़े हुए थे। इन विद्यार्थियों ने अपने शिक्षक को यहाँ से निकलने पर प्रणाम किया। इसके थोड़े समय बाद ही कुछ विद्यार्थियों के मुँह पर उसने मुस्कराहट देखी। अब क्या था। उस मुसकराहट ने उसे अधमरा बना दिया। इस युवक के मन में कल्पना उठी कि ये विद्यार्थी उसकी ही किसी बात पर हँस रहे हैं।

वह घर आकर बहुत दुःखी होकर बिस्तर पर लेट गया। अपनी स्त्री के आग्रहपूर्वक उदासी का कारण पूछने पर वह कुछ नहीं बोलता था। स्त्री पढ़ी-लिखी चतुर महिला है। वह समझ गई कि उसके पति को कहीं अपमानित होना पड़ा है। धीरे धीरे उसने मन की बात निकाली और फिर उसने अनेक प्रकार से उसकी प्रशंसा करके उसे प्रोत्साहित किया।

इस युवक का दाम्पत्य जीवन बड़ा दुःखमय बीता। उसका अपने प्रति हीनता का भाव उसके मन में अनेक दुःखदायी कल्पनाएँ उत्पन्न कर देता था। इनके कारण उसकी स्त्री को बहुत क्लेश उठाना पड़ता था। स्त्री एक सम्पन्न उच्च कुल की बेटी थी। अतएव उनके मन में बात बात में कल्पना उठती थी कि वह उसका अपमान करती है। इसलिए वह छोटी सी-छोटी बातों के लिये उसे गाली-गलौज करता और पीटता था। जब पीटने का कोई भी कारण न रहता तो वह झूठे कारण निकाल लेता था। जब वह अकेली बैठी रहती थी तब वह कभी पूछता कि तुम बैठी बैठी क्या सोच रही हो। जब उसकी स्त्री कहती कि वह कुछ नहीं सोचती तो वह उसे कुछ न कुछ कहने के लिये बाध्य करता। यदि वह यही कहती कि "मैं कुछ नहीं सोच रही हूँ" तो वह उसे यह कहकर पीटने लगता कि तुम कुछ न कुछ मेरे विरुद्ध सोच रही हो।

हीनता की भावना से पीड़ित व्यक्ति अपनी स्त्री को अकारण ही सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। कोई प्रमाण न रहने पर भी उनके मन में कल्पना आती है कि वह किसी दूसरे व्यक्ति से प्यार करती है। ऐसे व्यक्ति बात बात में अपने से ऊँचे व्यक्ति से झगड़ा कर बैठते हैं। उन्हें इसके कारण अपनी रोजी खोनी पड़ती है। अपनी हीनता का भाव उनके मन में यह कल्पना उत्पन्न करता है कि दूसरे लोग उनका सम्मान नहीं करते। वे अपने साथियों से ईर्ष्या करते हैं और इस प्रकार वे उन्हें अपना शत्रु बना लेते हैं।

हीनता की मानसिक ग्रन्थि और मानसिक रोग

जब मनुष्य की आशा और अभिलाषाएँ बढ़ी हुई रहती हैं और उसकी योग्यता अथवा प्राप्ति कम रहती है तब उसके मन में हीन भाव

का होना स्वभाविक है। इस हीन भाव को मनुष्य अपने स्वजनों, मित्रों और समाज के दूसरे लोगों से छिपाने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा आदत का रूप धारण कर लेती है और वह उसके स्वभाव का अंग बन जाती है। इस प्रकार धन की कमी का अनुभव करने वाला व्यक्ति धन-दौलत का प्रदर्शन करता है, विद्या की कमी पंडताई का प्रदर्शन करके छिपाई जाती है और चरित्र की कमी चरित्र की बातों के प्रदर्शन से ढँकी जाती है। वीरता की डींग मारनेवाले लोग भीतरी मन से भीरु होते हैं।

मनुष्य न केवल दूसरों से अपनी विशेष प्रकार की कमी को छिपाता है वरन् वह अपने आपसे भी अपनी कमी को छिपाता है। जब अपनी कमी को छिपाने की प्रवृत्ति अपने स्वभाव का अंग बन जाती है तब मनुष्य अपने अनजाने ही अपने बड़प्पन का ढोंग रचता है। इस प्रकार धन का लोभी दानी होने का, प्रबल भोग वासनाओं से त्रस्त व्यक्ति तपस्या का और क्रोधी व्यक्ति विनय का स्वांग रचता है। यह मानसिक क्रिया उसके अनजाने ही होती है। हमने पिछले एक प्रकरण में मनुष्य की अति-पूर्ति की मानसिक प्रक्रिया का वर्णन किया है। यह प्रक्रिया हीनता के भाव के आवरण के लिये हमारे मन में अनायास होती रहती है। यह अचेतन मन की क्रिया है अतएव हम अपने विवेक से उसे रोकने में भी असमर्थ होते हैं।

अलफ्रेड एडलर ने इस अतिपूर्ति की मानसिक क्रिया को मानव जीवन के लिये लाभकारी बताया है। यदि मनुष्य का अचेतन इस क्रिया के द्वारा उसकी दृष्टि से उसकी कमी को न छिपावे, तो अपनी कमी का पूरा ज्ञान होने से मनुष्य जीना ही न चाहे। जिन लोगों को अपनी कमी का ज्ञान नग्न रूप से हो जाता है वे मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं और इसी कारण ऐसे लोगों को पागलपन हो जाता है। मनुष्य को काम वासना सम्बन्धी कमी सबसे अधिक दुःख देती है। अतएव जब किसी व्यक्ति को यह विचार आता है कि वह अपने पुरुषत्व को खो चुका है, अतएव अपनी पत्नी का प्रेम उसे प्राप्त नहीं है, तो उसे पागल-पन आ जाता है। इस कमी का दुःख वह जितना ही अधिक अनुभव

करता है उसे मानसिक रोग उतना ही प्रबल होता है। यह रोग उसको जान की रक्षा करता है।

मानसिक रोग मनुष्य की कमी को व्यक्त करने के लिये भी उत्पन्न होते हैं। मनुष्य दूसरों से अपनी कमी छिपाने में कुछ दूर तक सफल हो सकता है, परन्तु अपने आपसे अपनी कमी वह कब तक छिपावेगा? मनुष्य का अचेतन मन बड़ा ही सच्चा और धर्म-परायण है। वह किसी प्रकार के ढोंग को देर तक नहीं ठहरने देता। यही कारण है कि जो लोग अपनी किसी प्रकार की महानता का झूठा अभिमान करते हैं वे अनेक प्रकार के दुःखों को भोगते हैं और बाध्य होकर उन्हें सत्य को स्वीकार करना पड़ता है। सत्य को दृष्टिओझल करने के प्रयास से झक की उत्पत्ति के अनेक उदाहरण हम इस प्रकरण और पिछले प्रकरणों में दे चुके हैं। जो व्यक्ति जगत में साधु-संत होने की ख्याति प्राप्त कर चुका है और अपने आपको इसी प्रकार का मानने लगा है, उसके इस अभिमान का विनाश कोई ऐसा मानसिक रोग नष्ट करता है जिसके होने पर सभी लोगों को वस्तुस्थिति का पता चल जाय।

वास्तव में हीनता की मानसिक ग्रन्थि ही मनुष्य के अभिमान को असाधारण बना देती है। फिर इस अभिमान के कारण उसे आत्म-स्वीकृति करना कठिन हो जाता है। रोग के कारण उसे कष्ट के साथ आत्म-स्वीकृति करनी पड़ती है। जब मनुष्य आत्म-स्वीकृति कर लेता है तो उसकी हीनता की ग्रन्थि सुलझ जाती है। इससे उसके विशेष प्रकार के अभिमान में कमी होती है, परन्तु उसके मन का खिंचाव अथवा उसका मानसिक रोग समाप्त हो जाता है। वह अब पहले जैसा साधु, संत, महात्मा, ज्ञानी आदि नहीं रह जाता। वह दूसरे लोगों जैसा ही बन जाता है। परन्तु उसके बड़प्पन से उत्पन्न हुए मानसिक रोग की समाप्ति भी हो जाती है।

कहा जाता है कि मनुष्य का पाप उसके सिर पर चढ़कर बोलता है। पाप वह कृत्य है जिसे मनुष्य दूसरों से छिपाना चाहता है और जिसकी स्मृति वह स्वयं भी भूल जाना चाहता है। मनुष्य को मानसिक रोग तभी होता है जब वह अपने पाप को छिपाने में सफल होता है। रोग छिपे

हुए पाप को बाहर ले आता है। मनुष्य का अपने पाप को छिपाने का प्रयास व्यर्थ होता है। यदि कोई मनुष्य अपने किसी विश्वनीय मित्र से अपने मन की भली-बुरी बातें कहता रहे तो उसका मन इस प्रकार के बोझ से न लद जाय जिसे उतारकर फेंकने के लिये उसके अचेतन मन को असाधारण और दुःखदाई प्रयास करना पड़े।

कभी-कभी मनुष्य की कमी वास्तविक नहीं होती, वह केवल काल्पनिक होती है। परन्तु उस कमी को भुला देने के यत्न के कारण वह वैसी ही दुखदायी बन जाती है जैसे कि वास्तविक कमी दुःखदायी होती है। हम अपनी किसी कमी के वास्तविक रूप को तब तक नहीं जान सकते जब तक हम उस पर विचार नहीं करते। परन्तु इसके लिए हमें अपनी कमी को भुलाने की चेष्टा न कर उसे अपनी चेतना के समक्ष लाना होगा और उस पर बार-बार विचार करना होगा। जब हमें ज्ञात हो जाता है कि हम केवल अपनी कल्पित कमी को ही ढाँपने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं तो हमारी मानसिक ग्रन्थि खुल जाती है। हमारा सच्चा मित्र वह व्यक्ति है जो हमें अपनी कल्पित कमियों का ज्ञान करा कर हमें उनपर विचार करके मुक्त होने में सहायता देता है। सच्चा मनोवैज्ञानिक यही काम करता है।

जब किसी मनुष्य को अपनी वास्तविक शक्तियों का ज्ञान हो जाता है जब वह अपने स्वभाव के सभी तत्वों को स्वीकार कर लेता है तो उसे किसी प्रकार की कमियाँ भयभीत नहीं करतीं। अज्ञान की अवस्था में ही कमियाँ कमियाँ दिखाई देती हैं, विचार से ये कमियाँ निरर्थक सिद्ध होती हैं। जब इस तरह सद्विचार द्वारा मनुष्य अपनी कमियों से मुक्त हो जाता है तब उन्हें छिपाने के लिये उसे झूठे अभिमान की आवश्यकता भी नहीं रहती और फिर मनुष्य को वे रोग भी नहीं होते जो उसे इन कल्पित कमियों का ज्ञान कराने के लिये आते हैं।

अन्तर्मुखी बनने पर मनुष्य को अपनी कमियों का ज्ञान होता है। इसके साथ-साथ उसे अपनी अपार शक्ति का भी ज्ञान हो जाता है। अतएव यदि वह अपने आपमें किसी वास्तविक कमी को जान ले और वह उसे भुलाने का प्रयत्न न करे उसे अपनी प्रकृति का स्वरूप समझ ले तो

फिर उसकी कमी उसके लिये कलंक न बनकर उसका आभूषण बन जाती है। आत्म-स्वीकृति से भागने से मनुष्य के दुःख की कमी नहीं होती, वरन् आत्म-स्वीकृति करने से ही दुःख की कमी होती है। हमें जब अपनी वास्तविक कमियों का ज्ञान हो जाता है तो हम उन्हें हटाने अथवा उनकी पूर्ति करने का प्रयास करते हैं। बार बार यत्न करने पर हम इस कार्य में अवश्य ही सफल होते हैं। इन कमियों के हटाने के प्रयास से मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ता है और फिर वह समाज का उपयोगी कार्य करने में सफल होता है।

अभिमान का निराकरण और स्वास्थ्य

ऊपर कहा गया है कि रोग मनुष्य के बढ़े-चढ़े अभिमान का परिणाम है। वह उसे कम करता है। यदि मनुष्य का अभिमान पहले से ही उसकी योग्यता के अनुसार हो तो उसे रोग की आवश्यकता ही न हो। जब मनुष्य का भीतरी और बाहरी, नैतिक और भौतिक, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन सन्तुलित रहता है तब उसे अभिमान का अनुभव ही नहीं होता। जब इस सन्तुलन में गड़बड़ी होती है तभी उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। अभिमान मनुष्य की चेतना की वस्तु है। जब मनुष्य की चेतना में किसी प्रकार की विशेषता की वृद्धि होती है तो मनुष्य के अचेतन मन में उसके विरोधी तत्वों की वृद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य के चेतन मन में प्रकाशित हीन भाव, उसके अचेतन मन में उपस्थित अभिमान का द्योतक है और उसके बाहरी मन की महानता का भाव उसके भीतरी मन में विशेष प्रकार की कमी का द्योतक होता है। जिस मनुष्य के बाहरी जीवन में त्याग तथा तपस्या का भाव प्रदर्शित होता है और जिसे इसका अभिमान होता है उसके भीतरी मन में स्वार्थीपन और विषय-लोलुपता होती है। इसके कारण ऐसा व्यक्ति अपना ध्यान स्वार्थी और विषय-लोलुप व्यक्ति के सुधार में लगाये बिना रह नहीं सकता। दूसरे व्यक्ति के चरित्र के दोषों से परेशान रहना अपने आपसे ही परेशान होना है। अपने ही दोष हम दूसरे व्यक्ति में आरोपित करके पहचानते हैं।

स्वस्थ जीवन में मनुष्य को किसी प्रकार का अभिमान नहीं रहता।

जिस प्रकार हमें अपने शरीर के उस अवयव का ज्ञान नहीं रहता जो पूर्ण स्वस्थ रहता है और जब शरीर का कोई अंग रोगी बनता है तभी हमें उसका ध्यान आता है, इसी प्रकार जब तक हमारे व्यक्तित्व के सभी अंग स्वस्थ होते हैं तब तक हमें उनका ध्यान नहीं होता जब हमें किसी अंग की विशेष चिन्ता करनी पड़े, अथवा जब कोई अंग हमारे विचार का बार बार विषय बने तो हमें जानना चाहिये कि हमारे व्यक्तित्व के उस अंग को रोग ने पकड़ लिया है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकार के अंग हैं जैसे रूप, शारीरिक बल, विद्वत्ता, सामाजिकता और नैतिकता अथवा चरित्र। इनमें से किसी का अधिक कम होना अथवा बढ़ना उस विशेष अंग की ओर हमारा ध्यान ले जाता है। जब मनुष्य कुरूप अथवा अत्यन्त रूपवान हो जाता है तो सभी का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता है। इससे उसका अभिमान जाग्रत होता है। अतएव कुरूप होना अथवा अत्यधिक रूप की प्राप्ति की चेष्टा करना दोनों ही हानिप्रद हैं। कुरूपता का ज्ञान मनुष्य में हीन-भाव लाता है और अधिक रूपता रोग उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार नैतिकता की अत्यधिक कमी अथवा उसकी अत्यधिक वृद्धि भी मानसिक रोग का परिचायक है। जिस प्रकार मनुष्य में रूप, बल, विद्या, सामाजिकता का होना आवश्यक है इसी प्रकार नैतिकता का होना भी आवश्यक है। परन्तु किसी प्रकार का सद्गुण जब सब लोगों की आँख में खटकने लगे तब हमें उससे सावधान हो जाना चाहिये। ऐसा सद्गुण अचेतन मन में उपस्थित विरोधी गुण का आवरण होता है। चरित्र और नैतिकता उतनी ही अच्छी है जिसकी न तो कमी का और न अधिकता का मनुष्य को अभिमान हो।

नैतिकता की अवहेलना और मानसिक रोग

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार नैतिकता का कड़ा प्रतिबन्ध अवांछनीय माना गया है। इस प्रकार के कड़े प्रतिबन्ध का कारण नैतिकता के प्रतिकूल आचरण होता है। जब मनुष्य किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर नैतिकता के प्रतिकूल आचरण कर बैठता है तो उसे आत्मग्लानि होती है। उसी प्रकार के आचरण फिर से वह न करे इसलिये वह अपने

नैतिक प्रतिबन्ध को कड़ा कर देता है। कितने ही लोग ऐसी अवस्था में तपस्वी बन जाते हैं और जिन इन्द्रियों के वशीभूत होकर उन्होंने आत्म-ग्लानिकारक कार्य किया था, उनको अनेक प्रकार से ताड़ना देने लगते हैं। किसी प्रकार के अतिक्रम की निन्दा श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता और बुद्ध भगवान ने अपने धर्मोपदेश में की है। दोनों ने ही मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उत्तम बताया है।

अब प्रश्न होता है कि यदि नैतिकता की सर्वथा अवहेलना की जाय तो हानि क्या है? कितने ही लोगों का कथन है कि समाज की रूढ़ियाँ ही मनुष्य की नैतिक भावनाओं में परिणत हो जाती हैं। नैतिकता मनुष्य को समाज की देन है। जिस प्रकार के समाज में मनुष्य रहता है, उसके नैतिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जिस बात को एक समाज के लोग पाप समझते हैं, उसे दूसरे समाज के लोग उचित कर्म समझते हैं। समय के अनुसार भी एक ही समाज के नैतिक विचारों में परिवर्तन होता रहता है। जब नैतिकता इतनी अस्थिर वस्तु है, तो उसकी अवहेलना की परवाह उसे क्यों करनी चाहिये? नैतिकता सापेक्ष है इससे स्वतन्त्र होने में ही मानव-जीवन का गौरव है। मनुष्य को आत्म-ग्लानि इसीलिये होती है कि वह विशेष प्रकार की नैतिक भावना को मानकर किसी विशेष प्रकार के आचरण में पाप मानने लगता है। यदि वह स्वयं किसी कार्य को पाप न समझे और उसे आत्म-ग्लानि न हो तो उस कार्य को करने में उसे कोई हानि नहीं, चाहे समाज उस कार्य को भले ही बुरा माने। किसी काम को बुरा मान बैठने के कारण ही आत्मग्लानि होती है और हम उसे पाप मान बैठते हैं। मानसिक झंझटों का कारण दूसरों के विचारों से प्रभावित होकर नैतिक प्रतिबन्धों को मान लेना ही होता है। यदि वे नैतिक प्रतिबंध हटा दिये जायँ तो सम्भव है कि न तो किसी प्रकार की मानसिक झंझट उत्पन्न हो और न विक्षिप्तता आवे। क्या प्राकृतिक जीवन में कोई मानसिक झंझट उत्पन्न हो सकती है? मानसिक झंझट इसलिये उत्पन्न होती है कि मनुष्य प्राकृतिक जीवन को छोड़कर कृतिम नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझ लेता है।

कितने ही मनोवैज्ञानिक नैतिकता के विषय में उपर्युक्त विचारों का प्रवर्तन करते हैं। स्वयं फ्राउड महाशय की विचार-धारा उक्त सिद्धान्त का समर्थन करती है। पर नैतिकता की अवहेलना के परिणाम से वे अपरचित नहीं थे, अतएव उनकी अन्तिम पुस्तकों के विचार निराशावादी हो गये थे। नैतिकता की अवहेलना करने पर समाज में उच्छृङ्खलता उत्पन्न होना निश्चित है। मानव-समाज की भित्ति नैतिकता ही है। यदि नैतिकता को मानव-जीवन से हटा दिया जाय तो मानव-समाज ही न रह जायगा। पशु-समाज बिना नैतिकता के जीवित रह सकता है, पर मनुष्य बिना नैतिकता के नहीं रह सकता। नैतिकता के अभाव में मनुष्य भोगेच्छा की तृप्ति के लिये मनमानी करेगा। पशु प्राकृतिक नियमों का पालन करता है, मनुष्य प्राकृतिक नियमों का पालन नहीं करेगा। मनुष्य का जीवन प्राकृतिक नहीं है, उसका समस्त जीवन कृतिम है। पशुओं का समाज प्रकृति बनाती है, मानव-समाज को स्वयं मनुष्य बनाता है। पशु-समाज की प्रगति प्रकृति के ऊपर निर्भर करती है, मानव-समाज की गति मनुष्यों के विचार पर निर्भर है। मनुष्य अपनी उन्नति अथवा अवनति में स्वतन्त्र है। ऐसी अवस्था में अपने आचरण के औचित्य का मापदंड पशुओं के आचरण से लेना मनुष्य के लिये घातक है।

मानव-समाज की भित्ति मनुष्य की नैतिक भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ वातावरण के संस्कार से ही उत्पन्न होती हैं, परन्तु उन भावनाओं का आधार मनुष्य का स्वभाव ही है। डाक्टर युंग के कथनानुसार मनुष्य का वैयक्तिक मन के परे समष्टि मन है। मनुष्य के मन में वे संस्कार प्रसुप्त अवस्था में रहते हैं, जिन्हें वह जन्म-परंपरा से पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में अपने माता-पिता से पाता है। मनुष्य की सामाजिक भावनाओं का आधार यही पैत्रिक सम्पत्ति है। नैतिकता इसी पैत्रिक सम्पत्ति का अंग है। जिस प्रकार मनुष्य अपने जन्म-जात स्वभाव से स्वार्थी है, इसी प्रकार वह अपने जन्म-जात स्वभाव से परोपकारी और सामाजिक भी है। जब मनुष्य अपने दोनों प्रकार के स्वभाव को पूर्णतः विकास का अवसर देता है तब उसका जीवन पूर्ण और सुखी होता है, अन्यथा वह दुखी और विक्षिप्त होता है।

अभी हाल की ही बात है। लेखक के पास एक नवयुवक यह सलाह लेने आया कि यदि वह अपनी भोगेच्छा को विवाह न कर व्यभिचार के द्वारा तृप्त करे तो क्या हानि है? उसे काम उत्तेजना के अधिक हो जाने के कारण सप्ताह में कई बार हस्त-मैथुन करना पड़ता है। उसका विश्वास है कि यदि वह स्त्री-समागम से अपनी काम-तृप्ति करे तो उसकी यह उत्तेजना समाप्त हो जावेगी। परन्तु उसकी वर्तमान परिस्थिति, उसकी अभिलाषाएँ और आकांक्षाएँ उसे विवाह करने से रोकती हैं। वह अभी विद्यार्थी ही है। वह एक दूसरे व्यक्ति का भार अपने ऊपर नहीं ले सकता। दूसरे उसे कुलीन, रूपवान, विदुषी, तथा धनवान पिता की पुत्री चाहिये। वह उसे इस समय मिलना संभव नहीं। अतएव अभी विवाह करना उसे ठीक नहीं जँचता। इधर उसके आचरण की उसके कुछ सम्बन्धी आलोचना भी करने लगे हैं। फिर यदि इन लोगों ने उसे आवारा समझ ही लिया है तो वह वास्तव में आवारा ही क्यों न बन जाय। उसके कुछ मित्रों ने उसे यही सलाह दी कि किसी प्रकार भी अपनी काम-तृप्ति कर लेना ही अच्छा है। आखिर नैतिक बातें केवल सामाजिक रूढ़ियाँ ही हैं। इनका अन्तिम मूल्य कुछ भी नहीं है। जिस कार्य को एक देश में अनैतिक मानते हैं उसी को दूसरे देश में निर्दोष माना जाता है। अतएव काम-वासना की तृप्ति में किसी प्रतिबंध को मानना व्यर्थ है। प्रतिबंध उतनी ही दूर तक मानना चहिये जिससे अपने स्वार्थ को धक्का न लगे। इन मित्रों ने यह भी बताया कि जो लोग पढ़ने-लिखने में ऊँचे नम्बरों से पास होते हैं जो अधिक धन कमाते हैं उनकी कामवासना सम्बन्धी बातों पर कोई भी व्यक्ति विचार नहीं करता। इसके प्रतिकूल जो युवक विद्या और धन कमाने में पिछड़ा रहता है और काम-व्यवहार में बड़ा ही सदाचारी रहता है उसे लोग निकम्मा ही कहते हैं।

इस प्रकार का विचार हमारे बहुत से नवयुवकों में फैला हुआ है। आधुनिक शिक्षा ने तथा आधुनिक मनोविज्ञान के छिछले अध्ययन ने इस विचार को बढ़ाया है। इस प्रसंग में संसार के उन गम्भीर चिन्तकों के

विचारों को जानना आवश्यक है जो न केवल मनोवैज्ञानिक हैं, वरन् दार्शनिक भी हैं और जिन्होंने मानसिक चिकित्सा के साथ साथ जीवन के मूल्यों पर भी विचार किया है। ऐसे चिन्तकों में डा० युंग, हेड फील्ड और विलियम ब्राऊन के विचार और उनके मानसिक रोगियों की चिकित्सा के अनुभव उल्लेखनीय हैं।

चार्ल्स युंग के कथनानुसार मनुष्य की नैतिक बुद्धि का आधार केवल उसका व्यक्तिगत अनुभव नहीं है, अपितु मानव जाति का पूरा अनुभव है। यह अनुभव मनुष्यों के स्वभाव का उसी प्रकार अंग बन गया है जिस प्रकार उसकी मूल प्रवृत्तियाँ उसके स्वभाव का अंग बन गई हैं। यह उसके अचेतन मन में वर्तमान है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पर वंश-परंपरा की गति से जाता है। अतएव जिस प्रकार के अनुभव के आधार पर मानव जाति का जीवित रहना और उसका उन्नति करना संभव हुआ वह मनुष्य के अचेतन मन का अंग है। यही उसकी मूल नैतिकता है। जब मनुष्य इस नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है तो उसे अपने जीवन में अनेक प्रकार की असफलताएँ और मानसिक रोग होते हैं। हमारा अचेतन मन हमें अपनी मूल नैतिकता के प्रतिकूल आचरण नहीं करने देता।

उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए चार्ल्स युंग ने बताया है कि एक विद्वान् नवयुवक को अकारण चिन्ता का रोग सताता था। वह स्वयं एक मनोवैज्ञानिक था। जब वह अपने आपको स्वयं अच्छा न कर सका तो उसने डा० युंग की सलाह ली। उसकी जीवनी की छानबीन करने से पता चला कि इस नवयुवक से एक महिला प्रेम करती थी। यह युवक उसके पैसे को अपनी हवाखोरी के खर्च के काम में लाता था। वह उस महिला की कठिन परिश्रम की कमाई को खर्च करने में कोई हिचकिचाहट का अनुभव नहीं करता था। उसने अपनी नैतिक बुद्धि को यह कहकर शान्त कर लिया था कि यदि कोई व्यक्ति अपने धन को स्वयं ही दे तो उसके खर्च करने में हानि ही क्या? परन्तु इस प्रकार वह चेतन मन की धर्म-बुद्धि को ही धोखा दे सका। अपने अचेतन मन की नैतिकता की वह अवहेलना करने में समर्थ न हो सका। उसने उसे मानसिक रोग के रूप में

दण्ड दिया। जब मनुष्य अभिमानवश समाज में बहुत काल से प्रचलित नैतिक मूल्यों की अवहेलना करता है तो वह अपने गम्भीर स्वत्व की ही अवहेलना करता है और फिर उसे इस अवहेलना का दण्ड मानसिक अथवा शारीरिक रोग के रूप में मिलता है।

प्रो० हेडफील्ड ने मनुष्य की नैतिक बुद्धि को चार्ल्स युंग के समान जन्मजात न मानकर अर्जित ही माना है। परन्तु मनुष्य की नैतिक धारणाओं का सम्बन्ध मनुष्य के भावों से हो जाता है, अतएव वह मनुष्य के स्वभाव में स्थायी भावों के रूप में रहती है। किसी प्रकार की नैतिक धारणाओं का स्थायी भावों के रूप में एक बार परिणत हो जाने पर उनमें विचार द्वारा परिवर्तन होना अत्यन्त कठिन है। ये धारणाएँ मनुष्य के अचेतन मन में रहती हैं, अतएव उनमें परिवर्तन करने के लिए पहले उन्हें चेतना के स्तर पर लाना होता है। इसमें बहुत काल लगता है। फिर उनमें धीरे धीरे परिवर्तन होता है। अतएव किसी प्रकार के नये विचार के कारण यदि कोई व्यक्ति अपनी बहुत पुरानी नैतिक धारणा के प्रतिकूल आचरण करे तो वह मनुष्य अपने मन का साम्य खो देता है। मनुष्य की स्थायी आदतें चाहे वे विचार की हों अथवा क्रिया की, एकाएक बदली नहीं जा सकतीं। इस प्रकार का प्रयास करने से मनुष्य को मानसिक रोग हो जाते हैं। जब कोई मनुष्य व्यभिचार को अपनी बौद्धिक दृष्टि से ठीक समझ कर उसमें लग जाता है तो उसे अनायास अकारण चिन्ता, भय, नपुंसकता, न्यूरेस्थेनिया, दमा आदि रोग हो जाते हैं। संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाते हुए जो लोग अपनी काम-वासना की तृप्ति करते हैं उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग हो जाते हैं।

लेखक के एक मित्र दो संतान की उत्पत्ति के बाद संतान-निग्रह के उपायों को काम में लाने लगे। थोड़े दिनों तक इस प्रकार दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने पर उनकी पत्नी का स्वभाव चिड़चिड़ा हो गया। वह पहले से ही कड़े स्वभाव की थी। अब वह अपनी नौकरानियों को मार पीट देती थी। इसके कारण अपने पति से उसकी अनबन होने लगी। कुछ काल के पश्चात् दोनों व्यक्तियों में इतना विरोध बढ़ा कि मित्र को अपनी पत्नी को

अलग रखना पड़ा। वह अपने नैहर चली गई। पत्नी के जाने पर पति का जीवन निर्विघ्न नहीं रहा। उन्हें पहले से ही एक्जमा और दमा के रोग थे। वे और भी बढ़ गये। समाज में इनका प्रतिष्ठा का स्थान है। अतएव उनकी कामवासना की तृप्ति का कोई मार्ग नहीं रहा। वे अकसर रोगी ही बने रहते हैं।

स्वयं डा० फ्रायड ने बताया है कि मानसिक रोगों से पीड़ित व्यक्तियों के जीवन की जब छानबीन की जाती है, तो उन्हें हम सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाते हुये पाते हैं और जब इन उपायों को काम में लाना बन्द कर दिया जाता है, तो उनके अनेक प्रकार के रोगों की समाप्ति हो जाती है। इस सिद्धान्त की सत्यता का ज्ञान हमें हाल में ही हमसे परामर्श लेने वाले एक प्रौढ़ व्यक्ति के अनुभव से हुआ। इसके जब पाँच सन्तान हो चुकी तब सन्तान निग्रह के उपायों को वह काममें लाने लगा। थोड़े ही दिन इस प्रकार जीवन व्यतीत करने पर उसकी पत्नी को हिस्टीरिया का मानसिक रोग हो गया। उसे झक सवार हो गई कि उसका पति किसी दूसरी स्त्री से प्यार करता है और उसकी अवहेलना करता है। इसके कारण वह पति को निरर्थक गाली गलौज करती और कभी कभी पीट भी देती। एक दूसरे धनी व्यक्ति ने सात सन्तान के हो जाने पर सन्तान निग्रह के उपायों को काम में लाना आरम्भ किया। वह इन उपायों को साल भर तक काम में लाया था कि उसे एक दिन अपनी स्त्री को देखकर अकारण इस प्रकार का भय हो गया कि उसकी मृत्यु ही सामने आ गई। यह भय स्थायी बन गया। इससे उसे नपुंसकता आ गई और अब वह किसी स्त्री को देखते ही अकारण डरने लगता है। इस समय उसे न्यूरेसथेनिया का रोग है। वह १७ साल से इस प्रकार के अनेक रोगों से पीड़ित हैं।

कामवासना के क्षेत्र में नैतिकता की अवहेलना करने से मनुष्य को जितने अधिक मानसिक रोग होते हैं उतने अधिक मानसिक रोग और किसी कारण से नहीं होते। हमारे पास आये एक नवयुवक को सिफ्लोफोबिया (गर्मी का कल्पित रोग) इस कारण हो गया था कि वह एक

बार अपनी वंश-परंपरा की मर्यादा के प्रतिकूल वैश्या-गमन के लिये गया था। इसी तरह एक दूसरे नवयुवक को सुजाक का रोग नैतिकता के प्रतिकूल विषय भोग करने के कारण त्रास देने लगा था। एक दूसरे व्यक्ति को अपने मित्र की पत्नी से व्यभिचार करने की चेष्टा करने के कारण नपुंसकता का रोग हो गया था। अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल समलिंगी व्यभिचार की चेष्टा करने के कारण बहुत से नवयुवकों को हृदय की धड़कन, नपुंसकता, एक्जमा और कुष्ट रोग का भय अथवा सफेद कुष्ट हो जाता है। कुछ लोगों को जननेन्द्रिय के आस पास बहुत सी खाज अथवा फोड़े हो जाते हैं।

इस प्रसंग में विलियम स्टेकिल द्वारा 'प्रेक्टिस आफ साइकोथ्रफी' में दिया गया एक उदाहरण उल्लेखनीय है। एक ऊँची जाति का हिन्दू विद्यार्थी डाक्टरी सीखने वियना गया। यह भारतवर्ष में न तो मांस-मदिरा का सेवन करता और न किसी प्रकार के व्यभिचार में पड़ा था। यूरोप पहुँचने पर उसने अपने आपको सभी बातों में छूट दे दी। इसके कुछ समय बाद ही उसे नपुंसकता और जननेन्द्रिय के आस पास फोड़े हो गये। उसे अनिद्रा भी सताने लगी। स्टेकिल ने उसके जीवन को जान कर सलाह दी कि वह उसी प्रकार यूरूप में रहे, जैसे वह भारत में रहता था। उसने कुछ दिन ऐसा ही किया और उसका शारीरिक रोग जाता रहा। परन्तु उसने फिर पुरानी लत शुरू कर दी और दूसरी बार वह फिर पहले जैसा रोगी बन गया।

स्टेकिल ने एक दूसरे भी दमा के रोगी का उदाहरण दिया है। यह रोगी अपनी पत्नी के साथ उसी घर में रहता था जिसमें उसकी साली अपने पति के साथ रहती थी। वह नीचे तले पर रहता था और साली ऊपर के तले पर रहती थी। उसकी साली अपने पति की अनुपस्थिति में इससे मिला करती थी और दोनों व्यक्तियों में प्रेम सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इसके थोड़े दिन बाद ही इस व्यक्ति को दमा का रोग हो गया। इसे अपने दमा को ठीक कराने के लिये एक द्वीप पर जाना पड़ता था। वहाँ जाने से उसका दमा ठीक हो जाता था। रोगी एक बार वहाँ देर

तक ठहरने के लिये अपनी साली को साथ लेता गया। अब उसका दमा ठीक न होकर और भी बढ़ गया। इस प्रकार रोग के बढ़ने का कारण जानने पर स्टेकिल महाशय को रोग का रहस्य खुल गया। इस व्यक्ति का रोग नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने के कारण ही हुआ था।

नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने पर मनुष्य की इच्छाशक्ति दुर्बल हो जाती है। उसे हृदय की धड़कन, हकलाहट, अथवा किसी विशेष प्रकार का भय होता है। मनुष्य को अपने अनैतिक कार्यों का अभिमान नहीं होता, अतएव वह ऐसे कार्यों को भुलाने की चेष्टा करता है। ये कार्य उसकी स्मृति से अलग तो हो जाते हैं, परन्तु अब वे उसे प्रतीक रूप से मानसिक रोग के रूप में त्रास देने लगते हैं। फिर ये रोग तब तक रोगी को नहीं छोड़ते जब तक वह अपने अनैतिक आचरण की आत्म-स्वीकृति नही करता। अनैतिक कार्यों की स्मृति के दमन से ममुष्य की मानसिक प्रगति ही रुक जाती है। इसमें वह अपने चित्त की एकाग्रता तथा स्मरण शक्ति को खो देता हैं।

नैतिकता की अवहेलना करने से उसका दमन होता है। यह दमन नई मानसिक ग्रन्थियाँ, विक्षिप्तता और शारीरिक रोगों का कारण बनता है। इस प्रसंग में 'एव नारमल साइकालोजी' में दिया हुआ हेनरी फिशर महाशय का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक प्रतिभावन सुन्दर युवक, जो कि इंगलैंड में पुलिस का उच्चाधिकारी हो गया था, अपने जीवन को अविवाहित विताने लगा। वह युवतियों के साथ मिलता, उनसे प्रेमालाप करता, पर उनसे विवाह नहीं करता था। बह अपने आपको स्वन्तन्त्र रखना चाहता था। एक युवती जिससे वह मिला करता था, उसे बहुत प्यार करने लगी; वह चाहती थी कि यह युवक उससे विवाह करे। युवक भी इस युवती से अपना प्रेम-सम्बन्ध रखना चाहता था, पर उससे विवाह नहीं करना चाहता था। युवक की इस प्रकार की इच्छा को जानकर वह स्त्री चिढ़ गई और उसने अपना प्रेम-सम्बन्ध किसी दूसरे युवक से स्थापित कर लिया और कुछ दिन के उपरान्त उससे विवाह कर लिया।

उक्त घटना से उस व्यक्ति को भारी धक्का लगा। वह जीवन को निस्सार रूप में देखने लगा। उसे सदा मानसिक बेचैनी रहने लगी। इसे भुलवाने के लिये उसने शराब पीना और बेश्याओं के साथ व्यभिचार करना आरम्भ कर दिया। उसकी शराब पीने और व्यभिचार करने की आदत प्रबल होती गई। एक बार जब वह किसी नीच स्त्री के साथ व्यभिचार कर रहा था, उस स्त्री ने उसे नपुंसक कह दिया। अब उसके मन में नपुंसक होने का विचार आ गया और वह किसी प्रकार की काम-क्रिया में निकम्मा हो गया। वह इस भावना के कारण वास्तव में नपुंसक जैसा हो गया। उसने अपनी नपुंसकता से मुक्त होने के लिये अनेक प्रकार की चिकित्सा कराई, पर उसकी नपुंसकता न गई। अन्त में उसने एक मनोवैज्ञानिक की शरण ली। उसके मनोविश्लेषण से कुछ लाभ हुआ। उसकी मानसिक नपुंसकता कुछ दूर हुई, पर इस समय उसने अपने आगे का उपचार कराना बन्द कर दिया। इसी समय उसके मन में विचार आने लगे कि वह संसार में बड़ा ही प्रतिभावान् और श्रेष्ठ पुरुष है। वह अपने आपको देश का राजा समझने लगा। अन्त में वह पागलखाने में भेजा गया। एक दूसरा उदाहरण इस प्रसंग में और भी उल्लेखनीय है। यह लेखक के परिचित व्यक्ति की बात है।

एक बार लेखक एक सभा में बैठा हुआ था। इस सभा में एक व्यक्ति अपनी कविता-पाठ करनेवाले थे। कविता-पाठ के पूर्व आत्म-परिचय देने के समय आप अनेक ऐसी बातें कह गए जिससे लोगों को निश्चय हो गया कि उनके मस्तिष्क की दशा ठीक नहीं है। वे कहने लगे कि उन्होंने दो शेरों से कुश्ती लड़ी और रानी विक्टोरिया से हाथ मिलाया, तथा वे हिटलर, स्टालिन, एवं चर्चिल से पत्र-व्यवहार करते रहते हैं। उनके जीवन के अध्ययन से पता चला कि वे कामवासना-सम्बन्धी नैतिक प्रतिबन्धों को नहीं मानते। ऐसी अवस्था में उन्हें उक्त प्रकार की विक्षिप्तता होना कोई आश्चर्यजनक घटना नहीं है।

उक्त दो उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य नैतिकता के प्रतिबन्धों को हटाकर मानसिक स्वास्थ्य का उपभोग नहीं कर सकता। नैतिक प्रतिबंध

की कठोरता के कारण जो विक्षिप्तता होती है, वह साध्य होती है, पर जो विक्षिप्तता नैतिकता की अवहेलना से उत्पन्न होती है, वह असाध्य होती है। नैतिकता के प्रतिबन्ध को शिथिल करना उतना कठिन नहीं, जितना कि नैतिकता के प्रतिबन्ध का निर्माण करना है।

मान लीजिए, किसी नदी के किसी स्थान पर बाँध बाँधने के कारण इतना पानी इकट्ठा हो गया कि बाँध टूट जाने का डर हो, अथवा गुप्त रूप से पानी के बाहर निकल जाने का अंदेशा हो। ऐसी अवस्था में हम बाँध को किसी स्थान से तोड़कर जितना पानी व्यर्थ समझते हैं, निकाल सकते हैं और फिर उस पानी के रास्ते को बन्द कर सकते हैं। यदि हम बाँध को सर्वथा ही तोड़ दें तो फिर उसको किसी प्रकार सदुपयोग में नहीं ला सकते। हमारी मानसिक शक्तियों के विषय में भी यही सत्य है। नैतिकता हमारी मानसिक शक्ति को एकत्रित करने का साधन है। नैतिकता के अभाव में मनुष्य के अन्दर किसी प्रकार के लोकोपकारी-कार्य करने की शक्ति ही नहीं होती। इतना ही नहीं उसका बौद्धिक विकास भी रुक जाता है। नैतिकता के सर्वथा अभाव में मनुष्य विक्षिप्तता की अवस्था में हो जाता है। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य का मानसिक रोग घटने के बदले बढ़ जाता है। इस प्रसंग में हेडफील्ड महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक महिला को संसार से उदासीनता और आत्म-हत्या करने की झक सवार हो गई। उसे किसी काम में रुचि नहीं थी। एक मनो-विश्लेषक ने उसके सामान्य व्यवहार को देखा और उसके मन की दलित भावना को समझने की चेष्टा की। यह महिला साधारण व्यवहार में बड़ी विनीत थी। वह सभी लोगों से बड़ी सौजन्यता से बोलती-चालती थी। मनोवैज्ञानिक ने निश्चय किया कि उसके लड़ने की प्रवृत्ति का दमन हुआ है, इसीलिए उसके मन में निराशावाद और आत्महत्या की भावना आई। उसका निष्कर्ष सत्य भी था। इस महिला की मानसिक ग्रन्थि के निवारण के लिए मनोवैज्ञानिक ने लड़ने की प्रवृत्ति का दमन समाप्त करने का आदेश दिया, अर्थात् उससे कहा गया कि वह अपने साथियों से उतनी

सौजन्यता से बातचीत न करे जितनी सौजन्यता से वह बोला करती है। पर जब उसने मनोवैज्ञनिक की सलाह मानकर अपने व्यवहार को बदल दिया तब उसको आन्तरिक शान्ति न मिलकर और अधिक क्लेश होने लगा। सौजन्यता से व्यवहार करना अब उसके स्वभाव का अंग बन गया था। इस स्वभाव के प्रतिकूल चलने से उसे आत्मग्लानि उत्पन्न होने लगी।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मानसिक ग्रंथि का निराकरण व्यवहार मात्र बदलने से ही नहीं हो जाता। यदि नैतिक प्रतिबंध की कठोरता के कारण वह ग्रन्थि उत्पन्न हुई है तो नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से यह ग्रन्थि सुलझने के बजाय और कई ग्रंन्थियों के बन जाने की संभावना रहती है। किसी मानसिक ग्रंथि के सुलझने के लिये उस ग्रंथि का कारण जानना आवश्यक है। इसके लिये उस घटना को स्मृति-पटल पर लाया जाता है जिससे कि ग्रन्थि का प्रारम्भ हुआ है। जब यह घटना स्मृति-पटल पर आ जाती है तब ग्रन्थि सुलझ जाती है। अब हमें ग्रन्थि की शक्ति तथा उस ग्रंथि की उत्पादक प्रवृत्ति की शक्ति के सदुपयोग का मार्ग खोजना पड़ता है। इस प्रवृत्ति की शक्ति अथवा ग्रन्थि की शक्ति को लोकोपकारी कार्यों में लगाया जा सकता है। यहाँ संभव है, प्रवृत्ति को प्राकृतिक रूप से भी प्रकाशित किया जा सके। परंतु इस प्रकार का प्रकाशन लोक में प्रचलित नैतिक भावनाओं के प्रतिकूल न होना चाहिए। कितनी ही मानसिक ग्रन्थियों का कारण ऐसा होता है कि ग्रंथि से संबंधित शक्ति का नैतिक रूप से अब कोई उपयोग नहीं किया जा सकता। देखा गया है कि ऐसी अवस्था में विचार करने मात्र से ग्रन्थि की शक्ति काम में आ जाती है।

मान लीजिए, एक प्रतिष्ठित व्यक्ति को किसी विशेष प्रकार की झक इसलिए उत्पन्न हो गई है कि उसकी युवावस्था में उसकी काम प्रवृत्ति का दमन हुआ है। वह जिस महिला से प्रेम करता था, उसने उसे धोखा दिया। इस व्यक्ति के मनोविश्लेषण से उसकी ग्रंथि खुल जायगी। पर प्रश्न यह आता है कि क्या फिर उसे अपनी वासना की तृप्ति के लिये चेष्टा करना आवश्यक है? मनोविश्लेषण-विज्ञान के पंडित हेडफील्ड का

विचार है कि उसे ऐसा करना आवश्यक नहीं। हम इस विचार से सहमत हैं। जब ग्रन्थि चेतना की सतह पर आ जाती है तो उस पर विचार किया जा सकता है और इस प्रकार के विचार से ग्रंथि को उत्पन्न करने वाली वासना शान्त हो जाती है।

वासना की शक्ति का प्रकाशन दो प्रकार से होता है—एक आचरण द्वारा और दूसरा विचार मात्र से। शक्ति का आचरण में प्रकाशन तभी अच्छा होता है, जब इस प्रकार का प्रकाशन उस व्यक्ति के वर्तमान नैतिक विचारों के प्रतिकूल न हो, अन्यथा उसे अपने विचारों में ही प्रकाशित करके शान्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वासना की शक्ति का लोकोपकार में उपयोग करना चाहिये। यह उसकी शक्ति का शोध है।

भगवान बुद्ध के जीवन से उक्त सिद्धान्त को भली भाँति समझा जा सकता है। भगवान बुद्ध अपनी युवावस्था में ही संन्यासी हो गये। घोर तप से उन्होंने अपनी भोगेच्छा को दबा दिया, परन्तु इससे उन्हें आत्म-ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ। अब उन्होंने घोर तप का मार्ग छोड़कर मध्यम मार्ग ग्रहण किया। तब उन्हें सत्य का दर्शन हुआ। इस समय आत्म-निरीक्षण से उन्हें पता चला कि उनकी सांसारिक सुख और स्वार्थ की भावनाएँ नष्ट नहीं हुईं। वे 'मार' की सेना के रूप में उनके समक्ष आ खड़ी हुईं। इस प्रकार के आत्म-दर्शन से उनकी मानसिक ग्रन्थि तो खुल गई, परन्तु मानसिक शक्ति के सदुपयोग का मार्ग निश्चित नहीं हुआ। इसके लिये भगवान बुद्ध ने एक ओर योगाभ्यास का अनुसरण किया और दूसरी ओर अपने आपको सतत लोकोपकार में लगाया।

योगाभ्यास विचार के द्वारा हमारी पाशविक प्रवृत्ति को शान्त करता है। संसार के पदार्थों को साधारणतः हम सुख रूप मानते हैं, जब उन्हें बार बार दुःख रूप कर सोचते हैं तो उनके प्रति हमारा आकर्षण चला जाता है। प्रतिदिन के अभ्यास से सुन्दर पदार्थ भी वीभत्स रुप में दिखाई देने लगता है। काम-वासना के निराकारण के लिये भगवान बुद्ध ने मुर्दों पर अपने विचारों को केन्द्रित करनेका अभ्यास बताया है। जितना ही

कोई व्यक्ति मानवशरीर की असौन्दर्यता पर विचार करता है, वह उतना ही विषय भोग से विरक्त हो जाता है। विषय भोग से विरक्त होने पर कामवासना शांत हो जाती है और उसके दमन की कोई आवश्यकता नहीं रहती। बची हुई काम-वासना की शक्ति को लोकोपकार में लगाया जा सकता है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि भगवान बुद्ध के लिये अपनी काम-वासना को शान्त करने का उचित मार्ग योगाभ्यास ही था। भगवान बुद्ध भिक्षुक हो चुके थे, अतएव अपनी प्रबल काम-वासनाओं को जानकर भी वे उन्हे प्राकृतिक रूप से तृप्त नहीं कर सकते थे। जो मार्ग श्री राहुल सांकृत्यायन ने ग्रहण किया, उसे बुद्ध भगवान ने उचित नहीं समझा। अपनी दलित वासनाओं को तृप्त करने का यह मार्ग लोक-व्यवहार और लोक में प्रचलित नैतिकता के प्रतिकूल था। अतएव भगवान बुद्ध ने योगाभ्यास से ही काम-वासना को शान्त किया और लोकोपकार में अपने आप को लगाकर उसकी शक्ति का सदुपयोग किया। भगवान बुद्ध का आदेश है कि भिक्षु बनने के पश्चात् यदि कोई व्यक्ति अपने में प्रबल भोग वासनायें देखे तो उसे फिर से गृहस्थ बनकर नैतिकता के साथ उसी जीवन का धर्म पालन करना चाहिये। नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करना सब समय घातक है। नियमित रूप से ही अपनी भोगेच्छाओं को तृप्त करना, मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करता है और उसके लिए लाभकारी सिद्ध होता है।

चौदहवाँ प्रकरण

मानसिक समीकरण

विषमता, रोग का लक्षण

सामान्य और स्वस्थ मनुष्य वह है जिसमें किसी प्रकार की मानसिक विषमता न हो। प्रत्येक व्यक्ति में अपनी विशेषता रखने की इच्छा रहती है। जब यह इच्छा अत्यधिक बढ़ जाती है तब मानसिक विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का स्वभाव अनेक प्रकार की शक्तियों और प्रवृत्तियों का बना हुआ है। जब मनुष्य की सभी प्रकार की शक्तियों का समुचित विकास होता है तब वह साधारण और स्वस्थ रहता है। जब किसी एक प्रकार की शक्ति की अधिक वृद्धि होती है अथवा किसी एक प्रवृत्ति की तृप्ति में जब मनुष्य अपना अधिक समय देता है तो उसकी दूसरी प्रवृत्तियों का दमन होता है। इस दमन के कारण मानसिक विषमता हो जाती है, तथा इस दमन की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के होने पर मनुष्य का मन साधारण न रहकर असाधारण हो जाता है।

मनुष्य का मन तीन प्रकार की शक्तियों का बना है—ज्ञान, क्रिया और भाव। इन तीनों प्रकार की शक्तियों का समुचित विकास होने पर मनुष्य के मनमें समता रहती है। पर जब हम किसी एक शक्ति की वृद्धि में लग जाते हैं तब दूसरे प्रकार की शक्तियों का दमन होता है। वे शक्तियाँ फिर हमारे अचेतन (अज्ञात) मन में अविकसित रूप में ही पड़ा रहती हैं। जो मनुष्य अपना सब समय पढ़ने-लिखने और ज्ञान चर्चा में लगाये रहता है, वह जगत में अपनी विद्वता के लिये ख्याति पा लेता है, पर उसकी क्रियात्मक प्रवृत्तियों और भावात्मक प्रवृत्तियों का दमन होता है। अतएव ये प्रवृत्तियाँ परिष्कृत न होकर पाशविक अवस्था में ही बनी रहती

हैं। उनके विकास का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण वे मनुष्य को अशान्त कर देती हैं और यदि उन्हें समय पर प्रकाशन का उचित मार्ग न दिया गया, तो वे मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की विक्षिप्तता उत्पन्न कर देती हैं। जब मनुष्य की क्रियात्मक प्रवृत्ति का दमन होता है, तो वह अपने आपमें मानसिक नपुंसकता का अनुभव करने लगता है। उसे अपने निकम्मेपन से आत्मभर्त्सना उत्पन्न होने लगती है। इसी प्रकार भावात्मक शक्तियों के दमन से मनुष्य के भाव अविकसित रह जाते हैं। इनके कारण वे कभी-कभी प्रबल क्रोध, मोह अथवा प्रेम में प्रकाशित हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति, जिस बात के लिये क्रोध न करना चाहिए, उसके लिये क्रोध करता है। वह मोह में पड़कर आत्म-हत्या करने को प्रस्तुत हो जाता है। वह एकाएक किसी स्त्री के प्रेम में फँस जाता है और समाज में निन्द-नीय कार्य कर बैठता है। यदि कोई व्यक्ति उसकी थोड़ी भी आलोचना कर दे, तो वह उसे सहन नहीं कर सकता। किसी प्रकार की जिम्मेदारी आ जाने पर वह घबड़ा जाता है। उसे किसी काम में सफलता प्राप्त कर सकने में आत्म-विश्वास नहीं होता। यहाँ उसका ज्ञान उसकी सहायता नहीं करता।

कितने ही विद्वान लोग अपनी विद्वत्ता से संसार को चकित कर देते हैं, परन्तु वे अपने साधारण मनोवेगों को भी नहीं सम्हाल सकते। हमारे देश के एक महान विद्वान् को अपनी चीजों को बड़ा सम्हाल कर रखने की आदत है। यदि कोई व्यक्ति उनकी किसी वस्तु को छूले तो वे बहुत ही क्रुद्ध हो जाते हैं। कितने ही प्रोफेसर विद्यार्थियों के द्वारा की हुई अपनी आलोचना को नहीं सह सकते। व्यासजी पुत्र-शोक में पड़कर आत्महत्या करने जा रहे थे। उनका ब्रह्म-ज्ञान उन्हे पुत्र-शोक से मुक्त करने में असमर्थ रहा। नारद और परासर एकाएक प्रेम में पड़ गए। लेखक के एक परिचित विद्वान् व्यक्ति जो संन्यासी हो चुके थे एकाएक एक युवती के प्रेम में इतने फँस गए कि उसके साथ विवाह न होने पर आत्महत्या करने को तैयार थे। कभी-कभी सुना जाता है कि तत्व-ज्ञान के प्रोफेसर अपनी ही छात्राओं के प्रेम में फँस गये। इस प्रकार की घटनाओं का

कारण उनका विषम जीवन ही है। चिन्तन में ही अधिक समय व्यतीत करने वाले व्यक्ति का मन एक समय चिन्तन से ऊब जाता है। वह पीछे किसी दूसरे प्रकार के व्यवसाय की खोज करता है। पर उसके पास उच्चकोटि का दूसरा व्यवसाय नहीं रहता, अतएव नीची कोटि के ही व्यवसाय में वह लग जाता है। ऐसी अवस्था में वह विक्षिप्त व्यक्ति के समान व्यवहार करने लगता है।

जब एक बार मनुष्य की दलित शक्तियों का प्रकाशन होने लगता है तो उसकी पूर्व की शक्तियों का और भी ह्रास हो जाता है। विचारशील व्यक्ति जब किसी स्त्री के प्रेम में फँस जाता है तो उसमें सामान्य विचार की शक्ति नहीं रहती। उसमें केवल अपनी प्रेमिका के गुण-अवगुणों तथा उसके प्रति अपने व्यवहारों को ठीक से समझने की ही शक्ति नहीं रहती, वरन् साधारण बुद्धि का भी उसमें ह्रास हो जाता है। इसके कारण वह अपने सामान्य जीवन में अनेक भूलें करता है। पृथ्वीराज का पतन संयोगिता के प्रेम ने और नेपोलियन का पतन लूसी के प्रति उसके प्रेम ने किया। नेपोलियन के दुर्दिन उसी दिन से आए जिस दिन से उसने आस्ट्रिया के सम्राट् की लड़की लूसी से विवाह किया। जब तक जोसेफाइन उसके साथ रही उसकी उन्नति ही होती रही, लूसी के आते ही उसका गिरना प्रारम्भ हो गया। पीछे उसकी विचार करने की शक्ति का इतना ह्रास हो गया कि वह रूस की लड़ाई में उचित-अनुचित का विचार न कर सका।

जिस प्रकार मन की उपर्युक्त तीन शक्तियों का साम्य मानसिक स्वास्थ्य और व्यक्तित्व के सुयोग्य विकास के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार उसकी तीन प्रकार की प्रमुख वासनाओं का साम्य भी उसके समुचित विकास के लिए आवश्यक है। ये वासनाएँ—लोकेषणा, वित्तेषणा और पुत्रेषणा हैं। जब मनुष्य में एक प्रकार की वासना की अत्यधिक वृद्धि होती है और वह अपना सभी समय उसी की तृप्ति में लगाने लगता है, तब उसकी दूसरी प्रकार की वासनाओं का दमन होता है। दमन होने से वासनाएँ अतृप्त और अविकसित रूप में बनी रहती

हैं। वे पीछे भद्दे रूप में ही प्रकाशित होती हैं। इसके कारण मनुष्य का व्यवहार असाधारण हो जाता है। दबी हुई वासनाएँ छिपी रीति से भी प्रकाशित होती हैं। इससे व्यक्ति के जीवन में असाधारणता आ जाती है।

जब मनुष्य में लोकेषणा अधिक प्रबल हो जाती है, तो वह धन-सम्पत्ति और बाल-बच्चों की परवाह नहीं करता। संसार में ख्याति पाने के बहुत से इच्छुक व्यक्ति विवाह ही नहीं करते। यदि विवाह हुआ भी तो वे बच्चों को भार रूप मानते हैं। परोपकार में वे इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें अपने घर-द्वार की परवाह ही नहीं रहती। इसी प्रकार धन का इच्छुक व्यक्ति कई बार अपने आपको दिवालिया विख्यात कर देता है जिससे वह दूसरों के ऋण-भार से मुक्त हो। उसे मान-मर्यादा की परवाह नहीं रहती। वह धन के पीछे इतना लगा रहता है कि उसे स्त्री, बाल-बच्चों को देखने की फुर्सत नहीं रहती। कितने ही धन के पीछे पागल हुए व्यक्तियों को सन्तान भी नहीं होती। कितने ही धनी नपुंसक हो जाते हैं। उनकी सारी शक्ति धन कमाने में ही व्यय हो जाती है। अतएव उनमें सन्तान पैदा करने अथवा उनके पालन करने की शक्ति ही नहीं रहती। इस तरह उनकी सामाजिक भावनाओं और काम-सम्बन्धी वासनाओं का दमन होता है और इसके कारण मानसिक विषमता उत्पन्न हो जाती है। कामवासना की तृप्ति में अत्यधिक लगे रहनेवाले व्यक्ति की सामाजिक भावनाओं और धन कमाने की प्रवृत्ति की तृप्ति नहीं होती, उनका दमन होता है। इससे भी मानसिक विषमता और विक्षिप्तता उत्पन्न होती है।

लोकेषणा मनुष्य की सामाजिकता और नैतिकता का आधार है। और पुत्रेषणा उसके व्यक्तिगत स्वार्थ की इच्छाओं का आधार है। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का साम्य होना मनुष्य के जीवन को सुचारु रूप से चलने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब मनुष्य स्वार्थमयी भावनाओं की तृप्ति में लग जाता है तो उसकी सामाजिक भावनाओं का दमन होता है। इससे उसके नैतिक जीवन का विकास नहीं होता। वह पशु के सदृश ही बना रहता है। इसके परिणाम-स्वरूप उसे अनेक प्रकार के शारीरिक

और मानसिक क्लेश उठाने पड़ते हैं। मनुष्य को विभिन्न प्रकार की वासनाओं की प्रबलता उसकी अवस्था पर निर्भर करती है। वित्तेषणा शरीर को पोषित करने का आधार है, पुत्रेषणा अथवा काम-वासना संतानोपत्ति और उसकी रक्षा का आधार है, और लोकेषणा नैतिकता का आधार है। इन वासनाओं में से एक के बाद एक का उदय होता है। वित्तेषणा बाल-बुद्धि की सूचक है, यदि मनुष्य के जीवन का विकास ठीक से हुआ है तो प्रौढ़त्व प्राप्त करने पर न तो धन कमाने और न अपने परिवार के विषय में चिन्तित रहने की ही प्रबल इच्छा होगी। उसमें सामाजिक भावनाएँ ही प्रबल होंगी। पर जब किसी मनुष्य में समय के पूर्व सामाजिक भावनाएँ प्रबल हो जाती हैं तो दूसरी दो प्रकार की भावनाओं का दमन होता है। इससे मानसिक विषमता उत्पन्न होती है। दबी हुई वासनाएँ अथवा भावनाएँ व्यक्ति के अचेतन मन में आती हैं और वे अनेक प्रकार की बाधाएँ उसके काम में डालती रहती हैं। जब तक मनुष्य में मानसिक शक्ति रहती है तब तक वह अपनी वैयक्तिक वृद्धि की इच्छाओं को दबाए रखता है, किंतु जब अन्तर्द्वन्द्व के कारण मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाता है तो ये दबी हुई वासनाएँ अपने अपरिष्कृत रूप में ही बाहर चली आती हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि समय के पूर्व किसी व्यक्ति का घर-द्वार छोड़ देना उसके मानसिक विकास के लिये घातक होता है। सच्ची सामाजिक भावनाओं का उदय तभी होता है जब मनुष्य का जीवन पहले से ही सुचारु रूप से प्रवाहित हुआ हो। कृष्ण, राम और बुद्ध जैसे व्यक्ति में ही सच्ची सामाजिक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसे व्यक्तियों की नैतिकता दृढ़ भूमि पर स्थिर रहती है। किसी उद्वेग के कारण जो नतिकता बन जाती है वह बालू की भीत के सदृश हवा के झकोरों को सह नहीं सकती। जिन बालकों में प्रारंभ से ही सुशीलता और शिष्टाचार पाया जाता है, वे मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से ही त्रस्त रहते हैं और संसार का कुछ भी कल्याण नहीं कर पाते। उनकी दबी पाशविकता किसी प्रकार के मानसिक रोगों में प्रकाशित होती है।

मनुष्य के जीवन को सुचारु रूप से संचालित होने के लिये जिस प्रकार उसकी वैयक्तिक वृद्धि और समाज-सेवा की भावनाओं में साम्य होना आवश्यक है, उसी प्रकार उसकी अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी मनोवृत्तियों में भी साम्य होना आवश्यक है। मनुष्य के जीवन की तुलना सूर्य की गति से की जा सकती है। आधे दिन तक सूर्य ऊपर चढ़ता है, पीछे वह नीचे उतरता है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन में चालीस पैंतालीस वर्ष तक बहिर्मुखता की वृद्धि होती है, पीछे उसकी मनोवृत्ति स्वभावतः अन्तर्मुखी होने लगती है, अर्थात् वह संसार से विरक्त होने लगता है। पचास वर्ष की अवस्था हो जाने पर किसी भी मनुष्य को सांसारिक कार्यों में लगन नहीं रहती। उसका भीतरी मन आध्यात्मिक चिन्तन की ओर जाना चाहता है पर उचित शिक्षा न होने के कारण उस समय भी वह बहिर्मुखी बना रहता है जिस समय उसे अन्तर्मुखी अर्थात् आत्म-चिन्तक होना चाहिए। इसके कारण उसे अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। जो व्यक्ति अपने अति बुढ़ापे में समाज-संचालन का भार अपने ऊपर लेता है उसका जीवन कदापि सुविकसित नहीं माना जा सकता। बुढ़ापे में किसी प्रकार के अधिकार की इच्छा का होना मानसिक विषमता को दर्शाता है। अधिकार के साथ-साथ जिम्मेदारी आती है। इस जिम्मेदारी को वही पुरुष सम्हाल सकता है जिसे सांसारिक व्यवसाय में रुचि है और जो सोचता है कि उसे बहुत दिनों तक जीना है। पर बुढ़ापे में इस प्रकार की इच्छा अप्राकृतिक है अतएव इससे मनुष्य में मानसिक विषमता की उत्पत्ति होती है। कुछ काल के बाद उसकी लोक-सेवा, लोकनाश में परिणत हो जाती है। उसमें समय और परिस्थिति के अनुसार अपनी चाल बदलने की योग्यता न रहने के कारण वह संसार का हास्यास्पद व्यक्ति बन जाता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति एक दूसरे के पूरक हैं। प्रवृत्ति का अन्त निवृत्ति में होता है। पर निवृत्ति के उदय के लिये भी प्रवृत्ति की जिम्मेदारियों को पूरा करना आवश्यक है। कर्म प्रवृत्ति मार्ग का परिणाम है और ज्ञान निवृत्ति मार्ग का। कर्म के बाद ही आत्म-ज्ञान का उदय होता है। जब

कोई मनुष्य समय के पूर्व ज्ञान-चर्चा अथवा निवृत्ति-मार्ग में लग जाता है तो उसका जीवन समुचित रूप से विकसित न होकर अधूरा ही रह जाता है। इसकी प्रतिक्रिया उसको विक्षिप्तता की ओर ले जाती है अथवा वह देर तक उसे सांसारिक कामों के लगे रहने को बाध्य करती है। इसी प्रकार जब निवृत्ति की अवस्था आने पर भी मनुष्य प्रवृत्ति में ही लगा रहता है तो वह अनेक प्रकार की चिन्ताओं और मानसिक रोगों का दास बन जाता है।

मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक प्रकार की विरोधी प्रवृत्तियों का बना हुआ है। सुख और त्याग की इच्छा, अपने आपकी उन्नति और सेवा-भाव, संसार में लगन और संसार से विराग—ये रात और दिन के समान एक दूसरे के पूरक हैं। जहाँ दिन लम्बा होता है वहाँ कुछ काल के बाद रात भी लम्बी होती है। कहा जाता है कि इंगलैंड और उससे उत्तर में गर्मी के दिनों में रात को इतना प्रकाश रहता है कि मनुष्य उससे पुस्तक भी पढ़ ले सकता है। उत्तरी ध्रुव में तो छः महीनों तक दिन ही दिन रहता है। पर वहाँ की रात भी वैसी ही लम्बी और अंधकारमय होती है। किसी प्रकार की मानसिक भावना के प्रकाशित होने से उसकी विरुद्ध भावना का दमन होता है। इस दमन के परिणाम स्वरूप विरोधी भावना प्रबल हो जाती है और अपने समय की खोज में रहती है। जब पहली भावना अथवा शक्ति प्रकाशित होकर क्षीण बल हो जाती है तो दूसरी का समय आता है। सबसे बुरे स्वप्न उन्हीं लोगों को होते हैं जो अपनी जाग्रत अवस्था में आदर्श व्यक्ति अथवा साधु समझे जाते हैं। जाग्रतावस्था में जिन पाशविक प्रवृत्तियों का दमन होता है वे स्वप्नावस्था में, जब चेतना की नैतिक भावना शिथिल रहती है, निकलती हैं। मनुष्य की स्वप्नावस्था उसकी अर्ध-विक्षिप्तता है। इस प्रकार की विक्षिप्तता प्रत्येक व्यक्ति को प्रति दिन होती है। इस विक्षिप्तता का होना मनुष्य की जाग्रतावस्था के विचारों को स्वस्थ रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। अपनी स्वप्ना-वस्था में मनुष्य की प्रबल उत्तेजनाएँ प्रकाशित होकर शान्त होती हैं। जो व्यक्ति इस विक्षिप्तता से बचना चाहता है उसे अपने साधारण जीवन

में साम्य भाव लाना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये प्रतिबन्धित प्रवृत्तियों को प्रकाशन का उचित अवसर देना आवश्यक है। किन्तु जो लोग न तो स्वप्न में ही अनुचित दृश्य देखना चाहते हैं और न अपनी जाग्रतावस्था में, वे विक्षिप्तता की तैयारी करते हैं! मनुष्य की प्रबल उत्तेजनाएँ सब स्वप्न में भी अप्रकाशित रहती हैं तो वे अनिद्रा की बीमारी उत्पन्न कर देती हैं। इसके पश्चात् मनुष्य को अन्य प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दबी हुई प्रबल उत्तेजना ही अकारण चिन्ता और भय का कारण बनती है। जब प्रबल प्रवृत्तियों को प्रकाशन का अवसर मिल जाता है तो चिन्ता और भय शान्त हो जाते हैं।

युंग महाशय का सिद्धान्त

युंग महाशय को मनोवैज्ञानिक खोजों से पता चला कि किसी भी मानसिक प्रवृत्ति की अत्यधिक वृद्धि से दूसरी मानसिक प्रवृत्तियों का दमन होता है और इससे मानसिक विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जिस प्रकार बाह्य जगत में समीकरण का नियम कार्य करता है इसी प्रकार मानसिक जगत में भी समीकरण का नियम कार्य करता है। समीकरण का नियम हमारे स्वभाव में उत्पन्न विरोध का विनाश करता है, और साम्यावस्था लाने की चेष्टा करता है। किसी प्रकार की विशेषता उत्पन्न होना मानसिक विषमता का परिणाम है। इस प्रकार की विषमता से ही संसार की प्रगति होती है और इसी से मानसिक विक्षिप्तता भी उत्पन्न होती है।

मनुष्य की विभिन्न प्रकार की परस्पर विरोधी भावनाओं के बीच ध्रुवीकरण का नियम कार्य करता है। दो विरोधी मानसिक प्रवृत्तियों में वही संबंध है जो किसी चुम्बक के डंडे के दो ध्रुवों में है। जब तक लोहे के डंडे को नकारात्मक और सकारात्मक विद्युत् शक्ति को अलग नहीं किया जाता तब तक लोहा चुम्बक का रूप धारण नहीं करता, वह क्रियाहीन रहता है, पर जब हम उसकी एक प्रकार की शक्ति को उसके एक छोर पर एकत्रित कर लेते हैं तो उसमें अद्भुत कार्य करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस शक्ति के उत्पादन से डंडे की शक्तियों का विरोध प्रत्यक्ष

हो जाता है। ज्योंही लौह-दंड-यंत्र की सकारात्मक विद्युत शक्ति एक छोर पर एकत्रित होती है, त्योंही नकारात्मक विद्युत् शक्ति दूसरे छोर पर एकत्र हो जाती है। वास्तव में एक ही शक्ति दो विभिन्न प्रकार की शक्तियों में विभक्त हो जाती है।

मनुष्य की नैतिक भावनाओं और प्राकृतिक इच्छाओं में वैसा ही विरोध है, जैसा कि लोहे के डंडे के दो विभिन्न प्रकार की विद्युत शक्तियों में है। जब किसी मनुष्य के जीवन में नैतिक भावना अति प्रबल होती है, तो उसकी पाशविक भावनाओं का दमन होता है। जब नैतिक भावनाएँ मन रूपी डंडे के एक छोर पर एकत्र हो जाती हैं तो पाशविक भावनाएँ दूसरे छोर पर एकत्रित हो जाती हैं। जितनी प्रबल नैतिक भावनाएँ होती हैं, उतनी ही प्रबल पाशविक भावनाएँ होती हैं। जब नैतिक भावनाएँ प्रकाशित होती हैं, तो नैतिकता विरोधी भावनाएँ मनुष्य के अचेतन मन में दृढ़ता से बैठ जाती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की भावनाओं में सन्तुलन बना रहता है। जो मनुष्य महात्मापन के लिये जितना ही प्रसिद्ध रहता है, उसके अचेतन मन में उतनी ही अधिक भोग-लिप्साएँ प्रबल अवस्था में बनी रहती हैं। उनका प्रकाशन न होने से उनकी शक्ति का ह्रास नहीं होता।

किसी प्रकार की भावनाओं का प्रकाशन उनकी शक्ति का हरण कर लेता है, जब किसी प्रकार की शक्ति का बार बार प्रकाशन किया जाता है तो उस शक्ति का सम्पूर्ण ह्रास हो जाता है। ऐसी अवस्था में रिक्त स्थान को भरने के लिये विरोधी शक्ति का—जो अबतक अदृश्य रही—दौरान हो जाता है। जिस प्रकार किसी पदार्थ के एक केन्द्र पर एकत्रित सकारात्मक विद्युत को जब दूसरे पदार्थ के सम्पर्क द्वारा खींच लिया जाता है तो विरोधी केन्द्र पर एकत्रित नकारात्मक विद्युत संपूर्ण पदार्थ को पूरित कर देती है, इसी तरह जब मनुष्य अपने सदगुणों के लिये जगत में विख्यात हो जाता है तो फिर वह अपने सद्गुण से वंचित भी हो जाता है, इसके परिणामस्वरूप उसके जीवन में पहले के विरोधी गुणों की प्रबलता हो जाती है।

सन्त लोगों के प्रकाशित जीवन में इन्द्रिय-लिप्सा का दमन और ज्ञान की प्रबलता पाई जाती है। इससे इनके विरोधी भावों अर्थात् संवेगों और भोगेच्छा का दमन होता है। ये भाव साधुओं के अचेतन-मन में दबे बैठे रहते हैं। जैसे-जैसे उनके जीवन में अतिशयता आती है वैसे वैसे विरोधी भावों का अधिक दमन होता है। पर किसी शक्ति का प्रकाशन उसे नष्ट कर देता है। ज्ञान के खर्च होने से विरोधी अर्थात अशिष्ट भावों के चेतना में आने की रुकावट हट जाती है। रिक्त स्थान को भरने के लिये अब मनुष्य के अशिष्ट भाव तेजी से उसकी चेतना की ओर प्रवाहित हो जाते हैं। चेतना पर एकाएक प्रबल विरोधी भावनाओं के अधिकार कर लेने से मनुष्य में विक्षिप्तता आ जाती है। जब मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ अपरिस्कृत रूप में चेतना की सतह पर आ जाती है, तो मनुष्य की विवेक शक्ति का अन्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य जंगली पशु के समान व्यवहार करने लगता है। विक्षिप्तता की उत्पत्ति मानसिक समीकरण की क्रिया के फल स्वरूप है।

विक्षिप्तता की पूर्व अवस्था में मनुष्य का मन बहुत दुःखी रहता है। उसे प्रायः अपने वातावरण से असन्तोष रहता है। जहाँ उसे एक ओर भारी सफलता दिखाई देती है, वहाँ दूसरी ओर उसके विरोधियों का दल भी बढ़ता हुआ दिखाई देता है। वह अपने आपको परिस्थितियों से घोर संग्राम करते हुए पाता है। यह संग्राम भीतरी अन्तर्द्वन्द्व का आरोपण मात्र है। बाहरी परिस्थितियों से असंतोष अपने आपसे असंतोष का व्यक्त रूप है। इस प्रकार के असंतोष तथा द्वन्द्व का मूल कारण मनुष्य के जीवन में किसी प्रकार की अतिशयता को वृद्धि होती है। अपनी ही दलित भावनाएँ बाहर किसी पदार्थ अथवा व्यक्ति पर आरोपित होकर प्रकाशित होती हैं।

कभी-कभी दलित भावनाएँ अचेतन अथवा असावधानी की अवस्था में प्रकाशित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ किसी बात को भूल जाना, गाली दे उठना, अचानक विचित्र व्यवहार कर बैठना, सांकेतिक चेष्टाएँ करना, गन्दे अथवा भयावने स्वप्नों को देखना आदि मानसिक अनुभव दलित

भावों को व्यक्त करते हैं। जब भी हम किसी मनुष्य के व्यवहार में किसी प्रकार की विलक्षणता देखें तो हमें अप्रकाशित मानसिक रोग का संदेह करना चाहिये।

मानसिक रोग का आगमन मनुष्य की नैतिक और पाशविक भावनाओं में साम्य स्थापित करने से रोका जा सकता है। शारीरिक भोग की इच्छाओं का तिरस्कार करना उनसे मुक्त होने का उपाय नहीं है, वरन् विक्षिप्तता की सामग्री तैयार करना है। मनुष्य की पाशविक शक्तियों का शोध विचार के द्वारा किया जा सकता है। भोजन करना एक पाशविक कार्य है, इसी तरह भोग-विलास भी पाशविकता है। पर ये दोनों कार्य सभ्यता के विकास की सीढ़ी बनाई जा सकते हैं। दोनों ही कार्य पूर्ण होने से समाप्ति में आनन्द की वृद्धि करते हैं, और मनुष्य में दैविक भावों का संचार करते हैं। दमन से किसी भी प्रकार की मानसिक शक्ति का शोध नहीं होता।

मानसिक शक्ति का शोध उसे पहचानने और उसे उपयुक्त काम में लगाने से होता है। जब मनुष्य अपनी भोगेच्छाओं को घृणा की दृष्टि से देखने लगे, तो हमें समझना चाहिये कि वह आत्मविनाश अथवा विक्षिप्तता की तैयारी कर रहा है। जब राष्ट्र में नैतिकता की अति वृद्धि होती है, और भोगेच्छाओं की अवहेलना की जाती है, तो राष्ट्र का नैतिकता के पुजारी एक ओर और भोगेच्छुक दूसरी ओर एकत्र हो जाते हैं और राष्ट्र में अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य के आचरण में जब नैतिकता, त्याग, तप, सत्य आदि को इतना महत्व दिया जाता है कि उसकी मूल प्रवृत्तियों की कोई परवाह हो नहीं होती तो मनुष्य के व्यक्तित्व में विक्षिप्तता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे मिटाने के लिए मनुष्य के दोनों प्रकार के विरोधी भावों में साम्य स्थापित होना अत्यन्त आवश्यक है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

आधुनिक मानसिक चिकित्सा

मानसिक रोग बहुत पुराने काल से होते आये हैं। सभ्यता के विकास के साथ साथ इन रोगों की संख्या बढ़ती ही गई। पुराने समय की अपेक्षा आधुनिक काल के मानसिक रोग अधिक जटिल हैं। मानसिक रोगों की संख्या और उनकी जटिलता के साथ साथ उनकी उपचार-विधि के विषय में भी अनेक प्रकार की खोजें हुई हैं। प्राचीन काल में मन का विशेष ज्ञान न रहने पर भी उस समय के बहुत से रोगों की चिकित्सा सीधे-सादे तरीके से हो जाया करती थी। इस प्रकार की चिकित्सा कुछ लोगों को थोड़े समय के लिये रोग-मुक्त करती थी, और कुछ लोगों के रोग इस चिकित्सा से ही सब समय के लिए चले जाते थे। परन्तु आधुनिक काल में बिना गम्भीर मनोवैज्ञानिक ज्ञान के मानसिक रोगों की चिकित्सा में हाथ डालनेवाला व्यक्ति मूर्ख माना जाता है। मनोविज्ञान की सहायता से जो लाभ रोगी को पहुँचाया जा सकता है, वह अन्यथा नहीं पहुँचाया जा सकता। इस ज्ञान की कमी से कभी-कभी रोगी को लाभ की अपेक्षा हानि भी हो जाती है।

मानसिक रोगों की चिकित्सा प्राचीन काल से ही दो प्रकार से की जा रही है। पहिले शारीरिक चिकित्सा के द्वारा और दूसरे मन पर प्रभाव द्वारा। विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ दोनों तरह की चिकित्साओं में उन्नति हुई है। जो कार्य प्राचीन काल में वैद्य और हकीम लोग अपने शल्य-ज्ञान के आधार पर करते थे, वही काम आज एनाटोमी और फिजियोलाजी का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करके वैज्ञानिक ढंग से आधुनिक डाक्टर लोग करते हैं। इसी प्रकार मन को प्रभावित करने के लिए जिस तरह के अनेक स्थूल उपाय प्राचीन काल के जादूगर और ओझा लोग करते थे, अब अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ-समझ से सहायता लेकर आधुनिक मानसिक

चिकित्सक रोगी की गुप्त भावनाओं प्रवृत्तियों और उलझनों को जानकर उन्हें बदलने की चेष्टा करते हैं। आधुनिक मानसिक चिकित्सा प्राचीन काल की मानसिक चिकित्सा से अधिक सूक्ष्म और वैज्ञानिक बन गई है। आधुनिक मानसिक चिकित्सा का उद्देश्य प्राचीन काल के समान ही रोगी के मन को शरीर के द्वारा नहीं, वरन् मन के द्वारा ही प्रभावित करना, है।

आजकल के मानसिक चिकित्सालयों में रोगी के लाभार्थ दोनों प्रकार की विधियों से काम लिया जाता है, अर्थात् डाक्टरी विधि और मनोवैज्ञानिक विधि। पहिली विधि के अनुसार रोगी को औषधियाँ खिलाकर, इन्सोलिन का इन्जेक्शन देकर तथा विजली के झटके लगाकर लाभ पहुँचाने की चेष्टा की जाती है। शारीरिक क्रियाओं और अनुभूतियों का असर मनुष्य के मस्तिष्क पर अवश्य ही पड़ता है। मनुष्य को जब मानसिक रोग हो जाता है, तब उसकी सामान्य शारीरिक क्रियाओं में गड़वड़ी हो जाती है। बहुत से मानसिक रोगियों को अपच अथवा कोष्ठ-बद्धता का रोग हो जाता है और बहुतों को श्वास लेने में कठिनाई होती है। इसके कारण रुधिर-प्रवाह शरीर में ठीक से नहीं होता। अनेक प्रकार के विकृत मनोभावों तथा मानसिक ग्रन्थियों की उपस्थिति स्वास्थ्य-वर्द्धक क्रियाओं में बाधा डालती है। मुँह में लार पैदा करनेवाली और पाचन-शक्ति को बढ़ानेवाली शारीरिक ग्रन्थियाँ ठीक से काम नहीं करतीं। इसके प्रतिकूल जहरीले रस पैदा करने वाली ग्रन्थियाँ शरीर में उत्तेजना पैदा करनेवाले रसों का उत्पादन करती हैं। अतएव मानसिक रोग शारीरिक विकार उत्पन्न कर देते हैं। इनसे अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों की सृष्टि होती है। अब यदि शारीरिक रोगों की चिकित्सा न की जाए और शारीरिक विकारों को हटाया न जाय, तो मानसिक रोगों की चिकित्सा का होना कठिन हो जाये। मानसिक रोग जन्य शारीरिक रोग मानसिक रोगों को और भी बढ़ा देते हैं। लगातार होनेवाली चिन्ता मनुष्य के पेट में वायु-विकार पैदा कर देती है और फिर वायु का विकार मनुष्य की चिन्ता को बढ़ा देता है। अकारण चिन्ता की मनोवृत्ति से परेशान व्यक्ति किसी-न-किसी शारीरिक रोग से ग्रस्त हो ही जाता है। फिर वह इस रोग के कारण ही

चिन्तित रहने लगता है। अकारण चिन्ता किसी दबी वासना के कारण होती है। इसकी स्वीकृति रोगी नहीं करना चाहता। अतएव जब रोगी को कोई स्थूल प्रत्यक्ष चिन्ता करने का कारण मिल जाता है, तो उसे एक प्रकार की राहत मिल जाती है। चिन्ता का कारण न जानते हुए यदि मनुष्य को चिन्तित रहना पड़े, तो उसे विक्षिप्तता का भय हो जाता है। उसे बार-बार मन में डर लगता है कि कहीं मैं पागल न हो जाऊँ। जब ऐसे व्यक्ति को कोई प्रत्यक्ष, शारीरिक रोग हो जाता है, तब उसका अशान्त मन इस रोग के आसपास घूमने लगता है, अर्थात् वह व्यक्ति रोग के विषय में चिन्तित होने लगता है। उसकी चिन्ता की मनोवृत्ति ऐसे रोग पर आरोपित हो जाती है, जिसे उसका मन समझ सकता है। चिन्ता शारीरिक रोग को उत्पन्न करती है। फिर वह इस रोग को पकड़ कर बैठी रहती है। अब यदि हमें रोगी को चिन्ता-रहित बनाना है, तो पहिले रोगी को कोई शारीरिक औषधि देकर उसकी चिन्ता को आधार-हीन करना पड़ेगा। परन्तु यदि हम यहीं ठहर गए, तो फिर हम या तो रोगी को किसी दूसरे शारीरिक रोग में फँसा देंगे, वर्ना उसे पागलखाने की ओर जाने में सहायता देंगे।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि औषधियों का सेवन मानसिक उपचार के लिये बाधक न बनकर सहायक ही होता है। विशेष प्रकार के शारीरिक विकारों के कारण भी मनुष्य के मनोभाव अनायास ही दुखित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ जिस मनुष्य की पाचन-क्रिया ठीक नहीं है और जिसे कोष्ठ-बद्धता रहती है, उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। चिड़-चिड़े स्वभाव वाला व्यक्ति अपनी दोष दृष्टि के कारण अपने आस-पास गड़बड़ी ही गड़बड़ी देखता है। उसे अपने मित्रों और सम्बन्धियों में भलाई न दीख कर बुराई ही दीखती है। दूसरे लोगों के विषय में बार-बार चिन्तन करने से उसकी इच्छा-शक्ति और भी दुर्बल हो जाती है और वह छोटी छोटी बातों के लिये भी दूसरे लोगों से लड़ पड़ता है। ऐसे लोगों का जीवन दर्शन भी निराशावादी हो जाता है। शारीरिक स्वास्थ्य रहने पर मन में प्रसन्नता रहती है। मन की ऐसी अवस्था में प्रस-

न्नता पैदा करनेवाला अर्थात् आशावादी जीवन-दर्शन मनुष्य बनाता हैं। विकृत शारीरिक अवस्था में अनायास ही विकृत जीवन-दर्शन बन जाता है। इस प्रकार मानसिक रोग और भी बढ़ जाता है। अतएव यदि हम रोगी के विचारों को शारीरिक उपचार द्वारा एक बार प्रभावित कर दें, तो हम उसे उस दूषित चक्र से बचा लेते हैं, जिसमें पड़कर वह सदा रोगी ही बना रहता है। सभी हठी लोगों को कब्जियत का रोग रहता है। उनका हठ कब्जियत को बढ़ाता है और कब्जियत हठ को। मानसिक रोगी वाध्य होकर किसी ऐसी वात की चिन्ता करता रहता है, जिसे वह छोड़ना चाहता है, परन्तु वह छूटती नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि उसे कोई शारीरिक वेदना का झटका लगाया जाय तो उसकी पुरानी रट अपने आप टूट जाती है। कभी-कभी चलने में गिर पड़ने से, आग से शरीर कहीं जल जाने से, किसी प्रकार की चोट लग जाने से, एकाएक रोग समाप्त प्राय-सा हो जाता है। प्राचीनकाल में इस तरह के मानसिक रोग को हटाने के लिए मिर्च की धूनी दी जाती थी। रोगी को पीटा जाता था, और ठंढे पानी में डुबा दिया जाता था। कहा जाता था कि यह रोगी को नहीं, वरन् उस शैतान को ताड़ना दी जा रही है, जो उसको पकड़े हुए है। इससे कभी-कभी रोगी को लाभ भी होता था।

आधुनिक काल के मानसिक चिकित्सालयों में बिजली के झटके अथवा इन्सोलिन के इन्जेक्शन दिए जाते हैं। इन झटकों से रोगी को बेहोशी आ जाती है। वे बेहोशी में ऐंठते-कराहते हैं। कई दिनों तक इस प्रकार के झटके लगने पर रोगी को कुछ मानसिक लाभ होता है। बेहोशी की अवस्था में उसके मन के दबे हुए भाव साँकेतिक रूप से प्रकाशित होकर शान्त होते हैं। इन झटकों और इन्जेक्शनों से स्नायुओं का खिंचाव कम होता है और इससे रोगी की चिन्तन-प्रणाली में सुधार होता है।

मानसोपचार की आवश्यकता

उपर्युक्त शारीरिक औषधों द्वारा मन की विकृत क्रियाओं को सुधारने की चेष्टा अधूरी मानसिक चिकित्सा है। इस चिकित्सा से कभी-कभी लाभ

होता है, परन्तु, यह रोग के मूल कारण को नहीं हटाती। बार-बार दवाई, इन्जेक्शन और बिजली के झटके की चिकित्सा से रोगी की मानसिक संगठन-शक्ति पहिले की अपेक्षा अधिक दुर्बल हो जाती है। केवल भौतिक चिकित्सा पर अवलम्बित रोगी को स्थायी मानसिक स्वास्थ्य प्राप्त करना कठिन वस्तु है। जैसा कि एलिन ने अपनी "माडर्न डिसकवरीज इन मेडिकल साइकोलाजी" नामक पुस्तक में बताया है कि बिजली के झटके और इन्सोलिन चिकित्सा-प्रणाली का लाभ ऐसे ही लोगों को अधिक होता है, जो मनोविश्लेषण अथवा निर्देश चिकित्सा-प्रणाली से लाभ उठा सकते हैं। जिन लोगों का मानसिक रोग बहुत पुराना हो गया है; जिनकी मानसिक जटिलताएँ बहुत अधिक बढ़ गई हैं, और जिन्हें मनोवैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली से लाभान्वित नहीं किया जा सकता, उन्हें भौतिक उपचार से भी अधिक लाभ नहीं होता। परन्तु जहाँ मनोवैज्ञानिक उपचार की संभावना नहीं, वहाँ रोगी को या तो प्रकृति की कृपा पर छोड़ दिया जाता है, अथवा उसकी जो कुछ भौतिक चिकित्सा सम्भव है, की जाती है। क्लिफार्ड एलिन ने यह भी बताया है कि मानसिक चिकित्सालयों में की गई भौतिक चिकित्सा से जिन रोगियों को लाभ भी होता है, उन्हें भी बाद में मानसिक चिकित्सा की आवश्यकता रहती है। मानसिक रोगों का प्रधान कारण प्रबल मनोवेगों का दमन ही होता है। और किसी प्रकार की भौतिक चिकित्सा, इन मनोवेगों के रेचन, अथवा उनके उदात्तीकरण का उपाय नहीं खोजती। भौतिक चिकित्सा से मनोवेग दमित अवस्था में ही बने रहते हैं। इसके कारण रोग के बाहरी लक्षण तो शान्त हो जाते हैं, परन्तु उसका मूल कारण नहीं जाता है।

मानसिक रोगों की वैज्ञानिक चिकित्सा आधुनिक मनोविज्ञान की प्रमुख देन है। आधुनिक मनोविज्ञान को प्रगति करने में डा० फ्रायड की जितनी देन है, उतनी और किसी की नहीं। ये स्वयं डाक्टर थे, और सभी शारीरिक तथा मानसिक रोगों का उपचार करते थे। अपनी डाक्टरी अनुभव से इन्हें पता चला कि कुछ शारीरिक रोग ऐसे हैं, जिन्हें किसी

भौतिक उपचार से ठीक नहीं किया सकता। फिर हिस्टीरिया के रोग में कुछ विचित्र शारीरिक लक्षण दिखाई देते हैं। इसके उपचार का कोई साधन भौतिक रोग के चिकित्सकों के पास नहीं है। इस रोग का सम्बन्ध शारीरिक गड़बड़ी से भी नहीं दिखाई देता। अतएव डा० फ्रायड फ्रान्स के नेन्से नगर के डाक्टर इमिल कुए के पास इस रोग की उपचार-विधि सीखने गए। डा० इमिल कुए रोगी को आरोग्य का निर्देश देकर अथवा उसे सम्मोहित करके हिस्टीरिया के रोग का उपचार करते थे। वे अपनी चिकित्सा-प्रणाली को आत्म-निर्देश की चिकित्सा-प्रणाली कहते थे। इस चिकित्सा-प्रणाली में बहुत से लोगों को एक साथ स्वास्थ्यवर्द्धक निर्देश दिया जा सकता था। डा० इमिलकुए इस प्रणाली से न केवल मानसिक रोगों का उपचार करते थे, वरन् वे इससे शारीरिक रोगों का भी उपचार करते थे।

डा० इमिल कुए का कहना था कि मानसिक चिकित्सक की कुशलता इसी बात में है कि वह व्यक्ति के अचेतन मन की कार्य-प्रणाली को विशेष ओर मोड़ दे। मनुष्य का स्वास्थ्य, चाहे वह मानसिक हो अथवा शारीरिक, उसके अचेतन मन की चाह पर निर्भर है। अचेतन मन की यह चाह मनुष्य के चेतन मन की चाह तथा उसकी इच्छाओं में प्रकाशित होती है। कभी-कभी मनुष्य की इच्छा और कल्पना में विरोध रहता है; अर्थात् उसका चेतन मन एक बात चाहता है और अचेतन मन दूसरी। ऐसी स्थिति में यदि कोई व्यक्ति आरोग्य की इच्छा करे तो उसका रोग बढ़ जाएगा, और यदि सफलता की इच्छा करे, तो उसके असफल होने की संभावना बढ़ जाएगी। जैसे-जैसे उसकी इच्छा में प्रबलता होगी, तैसे-तैसे उसकी कल्पनाएँ विनाशकारी बनती जाएँगी। मानसिक रोगी की इच्छा और कल्पना में विरोध रहता है। अतएव मानसिक रोगी के आरोग्य की इच्छा करने से उसका रोग कम न होकर और भी बढ़ जाता है। यदि किसी प्रकार रोगी के अचेतन मन को स्वास्थ्य की ओर बढ़ा दिया जाए; अर्थात् यदि रोगी की कल्पनाओं में परिवर्त्तन हो जाए, तो रोगी को लाभ अवश्य होगा। रोगी का अचेतन मन तब तक प्रभावित नहीं होता,

जब तक कि रोगी का व्यक्तित्व खिंचाव की अवस्था में रहता है। यदि व्यक्तित्व का खिंचाव कम हो, तो रोगी के अचेतन मन को सरलता से प्रभावित किया जा सकता है। शरीर के शैथिलीकरण की अवस्था में अथवा नींद लगने के पूर्व की मानसिक अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व का खिंचाव बहुत कम हो जाता है। ऐसी स्थिति में यदि हम रोगी को स्वास्थ्य का निर्देश दें, तो वह अवश्य ही कार्यान्वित होता है। स्वयं रोगी भी अपने आपको मानसिक शैथिलीकरण की अवस्था में निर्देश देकर अपने रोग को समाप्त कर सकता है। सोते समय के शुभ आत्म निर्देश बड़े ही गुणकारी होते हैं। अतएव इमिल कुए ने बताया है कि रोगी को प्रति दिन यह बात सोने के पूर्व कहना चाहिए—"मैं प्रति-दिन हर तरह से उन्नति कर रहा हूँ।" इस बात को दोहराते-दोहराते उसे सो जाना चाहिए। वह देखेगा कि कुछ ही दिनों में उसका बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य सुधर गया है।

डा० इमिल कुए की उपर्युक्त चिकित्सा-प्रणाली से बहुत से रोगियों को लाभ होता था। इस प्रकार की निर्देश चिकित्सा-प्रणाली से हिस्टीरिया के बहुत से रोगी अच्छे हो जाते थे। डा० फ्रायड बहुत दिनों तक इमिल कुए के पास ठहरे। इस प्रकार के ठहरने का एक परिणाम यह हुआ कि जिन रोगियों को उन्होंने एक बार निर्देश चिकित्सा-प्रणाली से लाभान्वित होते देखा, उनमें से कुछ को कुछ महीने बाद फिर से रोगी बनकर आते हुए भी पाया। कुछ रोगी इमिल-कुए की चिकित्सा-विधि से बार-बार लाभान्वित होते थे और फिर बार-बार रोगी बनकर आते थे। डा० फ्रायड ने देखा कि इमिल कुए की चिकित्सा-विधि प्रायः वैसा ही काम करती है, जैसा कि ओझाओं की विधि करती है। ऐसी चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति को यह पता ही नहीं चलता कि रोगी को लाभ क्यों होता है। उसके रोग का ठीक-ठीक कारण जाने बिना रोगी को स्थायी लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता। किसी भी मानसिक रोगी को रोग अनायास नहीं होता। उसके मन के भीतर कुछ ऐसे विकार अवश्य रहते हैं, जिनके कारण उसे मानसिक बेचैनी और रोग होता है। अतएव डा०

फ्रायड ने मन के गम्भीर स्तरों की खोज करने का काम हाथ में लिया, जिसके परिणाम-स्वरूप मनोविश्लेषण विज्ञान का जन्म हुआ।

मनोविश्लेषण चिकित्सा प्रणाली

डा० फ्रायड ने रोगी के हाव-भाव, उसकी सांकेतिक चेष्टाएँ, उसकी भूलें, उसके स्वप्न और उसको जानी हुई घटनाओं का अध्ययन करके यह पता चलाया कि प्रत्येक मानसिक रोगी के भीतरी मन में एक भारी संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष का ज्ञान स्वयं रोगी को नहीं रहता। परन्तु यह संघर्ष मनुष्य को बेचैन दुःखी और चिन्तित बनाए रहता है। संघर्ष मनुष्य की भोगेच्छाओं और उसके नैतिक आदर्शों अथवा आत्म-सम्मान की भावनाओं के बीच होता है। जब तक यह संघर्ष मनुष्य की जानकारी में चलता है, तब तक उस पर नियंत्रण रखना सम्भव होता है। मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय का मार्ग निकाल ही लेता है,परन्तु अपने अचेतन मन में चलनेवाले संघर्ष की वह कोई रोग-थाम नहीं कर सकता। वह अचेतन मन की विरोधी प्रवृत्तियों में समन्वय स्थापित करने में असमर्थ होता है। जब तक विरोधी प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर नहीं लाया जाता, तब तक इनमें समन्वय स्थापित करना असम्भव है। डा० फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य के भोगात्मक सत्व का दमन मनुष्य का आदर्श सत्व अर्थात् सुपर इगो उसके अनजाने ही करता रहता है। इस दमन के परिणाम-स्वरूप ही मनुष्य को मानसिक रोग होते हैं। जब मनुष्य के भोगासक्त सत्व अर्थात् दमित इच्छाओं और रागात्मक वृत्तियों का प्रकाशन चेतना के स्तर पर हो जाता है, तो रोग की समाप्ति हो जाती है।

मनुष्य के भोगासक्त सत्व को खोजने के लिए उसकी इच्छाओं और रागात्मक प्रवृत्तियों को चेतना के स्तर पर लाने के लिए जिस विधि को काम में लाया जाता है, उसे मनोविश्लेषण-प्रणाली कहा जाता है। मनोविश्लेषण अचेतन मन की खोज की विधि को कहते हैं और इस खोज के आधार पर की जानेवाली चिकित्सा-विधि को भी कहते हैं। जिस प्रणाली से दमित रागात्मक वृत्तियों की शक्ति समाप्त होती है;

अर्थात् दमित भावों का रेचन होता है और जिसके परिणामस्वरूप मानसिक तथा शारीरिक रोगों की समाप्ति होती है, उसे भी मनोविश्लेषण-विधि कहा जाता है।

वास्तव में किसी व्यक्ति के अचेतन मन की छिपी इच्छाओं की खोज, और उसकी आरोग्य-प्राप्ति की प्रक्रिया दोनों ही साथ-साथ चलती हैं। किसी भी व्यक्ति को रोगी के अचेतन मन की वासनाओं का ठीक-ठीक ज्ञान तब तक नहीं हो सकता, जब तक स्वयं रोगी का अचेतन मन उस व्यक्ति अथवा चिकित्सक के सामने प्रकट होने के लिए इच्छुक न हो। अपने परम हितैषी के समक्ष ही रोगी का अचेतन मन प्रकट होता है, और उसके इस प्रकार के प्रकट होने से रोग की समाप्ति भी होती है। रोगी के अचेतन मन को जानने का सबसे महत्त्व का साधन उसके स्वप्नों का अध्ययन माना गया है। परन्तु जब तक रोगी का आन्तरिक मन रोग-मुक्ति नहीं चाहता, तब तक रोगी को स्वप्न ही नहीं होते। यदि होते भी हैं, तो वे उसे याद नहीं रहते। जब रोगी का भीतरी मन रोग-समाप्ति के लिए अधीर हो उठता है, तब रोगी को न केवल कई स्वप्न होते हैं, वरन् रोगी को वे याद भी रहते है और रोगी इन स्वप्नों को चिकित्सक के समक्ष सुनाने के लिए बहुत ही उत्सुक रहता है। इस प्रकार प्रतिदिन अपने स्वप्नों को सुनाते-सुनाते और उनका अर्थ जानते-जानते रोगी का जटिल-से-जटिल मानसिक रोग समाप्त हो जाता है।

मनोविश्लेषण चिकित्सा-प्रणाली के निम्नलिखित पाँच अंग हैं—

(१) रोगी के हाव-भाव और उसकी सांकेतिक चेष्टाओं का अध्ययन।

(२) उसके विलक्षण-कार्य-कलापों और भूलों का सूक्ष्म निरीक्षण।

(३) उसकी ज्ञात जीवनी का ज्ञान।

(४) सहज सम्बन्ध-द्वारा कल्पना के प्रवाह का अध्ययन, शारीरिक आराम की अवस्था में विचारों का प्रवाह देखना, चुने शब्दों के द्वारा उनका सम्बन्ध जानना तथा कुछ खास चित्रों के द्वारा उसके मनोभावों को ज्ञात करना।

(५) स्वप्न-अध्ययन।

(६) सम्मोहन का उपयोग।

(७) शब्द-सम्बन्ध।

अब हम एक-एक करके इन पर विचार करेंगे—

सांकेतिक चेष्टाओं का अध्ययन—रोगी का मन बेचैन रहता है। ये भावनाएँ मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल उसके अनजाने अनायास बाहर निकलती रहती हैं। ये विशेष प्रकार की निरर्थक चेष्टाओं का रूप ले लेती हैं। जब तक ये निरर्थक चेष्टाएँ रोगी के अनजाने होती हैं, तब तक इन्हें सांकेतिक चेष्टाएँ कहा जाता है, अर्थात् ये दमित भावना के संकेतमात्र हैं। इन्हें रोग नहीं कहा जाता। जब ये निरर्थक क्रियाएँ मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध उसकी जानकारी में ही प्रकाशित होने लगती हैं, तब इन्हें रोग कहा जाता है। इन रोगों की चर्चा बाध्य क्रियाओं के सम्बन्ध में कर चुके हैं। सांकेतिक चेष्टाएँ होठ, आँख, हाथ, पैर अथवा किसी दूसरे प्रकार की शारीरिक क्रियाओं के द्वारा प्रकाशित होती रहती हैं। हमारे पास आए हुए एक अठारह वर्षीय विद्यार्थी को अपना होठ काटने की झक-सी लगी हुई थी। यदि वह किसी से बातचीत करता रहता है तो बीच-बीच में वह अपने नीचे के ओंठ को दाँतों से दबाया करता है। यह आदत उसे आज ६ वर्षों से है। अब यह आदत उतनी अधिक नहीं है, जितनी पहिले थी। ओंठ का दबाना क्रोध का प्रतीक है। इस विद्यार्थी के जीवन की प्रमुख भावात्मक घटनाओं के अध्ययन से पता चला कि इसे एक महिला-द्वारा तिरस्कृत होने के कारण प्रबल क्रोध के विचार आए, जिन्हें वह किसी प्रकार प्रकाशित नहीं कर सका। इस व्यक्ति को बहुत ही कष्टदायक पेट का रोग हो गया था। इस रोग में रोगी को पीड़ा होती थी, परन्तु इसके कारण का कोई पता नहीं चलता था। एक्स-रे कराने पर पेट के रोग का कोई शारीरिक कारण नहीं दिखाई दिया।

इस रोगी को अपने बड़े भाई और भौजाई के द्वारा अपमानित होने के कारण प्रबल क्रोध के विचार मन में आए थे, जिन्हें वह प्रकाशित नहीं कर सका था। अब वे प्रतीक रूप से बाहर निकल रहे थे। रोगी की सांकेतिक चेष्टाओं का निरीक्षण करके हम उसके रोग की विलक्षणता

के विषय में कुछ अन्दाज लगा सके।

बहुत से व्यक्तियों को बातचीत करते समय हाथ मलने की आदत रहती है। यह आदत दमित निराशा के भाव को व्यक्त करती है। कुछ लोग हाथ धोने-जैसी चेष्टाएँ दूसरे लोगों से बातचीत करते समय करते रहते हैं। ये लोग अपने पाप की दमित भावना से प्रतीक रूप से मुक्त होने का प्रयास करते रहते हैं। ऐसे लोगों के स्वप्नों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनका अचेतन मन किसी विशेष प्रकार के पाप से भरा हुआ है, और जिस प्रकार लेडी मैकबेथ अपने चलित स्वप्न में राजा डंकन की हत्या के पाप से मुक्त होने की चेष्टा करती थी, उसी प्रकार ये लोग भी अपने अनजाने ही किसी पाप से अपने हाथ धोना चाहते हैं। इस पाप को ऐसे व्यक्तियों का चेतन मन नहीं जानता। यदि उसे इस पाप का ज्ञान भी हो, तो वह उसे छिपाने की कोशिश करेगा। ऐसे पाप का ज्ञान व्यक्ति के अचेतन मन को रहता है और वह इसे छिपाने की चेष्टा न कर उसे प्रकाश में लाने की ही चेष्टा करता है। अचेतन मन की इस प्रेरणा को व्यक्ति का चेतन मन सह नहीं सकता। अतएव अचेतन मन दबी हुई पाप-भावना को इस प्रकार प्रकाशित करता है, जिससे व्यक्ति का चेतन मन उसके प्रकाशन में रुकावट न डाल सके। सांकेतिक चेष्टाएँ इसी कारण से होती हैं।

कितने ही लोगों को बातचीत करते अथवा सभा में लेक्चर देते समय कोट के बटन को बार-बार टटोलने, मुँह पर बार-बार हाथ फेरने, कन्धों को हिलाने, छाती पर हाथ ले जाने, पैरों को हिलाने तथा ओंठ चाटने आदि की निरर्थक आदतें रहती हैं। ये सभी आदतें किन्हीं ऐसी भावनाओं को प्रतीक रूप से व्यक्त करती हैं, जिनके बिना आवरण के प्रकाशित होने पर रोगी को बड़ी ही आत्म-ग्लानि होगी। कोट का बटन बार-बार टटोलना प्रतीक रूप से स्तन-स्पर्श करना है। जिस व्यक्ति के बचपन की इस इच्छा का दमन हुआ है, उसे बटन टटोलते हुए बातजीत करने की आदत अनायास लग जाती है। निरर्थक जाँघ हिलाना प्रतीक रूप से काम-वासना की तृप्ति है। मुँह पर बार-बार हाथ फेरना दमित शर्म के

भाव को हटाने की चेष्टा है। बातचीत करते समय हृदय पर हाथ रखना अपने भावों को छिपाने की आन्तरिक इच्छा का प्रतीक है। बातचीत करने में फुसफुसाना दूसरे लोगों के प्रति अनादर के भाव का द्योतक है, जिसका कारण बचपन में स्वयं को आदर न मिलना होता है।

उपर्युक्त सांकेतिक चेष्टाओं को देखकर हम रोगी के दमित भाव को जान सकते हैं। किसी विशेष प्रकार की मानसिक समस्या के उपस्थित होने पर रोगी को कोई निरर्थक क्रिया करने की आदत लग जाती है। यह क्रिया उसके दमित मनोभाव को व्यक्त करती है। कुशल मनोवैज्ञानिक रोगी की निरर्थक शारीरिक चेष्टाओं का सूक्ष्मता से निरीक्षण करता है, और रोगी के जीवन की दूसरी घटनाओं की जानकारी प्राप्त कर उनका ठीक-ठीक अर्थ लगाने का यत्न करता है। इससे रोगी के आन्तरिक मन की स्थिति चिकित्सक को ज्ञात हो जाती है। इस प्रसंग में 'साइकालोजी एण्ड मारल्स' में प्रोफेसर हेडफील्ड-द्वारा दिया गया एक महिला का निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय है—

एक तीस वर्षीय युवती, प्रोफेसर हेडफील्ड के पास, अपनी मानसिक बेचैनी की समस्या लेकर आई। इस युवती को हाल ही में स्वप्न हुआ था कि रेल की दुर्घटना के होने से उसके पति को बहुत चोट आ गई है और उनके प्राण संकट में पड़ गए हैं। वह अपने पति के जीवन के विषय में अत्यधिक चिन्तित हो गई थी। उसके मन में बार-बार उनके सम्बन्ध में अशुभ विचार आते थे। वह बातचीत में अपने पति के प्रति बहुत ज्यादा प्यार बताती थी। बार-बार पति के प्यार की चर्चा करने के कारण प्रोफेसर हेडफील्ड के मन में संदेह हुआ, कि उसके भीतरी मन की स्थिति कहीं बाहरी मन के द्वारा अत्यधिक प्रकाशित भावनाओं के प्रतिकूल न हो। और यह महिला बातचीत के द्वारा अपने भीतरी विरोधी भावनाओं का केवल दमन मात्र न कर रही हो।

प्रोफेसर फिर सूक्ष्मता से उसकी शारीरिक चेष्टाओं को देखने लगे। अनायास उनकी दृष्टि इस महिला की उँगलियों पर पड़ी। यह महिला, प्रोफेसर हेडफील्ड से बातचीत करते समय अनजाने ही अपनी लग्न-

मुद्रिका को उँगली के बाहर निकालती, और उसमें डालती थी। यह उसके दमित मनोभाव की सांकेतिक चेष्टा बन गई थी। इस सांकेतिक चेष्टा को देखकर प्रोफेसर हेडफील्ड ने अनुमान किया कि यह महिला अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहती है, परन्तु अभी उसका निश्चय पक्का नहीं हुआ है। बात-बात में महिला ने अपनी भूलों की चर्चा करते समय प्रोफेसर हेडफील्ड से यह भी कह डाला कि, दो रोज पहिले, जब उसके पति बाहर से रेलगाड़ी द्वारा लौटकर आ रहे थे, और उन्हें लेने के लिए स्टेशन जाना उसके लिए आवश्यक था; तब वह रेल के आने का समयही भूल गई। वह स्टेशन पर गाड़ी आने के आध घंटे बाद पहुँची। उसके पति स्वयं अपना इन्तजाम करके जब घर पहुँचे, तो वह घर पर भी नहीं मिली। इस भूल से और भी स्पष्ट हो जाता है कि महिला अपने पति के सम्बन्ध से मुक्त होना चाहती थी। उसकी भूल उसी अर्थ को व्यक्त करती थी, जिसको उसका स्वप्न व्यक्त करता था और जो मनोभाव प्रतीक रूप से उसकी सांकेतिक चेष्टाओं से प्रकट होता था।

प्रोफेसर हेडफील्ड ने चुपचाप इस महिला की सारी बातें सुन लीं। उसे उसके स्वप्न का अर्थ नहीं बताया और इधर-उधर की बातचीत करके दूसरे समय के लिए टाल दिया। इसके थोड़े ही दिन बाद हेडफील्ड को ज्ञात हुआ कि इस महिला ने अपने पति को तलाक देकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। इस प्रकार उनका अनुमान ठीक सिद्ध हुआ।

विलक्षण कार्य-कलाप और भूल—जब मनुष्य अपनी किसी प्रबल भावना का दमन करता है, तो उससे विशेष प्रकार की भूल होने लगती है। कभी-कभी वह ऐसे विलक्षण कार्य अथवा बातचीत करता है, जिससे उसकी दमित भावना का अन्दाज लगाया जा सकता है। जो लोग किसी दूसरे व्यक्ति को भीतरी मन से बहुत ही हीनता की दृष्टि से देखते हैं; वे कभी-कभी ऐसे व्यक्ति के प्रति बातचीत और शिष्टाचार में अत्यधिक नम्रता दिखाते हैं। भीतरी मन के अनादर का भाव अत्यधिक आदर प्रदर्शित करके छिपाया जाता है। किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति क्रोध के विचार उसके प्रति अत्यधिक उदारता प्रदर्शित करके छिपाए

जाते हैं। मनुष्य अपने मन की दुर्बलता बहादुरी की डींग मारकर छिपाता है। कभी-कभी ये दमित भाव व्यक्ति की इच्छा के प्रतिकूल अचानक भूलों के रूप में प्रकाशित हो जाते हैं। अतएव भीतरी मन के भाव को जानने के लिये भूलों-द्वारा प्रकाशित कार्य कलापों को जानना और विलक्षण क्रियाओं को सूक्ष्मता से देखना नितान्त आवश्यक है। उक्त महिला के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार कुशल मनोवैज्ञानिक रोगी के अचेतन मन की जानकारी, उसकी विलक्षण चेष्टाओं और बातचीत तथा भूलों से कर लेता है। जिस बात को हम भीतरी मन से नहीं करना चाहते, उसे हम समय आने पर भूल जाते हैं। कभी-कभी हमें विशेष प्रकार के नामों की भूल होती है। जो नाम किसी प्रकार हमारे अपमान से सम्बन्धित रहते हैं, उन्हें हम यत्न करने पर भी स्मरण नहीं कर पाते। लेखक अपनी कक्षा की एक छात्रा का नाम बार-बार भूल जाता था और उसका नाम बार-बार पूछना पड़ता था। एक बार लेखक ने स्वप्न में देखा कि उस छात्रा से बार-बार नाम पूछने पर उसने एक बार चिढ़कर कहा कि आप भीतरी मन से मुझे अवश्य घृणा करते हैं, अन्यथा मेरा नाम इतनी बार आप न पूछते। उसकी इस बात को सुनकर घबड़ाहट में नींद खुल पड़ी। लेखक के चेतन मन में इस महिला के प्रति द्वेष की कोई भावना न थी, परन्तु उसे यह भी ज्ञात था कि मनुष्य का अचेतन मन उसे कभी धोखा नहीं देता। अतएव बहुत पुरानी घटनाओं को याद किया गया। उनके विषय में विचार करने से पता चला कि यह महिला एक ऐसे व्यक्ति को संरक्षण में रहती थी, जो ऊपर से लेखक का आदर करता था, परन्तु भीतर से घृणा के भाव रखता था। एक बार इस छात्रा ने कक्षा में दिए गए एक लेख में एक दूसरी छात्रा द्वारा लिखे गए लेख की पूरा नकल कर डाली थी। इससे उस छात्रा के प्रति बहुत ही हीनता के भाव आ गए थे। वह उसके नाम को याद भी नहीं रखना चाहता था। जब अपने मन की यह ग्रन्थि खुल गई, तब उसका नाम भूलना बन्द हो गया। पीछे इस महिला को लेखक से बहुत सहायता लेने की आवश्यकता पड़ी और अपनी मानसिक ग्रन्थि खुल जाने के कारण वह

उसकी सहायता भी कर सका।

ज्ञात जीवनी का अध्ययन

उपर्युक्त दो प्रकार की विधियों से मनोवैज्ञानिक रोगी के आन्तरिक मन की परिस्थिति का अन्दाज लगाता है। इस अन्दाज के लगाने में मनोवैज्ञानिक से भूलें भी हो सकती हैं। रोगी के भीतरी मन का ज्ञान उसके अनजाने मनोभावों को प्रकाशित करने की चेष्टा से ही होता है। मानसिक रोगी स्वयं आरोग्यलाभ का इच्छुक होता है। जब तक उसकी यह इच्छा बहुत प्रबल नहीं होती तब तक उसे किसी प्रकार लाभ पहुँचाना असम्भव है। बहुत से मानसिक रोगी अपने रोग की चर्चा तो बड़े विस्तार के साथ सुनाते हैं, परन्तु उसके कारण के विषय में कुछ भी व्यक्त नहीं करते। उन्हें यह विचार भी नहीं आता कि उनके रोग का कोई विशेष कारण भी हो सकता है। जिस प्रकार भौतिक डाक्टर से पेट का रोगी अपनी पीड़ा की विशेषता बताता है और आशा करता है कि डाक्टर उसको कोई पुड़िया देकर लाभ पहुँचा दे, उसी प्रकार मानसिक रोगी भी अपने रोग की विशेषता कभी-कभी घंटों सुनाता रहता है और आशा करता है कि चिकित्सक उसे किसी प्रकार का जादू-टोना करके लाभ पहुँचा देगा। परन्तु मनोविश्लेषण चिकित्सा-प्रणाली दूसरे ही प्रकार की है। इसमें रोग का कारण जानना पड़ता है।

रोग का कारण जानने के लिये रोगी के बचपन से लेकर रोग के आने तक की सभी भावात्मक घटनाओं को जानना पड़ता है। इन घटनाओं से रोगी के रोग का कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। परन्तु रोगी के चेतन मन द्वारा याद की गई घटनायें रोगके उत्पादन में उतना महत्व नहीं रखती, जितना की भूली हुई घटनायें। स्नेह के वातावरण में ये रोगी को अचानक याद आ जाती है। इस प्रकार की घटनाओं को लिख डालने से अथवा मानसिक चिकित्सक को सुना देने से रोगी को लाभ अवश्य होता है।

किसी प्रकार के मानसिक रोग की समाप्ति के लिए रोगी को ऐसी बातें स्मरण करना नितांत आवश्यक है जो याद आने पर उसे अत्यन्त

लज्जा, शोक, अथवा भय के भाव मन में उत्पन्न करें। रोग की समाप्ति इनके चेतना के स्तर पर आने से होती है। अतएव रोगी के जीवन की सभी अप्रिय घटनाओं को उसे स्मरण कराना पड़ता है। कभी कभी रोगी अपने पत्र में जीवन की सभी ऐसी भावात्मक घटनाओं को लिख डालता है, जो सहज में ही उसे धीरे धीरे स्मरण आती जाती हैं। रोगी के बचपन की किशोर अवस्था की घटनाओं का रोग की उत्पत्ति में विशेष कारण होता है। मन की अधिक खिंचाव की अवस्था में रोगी को वे घटना सरलता से याद नहीं आतीं जिनमें उनके रोग का कारण रहता है। इस खिंचाव को कम करने के लिये रोगी से विशेष स्नेह से व्यवहार करना पड़ता है। स्नेह के वातावरण में रोगी के भीतरी मन के भय का भाव अनायास कम हो जाता है, और उसका मानसिक खिंचाव भी घट जाता है। ऐसी अवस्था में रोगी चिकित्सक से उन सभी बातों को कहना चाहता है जो उसके अपने मित्रों और सम्बन्धियों से समाज में सम्मान खोने के भय के कारण छिपा रक्खी हैं। और जिन्हें स्मरण करना नितान्त कठिन था। बहुत से रोगियों का रोग अपनी भावात्मक घटनाओं को लिखते लिखते ही समाप्त हो जाता है। रोगी से आत्म-कथा लिखाने का मुख्य प्रयोजन यह नहीं है कि हम रोगी के चरित्र को जान-कर फिर उसकी चिकित्सा करें, वरन सहज भाव से लिखी गई जीवनी स्वयं ही मानसिक चिकित्सा है। जो रोगी जितना ही अपने चिकित्सक के प्रति इस कार्य में सचाई का भाव रखता है उसे लाभ उतना ही अधिक होता है। चिकित्सक के प्रति श्रद्धा और विश्वास का भाव उसे अपनी लज्जास्पद दमित अनुभूतियों को याद करने में सहायक होता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि मानसिक रोगियों की जीवनी उन लोगों के समान नहीं होती जैसी संसार के नेताओं की आत्मकथायें होती हैं। ये आत्म-कथायें नेताओं को जनता पर प्रभाव बढ़ाने का साधन होती हैं। और प्रायः राजनैतिक हेतु से लिखी जाती हैं। इन आत्म-कथाओं में जो भूलों की आत्म स्वीकृति पाई जाती है, वह भी अपनी महानता के प्रदर्शन के निमित्त की जाती है। रोगी की आत्म कथायें बहुत कुछ

दुख से भरी रहती हैं। रोगी इन्हें चिकित्सक के अतिरिक्त और किसी को भी बताना नहीं चाहेगा। इनके प्रकाशित होने पर उसे लोक सम्मान न मिलकर लोक निन्दा ही मिलेगी, जो रोगी जितना ही अधिक ऐसी बातों को अपनी भावात्मक आत्म-कथा में लिखता है उसे लाभ भी उतना ही होता है।

अपनी भूलों को स्वीकार करते समय रोगी को तभी लाभ होता है जब वह उन भूलों को माने। जिस दुख को उसने भुलाने की चेष्टा की थी उसी दुख का अनुभव अपनी जीवनीको लिखते समय रोगी करता है, तभी उसे वास्तविक लाभ होता है। जिन घटनाओं को प्रकाशित करने में रोगी को किसी प्रकार के शोक, लज्जा, भय के भाव का अनुभव नहीं होता उन घटनाओं को लिखने से उसे अपने रोग को घटाने में लाभ नहीं होता। देखा गया है कि कुछ जटिल मानसिक रोगी अपने जीवन की मार्मिक घटनाओं को लिखते लिखते, अथवा चिकित्सक को सुनाते सुनाते रो पड़ते है। ऐसी ही घटना में रोग का कारण होता है। इन घटनाओं के लिखने अथवा कहने से ही रोग की समाप्ति होती है।

सहज सम्बन्ध-द्वारा कल्पना के प्रवाह का अध्ययन

डा० फ्रायड आन्तरिक मन की जानकारी करने के लिए सहज-सम्बन्ध की विधि का प्रयोग करते थे। इस विधि में रोगी को एक शान्त कमरे में ले जाकर बिस्तर पर लेटा दिया जाता है और उसे अपने सभी अंग ढीले करने को कहा जाता है। रोगी अपनी आँखें मूँद लेता है। फिर रोगी को मन में अनायास आनेवाली सभी बातों को जैसे वे आती जाएँ कहने के लिये कहा जाता है। इस प्रकार कभी-कभी रोगी के मन में बड़ी ऊट-पटाँग अथवा वीभत्स कल्पनायें आती हैं। कभी उसे बचपन की भूली हुई घटनायें एकाएक ही याद आ जाती हैं। इन कल्पनाओं का रोगी के रोग से सम्बन्ध रहता है। रोगी जितना ही शैथिलीकरण की अवस्था में आ जाये और जितना ही रोगी और चिकित्सक के बीच में सहानुभूति और हार्दिक एकत्व हो जाये, उतना ही इस विधि से लाभ होता है। रोगी अपनी सभी लज्जा, ग्लानि, द्वेष, निराशा आदि से भरी हुई बातों

को बिना रोक टोक के चिकित्सक के सामने कहता जाता है। इससे रोगी को बड़ा ही लाभ होता है।

दबी हुई भावनाओं को चेतना के स्तर पर लाने के लिये यह आवश्यक है कि रोगी में अभिमान की कमी हो। रोगी का अभिमान बढ़ा-चढ़ा रहता है और इसके कारण वह अपने मन की बातें किसी दूसरे व्यक्ति के समक्ष व्यक्त नहीं करना चाहता। जिन बातों को रोगी दूसरों से नहीं कहना चाहता, वे स्वयं उसे भी याद नहीं आतीं। जब चिकित्सक और रोगी में हृदय की एकता हो जाती है, तो रोगी का अभिमान कम हो जाता है और सहज में ही उसको सभी बातें याद आने लगती हैं। प्रेम द्वैत-भाव का अन्त करता है। इससे अभिमान की कमी होती है और छिपाने की मनोवृत्ति का अन्त होता है। यदि रोगी और चिकित्सक में बहुत घनिष्टता हो, तो रोगी की साधारण बातचीत में भी उसके रोग से सम्बन्धित वे बातें उसे याद आ जाती हैं, जो इस घनिष्टता के अभाव में सहज-सम्बन्ध की अवस्था में भी नहीं आतीं। इस प्रकार स्नेह के द्वारा किसी भी रोगी से प्रतिदिन बातचीत करके स्थायी लाभ पहुँचाया जा सकता है। डा० ब्रूअर ने इसी तरह हिस्टीरिया रोग से पीड़ित एक महिला की बातचीत महीनों सुनकर अनायास ही उसे उसके जटिल रोग से मुक्त कर दिया। डा० ब्रूअर को अपनी ही सफलता पर आश्चर्य हुआ। इसी समय से सहज-सम्बन्ध द्वारा मानसिक चिकित्सा-विधि का जन्म हुआ।

कोई भी मानसिक रोगी अपने स्नेही को पत्र द्वारा मनोभाव प्रकाशित करके लाभान्वित हो सकता है। मनुष्य पत्र लिखने में जितना सच्चा रहता है, उतना दूसरे समय सच्चा नहीं रहता। अपने स्नेही को पत्र लिखते समय ऐसी बहुत-सी बातें याद आ जाती हैं, जो हमें अन्यथा याद नहीं रहती और इन बातों को व्यक्त करके अपने मन का भार हम उतार लेते हैं। किसी पत्र को लिखने मात्र से ही यह लाभ हो जाता है। कभी-कभी ये पत्र फाड़ दिए जाते हैं अथवा लेटर बक्स में नहीं डाले जाते। तब भी इससे रोगी को लाभ होता है।

सहज सम्बन्ध की इस विधि से केवल रोगी की आन्तरिक स्थिति का ज्ञान ही नहीं होता, वरन् इससे रोग का अन्त हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक की छात्रा का अपने ही ऊपर किया गया निम्नलिखित प्रयोग उल्लेखनीय है, छात्रा लिखती है—

'मैं बचपन से ही बड़ी भावुक हूँ। बहुधा लोग मेरे इस स्वभाव के कारण मेरी हँसी उड़ाया करते हैं। बचपन में जाड़े की दोपहरी में खड़ी होकर जब कभी मैं दूर सारे क्षितिज की ओर देखती तो एक अज्ञात वेदना से मेरा मन भर उठता था और यदि उसी समय मुझे रेल की सीटी सुनाई दे जाती तो आँखों से आँसू गिरे बिना न रहते। सारा वातावरण सूना लगता; अनुभव होता दुनिया में कोई अपना नहीं है और रेल की सीटी की आवाज तुरन्त ही यह विचार उत्पन्न करती कि कितने ही लोगों को यह अपने घरवालों से दूर करने जा रही है। अब यद्यपि रेल की सीटी सुनने पर आँसू नहीं गिरते तथापि जाड़े की दोपहर का सूना वातावरण और रेल की सीटी की आवाज अब भी मन में एक प्रकार का अज्ञात अवसाद भर देती है। और पतझड़ में पीपल के गिरते हुए पत्तों को देखने में आज भी अपने को असमर्थ पाती हूँ। कितनी ही बार इसके लिये मेरी सहेलियों ने मेरा उपहास किया है। परन्तु कारण अज्ञात होने पर भी यह अनुभूति होती ही है। इन बातों का इस प्रसंग में उल्लेख करने का केवल यही तात्पर्य है कि जिस व्यक्ति के जीवन में इस प्रकार की अनुभूतियाँ जड़ पदार्थों से प्राप्त हो सकती हैं, उसके लिए जीवन में मानसिक द्वन्द्वों का सामना करना तो नित्य का ही काम होगा। आरम्भ से ही इस प्रकार के संघर्षों का सामना करने का परिणाम यह हुआ कि मानसिक शान्ति खोने के साथ ही मेरे स्वास्थ्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा और बीमारियों ने मेरे शरीर को अपना घर बना लिया, यद्यपि मुझे इसमें जरा भी विश्वास नहीं है कि मेरे शारीरिक रोग का मुख्य कारण मेरा मानसिक द्वन्द्व ही था क्योंकि मुझ पर रोग का प्रथम आक्रमण उस समय हुआ था जब कि मेरी आयु केवल बारह साल की थी और खेलना-खाना, स्कूल जाना एवं प्रसन्न रहना यही मेरे कार्य थे

अर्थात् मन एवं शरीर के स्वाभाविक विकास में किसी भी प्रकार का अवरोध नहीं था; तथापि अब मैं इतना अवश्य कह सकती हूँ कि आगे चलकर इसके शीघ्र नष्ट न होने का कारण मेरी मानसिक अशान्ति अवश्य थी। अपने मानसिक द्वन्द्वों से उत्पन्न अशान्ति को दूर करने का एक उपाय मुझे अनजाने में ही मिल गया। एक बार कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई जिसके कारण करुणा, क्रोध एवं भय इन तीनों संवेगों का आपस में द्वन्द्व आरम्भ हो गया। यह तो सभी जानते हैं कि जब क्रोध अपने को प्रकाशित करने में असमर्थ हो जाता है तो दुःख के रूप में आँसू बनकर निकलता है। किन्तु घंटों रो लेने के बाद भी जब मन को किसी प्रकार शान्ति न मिली तब मैंने मन को शान्त करने के लिये अपनी एक सहेली को पत्र लिखना आरम्भ किया और उस पत्र में उस घटना विशेष की तथा अपने मन में आनेवाले भावों को आदि से अन्ततक लिख गई। पत्र लिख लेने के बाद मेरा मन बहुत हल्का एवं शान्त हो गया था, किन्तु उस पत्र को मैं लिफाफा न रहने के कारण उस दिन भेज न सकी। दूसरे दिन मन बिलकुल शान्त था और पहले दिन की घटना की स्मृति भी कुछ हल्की हो चुकी थी। अस्तु, जब दूसरे दिन मैंने उस पत्र को स्वयं पढ़ा तो मुझे अपनी लिखी बहुत सी बातों पर स्वयं ही हँसी आ गई, और मैंने पत्र उठाकर रख दिया। उसी दिन से जब कभी मन की ऐसी अवस्था होती है जबकि प्रयत्न करने पर भी शान्ति नहीं प्राप्त होती अथवा किसी अनिच्छित बात को मैं मन में बार-बार आने से रोकने में असमर्थ हो जाती हूँ तो उसे पत्र अथवा लेख के रूप में लिख-कर रख लेती हूँ और इसके बाद मन को स्वयं शान्ति प्राप्त हो जाती है। बहुधा निराशापूर्ण विचारों ने जीवन के प्रति उदासीन बना दिया है, किन्तु उन विचारों को दूर करने के लिये भी मैंने इसी साधन का उप-योग किया है। इससे मन को उतना ही संतोष प्राप्त होता है जितना क्रोध, दुःख, समवेदना, प्रेम इत्यादि भावनाओं को किसी के समक्ष प्रकाशित कर लेने के बाद। परन्तु इस प्रकार पत्र का आश्रय तभी लेती हूँ जब कि मैं किसी के भी पास बोलकर अपना दुःख प्रकाशित नहीं कर पाती।"

शब्द-सम्बन्ध

डा० चार्ल्स युंग ने रोगी की मनोस्थिति को जानने के लिए शब्द-सम्बन्ध की प्रणाली का आविष्कार किया है। इस प्रणाली में रोगी को आराम से एक कुर्सी पर बैठा दिया जाता है और दूसरी कुर्सी पर चिकित्सक बैठता है। वह कुछ चुने हुए शब्दों को रोगी को सुनाता है और उसके मन में तुरन्त आनेवाले शब्द को कहने के लिए कहता है। मान लीजिए कि उसने शब्द कहा 'कुर्सी' और रोगी के मन में एका-एक 'टेबुल' शब्द आये, तो वह उसे तुरन्त ही चिकित्सक को कह देगा। चिकित्सक के पास एक स्टाप वाच रहती है, इससे रोगी की प्रतिक्रिया का समय ठीक-ठीक सेकेंड के हिसाब में लिख लिया जाता है। साधारणतः रोगी एक-दो सेकेंड में प्रत्येक शब्द का जवाब देता जाता है। परन्तु जिस शब्द का सम्बन्ध रोगी के रोग से होता है, उसका जवाब वह दस-पन्द्रह सेकेंड अथवा एक मिनट में देता है और ऐसे शब्दों के उत्तर भी बड़े विलक्षण होते हैं।

चिकित्सक ऐसे शब्दों की एक लम्बी लिस्ट तैयार कर लेता है, जो साधारण से होते हैं। रोगी की मनोस्थिति का अध्ययन करके वह बीच बीच में ऐसे शब्दों को डाल देता है, जो उसके अनुमान में उसके रोग से सम्बन्ध रखते हैं। इन शब्दों को मार्मिक शब्द कहा जाता है। मार्मिक शब्द के सुनते ही रोगी विशेष प्रकार की परेशानी में पड़ जाता है। उस शब्द से जिस बात का सहज सम्बन्ध है, उसे उसका अचेतन मन बाहर नहीं आने देना चाहता। अतएव ऐसे शब्दों के उत्तर में देर लगती है। इस प्रकार की देर से चिकित्सक रोगी की आन्तरिक मनोस्थिति का ज्ञान करता है। पीछे वह इस मनोस्थिति की स्वीकृति रोगी से कराता है। इस आत्म-स्वीकृति से रोगी को लाभ होता है।

युंग और पिटरसन का किया हुआ निम्नलिखित प्रयोग इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। यह सहज शब्द-सम्बन्ध की विधि को भली प्रकार स्पष्ट करता है। यहाँ पर 'उत्तेजक शब्द' उसका उत्तर और उत्तर देने का समय दिया गया है। उत्तर देते समय परीक्षार्थी को सोचने नहीं

दिया जाता, सहसा जो कुछ मन में आए कह देना पड़ता है।

सं०	उत्तेजक शब्द	उत्तर का शब्द	समय सेकेन्ड में
१	शिर	बाल	१.४
२	हरा	मैदान	१.७
३	पानी	गहरा	५.०
४	छड़ी	चाकू	१.६
५	लम्बा	टेबुल	१.२
६	फिसलना	डूब जाना	३.४
७	पूछना	उत्तर देना	१.६
८	ऊन	बुनना	१.६
९	घृणित	प्रिय	१.४
१०	झील	पानी	४.०
११	बीमार	स्वस्थ	१.८
१२	स्याही	काली	१.२
१३	तैरना	तैर सकना	३.८

हम देखते हैं कि उत्तेजक शब्द ३, ६, १०, १३ के उत्तर में समय अधिक लगा है और तेरहवें शब्द की उत्तेजना पर एक विचित्र उत्तर मिला। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति के अन्दर एक ऐसी भावना ग्रन्थि है जिसका सम्बन्ध पानी से है। इसलिए ये उत्तर जिनका सम्बन्ध भावना ग्रन्थि से है, देर में मिले हैं। अव्यक्त मन नहीं चाहता कि उसकी सच्ची इच्छा मालूम हो जाय, और उसकी अभिलाषा की पूर्त्ति में बाधा पड़े। उपर्युक्त दृष्टान्त में युंग के अनुसार पानी में डूब मरने की भावना ग्रन्थि परीक्षार्थी के मन में विद्यमान थी।

जिन शब्दों से दबी हुई भावना का पता चलता है उनको चित्त विश्लेषण शास्त्र में ग्रन्थि सूचक शब्द (नोडल आइडिया) कहते हैं। कई एक परीक्षाओं में देखा गया है कि इन शब्दों के कहने पर परीक्षार्थी के मस्तिष्क में ऐसे शब्द आते हैं जिनका उस शब्द से सामान्यतः कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। साधारणतया स्मृति के नियम के अनुसार

कोई शब्द या तो उसके समान भाव की याद दिलाता है या विपरीत भाव की याद दिलाता है, जो उसके साथ ही अनुभूत हुआ हो। पर किसी विशेष अवस्था में अथवा विक्षिप्तता में ये सब नियम काम नहीं देते। यहाँ पर सामान्य सम्बन्धी को अव्यक्त की दबी हुई भावना काट देती है और तब व्यक्ति को सामान्य विषय भी विस्मरण होने लगते हैं।

निरर्थक चित्र प्रदर्शन

रोगी की मनोःस्थिति को जानने के लिए कभी-कभी उसे निरर्थक चित्र दिखाये जाते हैं और उससे कहा जाता है कि उसके मन में जो कुछ भाव और कल्पना आये उन्हें वह बिना रुकावट के तुरन्त कहता जाय। कभी-कभी उसे इन चित्रों के आधार पर एक कहानी लिखनी पड़ती है। इस प्रकार उसकी अव्यक्त भावना एक सार्थक रूप लेकर बाहर आजाती है। निरर्थक चित्रों को देखकर रोगी के मन में वे ही विचार प्रायः आजाते हैं जो उनके मन में दबे हुए हैं और जो छिपकर बाहर आने के लिये लालायित हैं। निरर्थक चित्रों में चोर एक सिपाही को देखेगा, डरपोक बालक पिशाच को देखेगा, धन का लोभी चोर को देखेगा, कवि किसी प्रेयसी के प्रेम में पागल युवक को देखेगा और शुद्ध वैज्ञानिक निरर्थक चित्र को ही देखेगा। बालकगण आकाश में उपस्थित बादलों के टुकड़ों को देखकर इसी प्रकार की अनेक कल्पनायें करते हैं। इसी प्रकार की मनोवृत्ति के आधार पर रोशा महाशय ने रोशा टेस्ट बनाये हैं। इन परीक्षाओं में रोगी को कुछ स्याही के धब्बे जो पुस्तक में छपे रहते हैं, दिखाये जाते हैं और उनको देखने पर जो कल्पनायें उनके मन में उठती हैं उन्हें लिखने को कहा जाता है। इस प्रकार चिकित्सक को रोगी के दबे भावोंका पता चलता है। ये धब्बे इस प्रकार बनाये गये हैं कि कोरे कागज पर स्याही गिर जाने पर और फिर दूसरा कोरा कागज उसके ऊपर चपका देने से अपने आप निरर्थक चित्र बन जाता है। इन निरर्थक चित्रों का अर्थ रोगी अपनी दमित भावना के अनुसार लगाता है।

स्वप्न-अध्ययन

रोग की समाप्ति में रोगी के स्वप्न का अध्ययन बड़ा ही महत्व रखता है। वास्तव में आधुनिक मानसिक चिकित्सा का मूल आधार यही स्वप्न अध्ययन है। स्वप्न की मानव जीवन में महत्ता, उसकी विशेष रचना प्रणाली, उसके अर्थ और मानसिक चिकित्सा में उनके उपयोग पर हम अगले प्रकरण में चर्चा करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि रोगी के अचेतन मन से सम्पर्क स्थापित करने में स्वप्न एक बड़े महत्व का साधन है। यदि हम रोगी के लिये कुछ भी न कर सकें और उसके स्वप्नों को नित्य प्रति सुनते रहें तो हम अपने अनजाने ही उसे भारी लाभ पहुँचा देंगे। हम देखेंगे कि धीरे-धीरे उसके स्वप्न अधिक स्पष्ट होते जाते हैं और उसकी दमित वासना चेतना के स्तर पर विना अपने को छिपाये ही आने लगती है। जब ऐसा होने लगे तो हमें समझना चाहिये कि रोगी स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।

संमोहन

संमोहन के स्वरूप तथा उसकी मानसिक चिकित्सा में उपयोगिता पर विस्तृत विचार अगले प्रकरण में किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि मानसिक चिकित्सामें इसका भी महत्व का स्थान है। पुराने समय में संमोहन से ही मानसिक रोगों की चिकित्सा की जाती थी। आज भी कुछ लोग इसका प्रयोग हिस्टीरिया आदि रोगों की चिकित्सा में करते हैं। परन्तु जैसे-जैसे मनोविज्ञान का ज्ञान बढ़ता जाता है संमोहन प्रणाली का मानसिक चिकित्सा में उपयोग कम होता जाता है। बार-बार रोगी को संमोहित करने से उसका रोग घटने के बदले और बढ़ जाता है। संमोहन में मन का विभाजन उसी प्रकार होता है जिस प्रकार हिस्टीरिया में होता है। अतएव मन के विभाजन के अभ्यास को कराने से रोगी को हानि होना स्वभाविक है।

संमोहन का चिकित्सा में इतना ही उपयोग है कि उससे रोगी के उस दमित भाव को जाना जा सकता है जिसके कारण उसे रोग हुआ। इस रोग सम्बन्धी स्मृति को संमोहन के द्वारा चेतना के स्तर पर लाया जाता

है। फिर इसे जानकर चिकित्सक उसके मन का एकीकरण करने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, एक नौ वर्ष की बालिका के मन में अपने पिता के प्रति बहुत ही द्वेष के भाव थे। इस पिता ने उस लड़की की माँ को व्यभिचार का दोष लगाकर तलाक दे दिया था। लड़की अपनी माँ को निर्दोष समझती थी। वह ऊपरी व्यवहार में तो बड़ी शिष्ट थी परन्तु भीतर से उसका मन पिता से बदला लेने का इच्छुक था। वह अपने अनजाने पिता को गन्दी-गन्दी चिट्ठियाँ लिखा करती थी। उसके पिता इन चिट्ठियों को भेजने का श्रेय अपनी बहिष्कृत पत्नी को ही देते थे। यह लड़की अपनी अचेतन अवस्था में इन पत्रों को उसी प्रकार लिखती थी जिस प्रकार चलित स्वप्न का रोगी एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने अनजाने जाता है। गन्दे पत्रों के लिखनेवाले का पता चलाने के लिये पिता को खुफिया पुलिस की सहायता लेनी पड़ी। जब पिता को पता चला कि उसकी लड़की ही उसे पत्र लिखती थी तो वह सिरिल बर्ट के पास सचाई जानने के लिए लड़की को ले गया। सिरिल बर्ट ने इस लड़की को संमोहित करके उसके भीतरी मन की भावनाओं को जाना। अपनी संमोहित अवस्था में लड़कीने अपने पिता को अनेक गालियाँ दीं। पीछे पुनः शिक्षा द्वारा इस लड़की के मन के विभाजन का अन्त किया गया। फिर वह बहुत शिष्ट लड़की न बनकर सामान्य लड़की बन गई।

ये रोगी की भूली हुई घटनायें, जिनका सम्बन्ध उसके रोग से है, रोगी को सम्मोहित करके जानी जा सकती है। फ्रायड के पहिले के मानसिक चिकित्सक मानसिक रोगों की चिकित्सा प्रायः सम्मोहन के द्वारा ही करते थे। इस विधि की कमी को हम पहले ही बता चुके हैं। अतएव फ्रायड ने सम्मोहन के द्वारा मानसिक चिकित्सा करना छोड़ दिया था। परन्तु मनोविश्लेषक सम्मोहन का उपयोग भीतरी मन में चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को प्रकाश में लाने के लिये काम में लाते हैं। मान लीजिए कि किसी रोगी को इसलिये मुँह का लकवा हो गया था कि वह तोप के गोले के फटने से बेहद डर गया था। वह इस घटना को भूल चुका है। ऐसे रोगी को सम्मोहित करके उसकी भूली हुई घटना

के स्मरण कराने से रोगी को पुराने भय की अनुभूति होती है और उसके भय का भाव बहुत कुछ कम हो जाता है। कभी-कभी सम्मोहन-कर्त्ता रोगी को निर्देश दे देता है कि सम्मोहन के समय में अनुभव की हुई बातों को वह सम्मोहन के बाद भी याद रक्खेगा। साधारणतः सम्मोहित अवस्था की बातें रोगी को याद नहीं रहतीं। इन बातों पर रोगी के साथ विचार करने से उसके चेतन और अचेतन मन में एकता स्थापित होती है।

मानसिक चिकित्सा के प्रयोगों में देखा गया है कि रोगी कभी-कभी सम्मोहित अवस्था में बहुत रोता, गाता, हँसता और हाथ-पैर से अनेक प्रकार की ऐसी चेष्टायें करता है जिनका अर्थ लगाना सामान्य बुद्धि के लिये कठिन होता है। रोगी को सामान्य स्थिति में आने पर ये सब चेष्टाएँ याद रहती हैं। जब ये चेष्टाएँ होती रहती हैं, तब रोगी को उनका ज्ञान भी रहता है। परन्तु उन चेष्टाओं पर उसका अधिकार नहीं रहता। पूर्ण सम्मोहन की अवस्था में होने वाली क्रियाओं का ज्ञान रोगी को नहीं रहता और ये क्रियायें बाद में रोगी को याद भी नहीं रहतीं। जब याद रखने का निर्देश पहिले से ही रोगी को दिया जाता है, तभी वे याद रहती हैं।

मानसिक रोग की समाप्ति के कुछ सरल उपाय

मनोविश्लेषण प्रक्रिया दबी भावना को चेतना के स्तर पर लाने का उपाय है। मनुष्य की महानता और नैतिकता का अभिमान इस दमित भावना को चेतना के स्तर पर नहीं आने देता। यह अभिमान व्यक्ति के अनजाने ही अप्रिय भावना अथवा स्मृति का दमन करता है। मनोविश्लेषक इस अभिमान की सतर्कता को कम करने के अनेक उपाय रचता है। वह स्वप्न, सांकेतिक चेष्टा, शब्द-सम्बन्ध तथा दूसरे उपाय द्वारा रोगी की दमित वासना को जान ले सकता है, परन्तु रोगी द्वारा उसे स्वीकार कराना और उसे अपने संपूर्ण व्यक्तित्व का अंग मनवा लेना बड़ा कठिन कार्य है। इसके लिये रोगी को स्नेह के वातावरण में रखना और उसका आत्म-विश्वास बढ़ाना नितांत आवश्यक है। प्रेम से मनुष्य का आत्म-विश्वास बढ़ता है और प्रेम के वातावरण

में शान्त भावना के अभ्यास से दबी भावना का रेचन होता है। हमारे यहाँ कुछ ऐसे लोगों की चिकित्सा हुई है जिनका रोग चिकित्सक के समक्ष अपने दबे भावों की आत्म-स्वीकृति से समाप्त हो गया। ये रोगी आत्म-स्वीकृति के पूर्व अपनी गुप्त बातों को खोलने से इतने डरते थे कि वे इसके कारण किसी बाहरी व्यक्ति से बातचीत ही नहीं करते थे। वे चिकित्सक के प्रति भी बहुत सतर्क थे। परन्तु जब उनकी बातें सुनकर उनका आत्म-विश्वास बढ़ाया गया तो उनका रोग समाप्त हो गया।

शान्त भावना का अभ्यास

दबी स्मृति अथवा दबी भावना को चेतना के स्तर पर लाने में शान्त भावना का अभ्यास बड़ा ही लाभप्रद सिद्ध होता है। यह एक प्रकार का आत्म-निर्देश का अभ्यास है। जब मनुष्य शरीर और मन की शैथिलीकरण की अवस्था में पड़ कर अपने आपको शांत भाव का निर्देश देता है तो उसके प्रबल दमित मनोभाव चेतना के स्तर पर आते हैं। चिकित्सक के सामने इस अभ्यास को करने से विशेष लाभ होता है। ऐसी अवस्था में सरलता से ही दमित भाव चेतना के समक्ष आते हैं और रोगी अनेक प्रकार की चेष्टायें उनके वशमें आकर करने लगता है। इस प्रसंग में काशी मनोविज्ञान शाला में किये गये कुछ प्रयोग उल्लेखनीय हैं।

एक फिट के रोगी से जब शान्त भावना का अभ्यास कराया गया तो पहले उसका हाथ इस प्रकार चलने लगा जिस प्रकार वह काम तृप्ति के लिये चलाता था। फिर धीरे-धीरे उसका सारा शरीर इस प्रकार अभिनय करने लगा जैसे वह काम क्रिया में लगा हो। बाद को उसकी चेतना पर वे सभी अनुभवों के संस्कार आने लगे जिन्हें वह भूल चुका था और जो उसके बचपन के अनैतिक काम कृत्यों से सम्बन्ध रखते थे। जब भी यह युवक शान्त भावना का अभ्यास करता कामवासना सम्बन्धी दृष्य ही उसके सामने आते। एक साल तक उसने इस अभ्यास को किया। इसके बाद उसका मूर्छा का रोग जाता रहा। यह रोग उसे सात साल रहा था।

एक दूसरे सुशिक्षित व्यक्ति को जिसकी उमर पचास वर्ष से अधिक थी, स्नायु दुर्बलता का रोग हो गया था। इसके कारण वह अपनी

नौकरी नहीं कर सकता था। उसे अकारण भय सताते थे। बेल के पेड़ को देखकर, पीपल और ताड़ के पेड़ को देखकर उसे अजब डर लगता था। उनके नीचे वह नहीं जा सकता था। वह आर्य-समाजी विचार का है, अतएव इस प्रकार के भय से उसे और भी अधिक घबड़ाहट होती थी। स्त्री भूत-प्रेत मानती थी, अतएव उसके लिये तो यह भूत-बाधा मान लेना स्वाभाविक था। इस व्यक्ति से शान्त भावना का अभ्यास कराने पर पहले तो उसके हाथ मशीन के समान चलने लगे। पीछे वह सिर पटकने और छाती कूटने लगा। इसके बाद उसे अनेक प्रकार के भयावने दृश्य दिखने लगे। एक बार उसने देखा कि एक पेड़ के समान ऊँचा काला व्यक्ति एक हाथ में कटा सिर लिये और दूसरी हाथ में तलवार लिये है। दूसरी बार उसने एक बड़े मुँह का पिशाच देखा। इसको केवल मुँह था। इसके बाद उसने देखा कि एक गदाधारी भीम इन पिशाचों को भगा रहा है। प्रति दिन इस व्यक्ति से अपने अनुभव सुनाने के लिये कहा जाता था। कुछ समय के बाद उसने उन लोगों को देखा जो उसके साथ बचपन में काम-कुकृत्य करने की चेष्टा करते थे। इस स्मृति के जागते ही उसका स्नायु दौर्बल्य रोग जाता रहा।

एक नव विवाहित सुशिक्षित नवयुवक को विवाह होते ही मानसिक नपुंसकता का रोग हो गया था। शान्त भावना के अभ्यास कराने पर दमित भाव चेतना के स्तर पर आ गये। इस रोगी से स्वप्न लिखाये जाते थे और उसके जीवन की घटना सुनी जाती थी। शान्त भावना का अभ्यास करते समय आये चित्र भी सुने जाते थे। एक दिन शान्त भावना का अभ्यास करते समय उसने देखा कि वह अपनी स्त्री के साथ संभोग कर रहा है। परन्तु उसे कुछ देर बाद ही ज्ञात हुआ कि वह तो उसकी बहिन है। इस तरह का दृश्य देखते ही वह चौंक पड़ा। उसे अपने रोग का कारण भी ज्ञात हो गया। वह अपने अचेतन मन में सभी युवतियों को बहिन के रूप में देखने लगा था। उसके घर की बचपन की नैतिक शिक्षा इसी प्रकार की थी। अतएव अपनी स्त्री के साथ भी वह उचित व्यवहार नहीं कर पाता था।

साँस-प्रश्वाँस पर ध्यान

स्वाँस प्रश्वाँस पर ध्यान देना मानसिक रोगों की समाप्ति का बड़ा ही सरल उपाय है। इसका आविष्कार भगवान बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले किया था। इसे भगवान बुद्ध ने आनापान सति का अभ्यास कहा है। आधुनिक काल के कुछ प्रमुख मानसिक चिकित्सक साँस-प्रश्वाँस के अभ्यास की मानसिक रोगों की समाप्ति में उपयोगिता पर महत्व का प्रकाश डाल रहे हैं। हैरोल्ड फिंक ने अपनी 'रिलीज़ फ्राम नर्वस टेन्शन' नामक पुस्तक में इस अभ्यास को स्नायुओं के खिंचाव कम करने में बहुत ही उपयोगी बताया है। डा० फिंक ने शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से ही इस प्रकार के अभ्यास की उपयोगिता बताई है। यदि कोई व्यक्ति एक चारपाई पर लेटकर खूब साँस खींचे और फिर अपने पेट को साँस से खाली करे तो धीरे-धीरे उसका शारीरिक खिंचाव कम हो जाता है। इस अभ्यास में पूरी साँस का लेना और पूरी को धीरे-धीरे छोड़ना आवश्यक है। यह एक प्रकार का प्राणायाम का अभ्यास है। यह अभ्यास न केवल जटिल मानसिक रोगियों के लिए उपयोगी है वरन् सामान्य लोगों के लिए भी अपने मानसिक खिंचाव को कम करने के लिए उपयोगी है। इससे मनुष्य में चित्त की एकाग्रता, स्मरण शक्ति तथा आत्म-विश्वास की वृद्धि होती है। किसी प्रकार की जटिल आदत से भी मनुष्य इस अभ्यास के द्वारा मुक्त हो सकता है। यह अपने आत्मनिर्देश को सफल बनाने का सरल उपाय है। सामान्य मानसिक रोगियों के लिए तो यह बहुत ही महत्व का सिद्ध हुआ है। मानसिक रोगों की चिकित्सा में इस अभ्यास की उपयोगिता पर डा० विलियम ब्राउन के निम्न लिखित विचार, जो उन्होंने हजारों रोगियों की चिकित्सा के आधार पर लिखे हैं, उल्लेखनीय हैं—†

'मानसिक शैथिलीकरण तथा लम्बी साँस लेने के अभ्यास की उपयोगिता पर यहाँ जोर देना आवश्यक है। इनके साथ निर्देश का प्रयोग किया जाय अथवा नहीं। जब रोगी विस्तर पर लेटकर धीरे-धीरे लम्बी

† Release From Nervous Tension—*Herold Fink*.

साँस लेता है तो उसे ज्ञात होगा कि उसके प्रत्येक उच्छ्वास के साथ उसके अंग अपने आप धीरे-धीरे शिथिल हो रहे हैं। यदि वह बिना किसी प्रयत्न के, हाथ और पैर के छोटे-छोटे अंगों के शैथिलीकरण पर ध्यान केन्द्रित करता है तो उसे अनुभव होता है कि जो शारीरिक शैथिलीकरण वहाँ प्रारम्भ होता है वह शरीर के बड़े अंगों पर जैसे पैर और हाथों से होता हुआ सीने, गर्दन, सिर तथा चेहरे तक फैलता जाता है। ऐसी ही अवस्था में एक घंटे तक रहने से विचित्र अनुभव होता है। और यदि रोगी यही करते-करते सो जाय तो उसे और भी अधिक लाभ होता है। मेरे युद्ध के रोगियों को इस तरह के शैथिलीकरण के अभ्यास से बहुत लाभ होते हैं। अनिद्रा, अकारण भय और चिन्ता के रोगियों को इस प्रकार के अभ्यास से बड़ा लाभ होता है।†

† 'Perhaps I should emphasize the therapeutic value of muscular relaxation and deep breathing exercises, whether accompanied by suggestion treatment or not. If a patient breathes slowly, deeply and regularly while lying on a couch, he will find that with every expiration his voluntary muscles tend to become more and more relaxed. If he concentrates without effort upon the relaxation of the small muscles of the hand and feet, will find that the muscular relaxation which starts there tends to spead to the larger muscles of the armes and legs and on to the muscles of the trunk, neck, head and face. Rest, for an hour at a time under these conditions is markedly recuperative, and if the patient falls asleep, during the process he gains still more benefit therely. My war patients derived great help from this form of relaxation treatment, and after a little instruction from me were able to carry out by themselves. Insomnia and vague anxiety responded well to this treatment.-*Psychology and Psychotherapy*. p. 79.

एक सिर की पीड़ा से दुखी नवयुवक को ज्योंही शान्त भाव में डाला गया, वह खूब रोने लगा; फिर वह खूब हँसा, उछला-कूदा। यह क्रिया घंटों होती रही। इसके बाद उसने अच्छे-अच्छे गाने गाये। इन क्रियाओं का रोगी को ज्ञान था, परन्तु वे उसके वश में नहीं थीं। इसके पश्चात् उसकी पुरानी सिर की पीड़ा एकाएक नष्ट हो गई।

उपर्युक्त शान्त भावना का अभ्यास एक प्रकार संमोहन का ही अभ्यास है। यह आत्म-निर्देश का विशेष प्रयोग है। परन्तु इसमें दमित भावना का और भी दमन न होकर उसका रेचन होता है। अतएव यह मानसिक चिकित्सा में बहुत उपयोगी है। इस अभ्यास से मानसिक रोगों से पीड़ित बहुत से व्यक्तियों को लाभ हुआ है। इस अभ्यास के द्वारा अनिद्रा, अकारण भय, चिन्ता, बाध्य-विचार आदि रोग सरलता से ही नष्ट हो जाते हैं।

मानसिक चिकित्सा में भावों का स्थानान्तरीकरण*

डा० फ्रायड ने मानसिक चिकित्सा की प्रक्रिया में भावों के स्थान्तरी-करण को बड़ा ही महत्व दिया है। वास्तव में किसी प्रकार के रोग की समाप्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है। मानसिक रोगी के भाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति आरोपित रहते हैं जिनके प्रति उन भावों का आरो-पित रहना उसके सुस्वत्व अथवा नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल होता है। इसके कारण ये भाव उसकी चेतना में सामान्य रूप से प्रकाशित न होकर रोग का रूप धारण करते हैं। रोग प्रतीक रूप से रोगी की दबी हुई भावना व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, हिस्टीरिया के रोग में रोगी के व्यक्तित्व का विभाजन हो जाता है। उसकी नैतिक बुद्धि पर-पति को प्यार करना अति निकृष्ट समझती है, परन्तु उसके भाव ऐसे ही किसी व्यक्ति से उलझे होते हैं जिसके प्रति उसे उन भावों को न रखना चाहिये। वह व्यक्ति न केवल दूसरों से इन भावों को छिपाता है वरन् अपने आपसे भी उन निन्दनीय भावों को छिपाता है। उसके अनजाने ही यह दमन का कार्य होता रहता है। यदि दमित अनैतिक भावनाएँ चेतना के स्तर पर किसी

* Transference.

प्रकार आ जायँ तो उनपर विवेक द्वारा विचार किया जा सके और इस प्रकार उनकी शक्ति समाप्त हो जाय। परन्तु ये भाव चेतना के स्तर पर आवें ही कैसे? इसके लिए मनोविश्लेषण प्रणाली का आश्रय लिया गया है, किन्तु चाहे कितनी ही कुशलता से मनोविश्लेषण क्यों न किया जाय कभी-कभी दलित भाव चेतना के स्तर पर नहीं आते। इन भावों को चेतना के स्तर पर लाने में चिकित्सक के व्यक्तित्व का बहुत ही महत्व-पूर्ण स्थान है। जब दमित भाव चेतना के स्तर पर आते हैं तब वे पहले-पहल चिकित्सक पर ही आरोपित होने लगते हैं।

मान लीजिये किसी स्त्री को हिस्टीरिया का रोग इसलिये हुआ कि कि जिस व्यक्ति से वह प्रेम करती थी उससे उसका विवाह नहीं हुआ। वह अपनी बेहोशी में अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करती है। मानसिक चिकि-त्सक से वह पहले तो अपने भाव छिपाती ही रहती है, परन्तु जब मान-सिक चिकित्सक उसके गुप्त भावों को धीरे-धीरे जान जाता है तो ये दबे भाव मानसिक चिकित्सक पर ही पहले आरोपित हो जाते हैं। वह चिकि-त्सक को उसी प्रकार प्यार करने लग जाती है जैसे कि वह प्रथम व्यक्ति को प्यार करती थी। यदि चिकित्सक को कोई दूसरा व्यक्ति स्नेह दिखावे तो वह इस व्यक्ति से अत्यन्त ईर्ष्या करने लग जाती है। यदि चिकित्सक उसकी जानकारी में किसी दूसरी महिला को उतना स्नेह दिखावे जितना कि रोगिणी को दिखाता है तो रोगिणी के लिये यह असह्य हो जाता है। वह किसी भयानक रोग से पीड़ित हो जाती है और बाध्य होकर चिकित्सक को उसकी सेवा करनी पड़ती है। इस प्रसंग में डा० विलियम स्टैकिल का एक बड़ा शिक्षाप्रद अनुभव उल्लेखनीय है, जो उन्होंने अपनी प्रैक्टिस आफ साइकोथ्रेपी नामक पुस्तक में दिया है।

डा० विलियम स्टैकिल एक ३० वर्षीय युवती की—जो हिस्टीरिया रोग से पीड़ित थी—चिकित्सा कर रहे थे। इस युवती को पर्याप्त लाभ हो रहा था। इसी बीच डा० विलियम स्टैकिल एक बार अपनी स्त्री के साथ घूमते हुए वियना नगर के किसी रास्ते से जा रहे थे। रास्ते में वे अपनी स्त्री के साथ बहुत सी घर की बातें कर रहे थे। बीच बीच में दम्पत्ति किसी किसी

बात पर खिलखिलाकर हँस पड़ते थे। डा० विलियम स्टैकिल वियना नगर के एक प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। जब वे इस प्रकार अपनी स्त्री के साथ जा रहे थे, दूसरी ओर से वह महिला भी आ रही थी जिसकी वे उस समय चिकित्सा कर रहे थे। उसने विलियम स्टैकिल को बहुत घूरकर देखा और वह अपने रास्ते चली गयी। दो घंटे बाद जब वह अपनी दवा के लिये डा० स्टैकिल के पास पहुँची तो उसने डा० स्टैकिल को उनकी बदतमीजी, जो वे सड़क पर अपनी स्त्री के साथ बातचीत करने में कर रहे थे, के लिए झिड़का। उसने कहा कि आप नगर के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं, आपको अपनी स्त्री के साथ खुली सड़क पर नहीं खिलखिलाना चाहिये। नगर के लोग क्या कहेंगे? डा० विलियम स्टैकिल ने उसकी इस उदारतापूर्ण चेतावनी को यों ही टाल दिया। वह अपनी दवा लेकर घर चली गई।

आधी रातके समय स्टैकिल के नौकर ने कहा कि कोई फोनपर आपको बुला रहा है। जब उन्होंने नौकर से फोन करनेवाले का नाम पुछवाया तो उसने उसी महिला का नाम बताया जो तीन घंटे पहिले डा० स्टैकिल के पास से गयी थी। फोन द्वारा खबर कही गई थी कि वह पेट के दर्द की अवस्था में पड़ी हुई है। उसे बीच बीच में बेहोशी हो जाती है। डा० स्टैकिल की उसके पास पहुँचने की तुरन्त आवश्यकता है, अन्यथा कोई दुर्घटना होने की सम्भावना है। डा० स्टैकिल सब बात को समझ गये। उन्होंने नौकर से कहा कि फोन को रख दो और उसकी घंटी दाब दो। ऐसा करने पर आध घंटे बाद देखा कि कोई व्यक्ति दरवाजा भड़भड़ा रहा है। मालूम हुआ कि गाड़ी में बैठकर वह महिला स्वयं डाक्टर के घर आ गई है और उसका नौकर दरवाजा भड़भड़ा रहा है। डाक्टर स्टैकिल को उसे देखना ही पड़ा। उसका पेट का दर्द असह्य था। डा० स्टैकिल ने उसे कोई सामान्य सी औषधि वहीं खिला दी और उसकी असह्य वेदना उसी समय शान्त हो गई। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब रोगी को ज्ञात होता है कि चिकित्सक उसकी अपेक्षा किसी दूसरे व्यक्ति को थोड़ा भी अधिक प्यार करता है, अथवा वह कभी किसी प्रकार की अवहेलना करता है तो वह पहले से भी अधिक रोगी बन जाता है। इससे

बाध्य होकर चिकित्सक को उसकी सेवा के लिये ध्यान देना पड़ता है।

डा० विलियम स्टैकिल ने अपने अनुभव से बताया है कि किसी भी कुशल मानसिक चिकित्सक को दो मानसिक रोगियों से एक साथ कभी भी न मिलना चाहिए। वह रोगियों से ऐसे कमरे में मिले जिसके आने-जाने के मार्ग भिन्न-भिन्न हों ताकि किसी भी रोगी को यह पता न चलने पाये कि किसी रोगी से वह बात कर रहा था अथवा वह अकेला ही बैठा था। यदि एक रोगी को दूसरे रोगी से कम समय दिया जाय, यदि एक को घर के बाहर छोड़ने को चिकित्सक जाय और दूसरे को न जाय तो भी रोगी को अखरता है। कबीर की यह पंक्ति यहाँ बिलकुल ठीक बैठती है—'प्रेम गली है सांकरी तामें दो न समायँ'।

डा० फ्रायड ने रोग की समाप्ति के लिए चिकित्सक के प्रति रोगी के उक्त प्रकार के भावों का आरोपित होना नितान्त आवश्यक माना है। जहाँ रोगी चिकित्सक को आलोचना की दृष्टि से देखता है, जहाँ उसके हृदय के उद्‌गार चिकित्सक के प्रति नहीं उठते वहाँ रोगी को चिकित्सक से कोई लाभ नहीं होता। कुछ मानसिक रोगों में रोगी के भाव ऐसी मनस्थिति में रहते हैं कि उनका चिकित्सक पर आरोपित होना सम्भव ही नहीं, अर्थात् भावों का स्थानान्तरण इन रोगों में नहीं होता। जब रोगी के भावों का इतना विकास नहीं होता कि वह अपने से अतिरिक्त दूसरे व्यक्ति को प्यार करे तो इस प्रकार के भावों के दमन से जो रोग होते हैं वे अच्छे नहीं होते। सभी प्रकार के भीषण पागलों की मनः-स्थिति ऐसी ही होती है। उनके भाव दमित होने पर प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में पहुँच जाते हैं, अर्थात् वे अपने आप पर अवलम्बित हो जाते हैं। मेलङ्कोलिया, सीज़ोफ्रेनिया और पैरानोइया के रोगियों में यह शक्ति ही नहीं होती कि वे अपने को छोड़कर किसी दूसरे को प्यार करें। हिस्टी-रिया के रोगी इसीलिए अच्छे हो जाते हैं कि उनका रोग स्वाश्रित नहीं रहता। उनके दमित प्रेमभाव किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति होते हैं जिसे प्यार करना नैतिकता के प्रतिकूल होता है। किन्तु उक्त भीषण रोगियों में अपने से भिन्न किसी दूसरे व्यक्ति को प्रेम करने की क्षमता नहीं होती। मानसिक

चिकित्सक उस चुम्बक के समान है जो बिखरे हुए लोहे के टुकड़ों को अपनी ओर खींचकर एकमुखी बना देता है।

मानसिक चिकित्सक जब रोगी का प्रेम अपनी ओर खींच लेता है तब उसका कर्तव्य होता है कि उसे वह उचित व्यक्ति की ओर मोड़ दे। गुप्त प्रेम को इस प्रकार नहीं मोड़ा जा सकता। परन्तु इस प्रकार किसी रोगी का प्रेमभाजन बनना बड़ा ही नाजुक कार्य है। यह खतरे से खाली नहीं है। कभी-कभी इसके कारण चिकित्सक बदनाम हो जाते हैं। डा० होमर लेन जो कि अपनी प्रेम-चिकित्सा-प्रणाली के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं, और जिन्होंने शिक्षा में एक नया ही दृष्टिकोण दिया है, अपनी लोकचातुर्य की कमी के कारण इस बदनामी से न बच सके। उन्हें दो साल कारावास में रहना पड़ा। कभी-कभी रोगी जब चिकित्सक की नीयत पर सन्देह करता है तो वह स्वयं उसे बदनाम करता है। कभी-कभी वह उसे मारने भी आ जाता है। कुछ रोगियों को वहम हो जाता है कि चिकित्सक ने उनके ऊपर जादू कर दिया है।

डा० फ्रायड ने मानसिक चिकित्सकों को चेतावनी दी है कि वे स्वयं किसी रोगी के स्नेह में न फँसें। परन्तु किसी युवक चिकित्सक के लिए यह अत्यन्त कठिन है। इतना ही नहीं यदि रोगी को इस बात का सन्देह हो जाय कि चिकित्सक का उसके प्रति लदा हुआ प्रेम है, तो वह उसकी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सकेगा। डा० हेडफील्ड ने रोगी से प्रेम करना चिकित्सक के लिए अनिवार्य माना है। जो चिकित्सक रोगी से प्रेम नहीं कर सकता वह सफल नहीं हो सकता। चिकित्सक का कार्य वैज्ञानिक के कार्य से भिन्न है। यह कार्य एक शिक्षक अथवा कलाकार के कार्य के समान है। कलाकार और शिक्षक अपने पात्र को प्यार करते हैं। वह जैसा दिखाई देता है वे उसे वैसा ही नहीं देखते। इसके प्रतिकूल एक बायालाजिस्ट मेंढ़क को अथवा तितली को प्यार नहीं करता। वह उसकी चीरफाड़ करके उसके अंग-उपांगों का पता चलाता है। यदि मनोविश्लेषक केवल इतना ही काम करे तो वह रोगी का कोई लाभ न करके उसकी हानि ही करेगा। अतएव रोगी को प्रेम करना उसके

कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है। डा० फ्रायड ने जो चेतावनी दी है उसकी उपयोगिता वहीं तक है जहाँ तक कि हम प्रेम और काम-वासना का एकीकरण करते हैं। डा० फ्रायड के लिए काम और प्रेम एक ही तत्व हैं। हमारे तथा कुछ दूसरे मनोवैज्ञानिकों के विचारानुसार काम प्रेम का अंग है परन्तु जहाँ काम नहीं है वहाँ भी प्रेम हो सकता है। प्रेम का सार भाग त्याग है, और काम का इन्द्रियों का तुष्टीकरण। प्रेम प्रेमी को स्वतन्त्रता देना चाहता है और काम या वासना उसपर एकाधिकार चाहते हैं। प्रेम का प्रकाशन काम के अतिरिक्त दूसरी प्रकार की सेवाएँ करके भी हो सकता है। जो हमें भोजन देता है उससे भी हम प्रेम करते हैं। किसी बालक के लालन-पालन में भी प्रेम का प्रकाशन होता है। यह प्रेम वासना से भिन्न है। इससे वासना की शक्ति अवश्य सदुपयोग में आ जाती है। इसी प्रकार का प्रेम चिकित्सक को रोगी के प्रति करना आवश्यक है। वास्तव में रोगी को इसी प्रकार का प्रेम चाहिए। जब रोगी की धारणा हो जाती है कि केवल स्वार्थवश ही चिकित्सक उसकी चिकित्सा कर रहा है अथवा चिकित्सक उसके प्रति उदासीन है तो रोगी को चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। अतएव मानसिक चिकित्सक का कार्य बहुत ही कठिन और जिम्मेदारी का है। वह रोगी के प्रति प्रेम और सहानुभूति दिखाकर उसके दमित भावों का रेचन करता और भावों की उदारता लाता है तथा रोगी के प्रेम-पास में पड़ने से अपने आपको भी बचाता भी है।

सोलहवाँ प्रकरण

स्वप्न

स्वप्न की व्यापकता

स्वप्न हमें प्रायः प्रति-दिन होते हैं। कुछ स्वप्न भले होते हैं और कुछ बुरे। कुछ स्वप्न हमारी समझ में आने योग्य होते हैं और कुछ समझ के बाहर। कुछ हमें याद रहते हैं और कुछ भूल जाते हैं। कभी-कभी हम अपने आपको स्वप्नों में मौज उड़ाते हुए पाते हैं और कभी-कभी दुःखी दीन-हीन अवस्था में तथा भय से त्रस्त पाते हैं। पर इतनी बात देखी जाती है कि इन सभी प्रकार के स्वप्नों के ऊपर हमारा नियंत्रण कुछ भी नहीं रहता। हम चाहें अथवा न चाहें स्वप्न हमें होते ही हैं। हमें प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के स्वप्न होते हैं। हम जैसे स्वप्न चाहते हैं वैसे नहीं होते, स्वप्न के ऊपर हमारा कोई अधिकार नहीं रहता। अब प्रश्न यह है कि इन स्वप्नों का कारण क्या है और उनकी मानसिक जीवन में उपयोगिता क्या है।

स्वप्न के कारण

आधुनिक मनोविज्ञान के कथनानुसार स्वप्नों का कारण किसी प्रकार की उत्तेजनाएँ होती हैं। ये उत्तेजनाएँ दो प्रकार की होती हैं—एक मन से पैदा होने वाली और दूसरी शारीरिक। मानसिक उत्तेजनाएँ अपने आन्तरिक मन में बैठे दृढ़ संस्कार और प्रबल भोगेच्छाएँ होती हैं और शारीरिक उत्तेजनाएँ या तो शरीर से उत्पन्न होती हैं अथवा बाहर से आकर शारीरिक उत्तेजनाओं का रूप धारण कर लेती हैं। इन पर पृथक्-पृथक् विचार करना स्वप्न को समझने के लिए आवश्यक है।

शारीरिक उत्तेजनाएँ

शारीरिक उत्तेजनाओं को हम पहले ही लेंगे। डाक्टरों मतानुसार स्वप्नों के होने का मूल कारण शरीर में रहता है। जब शरीर में कोई विकार होता है तो मनुष्य को भयानक स्वप्न होने लगते हैं। जब पैखाना लगा रहता है तो मनुष्य पैखाने के स्वप्न देखने लगता है, जब भूख लगी रहती है तो भोजन के स्वप्न होते हैं और प्यास लगती है तो पानी पीने के। जब हमारे सिर में दर्द होता है तो अनेक प्रकार के भयंकर स्वप्न होते हैं और यदि शरीर में फोड़ा दर्द करता है तो भारी आघात के स्वप्न हम देखते हैं। यदि रात को सोते समय पानी गिरने लगे तो हम स्वप्न में बरसात होता देखते हैं। कभी-कभी सोते हुए व्यक्ति के ऊपर पानी छिड़क देने से भी उसे बरसात का स्वप्न होता है। सोते हुए मनुष्य के पैर के तलुए पर ठंढा पानी डाल देने से सोनेवाले को स्वप्न होता है कि वह किसी नदी में चल रहा है। सोते समय मुँह पर धूप पड़ने से विशेष प्रकार का भयंकर स्वप्न होने लगता है। ज्ञात होता है कि मानो हम जंगल में हैं और सारे जंगल में आग लग गई है। इस प्रकार जैसे शरीर के भीतर की उत्तेजनाएँ विशेष प्रकार के स्वप्न उत्पन्न करती हैं, इसी प्रकार शरीर के बाहर से आनेवाली उत्तेजनाएँ भी विशेष प्रकार के स्वप्न उत्पन्न कर देती हैं। बाहरी उत्तेजनाओं के द्वारा प्रयोगात्मक विधि से स्वप्न उत्पन्न किए जा सकते हैं। डाक्टर मायर ने ऐसे कई स्वप्न-सम्बन्धी प्रयोग किए हैं।

मानसिक उत्तेजनाएँ

स्वप्न का विशेष कारण आन्तरिक मानसिक उत्तेजनाएँ होती हैं। हमारी मानसिक उत्तेजनाएँ इच्छा और भय के रूप में हमारे मन में रहती हैं। ये किसी-न-किसी रूप में प्रकाशित होने की चेष्टा करती रहती हैं। हमारी जाग्रतावस्था की अनेक चेष्टाओं के कारण ही ये उत्तेजनाएँ होती हैं। इन्हीं को वासना कहा जाता है। योगवासिष्ठ में बताया गया है कि हमारा सारा संसार वासनामय है। वासना ही संसार के पदार्थों का निर्माण करती है और हमें विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगाती है। वासना

एक ओर इच्छा और दूसरी ओर भय का रूप धारण कर लेती है। प्रवृत्यात्मक वासना को इच्छा कहा जाता है और निवृत्यात्मक इच्छा को भय कहा जाता है। संसार के सुख-दुःख इन दो प्रकार की इच्छाओं के द्वारा ही निर्मित होते हैं।

जाग्रतावस्था के विषय में वासना द्वारा जगत के निर्माण का सिद्धांत सत्य हो अथवा नहीं, स्वप्न-संसार के विषय में तो यह अब सर्वमान्य सिद्धांत हो गया है कि हमारा प्रत्येक स्वप्न हमारी किसी-न-किसी वासना की पूर्ति करता है। जिन इच्छाओं की पूर्ति हमारी जाग्रतावस्था में नहीं होती उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न के द्वारा होती है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आधुनिक मनोविज्ञान के महान् पण्डित डाक्टर फ्रायड हैं। हमारा कोई भी स्वप्न कारणरहित अथवा निरर्थक नहीं होता। प्रत्येक स्वप्न का कारण हमारे मन में होता है। किन्तु इस कारण का ज्ञान न रहने के कारण मनुष्य अपने स्वप्नों को कारण-रहित मान बैठता है। मनुष्य को अपनी ही इच्छाओं का पता नहीं है। अपनी समस्त इच्छाओं में से उन्हीं को मनुष्य अपनी इच्छा जानता है जो उसकी चेतना की सतह पर आती हैं और जिन्हें वह पहचान लेता है। पर चेतना की सतह के नीचे मनुष्य के अचेतन मन में लाखों अतृप्त इच्छाएँ पड़ी हुई हैं। ये इच्छाएँ भी अपनी तृप्ति का मार्ग खोजा करती हैं। जब उन्हें अपनी तृप्ति का अवसर जाग्रतावस्था में नहीं मिलता तो वे स्वप्न-संसार का निर्माण करती हैं, और इस प्रकार अपनी आंशिक तृप्ति पाती हैं।

स्वप्न का कारण प्रधानतः वे ही इच्छाएँ होती हैं जिनका जाग्रतावस्था में दमन होता है। इन इच्छाओं की तृप्ति करना या तो हमारी सामर्थ्य के परे होता है अथवा वे नैतिक भावनाओं के प्रतिकूल होती हैं। जिन लोगों को धन की प्रबल इच्छा होती है, पर जिनमें धन प्राप्त करने की सामर्थ्य नहीं है वे स्वप्न में धन का गड़ा हुआ खजाना प्राप्त करते रहते हैं। जिनका घर छीन लिया गया है और अपना घर प्राप्त करने के लिए जो लालायित हैं, वे लोग घर मिल जाने का स्वप्न देखा करते हैं। यदि किसी प्रबल शत्रु से बदला लेने की भावना किसी व्यक्ति

के मन में है, पर वह बदला लेने की सामर्थ्य अपने में नहीं पाता तो वह व्यक्ति शत्रु के विनाश के अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता है। बालकगण प्रायः ऐसे कार्यों के स्वप्न देखा करते हैं जिनसे उन्हें रोका जाता है। यदि किसी बालक को घर की छत पर जाने से रोक दिया जाय तो वह स्वप्न में घर की छत पर पहुँचकर अपने आपको खेलता हुआ पाता है।

इसी प्रकार डर के भी अनेक प्रकार के स्वप्न मनुष्य देखता रहता है। यदि किसी शत्रु से भय है, और उस भय को मनुष्य स्वीकार नहीं करता तो वह उस भय के स्वप्न देखता है। कभी-कभी वह स्वप्न में अपनी चोरी होते हुए देखता है, कभी शत्रुओं से पीछा होते हुए देखता है और कभी मार खाने का स्वप्न देखता है। वास्तव में इन सब प्रकार के भयानक स्वप्नों का कारण मनुष्य के अचेतन मन में भय की भावना ही होती है। स्वप्न में यह भावना घटनाओं के रूप में प्रकाशित होती है।

स्वप्न द्वारा दलित वासनाओं का प्रकाशन

मनुष्य की वासनाओं का दो प्रकार से दमन होता है—एक वास्तविकता द्वारा, अर्थात् परिस्थितियों की प्रतिकूलता द्वारा और दूसरे अपनी नैतिक बुद्धि द्वारा। इस तरह व्यवहार-कुशलता और नैतिक बुद्धि वासनाओं का दमन करती है। पहले प्रकार का दमन जान बूझकर होता है और दूसरे प्रकार का दमन हमारे चेतन मन के अनजाने होता है। पहले प्रकार के दमन में हम समय समय पर पहचान जाते हैं कि हमारी कौन सी वासना का दमन हो रहा है, पर दूसरे प्रकार के दमन में हमें ज्ञान ही नहीं होता कि कौन सी वासना का हम दमन कर रहे हैं। दमन का कार्य अज्ञात रूप से होता है। इस प्रकार के दमन का एक प्रमाण यह है कि यदि कोई हमसे उक्त प्रकार के दमन की चर्चा करे और कहे कि अमुक प्रकार की इच्छा तुम्हारे मन में है तो हम उससे चिढ़ जाते हैं। हमारे स्वप्नों में प्रायः इसी प्रकार की वासनाओं का प्रकाशन होता है।

जो वासनाएँ नैतिकता के विरुद्ध होती हैं, हम अपनी जाग्रतावस्था में उनका केवल तृप्त होना ही नहीं रोकते, वरन् उनका विचार भी अपने

मन में नहीं आने देते। यदि भूल-चूक से ऐसा विचार आ जाय तो हम आत्मग्लानि का अनुभव करने लगते हैं। ये ही वासनाएँ अनेक प्रकार के स्वप्नों का कारण बन जाती हैं। ये अनेक प्रकार के स्वाँग रचकर स्वप्न में चेतना के समक्ष प्रकाशित होती हैं और जिन भोग्य पदार्थों को वे जाग्रतावस्था में प्राप्त नहीं कर सकीं, उन्हें स्वप्नावस्था में प्राप्त करती हैं। प्लेटो महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जिन कामों को पापी लोग अपनी जाग्रतावस्था में करते रहते हैं उन्हीं कार्यों का स्वप्न देखकर संत लोग संतोष करते हैं।†

दमन की जानेवाली वासनाओं में मुख्य काम-वासना है। समाज में जितना दमन काम-वासना का होता है, उतना और किसी वासना का नहीं होता। काम-वासना-सम्बन्धी किसी बात की चर्चा होते ही हम नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। पर मनुष्य में जितनी प्रबल काम-वासना है, उतनी प्रबल कोई वासना नहीं है। इसकी प्रबलता दमन के कारण और भी बढ़ जाती है। मनुष्य का अचेतन बहु-मुख है अर्थात् वह सभी प्रकार से अपनी कामवासना को तृप्त करने की इच्छा रखता है। किसी रूपवती स्त्री को देखकर पुरुष उसकी ओर आकर्षित होता है। इसी प्रकार रूपवान पुरुषको देखकर स्त्री भी आकर्षित होती है।* फिर अनेक प्रकार के अप्राकृतिक व्यभिचार की वासनाएँ भी मनुष्य के मन में रहती हैं। जाग्रतावस्था में नैतिकताके द्वारा इनका सदा अवरोध होता रहता है। ये इच्छाएँ अनेक प्रकार के स्वप्न पदार्थों का निर्माण करती हैं, और इनके द्वारा गुप्त रूप से अपने आपको तृप्त करनेकी चेष्टाएँ करती हैं। इसके कारण मनुष्य के स्वप्न या तो जागने पर उसे स्मरण ही नहीं रहते, अथवा वे उसकी समझ में नहीं आते। जिस व्यक्ति में काम-वासना का जितना ही अधिक दमन

† Saints content themselves with dreaming what the sinners do in their actual life—*The Republic of Plato*

* तुलसीदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।

जो बात स्त्री के विषय में सही है, वही पुरुष के विषय में भी सही है।

होता है उसके स्वप्न उतने ही विलक्षण प्रकार के होते हैं, और उसकी सामान्य समझ के बाहर रहते हैं। वास्तव में स्वप्न चेतना इस बात में सावधान रहती है कि मनुष्य जो कुछ स्वप्न देखे वे उसकी समझ में न आवें। यदि वह अपने बे-सिर पैरके स्वप्नों का वास्तविक अर्थ अपने आप ही समझ जाय तो तुरंत उसे ग्लानि होने लगे। प्रत्येक मनुष्य इस आत्म-ग्लानिसे बचना चाहता है, अतएव मनुष्य अपने आपको धोखा देता है। वह अपने आपको एक पवित्र व्यक्ति समझता है जिससे पाप की भावना कोसों दूर है। यदि वह अपने आपको ऐसा न समझता तो उसे जीवन भार रूप बन जाता। स्वप्न एक ओर मनुष्य के इस धोखे को भंग नहीं करता और दूसरी ओर दलित वासना को प्रकाशन का अवसर भी देता है।

जब तक मनुष्य आत्म-स्वीकृति के लिये तैयार नहीं होता, उसके स्वप्न उसकी समझ में नहीं आते। स्वप्न की दिखावटी वस्तुएँ एक प्रकार की होती हैं और उनके वास्तविक अर्थ दूसरे प्रकार के होते हैं। स्वप्न की भाषा एक निराली भाषा होती है। इस भाषा को समझने के लिए एक विशेष प्रकार के विज्ञान की आवश्यकता होती है। डाक्टर फ्रायड का एक मौलिक कार्य यह है कि उन्होंने स्वप्न की भाषा को समझने के लिए एक विशेष प्रकार के कोष और व्याकरण का निर्माण कर दिया है। पर जिस प्रकार किसी देश की भाषा समझने के लिए केवल कोष और व्याकरण से काम नहीं चलता, इसी प्रकार स्वप्न की भाषा को समझने के लिए डाक्टर फ्रायड के अर्थबोधक यन्त्र से काम नहीं चलता। स्वप्न की भाषा के अर्थ समझने में एक और बड़ी कठिनाई यह है कि जहाँ साधारणतः किसी देश की भाषा के एक शब्द का प्रायः एक ही अर्थ होता है और एक भाव को एक ही शब्द के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, वहाँ स्वप्न की भाषा की विचित्र परिस्थिति है। यहाँ व्यक्ति, काल और परिस्थितिभेद के अनुसार एक ही प्रतीक के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, और एक ही भाव अनेक प्रकार के प्रतीकों के द्वारा प्रकाशित होता है। अतएव जब तक कोई व्यक्ति स्वप्न की भाषा का अर्थ लगाने में पर्याप्त अनुभव नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह किसी भी स्वप्न का

ठीक अर्थ नहीं लगा सकता। केवल स्वप्न-विज्ञान को पढ़ने से कोई भी व्यक्ति स्वप्न को समझने की कुशलता प्राप्त नहीं करता।

स्वप्न का अर्थ लगाने में एक और कठिनाई है। जब तक स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न का ठीक अर्थ स्वीकार करने को तैयार नहीं होता तब तक स्वप्न का ठीक अर्थ नहीं लगता। जब स्वप्न-द्रष्टा के अचेतन मन को पता चल जाता है कि कोई व्यक्ति उसके भावों को समझने की चेष्टा कर रहा है तो उसका अचेतन मन स्वप्न की भाषा को ही बदल देता है। फिर जिन प्रतीकों का विशेष प्रकार का अर्थ मान लिया गया है, उन्हें व्यक्ति का अचेतन मन किसी दूसरे ही अर्थ में—जिससे स्वप्न का अर्थ लगानेवाला अनभिज्ञ है—काम में लाने लगता है। इस प्रकार भूलभुलैया का खेल व्यक्ति के अचेतन मन और अर्थ लगानेवाले के बीच प्रारंभ हो जाता है। अर्थ लगानेवाला स्वप्न को समझने की जितनी ही चेष्टा करता है, स्वप्न उतना ही और भी उलझा हुआ होने लगता है। इस प्रकार दूसरे लोगों के स्वप्न को समझना तो कठिन होता ही है अपने स्वप्न भी हमें समझ में नहीं आते। अचेतन मन की इच्छा के प्रतिकूल किसी भी स्वप्न का वास्तविक अर्थ जानना अत्यन्त कठिन होता है। अतएव हम अपने तथा दूसरों के उन्हीं स्वप्नों के ठीक अर्थ जान सकते हैं, जिनका अर्थ बताना स्वप्न-द्रष्टा के अचेतन मन को वांछनीय है। डाक्टर युंग के इस कथन में मौलिक सत्य है कि किसी रोगी के स्वप्न के वास्तविक अर्थ को समझना तब तक असंभव है, जब तक स्वयं रोगी का आन्तरिक मन उसका अर्थ प्रकाशित करने में सहायता नहीं करता, और किसी स्वप्न का कोई भी अर्थ तब तक ठीक नहीं माना जा सकता जब तक स्वयं रोगी उस अर्थ को ठीक न माने और उसकी स्वीकृति न दे। इस तरह स्वप्न-द्रष्टा की आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल किसी स्वप्न का ठीक-ठीक अर्थ समझना असंभव है।

जब कोई रोगी अपने आपको चिकित्सक के समक्ष खोलना चाहता है, अर्थात् जब उसका आन्तरिक मन आत्म-स्वीकृति के लिए स्वयं तैयार हो जाता है, तो रोगी को ऐसे स्वप्न होने लगते हैं जिनका अर्थ स्पष्ट

होता है। तदनन्तर जब उसे उन स्वप्नों का अर्थ बताया जाता है तो वह उसे स्वीकार करता है। यदि किसी स्वप्न का ठीक अर्थ न लग सका और चिकित्सक के मन में भ्रम रह गया तो उसके मन के भ्रम को निकालने के लिये रोगी को दूसरा स्वप्न होता है। अब इस स्वप्न में उसके मन का आन्तरिक भाव स्पष्टतः बाहर आ जाता है। रोग के अच्छे होने की अवस्था में रोगी को जितने स्पष्ट स्वप्न होते हैं, रोग-वृद्धि की अवस्था में उतने स्पष्ट स्वप्न नहीं होते। सामान्यतः रोग की वृद्धि की अवस्था के स्वप्न रोगी को स्मरण ही नहीं रहते। जब स्वप्न स्मरण होने लगें तो समझना चाहिए कि मानसिक रोग अब कम होने की अवस्था में है। रोगी को स्वप्न के स्मरण रहने का अर्थ है रोगी अपने रोग से परेशान होकर दबी हुई वासना को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया है। अब उसकी अस्वाभाविक नैतिकता बदल गई है और उसके भीतरी और बाहरी मन में एकता स्थापित हो रही है।

स्वप्न में केवल काम-वासना का ही दमन नहीं होता, दूसरी प्रकार की वासनाओं का भी दमन होता है। फ्रायड महाशय ने काम-वासना को ही प्रधानता दी है। बालकों के स्वप्नों में उनकी सामान्य खाने-खेलने की इच्छाओं का दमन पाया जाता है। एक बालिका को फ्रायड महाशय अपने साथ एक झील पर ले गये। बालिका नाव पर बैठकर झील में घूमना चाहती थी, परन्तु उसे घूमने के लिए अवसर न मिला। उसी दिन उस बालिका ने स्वप्न में देखा कि वह बहुत देर तक नाव में बैठकर झील में सैर कर रही है। बालकों को मिठाई खाने की इच्छा रहती है, पर माता-पिता उनको कई कारणों से पेट भर मिठाई खाने को नहीं देते। प्रायः वे रात को स्वप्न में खूब मिठाई खाते हुए अपने आपको देखते हैं। इस प्रकार बिना किसी प्रकार का आवरण ओढ़े बालकों की इच्छाएँ स्वप्न में प्रकाशित होती हैं। प्रौढ़ व्यक्तियों के भी बहुत से स्वप्न काम-वासना के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की वासनाओं के दमन के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु फ्रायड महाशय के इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं कि स्वप्नों का प्रधान हेतु दलित और अतृप्त वासनाओं

की तृप्ति है और इससे उसकी आंशिक तृप्ति होती है।

स्वप्नों की उपयोगिता

स्वप्नों की उपयोगिता के विषय में आधुनिक मनोवैज्ञानिकों में भिन्न-भिन्न मत हैं। इन मतों में भिन्नता रहते हुए भी बहुत कुछ मौलिक सत्य है। इनका संग्रह करके स्वप्नों की उपयोगिता के विषय में हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर आते हैं।

(१) स्वप्न प्रबल मानसिक उत्तेजनाओं को प्रकाशित कर नींद की रक्षा करते हैं।

(२) स्वप्न दलित वासनाओं की आंशिक तृप्ति करते हैं और इस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य-लाभ में सहायक होते हैं।

(३) स्वप्नों के द्वारा जीवन-संग्राम में उत्साह की वृद्धि होती है और सफलता में सहायता मिलती है।

(४) स्वप्न मानसिक स्थिति और शक्ति की प्रवाह की दशा को बताते हैं, अतएव स्वप्न मानसिक रोग के समझने में सहायक होते हैं।

(५) कभी-कभी स्वप्न उचित मार्ग का प्रदर्शन करके जीवन को सफल बनाने और रोगी को रोग से मुक्त करने में सहायक होते हैं।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्न की उपयोगिता के विषय में पहली बात यह निश्चित की है कि स्वप्न नींद में बाधक नहीं, उसके साधक हैं। स्वप्न से नींद की रक्षा होती है। † ठीक उसके प्रतिकूल हमारा सामान्य विचार है। जब हमें अधिक स्वप्न होते हैं तो हम सोचते हैं कि हम ठीक से नहीं सो सके। स्वप्नों के कारण नींद में गड़बड़ी होती रही। मनोविश्लेषण-वैज्ञानिकों का मत उक्त मत के ठीक प्रतिकूल है। यदि मनुष्य को स्वप्न न हों तो वह ठीक से सो भी न सके। हमारे मन में अनेक प्रबल इच्छाएँ रहती हैं। ये इच्छाएँ मानसिक उत्तेजनाएँ बनकर नींद में बाधा डालती रहती हैं। यदि इन उत्तेजनाओं को मनमाना करने दिया जाय तो मनुष्य को नींद भी न आवे, वास्तव में अनिद्रा की अवस्था

† The function of dream is to guard sleep.

में ऐसा ही हो जाता है। अनिद्रा की अवस्था में मानसिक उत्तेजनाएँ इतनी प्रबल हो जाती हैं कि वे निद्रा को आने ही नहीं देतीं।

स्वप्न के द्वारा नींद की रक्षा कैसे होती है; इसका एक उदाहरण, जिसे डाक्टर फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'इन्टरप्रेटेशन आफ ड्रीम' में दिया है, उल्लेखनीय है—'एक डाक्टर महाशय ने, जिन्हें अधिक सो जाने की आदत थी, एक स्त्री से कह दिया था कि अस्पताल जाने के समय मुझे जगा देना। एक दिन जब वे बड़ी मीठी नींद में सो रहे थे, उस स्त्री ने कमरे में पुकारकर कहा—'साहब उठिए। आपके अस्पताल जाने का समय हो गया है।' इस पर डाक्टर साहब ने स्वप्न में देखा कि वे अस्पताल के एक कमरे में चारपाई पर पड़े हुए हैं और उनके नाम की तख्ती उनके सिरहाने लटकी हुई है। स्वप्न में उन्होंने मन में कहा—'अगर मैं अस्पताल में विद्यमान ही हूँ तो फिर मुझे वहाँ जाना नहीं है, उन्होंने करवट बदली और सोए रह गए।' इस प्रकार बाह्य उत्तेजना ने निद्रा को भंग करके स्वप्न का रूप धारण कर लिया और इससे निद्रा की रक्षा हुई। स्वप्न भी ऐसा हुआ जिससे सोनेवाले को सोते रहने में ही सन्तोष रहा। यदि यह उत्तेजना अधिक प्रबल होती तो वह निद्रा को भंग ही कर देती। जब उत्तेजना का बल अधिक नहीं होता तो वह स्वप्न को उत्पन्न करके ही शान्त हो जाती है।

जिस प्रकार बाह्य उत्तेजना स्वप्न का कारण बन जाती है उसी प्रकार आन्तरिक उत्तेजना भी स्वप्न का कारण बन जाती है। ये उत्तेजनाएँ आन्तरिक मन की अज्ञात वासनाएँ होती हैं। वे स्वप्न में प्रकाशित होकर अपनी आंशिक तृप्ति पाती हैं और इससे निद्रा भंग नहीं होती। जो व्यक्ति काम-वासना के स्वप्न देखता है उसमें काम-वासना प्रबल होती है। काम-वासना का अवरोध होने के कारण उसका बल और भी बढ़ जाता है। यदि इस वासना की शक्ति के प्रवाह का कोई मार्ग खुला न हो तो वह मनुष्य को न तो सोने दे और न किसी प्रकार की शांति प्राप्त होने दे। स्वप्न के द्वारा इस वासना की शक्ति कम हो जाती है। उसकी आंशिक तृप्ति होती है और तब मनुष्य सुख की नींद सोता है।

इसी प्रकार जिन लोगों को किसी प्रकार का भय रहता है और वे उसे स्वीकार नहीं करते, भयंकर स्वप्नों से कभी-कभी उनकी नींद भंग हो जाती है, परन्तु साधारणतः उनसे नींद की रक्षा होती है। नींद तभी भंग होती है जब भय की उत्तेजना अति प्रबल हो जाती है। परीक्षा में फेल होने के भय को अचेतन मन में रखनेवाले व्यक्तियों को परीक्षा में फेल होने का स्वप्न होता है। इस प्रकार फेल होने का भय उनकी जाग्रतावस्था में उनकी चेतना के समक्ष नहीं आता। वे जानते ही नहीं कि उन्हें इस प्रकार का भय सता सकता है। अतएव वे इस प्रकार के स्वप्न के ऊपर हँसा करते हैं। परीक्षा में फेल होने का भय परीक्षा में पास होनेवाले विद्यार्थी को ही प्रायः होता है। परीक्षा में फेल होने का भय किसी दूसरे प्रकार के भय का प्रतीक बनकर उसका रेचन करता है। इससे मनुष्य को किसी बात की असाधारण चिन्ता शान्त होती है और वह सुख की नींद सो लेता है।

स्वप्न-दर्शन का दूसरा लाभ मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्वप्न से प्रबल वासनाएँ अपनी आंशिक तृप्ति पाकर शान्त होती हैं। वासनाएँ अवरुद्ध होकर मानसिक ग्रंथि उत्पन्न करती हैं। इससे अनेक प्रकार के मानसिक रोग पैदा होते हैं। मानसिक रोग मानसिक विकार के बाहर निकालने के साधन मात्र हैं। यदि मानसिक विकार को किसी दूसरे प्रकार से निकाला जा सके तो मानसिक रोग की उत्पत्ति न हो। वासनाओं की अवरुद्ध शक्ति ही मानसिक विकार बन जाती है। इस शक्ति को दो प्रकार से भले मार्गों द्वारा निकाला जा सकता है—एक शोध के द्वारा और दूसरे रेचन के द्वारा। जब मानसिक शक्ति विकार का रूप धारण कर लेती है तो उसका रोग के रूप में प्रकाशित होना अनिवार्य है। मनुष्य के स्वप्न इस मानसिक विकार को बहुत कुछ बाहर निकालते हैं। स्वप्न इस तरह मानसिक विकार के रेचन के प्राकृतिक मार्ग हैं। जिन लोगों के मन में मानसिक झंझट इतनी बढ़ी रहती है कि वे मानसिक रोग की सीमा तक पहुँच गये, उन्हें स्वप्न होना बन्द हो जाता है। स्वप्न न होने के कारण उनकी मानसिक परेशानी बहुत अधिक बढ़ जाती है। जब उन्हें स्वप्न फिर से अधिक होने लगते हैं तो उनकी मानसिक बेचैनी हल्की हो जाती है।

इस प्रसंग में लेखक के एक मानसिक रोगी का अनुभव उल्लेखनीय है। इस रोगी की आयु लगभग २१ वर्ष है। इसे अकारण भय, चिन्ता, परेशानी, हृदय की धड़कन, सिर-दर्द, थकान आदि रोग होते रहते थे। उसने अपने रोगों का वर्णन करते समय एक महत्वपूर्ण बात यह बताई कि इन रोगों का जब अधिक दौरान होता है तब उसे स्वप्न नहीं होते और जब उसे स्वप्न होने लगते हैं तो ये रोग कम हो जाते हैं। रोगी के इस वृत्तान्त से स्पष्ट है कि स्वप्न उसी मानसिक विकार को बाहर निकालते हैं, जिसे रोग बाहर निकालते हैं। किसी व्यक्ति को जैसा मानसिक रोग होता है उसी के अनुरूप उसके स्वप्न भी होते हैं। इसी कारण रोगी के स्वप्न उसके मानसिक रोगों के समझने में सहायक होते हैं।

एक बार लेखक को क्षय रोग हो जाने का अकारण भय उत्पन्न हो गया। इसके कारण उसको मानसिक परेशानी बहुत ही बढ़ गई। क्षय रोग ने एक बाध्य विचार का रूप धारण कर लिया। ज्यों-ज्यों लेखक इस विचार को मन से बाहर निकालने की चेष्टा करता गया, यह विचार और भी दृढ़ होता गया। अन्त में इस विचार से परेशान होकर वह बनारस से मध्यप्रांत के एक देहाती गाँव में गया। वहाँ यह बाध्य-विचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। लेखक का एक सम्बन्धी वास्तव में क्षय रोग से मर रहा था, लेखक को उससे मिलने तथा खबर लेने के लिए उसके घर जाना पड़ा। रात को उसी के घर पर मेहमानी और सोना हुआ। लेखक ने स्वप्न में देखा कि उसे भयंकर क्षय का रोग हो गया है। जिसके कारण उसकी मृत्यु हो गई। घर के लोग उसके आस-पास बैठकर रो रहे हैं। तदनंतर लोग उसके शरीर की अर्थी बनाकर उसे स्मशान तक ले गए। वहाँ एक चिता बनाई गई। उस पर शरीर को रख दिया गया, जब आग लगाने की बारी आई तो वह सोचने लगा कि अभी तो मैं मरा नहीं हूँ—ऐसा न हो कि लोग मुझे जला दें। बड़ी घबड़ाहट उत्पन्न हुई। इसी घबड़ाहट में नींद खुल गई।

इस स्वप्न के बाद क्षय रोग के बाध्य विचार में शिथिलता आ गई। लेखक ने उस समय शिव-भावना का अभ्यास भी किया, जिसके परिणाम-

स्वरूप बाध्य विचार एक-दो दिन में ही सदैव के लिए नष्ट हो गया। यहाँ हम देखते हैं कि जब तक लेखक क्षय रोग के विचार को भुलाने की चेष्टा करता रहा तब तक वह विचार और भी प्रबल होता गया। उससे सम्बन्धित उद्वेग बढ़ता गया। स्वप्न के अनुभव में जिस भय को लेखक भुलाने की चेष्टा करता था, उसने उसको प्रत्यक्ष कर दिया और उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया। इससे उस भय की शक्ति का रेचन हो गया और इस प्रकार बाध्य विचार का कारण नष्ट हो गया। जिस भाव को मनुष्य दबाता है, वह स्वभावतः बढ़ जाता है और जिसे प्रकाशित करता है अर्थात् जिसकी आत्म-स्वीकृति कर लेता है, यह स्वभावतः शिथिल हो जाता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। स्वप्न उन भावों का प्रतीक रूप से प्रकाशन करता है जो मानसिक रोगों के कारण होते हैं, और इस प्रकार मानसिक रोगों से बचने अथवा मुक्त होने में सहायता करता है। जो स्वप्न जितना ही स्पष्ट रहता है, वह मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से उतना ही लाभकारी होता है क्योंकि उससे दबे हुए मानसिक बिकार का उतना ही अधिक रेचन होता है।

जिस प्रकार स्वप्न मनुष्य को मानसिक स्वास्थ्य लाभ कराने में सहायक होता है; उसी प्रकार वह उसे अन्य प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होने में भी सहायक होता है। हमारी चिन्ताएँ जब सीमा से अधिक बढ़ जाती हैं तो वे हमें किसी काम को सफलतापूर्वक करने में सहायता न देकर रुकावट डालती हैं। किसी काम के विषय में अति चिन्ता करनेवाला व्यक्ति उस काम को बिगाड़ डालता है। वह जिस बात से अधिक डरा करता है फिर वही बात हो जाती है। अतएव किसी काम में सफलता प्राप्त करने के लिए चिन्ता की मनोवृत्ति का कम होना अति आवश्यक है। चिन्ता की शक्ति का रेचन चिन्ता के भुलाने से नहीं, वरन् उसके प्रकाशन से होता है। स्वप्न में चिन्ताएँ प्रतीक रूप से प्रकाशित होती हैं और इस प्रकार उनकी शक्ति का रेचन हो जाता है। जब चिन्ता की शक्ति शिथिल हो जाती है तो मनुष्य मनोयोग के साथ अपने काम में लग जाता है और उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है। चिन्ता और भय सन्देह का रूप

धारण करके चेतना के समक्ष विक्षेप उत्पन्न करते रहते हैं। इसी कारण चित्त की एकाग्रता नहीं रहती और किसी भी काम में सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से चिन्तायुक्त स्वप्न किसी काम में लगन बढ़ाने और उसमें सफलता पाने के लिऐ बड़े लाभकारी होते हैं।

कितने ही उच्च कोटि के परीक्षार्थी परीक्षा में बैठने के पूर्व परीक्षा में फेल होने के स्वप्न देखा करते हैं। लेखक के एक विद्यार्थी को अपनी डाक्टरी की अन्तिम परीक्षा के पूर्व उस परीक्षा में देर से पहुँचने का स्वप्न हुआ, इसके कारण उसकी परेशानी बहुत ही बढ़ गई। उसने देखा कि वह परीक्षा में फेल हो गया। वास्तव में इस विद्यार्थी की परीक्षा अभी प्रारम्भ ही नहीं हुई थी। उसने उस वर्ष परीक्षा के सभी परचे ठीक से किए और वह प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम पास हुआ। परन्तु पिछले वर्ष वह एक दिन परीक्षा-भवन में जाते समय अवश्य देरी करके गया था, जिसके कारण वह फेल होते होते बचा था।

यहाँ पर परीक्षा में फेल होने का स्वप्न निरर्थक-सा दिखाई देता है, परन्तु यह बड़ा ही आवश्यक कार्य करता है। इस विद्यार्थी को परीक्षा में बैठने के पूर्व चिन्ता सताया करती थी कि कहीं ऐसा न हो कि वह किसी परचे को ठीक से न कर पाए। यदि यह चिन्ता बढ़ती ही जाती तो वास्तव में वह अपने परीक्षा-फल को बिगाड़ ही देता। स्वप्न ने एक चिन्ता-जनक घटना का दृश्य दिखाकर उसकी बढ़ी हुई चिन्ता के भाव का रेचन किया और उसका उत्साह भी बढ़ाया। फेल होने का स्वप्न देखने के पश्चात् उसे अपने भय पर हँसी आई। जब वह ऐसी परीक्षा में अच्छी तरह से पास हो गया था जिसमें वह वास्तव में देरी करके पहुँचा था तो वह ऐसी परीक्षा में क्यों अच्छी तरह से उत्तीर्ण न होता जिसके लिए वह वर्ष भर पूर्व से तैयारी कर रहा है। इस प्रकार का विचार उसे अपने काम को लगन के साथ करने और उसे सफलता देने में सहायक हुआ।

परीक्षा में फेल होने के स्वप्न प्रायः सभी विद्यार्थी कभी न कभी देखते हैं। फ्रायड महाशय ने इस तरह के स्वप्नों को सामान्य स्वप्न कहा है। नंगे रह जाने के, रेल छूट जाने के, हवा में उड़ने के, ऊपर से नीचे

गिरने आदि के स्वप्न सामान्य हैं। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न का कभी-कभी परीक्षा से सम्बन्ध रहता है परन्तु साधारणतः उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न मनुष्य को तब होते हैं जब वह अपने ऊपर कोई भारी जिम्मेदारी ले लेता है और उसे सम्हाल सकने में उसके मन में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न प्रायः आश्वासन के रूप में आते हैं। वे एक ओर चिन्ता के भाव का रेचन करते हैं और दूसरी ओर उसके साहस को बढ़ाते हैं। देखा गया है कि परीक्षा में फेल होने का स्वप्न जिस व्यक्ति को होता है उसे ऐसी परीक्षा में ही फेल होने का स्वप्न होता है जिसमें वह वास्तव में पास हो गया है। जिस परीक्षा में वह फेल हो गया है उसमें उसे फेल होने का स्वप्न कदापि नहीं होता।

इस प्रसंग में फ्रायड महाशय ने अपने एक मित्र के परीक्षा में फेल होनेवाले स्वप्नों का उल्लेख किया है। ये मित्र कभी-कभी डाक्टरी की परीक्षा में फेल होने के स्वप्न देखा करते थे, परन्तु ये डाक्टरी की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हुए थे। डाक्टरी की परीक्षा पास करने के पूर्व उन्होंने कानून की भी परीक्षा दी थी, जिसमें वे फेल हो गये थे। अपने स्वप्न में उन्होंने इस परीक्षा में फेल होना कभी नहीं देखा। लेखक के एक वयोवृद्ध मित्र को भी एम० एस० सी० परीक्षा में कुछ वर्ष पूर्व फेल होने का स्वप्न होता था। वे इस परीक्षा में वास्तव में द्वितीय श्रेणी में पास हुए थे। उन्होंने कानून की परीक्षा भी देने की चेष्टा की थी, परन्तु वे उसमें फेल हो गये थे। वे इस फेल होनेवाली परीक्षा का स्वप्न कभी नहीं देखते थे। परीक्षा में फेल होने के स्वप्न जब इस मित्र को होते थे तब वे एक ऊँचा ओहदा प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए थे। उन्हें बीच-बीच में कभी-कभी सन्देह हो जाता था कि वे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ न होंगे। जिस परीक्षा में वे पास हो गये थे उसमें फेल होने का स्वप्न मानों आश्वासन के रूप में आता था। जब वे स्वप्न देखकर जाग उठते थे तो उनके मन में विचार आता था कि कैसी हँसी की बात है कि जिस परीक्षा में मैं पास हुआ, उसी में फेल होने का स्वप्न मैं देखता

हूँ। जिस प्रकार उस समय की चिन्ता व्यर्थ थी उसी प्रकार अपना लक्ष्य प्राप्त करने की वर्त्तमान चिन्ता भी व्यर्थ है। इस विचार के आते ही वे सब सन्देहों को छोड़कर स्वस्थ-मन से अपने लक्ष्य की प्राप्ति में उद्योग-शील हो जाते थे। इस तरह परीक्षा में फेल होने के स्वप्न कल्याणकारी होते हैं।

स्वप्न हमें अपने जीवन को सफल बनाने के लिये उचित मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। स्वप्न की चौथी उपयोगिता पर आधुनिक मनोविज्ञान के महान् पंडित युंग महाशय ने विशेष प्रकाश डाला है। युंग महाशय का कथन है कि जिस प्रकार हमें अपने वर्तमान व्यवसायों पर विचार करना जीवन के भावी कार्यक्रम बनाने के लिये आवश्यक है, इसी प्रकार स्वप्नों पर भी विचार करना इसके लिए आवश्यक है। स्वप्न के अनुभव मानव-जीवन में उतना ही महत्व रखते हैं, जितना कि जाग्रत अवस्था के अनुभव। हमारा भीतरी मन क्या चाहता है और हमारा जीवन किस ओर प्रवाहित हो रहा है इसे हम अपने स्वप्न के अध्ययन से ही जान सकते हैं। अपने अचेतन मन को जानने का स्वप्न एक प्रमुख साधन है। सफल जीवन बनाने के लिये न केवल अपने चेतन मन की भावनाओं और युक्तियों को ध्यान में रखना आवश्यक है, वरन् अपने अचेतन मन के प्रबल संस्कारों और वासनाओं को ध्यान में रखना आवश्यक है। जब हम चेतन मन की आकांक्षाओं को ध्यान में रखकर अपने कार्यों का निश्चय करते हैं तो कभी-कभी भारी भूल कर डालते हैं। हमारा अचेतन मन हमारे चेतन मन की अपेक्षा हमारे कामों के भावी परिणामों को अधिक जानता है और वह हमें अनेक प्रकार से अपनी भूलों के प्रति आगाह करता है। यह चेतावनी कुछ ऐसे प्रतीकों के द्वारा होती है जो सर्वमान्य हैं। सगुन-असगुन का होना, ठीक समय पर किसी महत्वपूर्ण बात को भूल जाना, कार्य के प्रारम्भ करते समय कोई चोट खा जाना अथवा गिर जाना, मन में उद्विग्नता उत्पन्न होना, किसी प्रिय व्यक्ति के द्वारा पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार काम करने में विरोध करना इत्यादि अचेतन मन के असफल होनेवाले कामों को रोकने के उपाय हैं। स्वप्नों के द्वारा

भी हमारा अचेतन मन हमें वांछनीय कार्य में प्रोत्साहित करता है और अवांछनीय कामों में हतोत्साहित करता है। जो मनुष्य स्वप्न में बताए हुए निर्देशों की अवहेलना नहीं करता वह अपना जीवन शान्ति से व्यतीत करता है। हमारे स्वप्नों के अर्थ भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न होते हैं, वे उतने ही स्पष्ट होते हैं जितना कि हम अपने अचेतन मन की बात सुनने के लिए तैयार हैं। इस विचार के अनुसार स्वप्नों पर प्रति दिन विचार करते रहना जीवन को सफल बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

पिछले प्रकरणों में यह बताया जा चुका है कि डाक्टर फ्रायड और युंग में अचेतन मन के स्वभाव के विषय में मौलिक मतभेद है। डाक्टर फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य का चेतन मन ही नैतिकता के बन्धन को मानता है, उसका अचेतन मन इसे नहीं मानता। मनुष्य का अचेतन मन बड़ा कामी, लोभी, स्वार्थी क्रूर और धोखेबाज है। इस विचार का समर्थन युंग महाशय नहीं करते। यह कथन व्यक्ति के अचेतन मन के ऊपरी भाग के विषय में ही लागू होता है। मनुष्य का गम्भीर अचेतन मन न्यायप्रिय, उदार और सब पर प्रेम करनेवाला है। इस प्रकार मनुष्य का सम्पूर्ण अचेतन मन न तो पिशाचवत् है और न देवतावत्। उसमें नैतिकता और अनैतिकता, सौन्दर्य और असौन्दय, सच और झूठ सभी प्रकार के तत्व वर्त्तमान हैं, और वह इनके परे भी है। किन्तु जब किसी व्यक्ति के अचेतन मन का दमन होता है तो वह अवगुण-धारी बन जाता है। मनुष्य अपने अचेतन मन से मिलान करके उससे अनेक प्रकार की शक्ति और सलाह प्राप्त कर सकता है। जब मनुष्य अपने अचेतन-मन को बुरा मानकर उसका दमन करता है तो उसका अचेतन-मन उसका शत्रु हो जाता है। फिर वह उसके कामों में अनेक प्रकार की बाधाएँ डालने लगता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अनेक प्रकार के भयंकर स्वप्न होते हैं। पर वे उसे कोई निश्चित पथ नहीं दर्शाते।

अपने स्वप्नों पर विचार करना इस अचेतन मन को समझने की चेष्टा है, और स्वप्न में मिले आदेशों के अनुसार जाग्रतावस्था का दिन-

चर्या में हेरफेर करना अचेतन मन की सलाह मानना है। युंग महाशय स्वप्नों का, योग्य पथ-प्रदशन में बहुत ही विश्वास करते थे। उन्होंने मनोविश्लेषण पर लिखी हुई अपनी पुस्तकों में इस मत का प्रतिपादन किया है। यहाँ उनकी "माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल" नामक पुस्तक का एक उदाहरण उल्लेखनीय है—

जूरिच विश्वविद्यालय के युंग महाशय के एक सहयोगी प्रोफेसर महाशय को पहाड़ पर सैर करने जाने की बड़ी रुचि थी। वे युंग महाशय की स्वप्नों का अर्थ लगाने की लगन का मजाक उड़ाया करते थे, वे जब कभी युंग महाशय से मिलते तो वे स्वप्नों के अध्ययन की बात छेड़कर उनको हँसी उड़ाने की चेष्टा करते थे। एक दिन वे युंग महाशय को जूरिच नगर के रास्ते पर मिल गये। उन्होंने युंग महाशय से मुस्कुराकर पूछा—अब संसार कैसा चल रहा है? क्या आप अब भी स्वप्नों का अर्थ लगाते हैं? मुझे हाल ही में एक बे सिर-पैर का स्वप्न हुआ है, क्या उसका कोई अर्थ हो सकता है? उन्होंने अपना स्वप्न सुनाया। जो इस प्रकार था—"मैं एक ऊँचे पहाड़ पर चढ़ रहा हूँ जिसमें सीधी चट्टानें हैं और चोटियाँ बर्फ से ढँकी हैं। मैं ऊपर चढ़ता चला जाता हूँ। दिन बहुत सुन्दर है। मैं जितना ही ऊपर जाता हूँ, उतना ही आनन्द की अनुभूति करता हूँ। मैं सोचता हूँ कितना अच्छा होता कि मैं इसी प्रकार ऊपर ही चढ़ता रहता। जब मैं चोटी पर पहुँचता हूँ तो मेरी प्रसन्नता और उल्लास इतने प्रबल हो जाते हैं कि मैं सीधे आकाश में चढ़ जाने की बात सोचने लगता हूँ। मुझे ज्ञात होता है कि मैं वास्तव में ही आकाश में जा रहा हूँ। मैं शून्य आकाश में आगे बढ़ता चला जाता हूँ। इस पर मैं एकाएक जाग जाता हूँ और अपने आपको अत्यन्त आनन्द की स्थिति में पाता हूँ।"

जब उक्त प्रोफेसर ने अपना स्वप्न डाक्टर युंग को सुनाया तो उन्होंने कहा—'मेरे प्यारे मित्र, मैं जानता हूँ कि तुम पहाड़ पर चढ़ना नहीं छोड़ सकते, किन्तु मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि भविष्य में कभी पहाड़ पर अकेले चढ़ने के लिए मत जाना। जब कभी जाना तो अपने साथ एक पथ-प्रदर्शक लेते जाना। तुम मुझे वचन दो कि तुम अपनी बुद्धि से काम

न लेकर मेरी ही बात मानोगे।"

प्रोफेसर महाशय ने इस पर उनसे कहा, "यह असम्भव है" और नमस्कार करते हुए उन्होंने अपना रास्ता लिया। इस वार्तालाप के दो महीने बाद उन्हें पहाड़ पर चढ़ने की घातकता के सम्बन्ध में पहली चेतावनी मिली। जब वे एक बार अकेले पहाड़ पर सैर करने गए थे तो एकाएक एक चट्टान पहाड़ पर से खिसक गई और वे उसके नीचे दब गए। इसी बीच उस ओर से कुछ सैनिक अकस्मात् आ गए और उन्होंने प्रोफेसर महाशय को जीवित निकाल लिया।

इस दुर्घटना के पश्चात् भी प्रोफेसर महाशय ने पहाड़ पर चढ़ने का नशा न छोड़ा। एक महीने बाद वे पुनः अपने एक मित्र को साथ लेकर पहाड़ पर चढ़ने गए, किन्तु अपने साथ किसी पथ-प्रदर्शक को न ले गए। जो होना था, वही हुआ। वे एक बड़ी ऊँची चट्टान से एकाएक गिर पड़े। आल्पस पहाड़ के एक निवासी ने उन्हें उस चट्टान से गिरते हुए देखा। गिरते समय वे प्रायः उसी स्थिति में थे जिस स्थिति में उन्होंने अपने आपको स्वप्न में देखा था, अर्थात् वे चट्टान के किनारे से शून्य आकाश में अपना पैर रख रहे थे। वे बड़ी ऊँचाई से अपने मित्र के सिर पर गिरे और इस प्रकार दोनों व्यक्तियों की तुरन्त मृत्यु होगई।†

उपर्युक्त उदाहरण में प्रोफेसर महाशय का स्वप्न उन्हें चेतावनी के रूप में आया था। यहाँ स्वप्न की पथ-प्रदर्शकता स्पष्ट है। युंग महाशय का कथन है कि जब कोई स्वप्न मनुष्य को बार-बार हो तो उसका मनुष्य के भावी जीवन से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। ऐसे स्वप्न की कदापि अवहेलना न करनी चाहिये; अपितु स्वप्न के अर्थ को समझने की चेष्टा करनी चाहिए। जब मनुष्य अपने ऐसे स्वप्न का अर्थ समझने की चेष्टा करने लगता है तो धीरे-धीरे उसे अर्थ स्पष्ट भी हो जाता है। जो मनुष्य अपने आपमें सुधार करने के लिए तैयार रहता है, उसे अपने आन्तरिक मन के आदेश भी समझ में आने लगते हैं। जब स्वप्न में मिली हुई चेतावनी को ध्यान में रखकर कोई मनुष्य अपने जीवन में सुधार

---

† The Modern Man in Search of a Soul

करता है तो फिर उसे ऐसे स्वप्न नहीं होते। जब कोई व्यक्ति इन बार-बार होनेवाले स्वप्नों की अवहेलना करता है तो वह आत्म-विनाश कर लेता है। इस प्रसंग में युंग महाशय के दिए हुए एक व्यक्ति के निम्न-लिखित दो स्वप्न उल्लेखनीय हैं। स्वप्न इस प्रकार के हैं।

"मैं अपने पुराने जन्मस्थान के गाँव में हूँ। मैं एक रास्ते पर चल रहा हूँ, बचपन के स्कूल जानेवाले कुछ व्यक्ति रास्ते पर खड़े हुए हैं। मैं उनके पास से चला जाता हूँ और वहाँ से इस तरह निकलता हूँ मानो उन्हें नहीं पहचानता। उनमें से एक ने मेरी ओर उँगली बताकर कहा—'देखो वह अब हमारे गाँव में नहीं आता, वह हमें नहीं पहचानता।"

दूसरा स्वप्न निम्नलिखित है। मैं यात्रा पर जा रहा हूँ और बड़ी जल्दी में हूँ। मैं अपना सामान ढूँढ़ता हूँ, परन्तु उसे नहीं पाता। मैं बड़ी परेशानी में हूँ। समय जा रहा है और गाड़ी छूटनेवाली है। अन्त में मैं अपनी सभी वस्तुएँ इकट्ठी कर लेता हूँ। इतने ही में मुझे स्मरण होता है कि मैं अपने आवश्यक कागजों का एक हैण्डबेग भूल आया हूँ। मैं फिर जोर से घर की ओर दौड़ता हूँ और घर से उस हैण्डबेग को लेकर स्टेशन की ओर फिर से दौड़ता हूँ। मार्ग में अनेक रुकावटें आ जाती हैं और मैं आगे नहीं बढ़ रहा हूँ। बहुत प्रयत्न करने पर मैं प्लेटफार्म तक पहुँचता हूँ कि गाड़ी तेजी से स्टेशन पर आ रही है। यह गाड़ी बड़ी लम्बी और टेढ़ी-मेढ़ी है। मुझे विचार आता है कि यदि ड्राइवर सावधान न हुआ और यदि वह पूरी तेजी के साथ गाड़ी को लाया, तो गाड़ी पटरी से नीचे उतर जायगी। मैं चिल्लाकर ड्राइवर को गाड़ी धीरे-धीरे चलाने को कहता हूँ। उसी समय गाड़ी के कुछ पिछले डब्बे पटरी से नीचे उतर जाते हैं और फिर पूरी गाड़ी नीचे गिर जाती है। मैं इस भयंकर दृश्य को देखकर भयभीत अवस्था में जाग उठता हूँ।

उक्त स्वप्नों में स्वप्न-दर्शक को अपनी जीवन-चर्या के विषय में सावधान होने का आदेश दिया गया है। स्वप्न-दर्शक एक ऊँचे पद पर स्थित था। वह युंग-महाशय से अपनी मानसिक बीमारी के सम्बन्ध में सलाह लेने आया था। उसे भय, चिन्ता, सिर भारी होने और चक्कर

आने की बीमारी थी। सिर का चक्कर आना उसी प्रकार का था जिस प्रकार का अनुभव पहाड़ की ऊँची चोटी पर पहुँचने पर किसी व्यक्ति को होता है। इस व्यक्ति का जीवन बड़ा सफल था। अपने परिश्रम, उत्साह और योग्यता के द्वारा उसने गरीबी की स्थिति से ऊपर उठकर एक ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था। एक-एक कदम बढ़ाते हुए वह अपने सामाजिक-जीवन की सबसे ऊँची मंजिल तक पहुँच चुका था। उसे आगे बढ़ने का और भी अवसर था। जब वह अपने इच्छित स्थान पर पहुँचने-वाला ही था तभी उसको उक्त मानसिक रोग उत्पन्न हो गया। मनुष्य जीवन में सफलता अपनी मानसिक शक्ति के आधार पर पाता है। इस शक्ति के सदुपयोग से जब इसे कुछ सफलता मिल जाती है तो उसकी आकांक्षाएँ और भी बढ़ जाती हैं। इनको पूरी करने में वह अपनी मान-सिक शक्ति को व्यय करता रहता है। जब मनुष्य की मानसिक शक्ति व्यय हो जाती है तो उसे फिर विफलताएँ मिलने लगती हैं। अथवा वह एकाएक जीवन की सर्वोच्च मंजिल से धड़ाम से नीचे गिर जाता है। अपनी मानसिक शक्ति व्यय होने का ज्ञान पहले-पहल मनुष्य के अचेतन मन को होता है और वह मानसिक रोग आदेशात्मक स्वप्न के रूप में चेतन मन के समक्ष प्रकाशित होता है।

अस्तु, उक्त व्यक्ति के स्वप्न यह आदेश देते थे कि ससकी सब मान-सिक शक्ति व्यय हो चुकी है और वह अपनी पुरानी सफलता के भरोसे पर बढ़ने की चेष्टा न करे, नहीं तो उसके जीवन की गाड़ी पटरी से उतर कर उलट जायगी। युंग महाशय ने इस व्यक्ति को अपने उक्त स्वप्नों के आधार पर अपनी परिस्थिति से सन्तुष्ट रहने की सलाह दी। परन्तु उसने युंग महाशय के स्वप्नों के अर्थ को ठीक न माना और न उनकी सलाह के अनुसार अपनी जीवनचर्या को ही बदला। वह पहले जैसा तेजी से आगे बढ़ता ही गया। अन्त में जो होना अनिवार्य था, वह होकर रहा। वह एकदम विक्षिप्तावस्था में पहुँच गया।

मनुष्य का अहंकार अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार की अप्रिय सचाई को सरलता से ग्रहण नहीं करता। उसका अचेतन मन बहुत सी

ऐसी बातों को जानता है जो उसके लिए हितकर हैं। परन्तु उनका ज्ञान होना उसे अप्रिय लगता है। ऐसी अवस्था में उसका अचेतन मन एक सच्चे मित्र के समान उसके रूप को, कथन को, तथा दो अर्थ के वाक्यों द्वारा (अत्युक्ति) वस्तुस्थिति को उसके अहंकार के समक्ष लाता है। स्वप्न उसी उद्देश्य की पूर्ति के हेतु मनुष्य को होते हैं। उनके द्वारा युंग महाशय के कथनानुसार कटु सत्य को मनुष्य का अचेतन मन उसकी अर्थ-चेतना के समक्ष रूपक के आवरण द्वारा प्रकाशित करता है। जो व्यक्ति अप्रिय सत्य को सुनने के लिए तैयार रहता है, उसे स्वप्नों के अर्थ धीरे-धीरे स्पष्ट हो जाते हैं। वह उनका सच्चा अर्थ शीघ्रता से समझ भी जाता है। जब मनुष्य अपने आपको सुधारने के लिए तैयार रहता तो वह अपने स्वप्न की स्पष्ट बात को भी ठीक नहीं मानता। वह सोचता है कि क्या दूसरे लोगों ने नीचे से उठकर ऊँचे-ऊँचे स्थान नहीं प्राप्त किए हैं। मैं ही क्यों रुकूँ ? इस प्रकार मनुष्य अपने आपको भुलावा देता रहता है। वह अपने आन्तरिक मन की बात न सुनकर आगे बढ़ता जाता है और फिर अपना सर्वनाश कर डालता है। जीवन में उन्नति हमारी आकांक्षा पर ही निर्भर नहीं करती। हमारी मानसिक शक्ति पर भी निर्भर करती है। प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ परिमित मानसिक शक्ति रहती है। जीवन इसी शक्ति का खेल है। जब यह व्यय हो जाती है तो जीवन में आगे बढ़ने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं।

हमारे स्वप्न कभी-कभी किसी आनेवाली भयानक परिस्थिति के विषय में हमें आगाह करते हैं, और इस प्रकार वे उस परिस्थिति से भली भाँति लड़ने के लिए उचित मार्ग दर्शाते हैं। कभी-कभी हम किसी नाजुक स्थिति में रहते हैं पर उसे जानते नहीं। स्वप्न हमें इस स्थिति के विषय में सचेत करते हैं। कुछ दिन पूर्व लेखक की एक छात्रा को स्वप्न आया कि एक काला पिशाच उसकी छाती पर चढ़ गया है, और उसका गला दबाकर उसको मारे डाल रहा है। वह इस स्वप्न से इतनी भयभीत हो गई कि चौंककर उठ गई। वास्तव में इस समय उसके मन में भारी अन्तर्द्वन्द्व चल रहा था। वह इस समय एक ऐसे व्यक्ति से झगड़ा कर

रही थी, जो उससे कहीं अधिक प्रबल था। वह ऊपर से तो बहुत साहस दिखा रही थी, पर जैसा कि इस स्वप्न से प्रत्यक्ष होता है, भीतर से उससे बहुत डरती थी। इस स्वप्न ने एक ओर उसके भय के भाव को रेचन किया और दूसरी ओर उसे वस्तुस्थिति से परिचय कराया जिससे वह समझ-बूझकर आगे कदम रखे।

इस प्रसंग में लेखक के एक अन्य छात्र का स्वप्न उल्लेखनीय है। इस छात्र ने देखा कि वह यात्रा कर रहा है। यह छात्र हिन्दू था। उसने एक मुसलमान को राह में पाया। यह व्यक्ति उससे मीठी-मीठी बातें करने लगा। उसने छात्र का हाथ देखा, और कहा कि तुम चालीस वर्ष तक जीवित रहोगे। स्वप्न-दर्शक बीच-बीच में सन्देह करता था कि कहीं ऐसा न हो कि वह व्यक्ति मुझे मार डाले।

उक्त स्वप्न जब छात्र को हुआ था तब शहर में साम्प्रदायिक दंगे चल रहे थे और यह छात्र दंगों के स्थानों में चले जाने में बड़ी ढिठाई दिखाता था, परंतु वास्तव में यह ढिठाई उसका अभिमान मात्र थी। दंगों के प्रति अत्यधिक निर्भीकता का भाव दिखाना अपने आप को धोखा देना मात्र था। इस धोखा देने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य की कभी-कभी भारी क्षति हो जाती है। उक्त स्वप्न ने छात्र को एक ओर अपनी मानसिक स्थिति से परिचय कराया और दूसरी ओर उसे अपने सम्भाव्य-संकट के प्रति आगाह भी किया।

स्वप्न के द्वारा हमें कभी-कभी भावी घटनाओं का संकेत मिलता है। युंग महाशय ने इस प्रसंग में अपनी पुस्तक 'दि माडर्न मेन इन सर्च आफ ए सोल' में एक स्त्री के दो स्वप्न बताए हैं। एक स्वप्न में उसने माँ को एक कमरे में फाँसी लगाये हुए झूलते देखा और दूसरे स्वप्न में उसने एक बड़े तेज घोड़े को घर के ऊपर चढ़ते हुए और उसे गिरकर मरते हुए देखा। इस स्त्री की चिकित्सा युंग महाशय कर रहे थे। इसे एक ऐसी पेट की बीमारी हो गई थी जिससे उसकी मृत्यु होना सम्भव था। स्वप्नों का लक्ष्य इसी ओर था। युंग महाशय ने स्वप्नों के संकेत को समझकर अपनी चिकित्सा में आवश्यक परिवर्तन कर दिया और इस

प्रकार उस स्त्री को मृत्यु के मुख से बचा लिया।

कभी-कभी स्वप्न मनुष्य को अपने काम में प्रोत्साहित करने के लिए आते हैं। इस प्रकार का प्रोत्साहन दो प्रकार से होता है—(१) सोधे आवेशों के द्वारा और (२) सांकेतिक रूप से। कुछ स्वप्नों में हम किसी महात्मा को अपने को प्रोत्साहित करते हुए पाते हैं, अथवा स्वप्न के द्वारा कोई ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया जाता जाता है, जिस पर चलकर हम सफलता प्राप्त करते हैं। कभी-कभी हम सांकेतिक रूप से प्रोत्साहित किए जाते हैं। जिन परीक्षाओं में हम पास हो गए हैं, उनमें फेल होने के स्वप्न इसी प्रकार के हैं। जब ऐसे स्वप्न देखकर मनुष्य जागता है, तो उसका मन बहुत कुछ चिन्ता से मुक्त हो जाता है। वह सोचने लगता है कि जिस प्रकार परीक्षा में फेल होने का भय निराधार था, इसी प्रकार उसकी वर्तमान चिन्ता भी निराधार है।

स्वप्न के द्वारा मनुष्य को अपने जीवन की मौलिक बातों के सम्बन्ध में दृष्टिकोण को बदलने का भी आदेश मिलता है। जो व्यक्ति ऐसे स्वप्नों के ऊपर विचार करता है, उसे स्वप्नों के द्वारा महत्वपूर्ण आध्यात्मिक शिक्षा मिलती है। एक समय रात में लेखक अपने एक छात्र से मनुष्य की नैतिक और पाशविक प्रवृत्तियों के विषय में बातचीत कर रहा था। लेखक का कथन था कि मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ उसके जीवन के विकास में सहायक होती हैं न कि बाधक। जब मनुष्य का उनके प्रति उचित दृष्टिकोण होता है तो वे उसका मित्र बन जाती हैं। मनुष्य के मन में मानसिक झंझट इसीलिए उत्पन्न होते हैं कि वह इन प्रवृत्तियों को अपना मित्र न मानकर अपना शत्रु मान बैठता है, और फिर वह उनका उचित उपयोग न करके उन्हें दबाने की चेष्टा करता है। इस प्रकार वह अपने में ही देवासुरसंग्राम की स्थिति उत्पन्न कर लेता है। जिन प्रवृत्तियों को हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वे हमारी शत्रु बन जाती हैं। उसके प्रतिकूल जिन्हें हम उदार भाव से देखते हैं, वे हमारी मित्र बनकर अनेक प्रकार से जीवन के कार्यों में हमारी सहायता करती हैं। छात्र के मन में नैतिक भावनाओं के प्रबल होने के कारण उक्त सिद्धांत

उसके गले न उतरा। उसने कई प्रकार की शंकाएँ इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में कीं, किन्तु जैसा कि निम्नलिखित स्वप्न से ज्ञात होता है, इस छात्र के आन्तरिक मन को इस सिद्धान्त की कुछ बातें भली लगीं। उसने उसी रात में निम्नलिखित स्वप्न देखा—'मैं देहाती गाँव में घर के दरवाजे के पास खड़ा हूँ, कहीं बाहर जाना चाहता हूँ। मेरे सामने एक जंगली सूअर खड़ा है। वह मेरी ओर घूर-घूरकर देख रहा है। मैं दरवाजे को खटखटाता हूँ, जिससे कि दरवाजे की आहट पाकर सूअर भाग जाय; परन्तु दरवाजे से कोई आवाज ही नहीं निकलती और वह सूअर वहीं खड़ा रहता है। मुझे कुछ भय होता है, इतने में मेरे गाँव की परिचित देविका नाम की एक देहाती स्त्री दिखाई देती है। इसका जीवन बड़ा भला है। इसके प्रति मेरी पहले से ही श्रद्धा थी। वह विधवा है और अपने दो बच्चों को मजदूरी करके पालती है। वह मुझे डरते हुए देख मुझसे कहती है—भैया डरो मत, वह कुछ नहीं करेगा। इसके बाद नींद खुल जाती है।

इस समय सबेरा हो चुका था। नींद खुलते ही छात्र ने लेखक से कहा—पंडितजी आज मैंने बाराह भगवान् का स्वप्न देखा। इस छात्र का उक्त वाक्य बड़ा ही मार्मिक था। ज्ञात होता है कि रात भर की सुप्तावस्था में मन के मन्थन के परिणाम-स्वरूप छात्र इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि जिन पाशविक प्रवृत्तियों को हम घृणा की दृष्टि से देखते हैं, वे हमारे जीवन के विकास के लिए हानिकारक नहीं हैं। हम उन्हें घृणा की दृष्टि से देखकर ही हानिकारक बना लेते हैं। उक्त स्वप्न का अर्थ भी स्पष्ट ही है। स्वप्न में जिन प्रतीकों से इस गूढ़ रहस्य को स्पष्ट करने के लिए काम किया गया है, वे बड़े उपयुक्त हैं। स्वप्न-द्रष्टा घर से बाहर जाना चाहता है। यह राह में जंगली सूअर देखता है। वह उसे भगाने के लिए दरवाजे को खट-खटाता है। उसमें से आवाज नहीं निकलती। देविका उसकी सहायता करती है, उसको सुबुद्धि देती है। ये सभी बातें प्रतीक के रूप में हैं। घर से बाहर निकलना जीवन में आगे बढ़ने की इच्छा का द्योतक है। जंगली सूअर पाशविक शक्ति का द्योतक

है। दरवाजे को खटखटाने की चेष्टा करना उसके प्रति अमैत्री भाव और उसके दमन की इच्छा का द्योतक है। दरवाजे से आवाज न निकलना मनुष्य के अभिमान की शक्तिहीनता का द्योतक है। देविका मनुष्य की दैविक बुद्धि अथवा विवेक है। न केवल उसकी सलाह विवेकपूर्ण है, अर्थात् दैविक है, वरन् उसका आचरण और नाम भी पवित्रता के द्योतक हैं। वह दैविक बुद्धि स्वप्नद्रष्टा को अपना दृष्टिकोण ठीक करने के लिए सलाह देती है। इस सलाह के उपरान्त ही नींद खुल जाती है। जागते ही जो वाक्य छात्र कहता है, वह भी स्वप्न के स्पष्टीकरण में बड़े महत्व का है।

स्वप्न रचना-प्रणाली[1]

मनुष्य को अपने उन संवेगों का दमन करना पड़ता है जिनका प्रदर्शन वह समाज में नहीं कर पाता। 'फ्रायड' के अनुसार अचेतन मन के दमित संवेगों में विशेषकर लैंगिक वासनाओं का ही बाहुल्य होता है। हमारा जाग्रत मन यद्यपि उच्छृंखल संवेगों के दमन में बहुत कुछ सफल होता है परन्तु वह उन संवेगों का निर्मूलन नहीं कर पाता। वे संवेग चेतन मन से ठुकराए जाने पर अचेतन मन में अपना डेरा-डंडा जमाते हैं। प्रायः चेतन मन को इस बात की खबर भी नहीं होती। इन दमित आवेगों का वास्तविक जगत में पदार्पण असंभव-सा होने के कारण स्वप्नसृष्टि में विचरण कर ये अपने लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वासना-तृप्ति की दृष्टि से भी स्वप्न का काफी महत्व है। स्वप्न में प्रदर्शित संवेगों और विचारों का भिन्न-भिन्न स्थित्यंतरण करना पड़ता है। स्वप्न-विचार आकुंचन, प्रतकीकरण, आरोपण, विस्तारण, और मूर्तिकरण, की क्रियाओं से प्रभावित होकर दृश्य स्वप्न का रूप धारण करते हैं।

आकुंचन[2]—आकुंचन की क्रिया स्वप्न को संक्षिप्त रूप में स्वप्न-द्रष्टा के सम्मुख उपस्थित करती है। परन्तु आकुंचन से स्वप्न का वास्तविक महत्व कम नहीं होता। उदाहरणार्थ मेरे एक मित्र ने स्वप्न देखा कि उसका माथा फट गया है और वह पागल हो गया है। उसकी व्याख्या

1 Dream mechanism. 2 Condensation.

करते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह व्यक्ति प्रायः ७-८ वर्षों से गम्भीर लैंगिक उलझनों के सुलझाने का प्रयत्न करता रहा, जिसमें वह पूर्ण असफल रहा। इस असफलता के कारण उसे कभी-कभी ऐसा लगता था कि उसका जीवन भी अस्थिर और संकटपूर्ण है। इस प्रकार की विफल मनस्थिति का वर्णन मित्र के उस छोटे से स्वप्न में निहित है। मेरा वह मित्र कभी-कभी ऐसा भी विचार करता था कि वह अतिविचार से पागल हो जायगा।

प्रतीकीकरण[1]—जब स्वप्न में प्रदर्शित वासनाओं का रूप बदलकर स्वप्न-सृष्टि उपस्थित होती है तो उसे प्रतीकीकरण कहते हैं। उदाहरणार्थः मेरे एक मित्र ने मुझे एक बार बताया कि स्वप्न में एक बंदर ने उसकी नोटबुक फाड़ डाली है। स्वप्न-व्याख्या करने पर यह ज्ञात हुआ कि वह व्यक्ति अपनी नोट-बुक को गंदा समझता था और सोचा करता था कि उसे यदि कोई पढ़ेगा तो वह उसे अविश्वासनीय तथा आवारा व्यक्ति समझ बैठेगा। उसकी इस टीकाप्रिय बुद्धि ने स्वप्न में बंदर बनकर उसकी नोट-बुक फाड़ डाली। इसके अतिरिक्त वह मित्र अपनी नोटबुक के पन्ने गंदे होने पर स्वतः ही फाड़ देता था।

आरोपण[2]—स्वप्न में जब कोई व्यक्ति अपने भावों का आरोप यदि किसी दूसरे पर करे तो उसे 'आरोपण' कहकर पुकारते हैं। स्वप्न में यदि कोई व्यक्ति देखे कि कोई अन्य व्यक्ति किसी स्त्री पर बलात्कार कर रहा है तो उस स्वप्न का सरल अर्थ यह होगा कि वह व्यक्ति स्वतः बलात्कार करने की इच्छा रखता है। एड्लर ने अपनी पुस्तक में आरोपण का एक सुन्दर उदाहरण दिया है। एक व्यक्ति ने स्वप्न में अपने को शहर के एक मार्ग में खड़ा पाया जहाँ युद्ध हो रहा था। उसने देखा कि गोलियों की बौछार के कारण कितनी ही स्त्रियाँ अंतरिक्ष में उड़ गई हैं। स्वप्न की व्याख्या करने पर ज्ञात हुआ कि उस व्यक्ति की अपनी स्त्री से पटती न थी। वह उससे घृणा करता था। परन्तु वास्तविक जगत में वह उसका अपमान या निंदा करना अनुचित समझता था। उसका स्वप्न स्त्री के प्रति

1 Symbolisation. 2 Projection.

दबी या प्रक्षिप्त घृणा का सूचक था।

विस्तारण[1]—स्वप्न में कभी-कभी हम साधारण-सी बातों का काफी विस्तृत चित्रण पाते हैं। स्वप्न में विविधता लाने में विस्तारण यथेष्ट सहयोग प्रदान करता है। एक व्यक्ति ने एक बार स्वप्न देखा कि उसके एक विश्वसनीय मित्र ने किसी एक व्यक्ति को ठग लिया है। व्याख्या के अनन्तर ज्ञात हुआ कि स्वप्न-द्रष्टा अपने उस मित्र के पास रुपया रखने में हिचकता था। परन्तु वह उस हिचकिचाहट को व्यक्त करना अनुचित समझता था। जिस प्रकार एक छोटी-सी बात को समझाने के लिए कुशल साहित्यिक एक कहानी, उपन्यास अथवा नाटक रच लेता है, इसी प्रकार अचेतन मन किसी छोटे से सन्देह को व्यक्त करने के लिए एक पूरा स्वप्न-नाटक रचता है। इस प्रकार दमित भाव प्रक्षिप्त रूप में चेतना के समक्ष व्यक्त होता है।

मूर्ति-करण[2]—जाग्रत स्थिति में हमारे मन में अनेक कल्पनाएँ आती रहती हैं। परन्तु उन अमूर्त कल्पनाओं को स्वप्न में ही मूर्त रूप प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ एक स्त्री ने एक स्वप्न देखा कि वह अपने हाथ में चमड़े का बेग लेकर जा रही है जिस पर एक लेबल लगा है 'केवल स्त्रियों के लिए।' व्याख्या करने पर ज्ञात हुआ कि वह केवल स्त्रियों से ही प्यार करना चाहती थी। वह चमड़े का बेग जिसे वह अपने साथ दो रही थी वह उसकी समलैंगिक भावना का मूर्तरूप था।

उपरोक्त चर्चा के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वप्न-सृजन में दबे हुए या प्रक्षिप्त वासनाओं या संवेगों को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु स्वप्न-सृष्टि में अन्य भी कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। चेतन और अचेतन मन का अस्तित्व स्वतन्त्र न होकर, वे एक दूसरे के पूरक हैं। चेतन अवस्था में जिन वासनाओं का प्रदर्शन व्यक्ति कर सकता है उसका दिग्दर्शन कराने के लिये स्वप्न प्रयत्नशील न होकर अचेतन मन की दबी हुई वासनाओं को प्रकट करना ही उसका मुख्य कार्य है। इसका अर्थ यह नहीं कि चेतन मन की क्रियाओं

1 Elaboration. 2 Concretion.

को स्वप्न में कोई स्थान ही न हो। कुछ मनोवैज्ञानिक यहाँ तक कह बैठते हैं कि स्वप्न में जाग्रत अवस्था के अनुभव की पुनरावृत्ति होती है। इस विधान का अर्थ हम कुछ भिन्न प्रकार से लगा सकते हैं। जाग्रत अवस्था के अनुभव की पुनरावृत्ति स्वप्न में होती है। परन्तु यह आवृत्ति स्वप्न-सृजन के अन्य आवश्यक तत्वों के सहयोग लेती है।

इसके अतिरिक्त उन शारीरिक विकारों का भी जिनका अनुभव हम सोते समय करते हैं—स्वप्न-सृजन में काफी प्रभाव होता है। प्यासा व्यक्ति स्वप्न में पानी को देखता है और भूखा स्वप्न में उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थों को; ज्वर की अवस्था में मनुष्य प्रायः अच्छे स्वप्न नहीं देखता।

नीतिशास्त्र के विशेषज्ञ प्रायः इस बात की याद दिलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों के अनुसार फल भोगना ही पड़ता है—'बोवै पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय'। मनोवैज्ञानिक भी प्रकृति के इस नियम को सिद्ध करते हैं। यदि कोई व्यक्ति दूसरों से द्वेष करता है, दूसरों पर अत्याचार करना चाहता है तो स्वप्न में वह अपने को अनेक आपत्तियों से घिरा पाता है। जो व्यक्ति सदा अच्छे विचारों को मन में लाता है या लाने का प्रयत्न करता है उसके स्वप्न डरावने और निरुत्साह करनेवाले नहीं होते। इसे मनोवैज्ञानिकों ने अभ्यास का प्रतिकार कहकर पुकारा है।

यदि हम एक रात्रि में कोई ऐसा स्वप्न देखें जो कि किसी कारण पूरा न हो सके और अधूरा छूट जाय तो यह बहुत सम्भव है कि वह अधूरा स्वप्न उसके बाद वाली रात्रि में पूरा हो जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वप्न-सृजन में पिछली रात्रि के अधूरे स्वप्न का सहयोग रहता है। कभी-कभी एक ही अर्थ का स्वप्न कई प्रकार से कई रात्रियों में होता है। इसका अर्थ है कि एक ही संवेग कई स्वप्नों में प्रकाशित होता रहता है।

स्वप्न के द्वारा कभी-कभी हम ऐसी बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं जो अन्य किसी स्थान पर उसी समय घटित हो रही हो। इस प्रकार के साधन-रहित ज्ञान-प्राप्ति को 'टेलीपैथी' कहा जाता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने स्वप्न देखा कि उसका पिता साफा बाँधे हुए तेजी से भागा जा

रहा है। इस स्वप्न के दूसरे ही दिन बाद उसे यह तार घर से मिला कि उसके पिता का स्वर्गवास हो गया है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इङ्गलैंड की एक महिला को स्वप्न हुआ कि उसके लड़के की मृत्यु जहाज के डूबने से हो गई है। कुछ दिन बाद इस घटना-सम्बन्धी तार उसे मिला।

स्वप्न और मानसिक चिकित्सा

पिछले पृष्ठों में स्वप्न के द्वारा मानसिक विकार के रेचन और स्वप्न की पथ-प्रदर्शकता पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक समय में स्वप्न के अध्ययन का सबसे महत्वपूर्ण उपयोग मानसिक रोगियों के रोग को समझना है। आधुनिक मानसिक चिकित्सक के पास रोगी की बीमारी समझने का सबसे महत्वपूर्ण साधन रोगी का स्वप्न है। अतएव स्वप्न को मानसिक चिकित्सक का मित्र कहा गया है। मानसिक रोग किसी विशेष प्रकार के मानसिक विकार के प्रतीक मात्र होते हैं। स्वप्न भी इस मानसिक विकार को प्रतीक रूप से प्रकाशित करता है। कभी-कभी रोग के प्रतीकों और स्वप्न के प्रतीकों में इतनी समानता होती है कि वे एक दूसरे पर स्पष्टतः प्रकाश डालते हैं। दोनों का कारण एक हैं, अतएव दोनों के कार्यों में भी तात्विक एकता होना स्वाभाविक है। इसीलिए मानसिक व्याधि को समझने के लिए स्वप्न का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

प्रायः मनोविश्लेषक किसी रोगी की मानसिक चिकित्सा उसके स्वप्न-अध्ययन से ही प्रारम्भ करते हैं। रोगी का सामान्य परिचय प्राप्त करने के पश्चात् उससे उसके स्वप्नों के विषय में पूछा जाता है। इन स्वप्नों में बार-बार होनेवाले स्वप्न और चिकित्सा प्रारम्भ होने के बाद के स्वप्न बड़े महत्वपूर्ण होते हैं। बार-बार होनेवाले स्वप्न का विशेष अर्थ रहता है, जिसे जानकर रोग का भलीभाँति निदान किया जा सकता है। कभी-कभी एक ही अर्थ का स्वप्न अनेक प्रकार से आता है। ऐसे स्वप्नों की तात्विक एकता पहचानना मनोविश्लेषक के लिए परमावश्यक है। हमने युंग महाशय के दिये हुए एक ही व्यक्ति के दो स्वप्नों का हाल में ही उद्धरण दिया है, जिनमें प्रतीकों की भिन्नता होते हुए भी तात्विक एकता है।

जिस समय मानसिक चिकित्सा का प्रारंभ होता है उस समय मानसिक रोगी को स्वप्न बहुत कम आते हैं। पूछने पर रोगी कहता है कि मुझे कोई स्वप्न होते ही नहीं। वास्तव में उसे स्वप्न होते हैं परन्तु प्रबल दमन के कारण विस्मृत हो जाते हैं। ऐसे रोगी को कभी-कभी सम्मोहन की अवस्था में लाकर उसके स्वप्नों को स्मरण कराया जाता है। इस प्रकार के एक स्वप्न का उल्लेख हम मैगडूगल महाशय की 'एबनारमल साइकालोजी' नामक पुस्तक में पाते हैं। एक मानसिक रोगी से जब पूछा गया कि क्या वह कोई स्वप्न देखता है तो उसने कहा कि उसे कभी कोई स्वप्न नहीं हुआ। परन्तु जब उसे सम्मोहित करके स्वप्न-स्मरण के लिए उत्तेजना दी गयी तो पता चला कि वह एक सेव के पेड़ से गिरने का भयानक स्वप्न बार-बार देखता था। यह वास्तविक घटना उसके बाल्यकाल में हुई थी। अपनी जाग्रत अवस्था में उस रोगी को इस घटना का तथा उससे सम्बन्धित बाद की घटनाओं का बिल्कुल ही स्मरण न था। इस घटना के साथ उस रोगी की शर्म की भावना संबंधित हो गयी थी। इस कारण वह उस भावना का केवल दमन ही नहीं करता था वरन् उससे सम्बन्धित घटना को भी स्मृति-पटल पर नहीं आने देता था। दबी हुई भावना स्वप्न में प्रकाशित होती थी, परन्तु जाग्रत अवस्था के आते ही इसका कठोर दमन फिर से प्रारम्भ हो जाता था। इसलिए रोगी को केवल उक्त घटना ही स्मरण नहीं आती थी वरन् उसे वह स्वप्न भी याद नहीं रहता था। जिस स्वप्न में आत्मग्लानिजनक भाव चित्रित होते हैं उन्हें हम जागते ही प्रायः भूल जाते हैं। ऐसे स्वप्न हमें तभी स्मरण रहने लगते हैं जब हम अपने स्वभाव को समझने और अपने आपको स्वीकार करने के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं।

मानसिक चिकित्सक के लिए स्वप्न का अध्ययन न केवल रोगी का रोग समझने के लिए आवश्यक होता है वरन् रोग के निदान में मानसिक चिकित्सक को कहाँ तक सफलता मिल रही है, उसे जानने में भी सहायक होता है। युङ्ग महाशय के एक रोगी को बराबर यह स्वप्न आता था कि उसकी बहिन की दो वर्ष की बच्ची बीमार है। रोगी स्वप्न

का कोई कारण नहीं समझ सकता था। उसकी बहिन के सभी बच्चे स्वस्थ थे। कुछ वर्ष पहले इस बहिन का एक बच्चा मरा था, परन्तु स्वप्न देखते समय इस प्रकार के स्वप्न का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता था। युङ्ग महाशय ने इस रोगी के जीवन का अध्ययन किया। इस अध्ययन से पता चला कि उनकी रुचि आध्यात्मिक विषयों के अध्ययन में हो गई थी, किन्तु इस समय यह उसकी अवहेलना कर रहा था। रोगी को उसके स्वप्न का कारण बताया गया कि यह उसके आध्यात्मिक विद्या की अवहेलना का प्रतीक मात्र है और स्वप्न उसे आदेश देता है कि वह आध्यात्म-विद्या की अवहेलना न करे तो यह बात उसके गले उतर गयी और उसने अपने स्वप्न के आदेश के अनुसार कार्य करना प्रारंभ कर दिया। इसके परिणाम-स्वरूप एक ओर उसका उक्त स्वप्न देखना बन्द हो गया और दूसरी ओर उसके मानसिक स्वास्थ्य में मौलिक परिवर्त्तन हो गया।

मानसिक चिकित्सा की क्रमशः सफलता किस प्रकार स्वप्नों के द्वारा जानी जा सकती है, यह युङ्ग महाशय द्वारा उल्लिखित एक स्त्री के निम्नलिखित तीन स्वप्नों से भली-भाँति स्पष्ट होता है। इस स्त्री ने डाक्टर युङ्ग से अपनी मानसिक चिकित्सा कराने के पूर्व दो और मानसिक-चिकित्सकों से चिकित्सा करायी थी। उसे प्रायः एक ही प्रकार के स्वप्न तीन बार हुए।

जिस समय यह स्त्री पहले चिकित्सा करा रही थी उस समय उसने अपने स्वप्न में देखा कि उसे अपने देश से दूसरे देश में जाना आवश्यक हो गया है। वह सीमा पार करना चाहती है, परन्तु यह नहीं जानती कि सीमा कहाँ है। जब वह दूसरे चिकित्सक से चिकित्सा करा रही थी तब उसने स्वप्न में देखा, 'मैं देश की सीमा पार करना चाहती हूँ, रात अँधेरी है और मुझे चुंगी-घर नहीं मिल रहा है। कुछ देर खोज करने के पश्चात् मैं दूरी पर उजाला देखती हूँ और सोचती हूँ कि वहाँ पर सीमा होगी। किन्तु वहाँ तक पहुँचने के लिए मुझे एक घाटी पार करना और अन्धकारमय जंगल से जाना पड़ता है। जब मैं वहाँ से जाती हूँ तो

मुझे दिशा-भ्रम हो जाता है, तब मैं एकाएक देखती हूँ कि मेरे साथ कोई व्यक्ति है। यह व्यक्ति तुरन्त ही मुझसे पागल जैसा लिपट जाता है। मैं घबड़ाकर जाग उठती हूँ।'

तीसरी बार जब वह युंग महाशय से चिकित्सा करा रही थी तो उसने निम्नलिखित स्वप्न देखा—'मुझे सीमा पार करने की प्रबल इच्छा है। कुछ देर में मैं देखती हूँ कि मैंने सीमा को पार कर लिया है और मैं एक नये देश की सीमा के भीतर आ गई हूँ। मैं एक चुंगी-घर के पास आती हूँ। मेरे हाथ में एक हैण्ड-बैग है। मैं सोचती हूँ कि चुंगी लगने की कोई वस्तु मेरे पास नहीं है। किन्तु चुंगीवाला मेरे हैण्ड-बैग में अपना हाथ डालता है और दो पूरी दरियाँ निकाल लेता है।'

जिन दिनों यह महिला युंग महाशय द्वारा अपनी चिकित्सा करा रही थी, उन्हीं दिनों उसने अपना विवाह भी कर लिया। विवाह होने के थोड़ी देर बाद वह पूर्ण स्वस्थ हो गई। यहाँ सीमा पार करना जिसकी इच्छा उक्त महिला के तीनों स्वप्नों में पाई जाती है, उसके अविवाहित जीवन को छोड़ने और विवाहित जीवन में प्रवेश करने का प्रतीक था। जब उसने पहला स्वप्न देखा था, तब उसके मन में अपने विवाह के विषय में द्वन्द्व चल ही रहा था। उस समय वह यह नहीं जानती थी कि वह सीमा कैसे पार करे, अर्थात् वह किससे विवाह करे। जब वह दूसरे चिकित्सक से चिकित्सा करा रही थी, उस समय उसका मन थोड़ा-बहुत निश्चय कर पाया था, किन्तु इसी बीच एक नई मानसिक झंझट उत्पन्न हो गई। स्वयं चिकित्सक महाशय ही इस महिला की चिकित्सा करते समय उसके प्रेम में पड़ गए। इनका वह प्रेम महिला को एक पागल के प्रेम के समान दिखाई पड़ा। दूसरे स्वप्न में एक अपरिचित व्यक्ति का एकाएक अपने आपसे लिपट जाना इसी स्थिति का बोधक था। तीसरे स्वप्न में महिला ने सरलतापूर्वक सीमा पार करना देखा। इस स्वप्न के साथ-साथ उसके जीवन में इच्छित परिवर्तन हो चुका था और उसकी मानसिक व्यथा—जिसका कारण अपने विवाह की इच्छा का दमन था—का अन्त हो गया। उसका नवजीवन में प्रवेश

और मानसिक झंझट का अन्त दोनों एक साथ हो गये। अन्तिम स्वप्न इसी बात का सूचक था।

स्वप्न का अर्थबोधन

जिस प्रकार किसी देश की भाषा समझने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार स्वप्न का वास्तविक अर्थ लगाने के लिये तीन बातें आवश्यक हैं। भाषा के विषय में तीन बातें—शब्दार्थ, वाक्य-रचना के नियम और प्रसंग जानने की आवश्यकता होती है, इसी तरह स्वप्न को समझने के लिए स्वप्न के प्रतीकों का अर्थ, उसकी कार्य-प्रणाली और स्वप्न होते समय स्वप्न-द्रष्टा की मानसिक स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक होता है। डाक्टर फ्रायड ने पहली बातों के विषय में विशेष प्रकार का अध्ययन किया है, और उनके परिश्रम के परिणाम-स्वरूप स्वप्न के स्पष्टीकरण का एक नया विज्ञान तैयार हो गया है। इस विज्ञान में स्वप्न के सामान्य प्रतीकों के अर्थ समझाए गए हैं और स्वप्न की कार्यप्रणाली को भली भाँति स्पष्ट किया गया है। फ्रायड महाशय ने इन दो बातों की सहायता से अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार अनेक स्वप्नों के अर्थ भी लगाए हैं। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है कि स्वप्न का वास्तविक अर्थ लगाने के लिये स्वप्न के प्रतीकों और कार्य-प्रणाली का ज्ञान रखना पर्याप्त नहीं है, इसके लिये स्वप्न-द्रष्टा से अपना सम्पर्क स्थापित करना और उसके मन की आन्तरिक स्थिति को भलीभाँति पहचानना भी अति आवश्यक है। किसी वाक्य का ठीक अर्थ लगाने के लिये जितना महत्व आगे और पीछे आनेवाली बातों का अर्थात् प्रसंग का है, उससे कहीं अधिक महत्व किसी स्वप्न का अर्थ लगाने में आनु-संगिक बातों का अर्थात् स्वप्न-द्रष्टा के जीवन की पूर्व घटनाओं का है। ये घटनाएँ कुछ वास्तविक जगत में होती हैं, और कुछ मानसिक जगत में। प्रसंग-भेद के कारण एक ही स्वप्न के भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। फिर दो व्यक्तियों के एक ही प्रकार के स्वप्न भिन्न-भिन्न अर्थ होना तो एक साधारण सी बात है। अतएव स्वप्न का अर्थ लगाते समय

हमें इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि हम स्वप्न-द्रष्टा की मानसिक परिस्थिति को कहाँ तक भली भाँति जानते हैं।

सामान्य और स्वस्थ लोगों के स्वप्न उतने उलझे नहीं होते जितने रोगियों के होते हैं। बालकों के स्वप्न तो बिलकुल ही स्पष्ट होते हैं। वे जिन बातों को चाहते हैं अथवा जिनसे डरते हैं उन्हें ही वे स्वप्न में देखते हैं।

साधारण और स्वस्थ व्यक्ति के स्वप्न अधिक स्पष्ट होने का मुख्य कारण यह है कि उसके मन में ऐसी कोई प्रक्षिप्त (दबी हुई) वासना नहीं होती जिसका प्रदर्शन वह समाज में न कर पाये। विकृत मनोवृत्ति वाले या असाधारण व्यक्ति की अवस्था इसके ठीक विपरीत हुआ करती है। इस कारण उसके स्वप्न अस्पष्ट और असम्बद्ध होते हैं। विकृत मनोवृत्ति वाला स्वप्न को स्वतः समझने में बहुत कम सफल हो सकेगा क्योंकि उसे अपने ही अचेतन मन में स्थित उन दबी वासनाओं का उचित ज्ञान न होगा जो स्वप्न रूप में प्रकट होती है।

विकृत मनोवृत्तिवाले व्यक्ति की मानसिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने में स्वप्न से बढ़कर कोई उपयुक्त साधन नहीं है। परन्तु ऐसे लोगों के स्वप्नों का अर्थ किस प्रकार लगाया जाय इस प्रश्न पर मतभेद है। डा० फ्रायड ने स्वप्न के प्रतीकों को समझाने का प्रयत्न किया। घर को उसने मानवी शरीर का प्रतीक माना है; सम्राट् और सम्राज्ञी को माता-पिता का प्रतीक समझा; कपड़ों और वर्दी को वह नग्नता का प्रतीक मानता है। छड़ी, छाता, डंडा, पेड़ इत्यादि को वह पुरुष की जननेन्द्रिय का प्रतीक मानता है। वह कहता है कि पुरुषों के जननेन्द्रिय का निदर्शन स्वप्न में अन्य कई प्रकार से होता है जैसे—सर्प, चूहा, छछून्दर इत्यादि गड्ढे, गुफाएँ, गड़े बोतल, आलमारी, जेब इत्यादि को उसने स्त्रियों की जननेन्द्रिय का प्रतीक माना है परन्तु ये प्रतीक सभी समय एक अर्थ नहीं रखते। भिन्न-भिन्न समाज के भिन्न-भिन्न रीति-रिवाजों के कारण इन प्रतीकों पर सर्वथा निर्भर रहना ठीक नहीं।

विकृत मनोवृत्तिवाले व्यक्ति का स्वप्न अधिकतर असम्बद्ध और

अस्पष्ट होता है। इन असम्बद्ध खंडों में सम्बन्ध स्थापित कर स्वप्न का अर्थ लगाने में मनोविश्लेषक को विशेष सूत्र से काम लेना पड़ता है। मनोविश्लेषक असंबद्ध स्वप्न को सुसंबद्ध बनाकर विकृत मनोवृत्तिवाले व्यक्ति को उसके अचेतन मन की दबी भावना का ज्ञान करा देता है ताकि उसे अपनी मनोविकृति में सुधार करने में सहायता मिले।

स्वप्न की व्याख्या करने के लिए मनोविश्लेषक को स्वप्न के एक अंग पर अलग-अलग विचार करना पड़ता है। स्वप्न के एक-एक भाग से सम्बन्धित जीवन की घटनाओं का ज्ञान विश्लेषक को स्वप्न-द्रष्टा की सहायता से ही हो सकता है। स्वप्न-द्रष्टा को साथ लेकर ही मनोवैज्ञानिक स्वप्न-जगत में प्रवेश कर सकता है। स्वप्न के एक-एक अंग के बारे में मन की बातें बतलाने में यदि स्वप्न-द्रष्टा चक्करदार मार्ग अपनायें तो ऐसे व्यवहार से विश्लेषक को सावधान हो जाना चाहिये। इस प्रकार के गोल-मटोल उत्तर का अर्थ है कि स्वप्न-द्रष्टा का अचेतन मन कुछ बातें छिपा रहा है। इस प्रकार की आन्तरिक रुकावट को हटाने के लिये मनोविश्लेषक को अपने प्रश्नों को इस प्रकार रखना चाहिये जिससे स्वप्नद्रष्टा उन दबे संवेगों या वासनाओं को प्रकाशित कर सके। यदि स्वप्न-द्रष्टा का अचेतन मन दबी वासना को प्रकाशित करने को राजी भी हुआ तो भी उसे वह इस प्रकार अन्य बातों से मिला देता है कि स्वप्न का अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। इसलिये मनोविश्लेषक को स्वप्न-व्याख्या करते समय आवश्यक बातों की पकड़ और अनावश्यक बातों को हटाना पड़ता है। कभी-कभी मनोविश्लेषक द्वारा की गई व्याख्या को मानसिक रोगी मानने को तैयार नहीं होता और वह स्वप्न का अर्थ कुछ और ही लगाता है। स्वप्न के वास्तविक अर्थ के लिये दोनों में एकमत होना आवश्यक है।

युंग महाशय का कथन है कि वास्तव में स्वप्न-द्रष्टा ही अपने आपको भलीभाँति जान सकता है, अतएव जबतक स्वप्न-द्रष्टा स्वयं स्वप्न के अर्थ को स्वीकार नहीं कर लेता, तबतक यह कहना कठिन होता है कि कहाँ तक हमारा लगाया हुआ अर्थ सत्य है। स्वप्न-द्रष्टा की स्वीकृति के अभाव में किसी स्वप्न का अर्थ अनुमान मात्र ही कहा जायगा। स्वप्न-द्रष्टा अपने

आपको तब तक किसी व्यक्ति के समक्ष नहीं खोलता, जब तक कि उस व्यक्ति से उसका तादात्म-भाव स्थापित नहीं हो जाता, अर्थात् जब तक एक ओर स्वप्न-द्रष्टा रोगी के प्रति पर्याप्त सहानुभूति नहीं दिखाता और दूसरी ओर रोगी उससे पूरा अपनत्व स्थापित नहीं कर लेता। जैसे-जैसे मानसिक चिकित्सक के प्रति रोगी का अपनत्व-भाव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे एक ओर चिकित्सक रोगी के स्वप्नों का ठीक अर्थ लगाने में समर्थ होता है और दूसरी ओर रोगी का रोग भी नष्ट हो जाता है। जब रोगी चिकित्सक के प्रति ममत्व स्थापित करने लगता है तो उसके दबे हुए भावों के रेचन के परिणाम-स्वरूप ही चिकित्सक के प्रति ममत्व स्थापित होता है। इसके साथ-साथ जब रोगी की अपने आपको चिकित्सक के समक्ष खोलने की झिझक भी मिट जाती है तभी चिकित्सक रोगी के वास्तविक स्वप्न को उसे स्मरण कराने और उसका ठीक अर्थ लगाने में समर्थ होता है।

जो स्वप्न स्वयं रोगी चिकित्सक से अपने आप कहता है, उनका दूसरे स्वप्नों की अपेक्षा अधिक महत्व है। पूछने पर बताने से रोगी के स्वप्न उतनी अच्छी तरह नहीं जाने जा सकते जितने कि अपने आप रोगी के कहने से उसके स्वप्न जाने जा सकते हैं। पूछने पर बताये हुए स्वप्नों में उनका मार्मिक भाग प्रायः छिपा रहता है, किन्तु अपने आप बताये हुए स्वप्नों में इस प्रकार की सम्भावना कम होती है। रोगी की मानसिक स्थिति साधारणतः दो प्रकार की होती है। पहले तो वह अपने आपको सभी से छिपाने और अलग रखने की चेष्टा करता है, अर्थात् उसका आन्तरिक मन सभी को सन्देह की दृष्टि से देखता है और फिर जब वह किसी से घनिष्ठता स्थापित करता है तो अपने हृदय की बातें खोलने के लिए बड़ा उत्सुक हो जाता है। यदि उसने कोई स्वप्न देखा तो अपने चिकित्सक मित्र से वह उसकी चर्चा अवश्य करेगा। मानसिक रोग की चिकित्सा होते समय रोगी को अनेक महत्व के स्वप्न होते भी हैं। ये स्वप्न उसके मन में उत्सुकता बढ़ाते हैं, और रोगी के मन में उन्हें चिकित्सक के प्रति कहने की प्रेरणा भी देते हैं।

स्वप्न का अर्थ लगाने में स्वप्न देखने के बाद तुरन्त के विचार उतने ही

महत्व के होते हैं जितने स्वप्न में देखे हुए दृश्य के प्रतीक अथवा स्वप्न-दर्शक की पूर्व मानसिक परिस्थिति का परिचय। स्वप्न होने के बाद के तुरन्त के विचारों में कभी-कभी स्वप्न का मौलिक अर्थ अथवा आदेश छिपा रहता है।

परीक्षा में फेल होने के स्वप्न देखने के बाद प्रायः आश्वासन देनेवाले विचार आते हैं। इन विचारों में वास्तविक कर्त्तव्य का निर्देश रहता है। इसी तरह दूसरे प्रकार से अपनी असफलता के स्वप्न के बाद के विचार ऐसे स्वप्नों के वास्तविक हेतु पर प्रकाश डालते हैं। उत्साह-वर्द्धक, असफलता के स्वप्न झूठी असफलता का चित्रण करते हैं और ऐसे स्वप्नों के बाद जो विचार आते हैं उनमें प्रोत्साहन का भाव रहता है। अपनी ही मृत्यु का स्वप्न इस दृष्टि से भय और चिन्ता के विचारों का रेचन करता है। ऐसे स्वप्न के पश्चात् आनेवाले विचार उसके जीवन को वास्तव में निर्भीक बनाते हैं। स्वप्न देखकर जागने के पश्चात् स्वप्न का जो अर्थ स्वप्न-द्रष्टा लगाता है—उसका भी स्वप्न के वास्तविक अर्थ जानने में भारी महत्व है। जो अर्थ स्वप्न के पीछे अथवा कुछ देर के बाद लगाया जाता है वह स्वप्न वास्तविक अर्थ का द्योतक न होकर उस पर आवरण मात्र डालता है। पिछले पृष्ठों में एक छात्र का एक स्वप्न कहा गया है जिसमें वह एक सूअर को घूर-घूर कर देखता है। इस स्वप्न को देखने के बाद जब वह जागता है तो वह एकाएक कहता है कि पंडितजी मुझे आज बाराह भगवान के दर्शन हुए। अपने इस विचार से ही वह स्वप्न के अर्थ को स्पष्ट करता है।

अप्रिय और भयावने स्वप्न

स्वप्न मनुष्य के मन की आन्तरिक स्थिति का द्योतक है। जिस मनुष्य को मधुर स्वप्न होते हैं उसका आन्तरिक मन सरल और सुन्दर होता है; और जिस व्यक्ति को भयावने स्वप्न होते हैं, गन्दगी अथवा पीड़ा से पीड़ित स्वप्न होते हैं; उसके आन्तरिक मन में अशान्ति और क्लेश रहता है। सभी प्रकार के रोगियों के स्वप्न अप्रिय होते हैं। रोग की बढ़ी हुई अवस्था में स्वप्न भयावने भी होने लगते हैं। जब शारीरिक

स्वास्थ्य बिगड़ा हुआ रहता है, तब रोगी को प्रायः डरावने स्वप्न होते हैं। कभी-कभी डरावने स्वप्न इस बात के प्रतीक होते हैं कि व्यक्ति का मानसिक रोग ही वास्तविक है; और शारीरिक रोग उसका लक्षण मात्र है। परन्तु शारीरिक विकार भी मस्तिष्क को प्रभावित करते हैं, और वे भयावने स्वप्न का कारण बन जाते हैं। शरीर और मन का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण एक के विकृत होने का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है।

अभी हाल की बात है, कि काशी विश्वविद्यालय का एक विद्यार्थी मनोविज्ञानशाला के उसी कमरे में सो रहा था जिसमें मैं सो रहा था। इस विद्यार्थी का शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं था। सोते समय उसने एक बड़ा भयानक स्वप्न देखा वह स्वप्न में डर के मारे चिल्ला रहा था। लेखक ने उठकर उसे जगाया। लेखक के उठाते ही उसकी आँखें खुल गईं और उसने समझा कि उसके छात्रावास के कमरे में, जिसे वह बन्द करके सोया था, कोई भूत-प्रेत सींकचे में से होकर घुस आया है, और छुरे से उसे मार डालना चाहता है। वह बड़े जोर से चिल्लाकर बेहोश हो गया। बड़ी कठिनाई से उसे होश में लाया गया। दूसरे दिन भी उसे एक भयानक स्वप्न हुआ। दोनों दिनों के स्वप्नों में उसने देखा कि कोई व्यक्ति उसको मार डालना चाहता है। दूसरे दिन के स्वप्न में बलात्कार किये जाने का दृश्य था।

कभी कभी हम अपने आपको गाड़ी में जाते हुए पाते हैं, और रेल की दुर्घटना का स्वप्न देखते हैं। कभी इस दुर्घटना से हम बच जाते हैं, और कभी हम उससे क्षतिग्रस्त होते हैं। कभी रेल की दुर्घटना को देखते हैं, स्वयं रेल में नहीं रहते।

अभी हाल में एक व्यक्ति ने तालाब में तैरने की अपनी स्थिति का स्वप्न देखा। तालाब के आस-पास ऊँची-ऊँची दीवारें थीं, तैरनेवाले व्यक्ति को दूसरी ओर से दो भैंसे मारने के लिये आ रहे थे। तालाब के किनारे पर खड़े हुए लोग उसे उन भैंसों से बचने के लिये प्रोत्साहित तो कर रहे थे, परन्तु वे स्वयं कोई सहायता नहीं दे रहे थे। रोगी बड़ी ही भयभीत मानसिक अवस्था में था। इसी बीच उसकी नींद टूट गई।

एक दूसरे रोगी ने हाल ही में स्वप्न देखा कि उसका एक पुराना मित्र उसे पीट रहा है। उसके और सम्बन्धी उसके पास में ही हैं। वह उनसे मदद माँगने के लिये चिल्लाता है, परन्तु मुँह से आवाज ही नहीं निकलती और उसके संबंधी उसे पीटे जाते हुए देखते हैं, पर उसे बचाते नहीं; मित्र उसे सम्भवतः किसी अनैतिक कार्य के लिये, जिसे वह भूल चुका है, पीटता है। कितने ही किशोर बालक किसी बलवान शत्रु द्वारा पीछा किये जाने का स्वप्न देखा करते हैं। वे जगह-जगह भाग कर जाते हैं, परन्तु शत्रु उनका पीछा नहीं छोड़ते। किशोर बालकों द्वारा मोटे-मोटे साँपों द्वारा घिर जाने और काटे जाने के स्वप्नों का देखा जाना साधारण सी बात है। एक रोगी अपने एक मरे हुए मित्र का स्वप्न देखता है। इस मित्र ने अन्तिम घड़ी में उसे बुलाया था, और उससे केला लाकर खिलाने को कहा था। जब वह केवल दो ही केले खा पाया था और जब यह व्यक्ति थोड़ी देर के लिये कमरे से बाहर गया था, तभी उसकी मृत्यु हो गई। उस मित्र को क्षय रोग हुआ था। अतएव उसकी मृत्यु का स्मरण भी इसे अप्रिय लगता है। फिर उस मित्र के कहने से इस व्यक्ति ने अपने एक नजदीक सम्बन्धी की स्त्री से व्यभिचार किया था। इस अनैतिक घटना से मित्र का सम्बन्ध रहने के कारण वह उसे भुला देना चाहता है; परन्तु मित्र की स्मृति मस्तिष्क से नहीं जाती। उसका मित्र स्वप्न में अनेक रूप से दिखाई देता रहता है। यह व्यक्ति जब स्वप्न में उस मित्र को देखता है, तब भी डरता है, और जागने पर भी डरता है। स्वप्न में उसे ज्ञात होता है कि यह मित्र मर चुका है और सम्भवतः प्रेत बनकर आया है।

उपर्युक्त अनेक प्रकार के अप्रिय तथा भयावने स्वप्न केवल मनुष्य की पुरानी स्मृतियों को ही नहीं दुहराते, और न केवल शारीरिक अस्वास्थ्य तथा विशेष प्रकार के अनुभव के कारण उत्पन्न होते हैं, बल्कि इनका उद्देश्य कुछ और होता है। मनुष्य को भयावने स्वप्न तभी होते हैं, जब उसकी कोई प्रबल प्राकृतिक अथवा नैतिक प्रवृत्ति का दमन होता है, और वह प्रवृत्ति इस दमन के लिये व्यक्ति से बदला लेना चाहती है। जिन व्यक्तियों का जीवन एकांगी होता है, जो अपने जीवन में अत्यधिक कठोरता

को व्यवहार में लाते हैं, जो व्यक्ति कामवासना के किसी भी प्रतीक को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जिनके जीवन में माधुर्य-भाव की कमी रहती है, ऐसे व्यक्ति ही भयावने स्वप्न देखते हैं। उपर्युक्त सभी भयावने स्वप्नों में काम-वासना के प्रति शत्रुता का भाव पाया जाता है। साँप, भालू, बन्दर, भैंसा, साँड़, अस्त्र लिये हुए व्यक्ति द्वारा पीछा किया जाना अथवा त्रस्त किया जाना, कामवासना द्वारा त्रस्त किये जाने का प्रतीक है। ऊपर से नीचे गिरने का स्वप्न नैतिक पतन के भय का द्योतक है। गाड़ी की दुर्घटना का स्वप्न आन्तरिक मन के इस भय का द्योतक है कि कहीं जीवन में कोई दुर्घटना न हो जाय। इस प्रकार के स्वप्न मनुष्य के दमित भय का रेचन करते हैं। कामवासना के प्रतीकों के स्वप्न काम-वासना के भय को कम कर देते हैं। सभी प्रकार के भयावने स्वप्न देखने से मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित भय के भाव का रेचन हो जाता है। इस भाव का रेचन हो जाने से मनुष्य अपनी वर्तमान परिस्थिति का सामना धैर्य-पूर्वक करने में समर्थ होता है। कभी-कभी भयावने स्वप्न मनुष्य को आनेवाली दुर्घटनाओं के प्रति आगाह कर देते हैं। यदि मनुष्य अपने भयावने स्वप्नों को जानकर अपने आपको सुधारने की चेष्टा करे, तो उसके जीवन में ऐसी आपत्तियाँ न आवें जो अन्यथा आती हैं।

कभी-कभी मनुष्य भूत-पिशाच के स्वप्न देखता है। इस प्रकार के स्वप्न अपनी किसी प्रबल इच्छा के दमन के परिणाम-स्वरूप होते हैं। यह इच्छा प्रायः अनैतिक अथवा व्यभिचार की होती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार बलात्कार किये जाने का स्वप्न वास्तव में काम-वासना की अतृप्ति का द्योतक है। मनुष्य की अनैतिक इच्छा जब अपनी तृप्ति का नैसर्गिक मार्ग नहीं पाती, तो वह विकृत होकर भय का रूप धारण कर लेती है। कामेच्छा दमित होकर बलात्कार का भय बन जाती है, और फिर यह भय अनेक प्रकार के बलात्कार के तथा दूसरे प्रकार के डरावने स्वप्नों की सृष्टि करती है। ये स्वप्न एक ओर तो मनुष्य की आन्तरिक बेचैनी को प्रकाश में लाते हैं, और दूसरी ओर वे उसका अन्त भी करते हैं। यदि प्रबल उत्तेजनाओं के आन्तरिक मन में उपस्थित रहते हुए भी

किसी व्यक्ति को डरावने स्वप्न न हों, तो ऐसा व्यक्ति नींद से ही हाथ धो बैठता है। किसी जघन्य पाप करने के पश्चात् मनुष्य अपनी नींद को खो देता है; और दीर्घ काल तक नींद के खो देने पर मनुष्य का जीना कठिन हो जाता है। इस प्रकार देखने से किसी प्रकार का स्वप्न मनुष्य की निद्रा और स्वास्थ्य का विनाशक नहीं, वरन् उनका रक्षक और सहायक है।

स्वप्न-निरोध

क्या मनुष्य अपने अनैतिक अथवा भयानक स्वप्नों को रोक सकता है?

वास्तव में यदि किसी व्यक्ति को अनैतिक और भयानक स्वप्न होते ही रहें तो उसे मानसिक-चिकित्सा से लाभ ही क्या हुआ? मानसिक चिकित्सा के परिणाम स्वरूप ऐसे स्वप्न अवश्य ही समाप्त हो जाते हैं। रोग की समाप्ति के पूर्व उनका चला जाना ठीक नहीं।

स्वप्न का निरोध आत्म-निर्देश के द्वारा किया जा सकता है। इस तरह अचेतन मन पर आत्म-निर्देश का प्रभाव होता है। इसका अनुभव हम निश्चत समय पर जागने के बारे में करते हैं। यदि हम यह निश्चय करके सोयें, कि हम अमुक समय पर अवश्य जाग जायेंगे, और यदि हमारा सकल्प दृढ़ हो, तो हम अवश्य ही उस समय जाग जाते हैं। वास्तव में सभी प्रकार का निर्देश अचेतन मन में काम करता है। जिस तरह निर्देश के द्वारा निश्चित समय पर जागा जा सकता है, उसी तरह निर्देश के द्वारा स्वप्न को रोका भी जा सकता है। कितने ही लोग भयंकर स्वप्न होने के बाद जाग जाते हैं। अभ्यास से यह भी संभव है कि हम काम-वासना सम्बन्धी स्वप्नों से भी अपना पिण्ड छुड़ा लें।

किन्तु स्वप्नों के इस प्रकार के निरोध से स्वप्नों का कारण नष्ट नहीं होता। कारण के होते हुए स्वप्न का न होना मानसिक स्वास्थ्य के लिये लाभकर नहीं है। स्वप्नों का कारण प्रबल मानसिक उत्तेजना ही होती है। इस उत्तेजना का दमन जाग्रतावस्था में होता रहता है। अतएव यह स्वप्नों के रूप में प्रकाशित होती है। यदि स्वप्न में भी हम अपनी दमित-

वासनाओं को प्रकट न होने दें तो हम अपनी नींद ही खो देंगे। इससे पागल हो जाने की सम्भावना रहती है।

स्वप्न-निरोध मानसिक स्वास्थ्य के लिए लाभकर नहीं है। स्वप्न-निरोध होने पर नींद भंग की अथवा स्मृति के ह्रास होने की सम्भावना है। इसी तरह अनेक प्रकार के मानसिक तथा शारीरिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। स्वप्न-निरोध करने की चेष्टा करना अपने आपको समझने एक उपाय को खो देना है।

स्वप्नों में परिवर्तन आन्तरिक भावनाओं के परिवर्तन के द्वारा हो सकता है। बहुत से दुःखद स्वप्न मैत्री-भावना के अभ्यास के द्वारा नष्ट किए जा सकते हैं। यह स्वास्थ्यवर्धक अभ्यास है। यदि इस अभ्यास को किया जाय तो दुःखमय स्वप्नों का आना बंद हो जाय। सोते समय इस प्रकार का अभ्यास विशेष लाभकारी होता है। सोते समय यदि हम अपने आप से यह कह कर सोवें, कि हम सभी के मित्र हैं, सबका कल्याण हो, संसार के सभी प्राणी सुखी हों, तो यह भावना थोड़े ही दिनों में दुःखद स्वप्नों का आना बंदकर देगी। इस प्रकार की भावना का मनुष्य के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। प्रतिदिन सोते समय मैत्री-भावना का अभ्यास करने से मनुष्य के आचरण में भी मौलिक परिवर्तन हो जाता है। मैत्री-भावना का अभ्यास जब तक चेतन मन तक ही सीमित रहता है तब तक उसका स्वप्नों में परिवर्तन करने का कार्य नहीं देखा जाता। जब मैत्री-भावना का अभ्यास आत्म-निर्देश का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् जब हम मैत्री-भावना का अभ्यास दृढ़-विश्वास के साथ करते हैं, तब स्वप्नों पर उसका प्रभाव आवश्य ही पड़ता है। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में मैत्री-भावना की बड़ी महत्ता बतलाई गई है।

कोई चार वर्ष पहले लेखक को बारबार हिन्दू मुसलिम दंगों के स्वप्न दिखलाई देते थे। इन दंगों में लेखक अपने आपको बड़े संकट की आवस्था में पाता था। इस प्रकार के स्वप्नों की समाप्ति मुसलमानों के प्रति मैत्री-भावना का अभ्यास करने से हो गई।

स्वप्न आत्म-स्वीकृति का साधन

स्वप्न मनुष्य के अचेतन मन की स्थिति को व्यक्त करता है। रोग इस स्थिति को न जानने के कारण ही होता है। जो बात रोग प्रतीक रूप से व्यक्त करता है, वही स्वप्न भी व्यक्त करता है। जब किसी मानसिक रोगी का रोग प्रबल होता है तो उसे स्वप्न होते ही नहीं। इसका अर्थ है कि रोगी मानसिक उपचार के योग्य नहीं हुआ है। जिस प्रकार रोग में अपनी इच्छा के प्रतिकूल आन्तरिक मन की प्रबल भावना व्यक्त होती है उसी प्रकार स्वप्न में भी इच्छा के प्रतिकूल ही वह भावना व्यक्त होती है। परन्तु स्वप्न में मनुष्य को उतना दुःख नहीं होता जितना रोग में होता है। रोग का अर्थ जानना उतना सरल नहीं होता जितना स्वप्न का। जब रोगी का मन रोग से ऊब जाता है तो रोगी को स्वप्न होने लगते हैं। पहले ये स्वप्न बहुत ही अस्पष्ट होते हैं। ये बहुत आवरण के साथ आते हैं। याद करते समय रोगी आन्तरिक मन की मुख्य बात को व्यक्त करने वाली वस्तु को ही भूल जाता है। रोग कम होने की अवस्था में स्वप्न अधिकाधिक स्पष्ट होने लगते हैं। रोगी रोग के कारण व्यक्त करनेवाली घटना को ठीक से व्यक्त करता है। यदि एक प्रकार से मूल बात स्वप्न में व्यक्त न हो पाई तो स्वप्न दूसरे प्रकार से उसे व्यक्त करता है। दमित भाव रोगी को बहुत ही अप्रिय होता है, अतएव जब रोगी का अभिमान इतना कम हो जाता है कि वह वस्तु-स्थिति को स्वीकार करले तभी यह भाव व्यक्त होता है। यहाँ हम उपर्युक्त सत्य को स्पष्ट करने के लिए दो एक मानसिक रोगियों के स्वप्नों के उदाहरण देंगे—

एक अठारह वर्षीय कलकत्ता निवासी युवक ने निम्नलिखित स्वप्न अपनी मानसिक चिकित्सा कराते समय देखे—

(१) मैं अपने कमरे में बैठा पढ़ रहा हूँ। कमरे का दरवाजा बंद है। बाहर बहुत से जंगली जानवर बाघ, चीता, भेड़िया आदि चिल्ला रहे हैं। वे मेरे कमरे के दरवाजे को भड़भड़ाते हैं और मेरे कमरे में घुसने के लिए आतुर हैं। मैं बहुत ही डर रहा हूँ। मैं दरवाजा दबाए हुए हूँ, ताकि वह खुल न जाय। डर अधिक बढ़ने पर नींद खुल जाती है।

(२) मैं अपने कमरे में हूँ। मैं जिस ओर देखता हूँ उसी ओर साँप, बिच्छू, गोजर और अनेक प्रकार के कीड़े मकोड़ों को ही पाता हूँ। वे जमीन पर चल रहे हैं और दीवालों पर भी चढ़े हुए हैं। छत पर भी बहुत से चलते दिखलाई पड़ते हैं। मैं बहुत ही घबड़ा जाता हूँ, और इनसे बचने की चेष्टा करता हूँ। इसी में नींद खुल जती है।

(३) मैं शहर की एक सँकरी गली से जा रहा हूँ। मेरे सामने मेरे पड़ोसी की स्त्री सुन्दर कपड़े पहने जा रही है। मैं एकान्त में पहुँचने पर उससे प्रेमवश बातचीत करता हूँ और उसका चुम्बन करता हूँ। मुझे स्वप्न-दोष हो जाता है और नींद खुल जाती है।

(४) मैं अपने नौकर को अपनी माँ के साथ एक कमरे में समागम करते हुए देखता हूँ। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता है, परन्तु न तो ग्लानि होती है और न मैं उस नौकर पर नाराज होता हूँ।

उक्त स्वप्नों का अर्थ जानने के लिए रोगी की बाहरी परिस्थिति, उसकी मनोदशा और उसकी विशेष परिस्थितियों को जानना आवश्यक है। उक्त स्वप्नों की सहायता से रोगी की सफल चिकित्सा हो सकी। चिकित्सा के अन्त में रोगी का विरोधी वातावरण भी उसके अनुकूल बन गया। उसके मानसिक तथा शारीरिक दोनों प्रकार के रोग समाप्त हो गए। जिन बातों से वह भय करता था, वे स्वप्न द्वारा आत्म-ज्ञान होने पर निर्दोष दिखलाई देने लगीं। पढ़ाई में उसे जो बाधा हो रही थी वह समाप्त हो गई। उसका दूसरों के साथ व्यवहार में भी चमत्कारिक परिवर्तन हुआ।

उक्त युवक बड़ा ही संयमी, आदर्शवादी, पढ़ने में भी दत्त-चित्त रहनेवाला व्यक्ति है। उसने अपनी सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में पास की है। जिस समय युवक ने हमसे परामर्श लिया उस समय उसने चित्त की एकाग्रता खो दी थी। अब उसे मानसिक खिंचाव के अतिरिक्त खाँसी जुकाम और कुछ ज्वर रहता था। उसकी उचित चिकित्सा योग्य डाक्टरों के द्वारा हो रही थी। यह युवक अपने माता-पिता और भाई के व्यवहार से बहुत ही असंतुष्ट रहने लगा था। बचपन में वह घर का बड़ा लाड़ला

लड़का था। उसके विलक्षण कार्य-कलापों को देखकर उसके माता-पिता भी दुःखी रहते थे। युवक घर के लोगों को शत्रुवत देखने लगा था। इस समय इसे हस्तमैथुन की आदत भी लग गई थी। वह जितना ही इस आदत से मुक्त होने की चेष्टा करता था वह और भी जटिल होती जाती थी। इसके कारण उसे पढ़ाई में बाधा होने लगी थी। युवक का कथन था कि जब वह इस आदत में पड़े किसी व्यक्ति की चर्चा सुनता है तो वह उससे घृणा करता है, परन्तु वह स्वयं इस आदत को नहीं छोड़ पाता है। प्रबल उत्तेजना होने पर उसके सभी प्रकार के आदर्श व्यर्थ हो जाते हैं।

यह युवक अपने आप ही हमारे पास परामर्श के लिए आया। उसने हमारी कई पुस्तकें पढ़ ली थीं। उससे बातचीत सहानुभूतिपूर्वक की गई। उसने बताया कि उसके बड़े भाई ने उसकी माँ से उसके सुनने में कहा कि वह पड़ोस में रहनेवाली एक युवती से प्यार करने लगा है। इस प्रकार की बात उसे बहुत ही कटु लगी। उसने न केवल अपने भाई वरन् माँ से भी बोलना छोड़ दिया। वह समझता था कि उसके प्रति मिथ्या दोषारोपण किया जा रहा है। उसे अपने आचरण का बहुत अधिक अभिमान था।

जब मनुष्य के अभिमान की सबसे मौलिक वस्तु पर कोई व्यक्ति आघात करता है तो उसे अत्यन्त दुःख होता है। परन्तु वह इसके प्रतिकार में कर ही क्या सकता था? उसका शारीरिक रोग अपने सम्बन्धियों को कष्ट देने का साधन था। वह अपने अचेतन मन से क्षय रोग का आवाहन करने लगा था। उसने एक बार अचानक इस बात को स्वीकार भी किया था कि वह किसी ऐसी बीमारी से मरना चाहता है जिससे उसके माता-पिता को अधिक से अधिक कष्ट हो। आन्तरिक मन की इच्छा के परिणाम-स्वरूप उसे खाँसी जुकाम और बुखार उत्पन्न हुए।

रोगी ने पहले स्वप्नों में जंगली जानवरों को बाहर से शोर करते हुए देखा। ये जंगली जानवर उसके सम्बन्धी ही थे। उसने वास्तव में अपने सम्बन्धियों के प्रति अपने मन के दरवाजे बन्द कर लिए थे। वह अपने ठहरने के कमरे का दरवाजा भी बन्द रखता था और वह कमरे के भीतर किसी का आना पसन्द नहीं करता था। रोगी का दूसरा स्वप्न अपनी वास-

-नाओं के प्रति रोगी के दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। वह कामवासना को अपने व्यक्तित्व का शत्रु मानता था और यह वासना उसे परेशान कर रही थी। साँप, विच्छू, गोजर आदि, जिन्हें उसने स्वप्न में देखा, कामवासना के ही अनेक रूप थे। गलत दृष्टिकोण के कारण वह उसे बेचैन बनाये थी।

रोगी ने अपने तीसरे स्वप्न में अपने आप को उसी महिला से प्रेम करते हुए पाया जिसके विषय में उस पर दोषारोपण किया गया था। इस स्वप्न ने इसके नैतिकता के अभिमान को चूर-चूर कर दिया। इस स्वप्न को सुनाते समय रोगी रो पड़ा था। इन तीनों स्वप्नों को सुनाते समय रोगी को आत्म-स्वीकृति करने के लिए प्रोत्साहित किया गया था। इसके परिणाम स्वरूप रोगी की भोगेच्छाएँ और भी स्पष्टतः उसके सामने आने लगी। रोगी ने अन्तिम स्वप्न में जो दृश्य देखा वह उसकी मानसिक अशान्ति के मूल कारण को व्यक्त करता है। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि जब हम अपने स्वप्न में किसी दूसरे व्यक्ति को अपने नजदीक के सम्बन्धों से व्यभिचार करते देखें तब हमें जानना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति हमारे सिवा और कोई नहीं है। यह व्यक्ति अपनी माँ को अत्यन्त प्यार करता था। १० वर्ष की अवस्था तक वह अपनी माँ के पास सोया था। उसको यह असह्य था कि उसकी माँ उसके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति को उससे अधिक प्यार करे। जब वह पढ़ने दो साल के लिए बाहर चला गया था तो उसकी माँ उसके बड़े भाई और उसके पिता को अधिक स्नेह दिखलाने लगी थी। रोगी का सारा रोग ईर्ष्या के कारण हुआ था। जब उसे इस बात का पता लग गया तो न केवल उसका शारीरिक रोग ही समाप्त हो गया, वरन् उसकी मानसिक अशान्ति और हस्तमैथुन की आदत भी चली गई।

एक दूसरे ३२ वर्षीय युवक के स्वप्न भी इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय हैं। इनकी मनोवैज्ञानिक चिकित्सा दो वर्ष से हो रही है। इन्हें अकारण साँप का डर, सो के उठने पर थकावट की अनुभूति, नपुंसकता का सन्देह, घबड़ाहट, कान में भनभनाहट, चेहरे का जलना, कभी-कभी हाथ और पैर का शून्य होना, क्षय रोग का डर, दूसरे रोगी व्यक्ति की

बात सुनने पर अपने में उस वस्तु की कल्पना करना आदि रोग थे। हाल ही में कुछ दिन पूर्व उन्हें अपने बच्चों की पितृत्व में सन्देह हो गया। उनकी स्त्री के मरे डेढ़ साल हो गए हैं। बच्चों के पितृत्व में संदेह होने के परिणाम स्वरूप उन्होंने अपनी नींद खो दी। स्त्री तो मर ही चुकी थी अब यह बात किससे पूछते। एक बार उन्हें बच्चों की हत्या कर देने को प्रबल प्रेरणा हुई और इसके रोकने पर भारी घबराहट हुई। इन्हें बताया गया कि उनकी आन्तरिक व्यभिचार की प्रबल भावना के दमन के परिणाम स्वरूप ही यह सब रोग हुआ है। इसको पहले वे स्वीकार नहीं करते थे परन्तु उनके निम्नलिखित स्वप्नों ने उनसे यह आत्म-स्वीकृति कराई। स्वप्न इस प्रकार है :—

(१) मैं एक चबूतरे पर खड़ा हूँ। उसके नीचे बहुत से जंगली जानवर तरह तरह की डरावनी बोलियाँ बोलते मेरी तरफ आने को प्रयत्नशील हैं। मैं डर रहा हूँ, और अपने को बचाने की फिक्र में हूँ। साथ ही यह भी सोच रहा हूँ कि यह सब जंगली जानवर काफी नीचे हैं वे मेरे पास आवेंगे ही कैसे।

(२) मेरे घर पर उत्तर की ओर एक झोपड़ी है। उसमें एक हाथी बैठा है वह मेरा ही है। वह पागल हो गया है। उसके डर से मैंने घर के सभी लोगों को दालान में बंद कर दिया है और स्वयं भी बड़ी सतर्कता से अपने पड़ोसी भूतपूर्व थानेदार साहब से यह कहने गया कि वे बन्दूक से उसे मार डालें। वे तैयार होकर मारने के लिए चले। इसके पूर्व मैं अपने घर से पश्चिम सड़क पर जा रहा था और वह पागल हाथी मेरा रास्ता रोक रहा था। सड़क पर ही थानेदार साहब की उस हाथी से भिड़न्त हुई, और उन्होंने भाले से उसके मस्तिष्क पर प्रहार किया। वह कई बार पीछे हट कर भिड़ा परन्तु उन्होंने भाले से उस पर ऐसे वार किए कि वह शिथिल हो गया और दया माँगने जैसी उसकी आँखें दिखलाई पड़ने लगी। अन्त में थोड़ी देर में वह एक घायल आदमी के रूप में बदल गया। बहुत से लोग इकट्ठा हो गए। वे कह रहे थे कि इसे क्यों मारा। वे थानेदार पर बिगड़ रहे थे। हम लोगों ने कहा कि हाथी हमारा था। हमने उसे मारा,

किसी को क्या जो दस्तन्दाजी करे। थोड़ी देर में कुछ समाजवादी सज्जन आये जो उस घायल व्यक्ति को मोटर से बनारस के अस्पताल ले गए। मुझे आशंका हो रही थी कि अच्छा होनेपर फिर वह बदला तो न लेगा। पर यह सन्तोष भी हो रहा था कि उसको मेरी शक्ति का पता तो चल गया है। जैसा उसकी दया याचना से मालूम हो रहा था।

(३) मैंने देखा कि मैं एक मकान के दूसरे तल्ले पर ऐसी कोठरी में हूँ जिसका एक दरवाजा सीढ़ियों के सामने भी खुलता है। इतने में एक शेर गरजता हुआ कोठरी के दूसरे दरवाजे के सामने आ गया। मैंने शीघ्रता से वह दरवाजा बन्द कर दिया और चट सीढ़ियों से उतर कर उसका भी दरवाजा बन्द कर दिया। नीचे चला तो आया पर डर रहा था कि कहीं शेर सीधा आँगन में ही न कूद पड़े।

(४) मेरे दरवाजे पर एक अवघड़ पागल जैसा बक रहा है। लोग उसे चिढ़ा रहे हैं। उसे कुछ खाने को भी दे रहे हैं। मैंने उसे खाने को दिया। वह प्रसन्न हुआ और बोला, तुम्हारे कल्याण के लिए भगवान से कह दूँगा।

(५) मेरे घर के उत्तर-पश्चिम से भागते हुये सवारों सहित कई हाथी दिखाई पड़े। उनमें से एक ने मुझे खदेड़ा। बाद में उसपर का सवार न मालूम कहाँ गायब हो गया। उसने मुझे खदेड़ कर एक अहीर की झोपड़ी में कर दिया। यह अहीर हमारा पुराना काश्तकार है, पर अब सम्बन्ध अच्छे नहीं हैं। झोपड़ी में अहीर उसकी पत्नी तथा माँ बैठी हैं। उन्होंने उसे घास डाला जिसे उसने खाया और फिर वापस चला गया। मेरी जान में जान आई।

(६) मैं अपने कुछ मित्रों के साथ घूमने जा रहा है। रास्ते में एक पुल के नीचे बहते हुए नाले में एक जानवर था। हम लोग उसे कंकड़ों से छेड़ते हैं। वह भाग कर एक बिल में घुस जाता है। भागते समय उसकी योनि में एक सुन्दर साँप लटक रहा है। बिल में जाने पर उसका रूप राक्षसी हो जाता है।

(७) एक दिन मैंने देखा कि मैं अपनी भाभी के साथ जो हमारे

चचेरे भाई की स्त्री हैं तथा कई बच्चों की माँ हैं, समागम कर रहा हूँ। मैं काम क्रिया में पूरा रत हो गया हूँ। मैं उनसे ऐसा चिपका हूँ जैसा कभी दूसरी स्त्री से नहीं चिपका।

उपर्युक्त स्वप्नों में एक बात यह पाई गई है कि रोगी अपनी कामवासना को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखता है। वह पहले उसे जंगली जानवर के रूप में देखता है, पीछे यह मानवता का रूप धारण कर लेती है। उसके आखिरी दो स्वप्न काम वासना को स्पष्ट व्यक्त करते हैं। आखिरी स्वप्न उसे बताता है कि उसके मन के अन्दर प्रबल व्यभिचार की मनोवृत्ति है, जिसे वह अपनी स्त्री के ऊपर आरोपित कर रहा था। यह दमित व्यभिचार की मनोवृत्ति ही उसके मानसिक अशान्ति का कारण थी। इसकी आत्म-स्वीकृति से रोगी को आशातीत लाभ हुआ। जंगली जानवर शेर भालू आदि अनियन्त्रित कामवासना के प्रतीक हैं। घरेलू हाथी उसी वासना का नियंत्रित रूप है। उसका पागल होना वासना का कुछ समय के लिये नियंत्रण से बाहर जाना है। उसे मारने की चेष्टा करना मानवता को मारना है। मानव का दूसरा ही रूप हाथी है। यह दूसरा स्वप्न व्यक्ति करता है। समाजवादी लोग स्वप्नद्रष्टा की सद्बुद्धि के प्रतीक हैं। उसकी सद्बुद्धि उसे बताती है कि वह वासना को शत्रु रूप में न देखे। ऐसा करने पर जो मनोदशा होती है वह पाँचवाँ स्वप्न व्यक्त करता है।

छठां स्वप्न वासना का नग्नरूप दर्शाता है और सातवां रोगी को विस्मय में डालने वाली भावना को व्यक्त करता है। इन स्वप्नों के उपर्युक्त अर्थ को रोगी ने स्वीकार किया और इससे उसको आशातीत लाभ हुआ।

सत्रहवाँ प्रकरण

संमोहन

संमोहन के अध्ययन का विकास

आधुनिक मनोविज्ञान में संमोहन के अध्ययन में उसी प्रकार रुचि बढ़ रही है, जिस प्रकार स्वप्न में। संमोहन मन की एक असाधारण अवस्था है। सम्पूर्ण मन के ज्ञान के लिए न केवल मन की साधारण अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक है, वरन् उसकी असाधारण अवस्थाओं का भी ज्ञान होना आवश्यक है। फिर संमोहित अवस्था के विचारों और चेष्टाओं से मनुष्य की जाग्रतावस्था के विचारों और भावों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। आधुनिक काल की मानसिक चिकित्सा में संमोहन की बड़ी उपयोगिता है। इसलिये मनोविज्ञान का गहन अध्ययन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को इस अवस्था के विषय में जानकारी रखना आवश्यक है।

संमोहन के विषय में कुछ-न-कुछ जानकारी बहुत पुराने समय से चली आई है। इन्द्रजाल का खेल दिखानेवाले संमोहन की प्रक्रिया को काम में लाते हैं। इसी प्रकार मेसमेरिज्म का चमत्कार दिखानेवाले लोग भी संमोहन काम में लाते हैं। कितने ही साधु फकीर संमोहन के द्वारा किसी बात के विषय में दूसरे लोगों की जैसी धारणा बनाना चाहते हैं, बना देते हैं। संमोहन के द्वारा ओझा लोग भूत-प्रेत सम्बन्धी अर्थात् हिस्टीरिया आदि बीमारी अच्छी करते चले आए हैं। स्वास्थ्य-लाभ में संमोहन की उपयोगिता को लोग पहले से जानते थे। किन्तु संमोहन की प्रक्रिया और अवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन वर्तमान समय के पूर्व नहीं हुआ था। कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के वश में क्यों आ जाता है, इसका रहस्य लोगो की समझ नहीं आया था। संमोहन का वैज्ञानिक अध्ययन इसी रहस्य को समझाता है।

सर्वप्रथम संमोहन की ओर लोगों का ध्यान वेलजियम के मेसमर नामक व्यक्ति ने आकर्षित किया। इनका जीवन-काल १७३३ से १८१५ तक था। उस समय संमोहन का कारण व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति मानी जाती थी, अर्थात् यह मान लिया जाता था कि संमोहक एक विशेष प्रकार का व्यक्ति है जिसमें विद्युत-शक्ति के समान दूसरे लोगों को संमोहित करने की शक्ति है। जब मेसमर महाशय बेलजियम से पेरिस पहुँचे तो उनकी बहुत ख्याति हो गई। उनके पास कई रोगी संमोहन के द्वारा अपने रोगों से मुक्ति पाने लगे।

जब लोगों की धारणा हुई कि संमोहन का कारण विद्युत के समान एक प्रकार की मानसिक शक्ति है तो उन्होंने एक यंत्र बनवाया जिसे 'बाँके' के नाम से पुकारा जाता था। इसके छूने पर कोई-कोई लोग संमोहित हो जाते थे। मेसमर इसका उपयोग रोगियों की सामूहिक चिकित्सा में करते थे। बहुत से रोगी इसके कड़े को पकड़कर बैठ जाते थे। मेसमर इस यंत्रको प्रभावित कर देते और इससे सब लोग लाभ उठाते थे। यह वर्तमान प्लेनचेट अथवा लाल काँच की लालटेन के समान यंत्र था। प्लेनचेट में मनुष्य असाधारण अवस्था में हो जाता है, और अनेक प्रकार की ऐसी बातें बताता है जो उसकी चेतना को ज्ञात नहीं रहतीं। ऐसा समझा जाता हैं कि उसे कोई प्रेतात्मा ये बातें बताता है। इसी प्रकार जिन लोगों को प्रेतबाधा रहती है वे विशेष प्रकार की लालटेन के समीप बैठने पर असाधारण मानसिक स्थिति में हो जाते हैं। फिर उनके मस्तिष्क में अनेक ऐसी बातें उठतीं हैं, जो दमित वासना की प्रतीक होती हैं। उनकी साधारण चेतना इस समय अलग हो जाती है और विशेष प्रकार की चेतना आ जाती है।

मनोविज्ञान की सूक्ष्म खोज से पता चला कि 'बाँके'; 'प्लेनचेट' अथवा 'लालटेन' के समक्ष मन की विशेष स्थिति में आ जाना उन यंत्रों के कारण नहीं होता, वरन् संमोहित व्यक्ति के विचारों और आशाओं के कारण होता है। यंत्रों में न तो कोई शक्ति होती है और न जादू। ये यंत्र किसी व्यक्ति के मन पर उसी प्रकार का प्रभाव डालते हैं जैसा कि वह

आशा करता है। जिस व्यक्ति का मन जितना ही असाधारण अवस्था में रहता है उसपर उतना ही अधिक प्रभाव पड़ता है। जिस मनुष्य को भूत-प्रेत के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं है जो पूर्ण स्वस्थ है उसपर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

संमोहन के विषय में महत्व का काम नेन्से के प्रसिद्ध मानसिक चिकित्सक श्री इमील कूये महाशय ने किया है। संमोहन के संबंध में इनकी और इनके अनुयायियों की एक विशेष प्रकार की धारणा थी। इस धारणा के आधार पर वे संमोहन के द्वारा अनेक प्रकार के मानसिक रोगियों को रोग से मुक्त करते थे। संमोहन की विशेष उपयोगिता हिस्टीरिया के रोगियों की चिकित्सा में देखी गई। हिष्टीरिया को नष्ट करने में इमील कूए की प्रसिद्धि को सुनकर वियना से डाक्टर फ्रायड इस बिधि का अध्ययन करने के लिये नेन्से गए। उन्होंने संमोहन का वैज्ञानिक अध्ययन किया। उन्होंने संमोहन की उपयोगिता के विषय में जो कुछ कहा उससे संमोहन का वैज्ञानिक अध्ययन अधिक होने लगा।

संमोहन क्या है?

संमोहन मन की एक असाधारण अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य को अपने आस-पास के वातावरण का ज्ञान नहीं रहता। वह एक विशेष प्रकार की अवस्था में हो जाता है। इस अवस्था को निद्रा की अवस्था भी नहीं कहा जा सकता। इसमें एक ओर शारीरिक शिथिलता रहती है और दूसरी ओर मानसिक क्रियाएँ चलती हैं। ये क्रियाएँ संमोहक के आदेशानुसार चलती हैं। संमोहक संमोहित व्यक्ति को जिस काम को करने का निर्देश देता है, वह उसी काम को करने लग जाता है। जब संमोहन की अवस्था समाप्त होती है तो संमोहित अवस्था में जो कुछ संमोहित व्यक्ति ने किया है उसका उसे साधारणतः ज्ञान नहीं रहता। उसकी संमोहित अवस्था के कार्य के संबंध में उससे चर्चा करने पर वह उनके बारे में कुछ भी नहीं कह सकता। संमोहन का काल उसके लिये निद्रावस्था के समानहोता है। इस सम्बन्ध में संमोहन की अवस्था स्वप्नावस्था से भिन्न है। हम अपने कुछ स्वप्नों को भूल जाते हैं, परंतु सभी स्वप्नों को नहीं

भूलते। भूले हुए स्वप्नों को भी स्मरण करना संभव है। किंतु संमोहित अवस्था के अनुभव को साधारणतः रोगी एकदम भूल जाता है। संमोहित अवस्था की बातें व्यक्ति को तभी याद रहती हैं जब संमोहन करनेवाला व्यक्ति उसे पहले ही निर्देश दे देता है कि उसे संमोहित अवस्था की बातें याद रहेंगी।

संमोहित अवस्था में किसी व्यक्ति को संमोहक खारा पानी देकर कहे कि वह शरबत है तो वह उसे पीकर वैसी ही प्रसन्नता का अनुभव करेगा जैसा साधारणतः शरबत पीकर किया जाता है। अर्थात् संमोहन की अवस्था में संमोहक के निर्देशानुसार नमकीन पानी मीठा अथवा खट्टा लगने लगता है। संमोहन की अवस्था में व्यक्ति को भूले हुए अनुभव याद आ जाते हैं। जिन लोगों से वह कभी एक बार भी मिला है और जिनकी उसे कोई भी स्मृति नहीं है, वे भी संमोहन की अवस्था में याद आते हैं। सम्मोहन की अवस्था विशेषकर उन अनुभवों को स्मरण कराने में सहायक होती है जो व्यक्ति को बाल्यकाल में हुए हैं और जिन्हें वह भूल चुका है, किन्तु जो संवेगपूर्ण होने के कारण उसके मानसिक रोगों के कारण बन गये है। संमोहन की अवस्था में दमन किये गये भाव चेतना की सतह पर लाए जाते हैं। संमोहन के द्वारा भूले हुए स्वप्नों को जाना जाता है। कितने ही लोग कहते हैं कि उन्हें स्वप्न नहीं होते, परन्तु वास्तव में वे स्वप्न को भूल जाते हैं क्योंकि उनके स्वप्न प्रायः उनकी नैतिक धारणाओं के प्रतिकूल होते हैं। ऐसे स्वप्नों को संमोहन के द्वारा स्मरण कराया जा सकता है।

कितने ही लोग संमोहन को निद्रा अथवा चलित स्वप्न के सदृश मानते हैं। मेकडूगल महाशय का कथन है कि सम्मोहन में मस्तिष्क की वही दशा रहती है जो नींद में होती है, अर्थात् दोनों अवस्थाओं में मस्तिष्क की शिथिलता रहती है। परन्तु निद्रा से इस प्रकार संमोहन का मिलान करना न्यायसंगत नहीं है। सम्मोहन की अवस्था में व्यक्ति के स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है वह निद्रा में सम्भव नहीं है। निद्रा में व्यक्ति का मन निष्क्रिय रहता है, परन्तु संमोहन में वह सक्रिय रहता

है। कभी-कभी इस अवस्था में वह असामान्य कार्य कर डालता है। इस अवस्था में व्यक्ति कठिन गणित सवाल हल कर लेता है, दूर होनेवाली घटनाओं का ज्ञान कर लेता है और उन बातों को जान लेता है जो सामान्य चेतना द्वारा ज्ञात होना संभव नहीं। ये सभी बातें संमोहक के निर्देशानुसार होती हैं। परन्तु मेकडूगल महाशय का यह कथन युक्ति-संगत दिखाई देता है कि संमोहन की अवस्था में मस्तिष्क की वही दशा होती है जो नशे की अवस्था में रहती है। साधारण काम करनेवाले भाग तो सक्रिय रहते हैं, परन्तु सूक्ष्म विचारवाले भाग निष्क्रिय हो जाते हैं।

वास्तव में संमोहन की अवस्था में व्यक्ति का मन संमोहक के वश में रहता है और जैसा-जैसा वह उसे सुझाता जाता है, वह उसी प्रकार का अनुभव करता जाता है। यदि किसी व्यक्ति को सम्मोहित करने के पश्चात् सम्मोहक उसके पास से चला जाय तो या तो सम्मोहन का अन्त हो जाता है और व्यक्ति जाग जाता है अथवा वह साधारण निद्रा में लीन हो जाता है। सम्मोहक जब किसी व्यक्ति को संमोहन के लिये निर्देश देता है तो वह अपने संमोहन की अवस्था में उसके साथ सम्पर्क जोड़े रहता है। इसके कारण ही सम्मोहित व्यक्ति उसके वश में रहता है। यह सम्पर्क सम्मोहित व्यक्ति को सम्मोहन करते समय उसके ऊपर धीरे-धीरे हाथ फेरने से स्थापित हो जाता है। यदि यह सम्पर्क स्थापित न रहे तो सम्मोहित व्यक्ति सामान्य निद्रा में आ जाता है।

सम्मोहन की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के कई स्वत्व हैं। मनुष्य की चेतना की सतह के नीचे दूसरा मन भी कार्य करता रहता है। मन के इस कार्य का ज्ञान मनुष्य के चेतन मन को नहीं रहता। संमोहन में इस मन से सम्पर्क स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इसे जैसा निर्देश दिया जाता है, उसी के अनुसार यह काम करने लगता है। इन क्रियाओं का ज्ञान व्यक्ति के चेतन मन को न उन कार्यों के करते समय रहता है और न संमोहन से जागने पर होता है। संमोहन के द्वारा कुछ ऐसे शारीरिक परिवर्तन कराये जा सकते हैं जो साधारण अवस्था में नहीं होते। कभी-कभी संमोहन की अवस्था में गर्भवती स्त्री को समय के

कुछ पूर्व प्रसव कराया जा सकता है। वह स्त्री प्रसव की साधारण पीड़ा भी अनुभव नहीं करती। संमोहन से जागने पर उसे इस पीड़ा का ज्ञान भी नहीं रहता। कुछ डाक्टर लोग रोगी का छोटा आपरेशन करने के लिये संमोहन से भी काम लेते थे। इससे रोगी के अंग उसी प्रकार दुःख की संवेदना से रहित हो जाते हैं जैसे वे क्लोरोफार्म की अवस्था में हो जाते हैं।

सम्मोहन की अवस्था में व्यक्ति से जो कुछ कह दिया जाता है, वही वह करने लगता है। उससे यदि कह दिया जाय कि अमुक व्यक्ति को वह नहीं देख सकेगा तो वह नहीं देखेगा। कभी-कभी कई देशों के पोस्ट आफिसों के टिकट सम्मोहित व्यक्ति को दे दिये जाते हैं और जिस देश के टिकट को न देख सकने का उसे निर्देश दिया जाता है उसे वह नहीं देख सकता। संमोहन की अवस्था में पात्र से कह दिया जाता है कि वह अपने हाथ को ऊपर नहीं उठा सकेगा, तो वह हाथ उठाने का प्रयत्न करने पर भी उसे नहीं उठा सकता। ऐसी अवस्था में उसके दो व्यक्तित्व प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

सम्मोहनोत्तर क्रियाएँ

सम्मोहन की अवस्था में मनुष्य व्यक्ति के भीतरी मन के साथ संपर्क स्थापित करता है। इस अवस्था में जाग्रत होने के बाद जो कुछ काम करने का निर्देश दिया जाता है उसे वह व्यक्ति निर्दिष्ट समय पर करने लगता है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को सम्मोहन की अवस्था में सम्मोहक ने निर्देश दिया कि जब उसे अमुक वस्तु दिखाई जायगी तो वह कमरे की कोई खिड़की खोल देगा अथवा बन्द कर देगा, अथवा अपनी कुर्सी पर बैठ जायगा। इसके पश्चात् उसे सम्मोहन से जगा दिया जाता है, परन्तु सम्मोहित अवस्था का दिया हुआ निर्देश अपने समय पर काम करता ही है। जब संमोहित व्यक्ति को पूर्व निश्चित संकेत दिया जाता है तो वह निर्दिष्ट काम को करने लगता है। यदि उससे इस काम का कारण पूछा जाय तो उसे उस समय जो कारण समझ में आता है, कह देता है। वह अपने काम के वास्तविक कारण को जानता ही नहीं।

जब कभी किसी व्यक्ति को संमोहन की अवस्था में उसके नैतिक मन के अभ्यास के प्रतिकूल काम करने को कहा जाता है तो वह व्यक्ति प्रायः संमोहन से जाग जाता है। परन्तु यदि उस व्यक्ति की आन्तरिक इच्छा उसी काम को करने की हुई तो वह संमोहन की अवस्था में उस काम को बिना हिचक के कर डालता है। किसी व्यक्ति को संमोहित करके चोरी और व्यभिचार तब तक नहीं कराया जा सकता जब तक उसकी अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति इन कामों की ओर न हो। संमोहन से मनुष्य की चेतना की रुकावट अलग की जा सकती है, परन्तु जो बातें नित्य प्रति के अभ्यास से मनुष्य के स्वभाव का अंग बन गई हैं, उनके प्रतिकूल आचरण व्यक्ति से किसी प्रकार के निर्देश अथवा संमोहन के द्वारा नहीं कराया जा सकता। एक बार प्रो० मेकडूगल के कुछ विद्यार्थियों ने अपने साथ पढ़ने-वाली एक युवती को संमोहित किया। उससे इस अवस्था में अनेक साधारण बातें करने को कहा गया। वह इन्हें करती गई, परन्तु जब उससे कपड़ा छोड़कर नंगा होने को कहा गया तो वह संमोहन से जाग गई।

जो बात संमोहन की अवस्था की क्रियाओं के विषय में लागू होती है, वही बात संमोहनोत्तर क्रियाओं के विषय में भी लागू होती है। यदि किसी व्यक्ति को कोई ऐसा निर्देश दिया जाय, जो उसकी बुद्धि के सर्वथा विरुद्ध हो तो इस प्रकार के निर्देश में सुझाई गई क्रियाओं को वह व्यक्ति नहीं करेगा। कभी-कभी उसी के समान कोई दूसरी क्रिया कर डालेगा। एक बालक को संमोहित करके एक शिक्षक ने निर्देश दिया कि वह जागने के पन्द्रह मिनट बाद कक्षा में जोर से 'हुर्रा' चिल्ला उठेगा। इसके बाद बालक जगा दिया गया। जब निर्दिष्ट समय आया तो बालक के मन में बेचैनी उत्पन्न हो गई। वह यहाँ-वहाँ देखने लगा, मानो वह कोई काम करना चाहता है। फिर उसने अपने पास के बालक के कान के समीप मुँह लाकर उसके कान में कह दिया 'हुर्रा'। इस प्रकार पूर्व निर्दिष्ट प्रेरणा कमजोर होकर प्रकाशित हुई। यदि 'हुर्रा' कहने के बदले बालक को अपने मित्र को एक तमाचा मारने का निर्देश दिया गया होता तो वह इस निर्देश के कारण बेचैनी का अनुभव अवश्य करता,

परन्तु वह अपने नित्य-प्रति के अभ्यास अथवा अपने आन्तरिक मन के अतिकूल काम कदापि नहीं करता।

संमोहनोत्तर कार्य जागने के पश्चात् अथवा कई दिनों के अनन्तर किए जा सकते हैं। यह निर्देश की प्रबलता पर निर्भर करता है। कभी-कभी व्यक्ति वर्ष भर के पश्चात् भी निर्दिष्ट कार्य करता है। मान लीजिए, संमोहन की अवस्था में किसी व्यक्ति से कह दिया जाय कि वह आज से एक वर्ष पश्चात् विशेष मुहूर्त में गंगा-स्नान करने, किसी देवता का दर्शन करने अथवा सिनेमा देखने जायगा तो ठीक उस दिन वह उसी प्रकार के कार्य की योजना बनाने लगेगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य का भीतरी मन निर्दिष्ट समय का स्मरण रखता है, और ठीक समय आने पर मनुष्य के चेतन मन से वह काम करा लेता है।

सम्मोहनोत्तर क्रियाओं से हमारे मन की उन क्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है जिनमें हम मन की कुछ चमत्कारक शक्तियों को देखते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी कठिन समस्या के विषय में सोचते हुए सो जाय तो वह देखेगा कि जागने पर उसकी समस्या का हल सरलता से हो जाता है। कभी-कभी गणितज्ञ अपने प्रश्न के विषय में सोचते हुए सो गये हैं। जब तक वे जागते थे उन्हें प्रश्न का उत्तर न आया, पर नींद से जागने पर देखा कि वे उस कठिन प्रश्न को सरलता से हल कर सके। कभी-कभी हम यह कहकर सो जाते हैं कि हमें अमुक समय पर जागना है तो ठीक उसी समय हमारी नींद टूट जाती है। इसका अर्थ यह है कि जब हमारी सामान्य चेतना अलग हो जाती है, जैसा कि हमारी सम्मोहित अवस्था में होता है, तो हमारी आन्तरिक चेतना काम करने लगती है और समय पर हमारी सहायता करती है। जो व्यक्ति इस चेतना से सम्पर्क स्थापित करने की विधि जान लेता है, वह अपने सामान्य कामों में उसकी सहायता प्राप्त करता है। समय पर किसी बात का स्मरण करा देना, ठीक समय पर ठीक बात कहलाना, किसी प्रकार की भूल होने के पूर्व आगाह कर देना, उचित काम का निर्देश करना—इस चेतना का कार्य है। जिस मनुष्य के विचार निश्चयात्मक होते हैं, अर्थात् जो व्यक्ति किसी भी विचार को अपने

आन्तरिक मन को सौंप देता है, वह अपने जीवन में अनेक प्रकार की सफलता प्राप्त करता है, उसका मन उसे उचित कर्त्तव्य के लिये सदा सजग बनाये रखता है। संसार में असाधारण सफलता प्राप्त करनेवाले व्यक्तियों ने सदा इस आन्तरिक मन की सहायता ली है। यह एक प्रकार का आत्म-संमोहन है। जिस प्रकार दूसरा व्यक्ति हमारे अचेतन मनको संमोहित करके हमें अपने वश में कर लेता है, उसी प्रकार हम भी अपने भीतरी मनको वश में कर सकते हैं और उसे अपने काम में सहायक बना सकते हैं।

सम्मोहित करने की विधि

आधुनिक काल में सम्मोहित करने की अनेक प्रकार की प्रक्रियाएँ वर्त्तमान हैं। इनका हम दो विभागों में वर्गीकरण कर सकते हैं, एक भौतिक और दूसरी मानसिक। भौतिक प्रक्रिया में कुछ वाह्य पदार्थ की सहायता उदाहरणार्थ लाल रंग की लालटेन, घूमता हुआ आइना आदि ली जाती है। जिस व्यक्ति को सम्मोहित करना होता है उसे इन पदार्थों की ओर टकटकी लगाकर देखने को कहा जाता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सम्मोहित अवस्था में हो जाता है। कोई भी पदार्थ जिसके ऊपर किसी व्यक्ति का चित्त एकाग्र हो जाता है उसे सम्मोहित करने के लिये उपयोगी हो जाता है। एक ही प्रकार के पदार्थ के देखने से मनुष्य सम्मोहित अवस्था में हो जाता है। मान लीजिए, एक घुमाव फिराव से बनी सन्दूक के भीतर एक मन्द-मन्द जलती हुई रोशनी को कोई व्यक्ति देर तक देखता है और उसे पहले से निर्देश दे दिया है कि वह वहाँ अमुक-अमुक वस्तुओं को देखेगा तो वह वैसी ही वस्तु को देखने लगता है। कभी-कभी किसी अँगूठी में ऊपर की तरफ उठे हुए भाग में एक छेद रहता है। उस छेद के दोनों तरफ काँच लगा रहता है। छोटे बालकों अथवा सीधे सादे लोगों को उसके भीतर देखने को कहा जाता है। उनसे कहा जाता है कि कुछ देर देखने के बाद एक मेहतर झाड़ू लेकर आवेगा। अब जब यह व्यक्ति इस मुंदरी के भीतर देखता रहता है तो उससे कहा जाता है कि देखो अब नौकर आ गया। इतने में नौकर आ जाता है। फिर उससे कहा जाता है कि नौकर से कहो कि झाड़ू लगा दे। तब

नौकर जल्दी से झाड़ू लगा देता है। पीछे उससे कहा जाता है कि वह दरी बिछाए। इस प्रकार जैसे-जैसे निर्देश देखनेवाले को दिये जाते हैं वह वैसी वस्तुओं को देखने लगता है। जिस पदार्थ को सम्मोहन के लिए उसे काम में लाया जाता है, उसे कुछ असाधारण-सा होना चाहिए। कभी-कभी सम्मोहन कर्त्ता व्यक्ति को उसी की आँखों की ओर टकटकी लगाकर देखने को कहता है। व्यक्ति उसे देखते-देखते बेहोश हो जाता है।

जिस प्रकार आँख की समवेदनाओं को सम्मोहन के कार्य में लाया जा सकता है, इसी तरह किसी दूसरी संमवेदना को भी काम में लाया जा सकता है। सँपेरा (जादूगर) लोग साँप को बीन बजाकर सम्मोहित कर देते हैं। इस बीन की आवाज से साँप अपने शरीर की सुध-बुध भूल जाता है और सँपेरे की इच्छानुसार काम करने लगता है। बीन में कौन सा जादू है। इस पर विचार करने से पता चलता है कि बीन एक ही आवाज को लगातार निकालता रहता है। जब किसी व्यक्ति का मन किसी भी एक सी आवाज को लगातार सुनता रहता है तो वह अचेतन अवस्था में हो जाता है। इस प्रसङ्ग में लेखक के एक मित्र का किया गया निम्न-लिखित प्रयोग उल्लेखनीय है।

लेखक के मित्र एक बार अपनी सम्मोहन शक्ति के बारे में चर्चा कर रहे थे। इसे लेखक के भतीजे (जिसकी उस समय उम्र १४ वर्ष की थी) ने सुना और उसने कहा, 'क्या तुम हमें भगवान् रामचन्द्र का दर्शन करा सकते हो, मित्र ने कहा तुम्हें अवश्य भगवान् रामचन्द्र के दर्शन हो सकते हैं। कल सवेरे तुम स्नान करके तैय्यार रहना, तुम्हें भगवान् के दर्शन कराये जायँगे। दूसरे दिन वे सवेरे आये। लेखक का भतीजा पहले से ही स्नान करके तैयार था। वे उसे एक कोठरी में ले गये। वहाँ इस लड़के को अपने सामने बिठाल लिया और लड़के को अपनी ओर टकटकी लगाकर देखने को कहा। इस देखने के साथ-साथ उन्होंने "राम राम" की रट एक धारा से लगाना प्रारम्भ किया। राम राम कहते समय दस मिनट तक उल्टी और सीधी साँस में ध्वनि को नहीं तोड़ा। इसके परिणाम-स्वरूप यह लड़का संमोहित अवस्था में हो गया। अर्थात् पहले-पहल उसके अंग

शिथिल-से होते गये, तदनंतर नींद जैसी अवस्था में आकर गिरने लगा। उसे धीरे से लिटा दिया गया। कुछ देर के बाद जब वह संमोहन से उठा तो कहने लगा कि मैंने आज सीता और लक्ष्मण सहित भगवान् रामचन्द्र के दर्शन किये। इस लड़के को पहले ही बता दिया गया था कि वह जिस रूप में राम को देखना चाहे उस रूप में उनका ध्यान कर ले।

उक्त प्रयोग में इस लड़के के मनमें संमोहित होने की उत्सुकता पहले से कर दी गई थी। उसके मन में संमोहक के प्रति आश्चर्य का भाव था। टकटकी लगाकर देखना और एक सी ध्वनि को सुनना चित्त की एकाग्रता और चेतना की शिथिलता में सहायक वस्तुएँ थीं। शरीर के किसी अंग को धीरे-धीरे थप-थपाना, हाथ को शरीर के ऊपर से नीचे तक ले जाना इत्यादि, एक सी होनेवाली क्रियायें संमोहन को पैदा करने में सहायक होती हैं।

सम्मोहन की दूसरी रीति मानसिक है। इस रीति में सम्मोहित किये जानेवाले व्यक्ति के विचारों को एक विशेष प्रकार का बनाया जाता है। बहुत से मनोवैज्ञानिक आजकल निर्देश की विधि को ही काम में लाते हैं इसमें उस व्यक्ति का मन सम्मोहन के लिए पहले से ही तैयार किया जाता है। इस प्रकार की तैयारी पहली रीति के द्वारा होती है। परन्तु यह आकस्मिक होती है। जान-बूझकर नहीं की जाती। दूसरी रीति में जान-बूझकर यह तैयारी की जाती है। इसमें पहले से शान्त भाव से सम्मोहित किये जाने वाले व्यक्ति से सम्मोहन के बारे में चर्चा पहले से की जाती है। उससे कहा जाता है कि सम्मोहन एक निद्रा तो नहीं है, परन्तु निद्रा के समान ही मन की एक अवस्था है। उसमें शरीर के सब अंग शिथिल हो जायँगे और जैसा सम्मोहक कहेगा उसके अनुसार सम्मोहित होनेवाला व्यक्ति काम करेगा। सम्मोहक उसको किसी भी अवस्था में कोई हानिकारक काम करने के लिए न कहेगा और जब वह सम्मोहन के बाद जागेगा तो उसकी दशा बहुत अच्छी रहेगी तथा उसे बहुत आनन्द मालूम होगा। सम्मोहन के पूर्व उससे कह दिया जाता है कि उसका अमुक प्रकार का रोग छूट जायगा।

उपर्युक्त बातें पात्र से भली-भाँति कह दी जाती हैं, और यदि आवश्यकता हो तो उसे दुहरा दिया जाता है, जिससे कि सम्मोहक को पूरा सहयोग प्राप्त हो। यदि किसी पात्र को पहले कभी सम्मोहित नहीं किया गया है उससे कहा जाता है कि वह पहली बार सम्मोहन की पूर्ण अवस्था में नहीं पहुँचेगा, किन्तु उनके अंगों को आराम मिल जायगा। पात्र के मन में निराशा को आने से रोकने के लिए यह कहना आवश्यक है।

जिस व्यक्ति को सम्मोहित करना होता है, उसे एक बिस्तर पर लेटने को कह दिया जाता है, अथवा एक आरामकुर्सी पर अपने अंग शिथिल करके बैठने के लिए कहा जाता है। उससे सम्मोहक की ओर एक दृष्टि से देखने, अपने अंगों को शिथिल करने तथा सम्मोहक की बातों के अतिरिक्त कुछ भी न सोचने के लिए कहा जाता है। फिर उससे कहा जाता है 'तुम्हें नींद आ रही है, तुम्हारी आँख की पलकें भारी हो रही हैं। अब तुम आँखें बन्द कर लो।' सम्मोहक बार-बार एक सी भाषा में धीरे-धीरे आँख की पलकों का भारीपन, अंगों की शिथिलता और नींद के बारे में कहता रहता है। जब सम्मोहक देखे कि अब सम्मोहन सफल हो रहा है तो वह पात्र से कहे कि वह अब सो गया!

कुछ लोग उपर्युक्त प्रक्रिया से सम्मोहित होने में अधिक समय लगाते हैं और कुछ लोग जल्दी सम्मोहित हो जाते हैं। जिस पात्र में सम्मोहन के प्रति जितनी अधिक हिचक रहती है उसे सम्मोहित करने में उतनी ही देर लगती है। कभी-कभी सम्मोहन दो-चार मिनट में हो जाता है और कभी-कभी घंटा भर लग जाता है। संमोहक के प्रति व्यक्ति की श्रद्धा और विश्वास रहने पर संमोहन शीघ्रता से होता है, तार्किक व्यक्तियों की अपेक्षा भावात्मक व्यक्तियों को शीघ्रता से संमोहन होता है। कुछ लोग संमोहन के लिए नशीली चीजों को भी काम में लाते हैं। इनसे तार्किकता घट जाती है परंतु केवल नशीली चीजों से संमोहन कदापि नहीं होता।

• सम्मोहित करने की दो रीतियाँ

मेगडूगल महाशय ने पात्र और संमोहक के संबन्ध की दृष्टि से संमोहन की दो विधियाँ बताई हैं—एक प्रभावविधि और दूसरी सहयोग

विधि। प्रभाव विधि में प्रयोगकर्त्ता संमोहन के पात्र के ऊपर अपना प्रभाव डालने की चेष्टा करता है। इसके लिए वह दृढ़ भाषा का प्रयोग करता है और अपने में कुछ आध्यात्मिक शक्ति होने का दावा करता है। संमोहक उन सभी बातों को काम में लाता है जिससे कि पात्र उसके वश में आ जाय और अपने आपको उसके ऊपर समर्पित कर दे। इसके लिए पात्र से कुछ दूर रहना; उससे कम बातचीत करना और उसके मन में अपने प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना आवश्यक है। जिस संमोहक के प्रति भय का भाव रहता है, वह भी इस विधि से पात्र को सरलता से संमोहित कर देता है। इस विधि को फकीर और ओझा लोग काम में लाते हैं। लखनऊ निवासी एक मानसिक चिकित्सक इसी विधि से रोगियों को संमोहित करते हैं। वे अपनी विधि को योगिक विधि कहते हैं। दूसरी विधि में संमोहन की क्रिया पात्र को समझा दी जाती है। उससे संमोहक दूरी का भाव छोड़कर घनिष्ठता का भाव स्थापित करता है फिर उसकी सहायता से ही पात्र संमोहित किया जाता है। उसे मानो यह ज्ञात होने लगता है कि वह अपने आपको ही संमोहित कर रहा है।

पहले प्रकार की विधि मानसिक रोगियों पर अधिक सफल होती है। यह विधि सम्भवतः उनके लिए उपयुक्त भी है। उन्हें समझा-बुझाकर सम्मोहित करना उतना सरल भी नहीं। दूसरी विधि साधारण व्यक्तियों को सम्मोहित करने में अधिक सफल होती है। येने महाशय का कथन है कि मानसिक रोगी ही सम्मोहित किये जा सकते हैं, और जब वे भी स्वास्थ्य लाभ करने लगते हैं तो सम्मोहन की सफलता कम होने लगती है। अन्य मानसिक चिकित्सकों का कथन इसके प्रतिकूल है। उनके कथनानुसार सामान्य व्यक्ति भी सम्मोहित हो जाते हैं और मानसिक रोगी भी उसी प्रकार पीछे सम्मोहित हो जाते हैं जिस प्रकार वे पहले संमोहित होते थे। वास्तव में यहाँ संमोहन को दो विधियों की सफलता का प्रश्न है। पहली विधि में प्रभाव डालकर, केवल मानसिक रोगी को संमोहित किया जा सकता है, दूसरी विधि से किसी भी व्यक्ति को संमोहित किया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति अपनी इच्छाशक्ति दूसरेको समर्पित नहीं

करना चाहता, रोगी में इच्छाशक्ति की एक ओर कमजोरी होती है और दूसरी ओर वह अपने रोग के निदान के लिए अपने आपको दूसरे व्यक्ति के प्रति उसी प्रकार समर्पित करने के लिए तैयार हो जाता है जिस प्रकार एक फोड़ा का रोगी आपरेशन कराने के लिए तैयार हो जाता है। रोग ही उसे इस विवशता में डालता है।

दो प्रकार के संमोहनों का दो प्रकार का प्रभाव भी पड़ता है। पहले प्रकार के संमोहन से रोगी की इच्छा-शक्ति और भी निर्बल हो जाने की संभावना होती है, परन्तु दूसरे प्रकार के संमोहन से इस प्रकार की निर्बलता आने की संभावना नहीं होती। संमोहन को तमाशा दिखाने के लिए पहले प्रकार की संमोहन की विधि काम में लाई जाती है और मनोवैज्ञानिक प्रयोग के लिए, अथवा किसी विशेष प्रकार के लाभ के लिए दूसरे प्रकार की विधि काम में लाई जाती है। दोनों विधियों का अपने-अपने स्थान पर उपयोग है।

पहली विधि का प्रयोग कोई विशेष प्रकार का व्यक्ति कर सकता है। जिस व्यक्ति के प्रति पात्र के मन में भय अथवा श्रद्धा का भाव है वही इस विधि से काम ले सकता है। परन्तु जिस व्यक्ति में न तो व्यक्तित्व की विशेषता है, न उसके प्रति भय और श्रद्धा का भाव रोगी के मन में है वह उक्त विधि को काम में लाने में सफल नहीं होता। ऐसा व्यक्ति दूसरी विधि से काम लेने में सफल हो जाता है। इस विधि का प्रयोग कोई भी व्यक्ति पात्र को बिना किसी विशेष प्रकार की हानि पहुँचाए कर सकता है। पहले से ही सम्मोहित अवस्था के विषय में अच्छे सुझाव देने से साधारण व्यक्ति को सम्मोहन से लाभ होता है। इससे अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग नष्ट किये जा सकते हैं।

सम्मोहन की भौतिक रीति प्रायः प्रभावात्मक रीति है और मानसिक रीति सहयोगात्मक। भौतिक रीति को समझाते समय लेखक के एक मित्र का—अपने भतीजे को सम्मोहित करने के प्रयोग का उल्लेख किया गया था। भतीजा स्वयं वैज्ञानिक बुद्धिवाला है। पहली बार तो वह सम्मोहित अवस्था में आ गया, परन्तु दूसरी बार उसने इस विधि को

समझने के लिए फिर अपने ऊपर प्रयोग करवाया। परन्तु इस बार प्रयोग असफल रहा। इससे स्पष्ट है कि अज्ञान की अवस्था में ही पहली विधि सफल होती है।

जब कोई व्यक्ति सम्पूर्ण रूप से संमोहित हो जाता है तो वह संमोहक की इच्छा के प्रतिकूल कोई काम नहीं कर सकता। कभी-कभी उससे कह दिया जाता है कि अब तुम अपने हाथ को ऊँचा नहीं उठा सकते, अथवा अपनी आँखें नहीं खोल सकते। ऐसा निर्देश पाने के पश्चात् वह व्यक्ति आँखें खोलने की अथवा हाथ उठाने की चेष्टा करता है, परन्तु वह अपने आपको इन कामों में असमर्थ पाता है। किसी-किसी व्यक्ति से सम्मोहन की अवस्था में कह दिया जाता है कि वह किसी विशेष कमरे से दो घण्टे के भीतर बाहर जाने में असमर्थ रहेगा। जब वह सामान्य अवस्था में आता है तो भी संमोहक का दिया हुआ निर्देश संमोहित व्यक्ति के ऊपर काम करता ही रहता है, और पहले तो वह उस कमरे के बाहर जाने की इच्छा ही नहीं करता, और यदि इच्छा करता है तो वह बाहर जा नहीं सकता। वह किसी-न-किसी कारण बाहर जाने से रुक जाता है। कभी कभी निश्चित समय के पूर्व उसे कमरे के बाहर जाने में भय भी लगता है। किसी व्यक्ति को संमोहित करके, संमोहित अवस्था में अथवा संमोहनोत्तर अवस्था में अपने पीछे-पीछे चलाया जा सकता है। अथवा उसे जिस काम के करने का निर्देश दिया जाय उसे कराया जा सकता है।*

---

* संमोहन की इस प्रकार की शक्ति किसी-किसी योगी अथवा सन्त में पाई जाती है। वे जैसी इच्छा करते हैं, उसी के अनुसार न केवल मनुष्य व्यवहार करने लगते हैं, वरन् पशु-पक्षी भी व्यवहार करने लगते है। जब अंगुलीमाल बुद्ध भगवान् को मारने दौड़ा तो उन्होंने अपना शांत-भाव प्रदर्शक हाथ उसकी ओर दिखाया। अंगुलिमाल का भीतरी मन बुद्ध भगवान् के वश में आ गया और वह बाहरी मन से बुद्ध भगवान् तक पहुँचने की चेष्टा करते हुए भी उन तक न पहुँच सका। इस घटना के वर्णन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। प्रबल इच्छाशक्ति का व्यक्ति न

संमोहन के प्रयोग

मानसिक चिकित्सा के कार्य में संमोहन की जिस विधि का लेखक ने उपयोग किया है वह इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है। लेखक के मित्र को एक बार पेचिस की बीमारी हुई। वे पेट की पीड़ा के मारे बेचैन थे। लेखक अनायास उनके घर गया और उनका कुशल पूछा। लेखक पहले ही उनकी स्त्री पर निर्देश विधि से शारीरिक पीड़ा को कम करने का सफल प्रयोग कर चुका था। इस मित्र को और उसकी स्त्री को लेखक की पीड़ा को रोक सकने की योग्यता में कुछ विश्वास था।

लेखक ने इस मित्र को बिस्तर पर लिटा दिया। उससे कह दिया गया था कि जो कुछ प्रक्रिया की जा रही है उसके परिणाम-स्वरूप उसकी पीड़ा नष्ट हो जायगी। उससे अचेतन मन की शक्ति के बारे में बातचीत की जा चुकी थी। मित्र को जब अच्छी तरह से पैर फैलाकर और हाथ खोलकर लिटा दिया गया तो उससे अपनी आँखें बन्द करने को कहा गया। फिर उसे अपने अंग धीरे-धीरे शिथिल करने का निर्देश दिया गया। पीछे उससे अपने चित्त को श्वास-प्रश्वास पर एकाग्र करने को कहा गया। सांस को स्वाभाविक रूप से धीरे-धीरे चलने देना चाहिए। इसके पश्चात् उसके अंगों पर धीरे-धीरे सिर से पैर तक हाथ फेरा गया। फिर दोनों हाथों को एक साथ लेकर सात बार धीरे-धीरे सिर से पैर तक फेर दिया गया। इसके परिणाम-स्वरूप मित्रको नींद आ गई। उससे पहले ही कह दिया गया था कि यदि उसे नींद आ गई तो उसका रोग अच्छा हो जायगा। इन सभी कामों को धीरे-धीरे और एकाग्रचित्त से

केवल उसके साथ सहयोग करनेवाले व्यक्ति को संमोहित कर सकता है, वरन् विरुद्ध विचार रखनेवाले व्यक्ति को भी संमोहित कर सकता है। फिर अंगुलिमाल के मन में बुद्ध भगवान् के विषय में पहले से ही असाधारण धारणा अवश्य बनी रही होगी। उनकी ख्याति का प्रभाव उसके मन पर पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रकार की ख्याति का प्रभाव, व्यक्ति की इच्छा के विरुद्ध भी उसे संमोहित करने में कारण बन जाता है।

किया गया। तदनन्तर लेखक मित्र के पास पौन घण्टे तक बैठा रहा। पीछे वह वहाँ से उठ गया। जब तक लेखक इस मित्र के पास बैठा रहा तब तक वह खूब नींद में सोता रहा। पीछे उसने करवट ली और कुछ देर के बाद सोकर उठ गया। उसका पेट का रोग उस दिन से जाता रहा। न तो फिर पेट में पीड़ा ही हुई, न पेचिश की शिकायत रही।

इस मित्र की अवस्था लगभग सत्ताईस वर्ष की है। वह एक सब पोस्ट आफिस का क्लर्क है और बी० ए० तक पढ़ा हुआ है। वह स्वयं धार्मिक विचारधारा में विश्वास नहीं करता। परन्तु लेखक के प्रति श्रद्धा होने के कारण वह उसे सम्मोहित करके लाभ पहुँचा सका। एक दूसरे १८ वर्षीय विद्यार्थी को भी उपर्युक्त ढंग से शान्त अवस्था में लाकर सुला दिया गया। सोकर उठने पर उसका पेट का शूल और पेचिस का रोग जाता रहा।

लेखक ने अपने कुछ अन्य रोगियों को भी सम्मोहन द्वारा लाभ पहुँचाने की सफल चेष्टा की है। इसमें अनिद्रा तथा कल्पित पेट के रोग सिर की पीड़ा, हृदय की धड़कन आदि थे। जब रोगी को निर्देश दिया जाता है कि उसकी दमित भावनाएँ इस अभ्यास के करते समय चेतना पर आवेगी तो ऐसा हो होता है। हमारे चिकित्सा के प्रयोग में रोगी रोते, हँसते, गाते अथवा चिल्लाते हैं। कभी-कभी वे अपनी छाती अथवा सिर भी पीटते हैं। इस प्रकार प्रतीक रूप से दमित भावना प्रकाशित होती है। पीछे वे सभी स्मृतियाँ साफ-साफ याद आ जाती हैं जो आत्मग्लानि से भरी रहने के कारण रोगी भुलाये रखता है। इनके स्मरण होते ही रोग समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में एक पेट के रोग से पीड़ित व्यक्ति अपनी छाती को इस प्रकार करता था कि वह ढोल जैसे बजने लगती थी। एक दूसरा व्यक्ति संमोहक को अपनी माँ समझ कर अपनी सभी दुःख की गाथायें रो रोकर कहता था।

संमोहन की सफलता की आवश्यकताएँ

संमोहन की सफलता तीन बातों पर निर्भर करती है—पात्र का व्यक्तित्व, संमोहक का व्यक्तित्व और अनुकूल परिस्थितियाँ। सभी व्यक्तियों

को कोई भी व्यक्ति संमोहित नहीं कर सकता। कुछ व्यक्तियों में संमोहित होने की अधिक प्रवृत्ति होती है और कुछ में कम। जिस व्यक्ति क इच्छा-शक्ति जितनी ही निर्बल होती है उसे संमोहित करना उतना ही सरल होता है। बालकों को प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा सम्मोहित करना अधिक सरल होता है। प्लेनचेट में बालकों को ही प्रायः माध्यम बनाया जाता है। फिर पुरुषों को अपेक्षा स्त्रियों को सम्मोहित करना सरल होता है। जिस व्यक्ति की आलोचनात्मक बुद्धि जितनी प्रबल होती है उसे सम्मोहित करना उतना ही कठिन होता है।

सम्मोहक के प्रति पात्र का विश्वास होना संमोहन में सहायता देता है। साधारणतः इच्छा के विरुद्ध किसी भी व्यक्ति को संमोहित नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि सम्मोहक कोई विलक्षण-सा व्यक्ति है जिसके बारे में अनेक प्रकार की शक्तियों की धारणा लोगों के मन में है, यदि पात्र उसकी इन शक्तियों के विषय में कुछ भी विश्वास करता है अथवा उसे संमोहित हो जाने का भय है, तो इच्छा के न होते हुए भी वह सम्मोहित हो जाता है। पात्र पर सम्मोहन का प्रभाव उसकी इच्छा के अनुसार नहीं पड़ता, वरन् यह प्रभाव उसके विश्वास के अनुसार पड़ता है।

यदि पात्र का विश्वास है कि सम्मोहक भला मनुष्य है और संमोहन से पात्र का लाभ ही होगा, तो वह शीघ्रता से सम्मोहित हो जाता है। परन्तु संमोहक की अधिक जानकारी भी संमोहन में बाधा डालती है। नया और अपरिचित व्यक्ति जितनी सरलता से किसी व्यक्ति को संमोहित कर सकता है, पहले से हिलामिला व्यक्ति उतनी सरलता से किसी पात्र को संमोहित नहीं कर सकता। अधिक हेलमेल से आदर और श्रद्धा के भाव का अन्त हो जाता है, फिर संमोहन में कठिनाई होती है। परन्तु कुछ लोग नये व्यक्ति की अपेक्षा जाने हुए व्यक्ति से अधिक सरलता से संमोहित होते हैं। ये व्यक्ति किसी के प्रभाव में नहीं आना चाहते, अतएव इन्हें संमोहन की स्थिति की पहले चर्चा करके और उसके विषय में अनुकूल भाव उत्पन्न करके ही उन्हें संमोहित किया जा सकता है।

जिन व्यक्तियों के मन में अन्तर्द्वन्द्व चलता है उन्हें साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा संमोहित करना अधिक सरल होता है। संमोहन स्वयं मन की असाधारण अवस्था है। इसमें चेतना का आन्तरिक मन पर से नियंत्रण उठ जाता है। जिस व्यक्ति के मन में पहले से चेतन और अचेतन में संघर्ष बना रहता है उसमें असाधारण अवस्था में आने की प्रबल प्रवृत्ति रहती है। ऐसे लोगों को किसी दूसरे व्यक्ति की मानसिक असाधारणता छूत की बीमारी के समान लग जाती है। दूसरे व्यक्ति का हिस्टीरिया रोग देखकर अथवा उसकी चर्चा सुनकर उन्हें भी हिस्टीरिया हो जाता है। संमोहन भी ऐसे व्यक्तियों को शीघ्रता से होता है। कुछ मनोविज्ञानकों के कथनानुसार संमोहन भी एक प्रकार का हिस्टीरिया ही है। इमिल कूये महाशय अनेक मानसिक रोगियों को एक साथ ही संमोहित करके मानसिक रोग से मुक्त करने की चेष्टा करते थे।

संमोहन की सफलता के लिए उचित वातावरण की आवश्यकता होती है। संमोहन के लिए चित्त की एकाग्रता आवश्यक है, अतएव चित्त का विक्षेप करनेवाली सभी परिस्थितियाँ संमोहन में बाधक होती हैं। जिस साधन से चित्त की एकाग्रता बढ़ाई जा सकती है वे संमोहन के लिए सहायक होते हैं। धार्मिक वातावरण जैसे साधु, देवी-देवताओं के मन्दिर आदि बातें संमोहन में सहायक होती हैं।

जिस प्रकार पात्र का व्यक्तित्व संमोहन में महत्व रखता है इसी प्रकार संमोहक का व्यक्तित्व भी संमोहन में महत्व रखता है। पुराने समय के लोगों का विश्वास था कि संमोहन करनेवाले व्यक्ति में कुछ विशेष प्रकार की आध्यात्मिक शक्ति रहती है। यही शक्ति संमोहन का कारण होती है। इस शक्ति के कारण संमोहक प्रबल निर्देश संमोहित पात्र के मनमें डालता है और, इसके परिणाम-स्वरूप पात्र के आचरण में अथवा मान-सिक स्थिति में जैसा परिवर्तन संमोहक करना चाहता है, हो जाता है। मेसमर महाशय इसी विचार के प्रवर्तक थे।

आधुनिक विचार उक्त धारा इस धारणा के ठीक प्रतिकूल है। इस विचारधारा के अनुसार संमोहन की शक्ति किसी विशेष प्रकार की आध्या-

त्मिक शक्ति नहीं है। कोई भी व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली है, संमोहन की योग्यता सरलता से प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति के रहन-सहन, उसकी कीर्ति, उसकी मुखाकृति, उसके बातचीत करने का ढंग और कपड़े आदि सहायक साधन होते हैं। जिन बातों से एक व्यक्ति साधारणतः दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करता है, वे ही बातें संमोहन में काम करती हैं। जिस व्यक्ति में दृढ़ निश्चय रहता है और एक ही बात को दृढ़ता से कहता रहता है वह दूसरे व्यक्ति के मन में अनुकरण का भाव अथवा बात मानने का भाव उत्पन्न करता है। संमोहन के लिए इस प्रकार की मानसिक दृढ़ता की आवश्यकता है।

हमारी समझ से आधुनिक मनोविज्ञान की उक्त विचारधारा उसी प्रकार एकांगी है, जिस प्रकार पुरानी विचारधारा एकांगी थी। बिना चित्त की एकाग्रता के संमोहन की शक्ति प्राप्त नहीं होती है और यह चित्त की एकाग्रता सभी लोगों में नहीं होती। अभ्यास के परिणाम-स्वरूप चित्त की एकाग्रता आती है। फिर जिस प्रकार की भावना का अभ्यास जो व्यक्ति करता है उसमें उसी प्रकार की शक्ति आती है। उद्विग्नमन रहनेवाले व्यक्तियों को मानसिक शक्ति की कमी होती है। मानसिक शक्ति की वृद्धि मन की प्रसन्नता और शान्ति-भाव के अभ्यास से होती है। जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करने के आत्मनिर्देश का अभ्यास करते हैं, उन्हें दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति भी आती है। मैत्री भावना के अभ्यास से शान्त विचारों की वृद्धि होती है और दूसरों को प्रभावित करने की भी शक्ति आती है। इसी प्रकार किसी पदार्थ पर चित्त को एकाग्र करने से भी मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है। इस प्रकार का अभ्यास त्राटक कहलाता है। त्राटक करनेवाला व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मनको वश में करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। वास्तव में हम जितना ही अपने मनको वश में रखने की क्षमता प्राप्त करते हैं उतनी दूर तक दूसरे लोगों के मनको वश में करने की भी क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। पातञ्जल के अष्टांग योग और बुद्ध भगवान के बताए अष्टांगी मार्ग का अनुसरण करने से मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है। इसमें समाधि का अभ्यास विशेष

प्रकार से लाभकारी होता है। जो व्यक्ति यम-नियम का अभ्यास करता है और अपने मन को वश में करने की चेष्टा करता रहता है वह अनेक प्रकार की मानसिक शक्ति को प्रात कर लेता है। ऐसे व्यक्ति को अपनी शक्ति में विश्वास भी रहता है। ऐसे ही व्यक्ति के मन में दूसरे को प्रभावित करने की शक्ति होती है और वह उसे सरलता से संमोहित भी कर लेता है।

सम्मोहन की मानसिक चिकित्सा में उपयोगिता

संमोहन की मानसिक चिकित्सा में उपयोगिता के विषय में दो विरोधी विचारधाराएँ हैं। एक प्रकार की विचारधारा के अनुसार सम्मोहन के द्वारा अनेक प्रकार की मानसिक बीमारियाँ अच्छी की जा सकती हैं। कूये महाशय सम्मोहन और निर्देश की सहायता से हिस्टीरिया के रोग को नष्ट करते थे। कितने ही लोगों की सिर की पीड़ा सम्मोहन द्वारा नष्ट हो जाती है। इसी तरह अनेक प्रकार के वाध्य विचार, अकारण भय, चिंताओं और व्यभिचार की आदतों का अन्त सम्मोहन की सहायता से किया जा सकता है। एडमण्ड कांक्लिन महाशय का कथन है कि संमोहन के द्वारा इस प्रकार रोग का विनाश रोगी के संमोहित होने के कारण नहीं होता वरन् जो संमोहन के साथ अच्छे हो जाने के निर्देश दिये जाते हैं उनके कारण रोग नष्ट होता है।* रोग की जड़ मनुष्य के अचेतन मन में रहती है। इस अचेतन मन को मनुष्य की सामान्य अवस्था में प्रभावित करना कठिन होता है। मानसिक रोगी का मन बेठिकाने रहता है, और वह किसी प्रकार का अभ्यास करने में असमर्थ रहता है। अतएव रोगी के चेतन मन को संमोहन के द्वारा स्तब्ध करके उसके अचेतन मन से निर्देश के द्वारा काम लिया जा सकता है।

---

* In the light of present knowledge, however, it is evident that beneficial results, where they were obtained, must have been due to suggestions unnoted or to attitudes of expectancy with which the hynotic state was iuduced.

An Outline of Abnormal Psychology P. 357

संमोहन के द्वारा पुरानी दबी हुई स्मृतियों को चेतना की सतह पर लाया जा सकता है। इनको जानकर रोगी की उचित चिकित्सा की जा सकती है। आधुनिक मानसिक चिकित्सा में संमोहन प्रायः इसी काम के लिए अधिकतर उपयोग में लाया जाता है। इसके लिए प्रायः स्वगत लेख की क्रिया को काम में लाया जाता है। मानसिक रोगी की चेतना को किसी एक विषय पर एकाग्र कर दिया जाता है और उसी समय उसे अपने हाथ ढीला करने का निर्देश दिया जाता है। फिर धीरे से उसके हाथ में एक पेन्सिल थमा दी जाती है। रोगी का हाथ इस पेन्सिल से सामने रखे कागज पर मानो अपने आप ही अपनी पुरानी स्मृतियाँ, जो उसके दुःख की कारण हैं, लिख देता है। रोगी की सामान्य चेतना को इसका ज्ञान नहीं रहता और जब उसे अपने ही हाथ की लिखी बातों को बताया जाता है तो वह उन पर विश्वास नहीं करता। वास्तव में स्मृतियों के बारे में लिखनेवाले व्यक्ति का मन सामान्य व्यवहार में काम में आने-वाले मन से भिन्न होता है। दोनों में एकता नहीं होती।

सम्मोहन विधि का भली-भाँति अध्ययन फ्रायड महाशय ने किया है। उन्होंने पहले अपनी मानसिक चिकित्सा में इसका प्रयोग भी किया था। परन्तु अपने प्रयोगों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्मोहन की विधि से रोगी को जब कभी लाभ होता है तो वह अस्थायी भी होता हैं। सम्मोहन में जो निर्देश से काम लिया जाता है उससे रोग के कारण का रेचन न होकर उसका दमन होता है। इसके कारण यदि रोगी का कोई अस्थायी लाभ हो भी जावे तो उसे फिर से मानसिक रोग आ जाता है और रोगी को बार-बार मानसिक चिकित्सक के पास दौड़ना पड़ता है। जब तक रोगी के मनोविश्लेषण द्वारा उसके मानसिक विकार का रेचन नहीं हो जाता उसे स्थायी लाभ नहीं होता। मनोविश्ले-षण विधि से पूर्ण लाभ होने में बहुत देर लगती है पर लाभ स्थायी होता है। •

कुछ मनोविश्लेषक सम्मोहन को मानसिक रोग के विनाश में तो काम में नहीं लाते, परन्तु मानसिक ग्रन्थि की खोज में काम में लाते हैं।

संमोहन के द्वारा वे पुरानी स्मृति का ज्ञान कर लेते हैं। परन्तु इस प्रकार के स्मरण से चिकित्सक का रोगी के मन की टीक स्थिति का ज्ञान भले ही हो जाय, पर रोग इससे नष्ट नहीं होता। इसके लिए दूसरे प्रकार के उपचार करने ही पड़ते हैं। कभी-कभी भूले हुए स्वप्न भी संमोहन के द्वारा रोगी को स्मरण कराये जाते हैं।

कुशल मनोविश्लेषक संमोहन की इस उपयोगिता को भी ठीक नहीं मानते। वे संमोहन को मानसिक ग्रन्थि की खोज में भी काम में नहीं लाते। रोग के लक्षण देखकर अनुभवी कुशल मनोविश्लेषक रोग के कारण का प्रायः ठीक अन्दाज लगा लेता है। अब आवश्यकता इस बात की है कि स्वयं रोगी से वह इस कारण को स्वीकार करावे। यह स्वीकृति तभी होती है जब कि रोगी के पूर्ण चेतन रहते हुए ग्रन्थि की खोज की जाती है। ऐसी अवस्था में चेतना की सतह पर विस्मृति भावना के आते ही रोगी का मानसिक रोग नष्ट हो जाता है। साधारण मनोविश्लेषण विधि से रोगी की मानसिक ग्रन्थि की खोज करने से धीरे धीरे रोगी और चिकित्सक के बीच आत्मीयता का भाव स्थापित हो जाता है। जैसे-जैसे उसके मन के विषय में चिकित्सक अपनी जानकारी बढ़ाता है और रोगी उसके समक्ष अपने आपको खोलता जाता हैं वैसे वैसे रोगी का दलित मानसिक भाव चिकित्सक पर आरोपित हो जाता है। इससे एक ओर विस्मृत अनुभव के स्मृति पटल पर आने में सहायता मिलती है और दूसरी ओर रोगी के उस मानसिक भाव का रेचन भी हो जाता है, जो रोग का कारण होता है।

इतना तो सरलता से ही कहा जा सकता है कि बार-बार किसी व्यक्ति को संमोहित करने से उसके मानसिक स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति निर्बल हो जाती है। पहले तो निर्बल इच्छा शक्ति के लोग ही जल्दी से संमोहित होते हैं, फिर संमोहन से उनकी इच्छा शक्ति और भी निर्बल हो जाती है। साधारण बालकों को संमोहित करना उनके व्यक्तित्व के सङ्गठन को बिगाड़ना है। जिन लोगों के मन में पहले से ही संघर्ष बना हुआ है

उन्हें संमोहन लाभ पहुँचा सकता है, परन्तु उन्हें वह हानि भी कर सकता है। यह संमोहक की कुशलता और उसकी सन्निर्देश की शक्ति पर निर्भर करता है कि संमोहन रोगी को लाभ करेगा अथवा हानि। साधारणतः रोगी के मन की जाँच, स्वप्न, सहज सम्बन्ध, शब्द-सम्बन्ध और उसकी आकस्मिक क्रियाओं के द्वारा करना अधिक अच्छा है। जिन बालकों को प्लेनचेट के प्रयोग में माध्यम बनाया जाता है, उनमें मानसिक असाधारणता बढ़ जाती है। वे कभी-कभी जहाँ तहाँ भूत प्रेत देखने लगते हैं और इसके कारण कभी-कभी विक्षिप्त हो जाते हैं। अतएव प्लेनचेट का खेल दिखाने के लिए अपने बालकों को माध्यम बनाने के लिये दे देना एक भारी भूल है। यह उन बालकों के प्रति अन्याय है। संमोहन का उपयोग वहीं तक वांछनीय है जहाँ तक वह रोगी के कल्याण की दृष्टि से किया जाता है। जब रोगी के विचारों को साधारण विधि से प्रभावित करना संभव न हो तो उसे संमोहित करके भी कल्याणकारी मार्ग पर लगाना उचित है। कूये महाशय इस दृष्टि से ही संमोहन का उपयोग मानसिक चिकित्सा में करते थे।

फ्रायड महाशय की संमोहन के विषय में आपत्ति प्रभावात्मक विधि से संमोहित करने के विषय में अधिक लागू होती है। लेखक का मत है कि जिस प्रकार संमोहन के द्वारा व्यक्ति विच्छेद को बढ़ाया जा सकता है, उसी प्रकार संमोहन से व्यक्ति-विच्छेद को नष्ट भी किया जा सकता है। इससे शारीरिक कष्ट को कम करने में भी सहायता ली जा सकती है। यह सब कुछ संमोहक के निर्देश पर निर्भर करता है। संमोहन के द्वारा सामान्य निद्रा लाई जा सकती है। एक ही प्रकार की किसी उत्तेजना से मस्तिष्क को थकावट आ जाती है और इसके साथ-साथ निद्रा का सुझाव देने से किसी साधारण व्यक्ति को निद्रा आजाती है। माताएँ व दाइयाँ छोटे-छोटे बालकों को थपथपाकर, गीत गाकर अथवा पलने में झुलाकर सरलता से सुला देती हैं। इन गीतों में तथा पलना झुलाने में नींद का निर्देश रहता है, अतएव बालक सो जाता है। सो जाने पर वह अपने वर्तमान दुःख को भूल जाता है और जब वह जागता

है तो वह नई प्रसन्नता और स्वास्थ्य को लेकर आता है। बालकों को जब किसी प्रकार की शारीरिक व्याधि होती है; वे उसके क्लेश के कारण बेचैन रहते हैं, तो माताएँ उन्हें झूले में डालकर झुला देती हैं और सोने के गीत कुछ विशेष प्रकार की ध्वनि में गाने लगती हैं। इससे बालक को निद्रा आजाती है और वह अपने दुःख को भूल जाता है। कुछ दिन इसी प्रकार दुख को भूलने से शारीरिक कष्ट चला जाता है। दुःख की मानसिक अवस्था रहने पर बालक बेचैन रहता है, वह लोटता पोटता रहता है, इससे उसके स्वास्थ्य लाभ करने में बाधा उत्पन्न होती है। गाना गाकर, झूला झुलाकर, थपथपाकर नींद ले आने से तथा शुभ निर्देशों के देने से बालक को लाभ अवश्य होता है।

जिस प्रकार माताएँ बालकों के शारीरिक तथा मानसिक क्लेश को एक विशेष प्रकार के संमोहन के द्वारा कम करने की चेष्टा करती हैं, उसी तरह संमोहक भी रोगी को निद्रा में ले जाकर उसे शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्य लाभ करने में सहायता दे सकता है। कूये महाशय रोगी के मन में स्वास्थ्य की भावनाओं को जाग्रत करके उन्हें सम्मोहित करते थे। हम जानते हैं कि निद्रा के पूर्व के विचार मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य लाभ करने में हमारी पर्याप्त सहायता करते हैं। वे हमारे शरीर में नई प्रकार की क्रियाओं का संचालन कर देते हैं। इनके परिणाम स्वरूप रोग नष्ट हो जाता है और स्वास्थ्य लाभ हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य और चरित्र-निर्माण तथा नई मानसिक शक्तियों के उत्पादन में सोते समय के विचार बहुत ही सहायक होते हैं। जिस रोगी के विचार बिगड़ गये हैं और जो सन्निर्देश को अपनी साधारण अवस्था में ग्रहण नहीं करता उसे सम्मोहित करके सन्निर्देश ग्रहण कराया जा सकता है। किसी भी प्रकार का विचार विरोधी विचारों के अभाव में क्रियाशील होता है। यदि मनुष्य के मन में कुछ काल तक एक ही विचार रहे, तो वह विचार अपने अनुरूप शारीरिक और मानसिक परिवर्तन कर डालता है। स्वास्थ्य का विचार मन में देर तक ठहरने से स्वास्थ्य लाभ करने में सहायक होता है और

रोग का विचार रोग ले आता है। पारस्परिक विरोधी विचार किसी प्रकार की सफलता नहीं देते। सम्मोहन के द्वारा अभद्र विचारों को चेतन से अलग किया जा सकता है, और प्रबल विचारों को निर्देश के द्वारा रोगी के मन में डाला जा सकता है। इन विचारों से रोगी का मन ध्वंसात्मक कार्यों से हटकर रचनात्मक कार्य में लग जाता है। इससे न केवल रोगी को लाभ होता है, वरन् सामान्य स्वस्थ व्यक्ति को भी लाभ होता है।

लेखक ने 'आनापान सति' के द्वारा रोगियों को सुलाकर अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोगों को नष्ट किया है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लाभ के लिये ही यह प्रयोग कर सकता है। कूये महाशय की बताई हुई यही आत्मनिर्देश विधि है। अनेक प्रकार के शारीरिक कष्ट आनापान सति का अभ्यास करते हुए सो जाने से नष्ट हो जाते हैं। अकारण भय, बाध्य विचार तथा वितर्क का नाश आनापान सति के अभ्यास से होता है। यह बुद्ध भगवान का बताया हुआ योगाभ्यास है। जिसके द्वारा तीनों प्रकार के वितर्कों का निवारण होता है। इससे मन को परेशान करनेवाली व्यर्थ बातों का विनाश हो जाता है। शारीरिक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

सम्मोहन और निर्देशन

सम्मोहन और निर्देशन का घनिष्ट सम्बन्ध है। सम्मोहन की अवस्था का उत्पादन निर्देश के द्वारा होता है। ये निर्देश निर्देशक के किसी प्रकार के आचरण अथवा उसके प्रकाशित विचारों से मिलते है। निर्देश के द्वारा तार्किक चेतना को सुप्त किया जाता है और प्रसुप्त मन (अचेतन मन) को जाग्रत किया जाता है। उचित-अनुचित का विचार करने की शक्ति मनुष्य की तार्किक चेतना में ही रहती है। हमारी साधारण चेतना में किसी प्रकार का विचार आते ही प्रतिद्वन्दी विचार तुरंत चला आता है। इससे हमें लाभ भी होता है। हम एकाएक किसी काम में नहीं पड़ जाते। हम किसी भी प्रकार की क्रिया के आगे-पीछे के परिणामों पर विचार करते हैं। पर यदि हमारे मन की स्थिति सदा

इसी प्रकार की बनी रही तो किसी निश्चय पर आना अथवा किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करना असंभव हो जाता है। जब तक मनुष्य का मन किसी एक विचार पर एकाग्र नहीं होता तब तक वह किसी काम को भी सफलतापूर्वक नहीं कर सकता। किसी काम को प्रारम्भ करने और उसमें लगे रहने के लिये एक ही विचार का चेतना के समक्ष रहना और विरोधी विचारों का निरोध होना आवश्यक है। संमोहन की अवस्था में सभी प्रकार के विचारों का निरोध हो जाता है। यह निरोध सोने का निर्देश देकर किया जाता है। इस प्रकार के निर्देश से मनुष्य की चेतना में चलनेवाले सामान्य विचार सुप्त (शान्त) हो जाते हैं। तदनन्तर पात्र को जैसा विचार सुझाया जाता है वह उसी विचार के अनुसार काम करने लगता है।

रोगी मनुष्य के मन में रोग के ही विचार प्रबल होते हैं। इन विचारों के कारण उसका रोग बढ़ता जाता है। चेतन मन के विचार कुछ काल में मनुष्य के भीतरी मन (अर्थात् अचेतन मन) तक पहुँच जाते हैं। जैसा विचार व्यक्ति के भीतरी मन में उस समय जाता है उसी के अनुसार उसका स्वास्थ्य भी बन जाता है। कभी-कभी मनुष्य के रोग का कारण उसके विकृत विचारों में होता है। इन विचारों का सुधार भी भले विचारों को देकर किया जा सकता है। परन्तु जब तक किसी प्रकार के शुभ विचार व्यक्ति के अचेतन मन में प्रवेश नहीं कर लेते तब तक उसे कुछ भी लाभ नहीं होता। रोगी के विकृत विचार उसके मन में किसी प्रकार का शुभ विचार ठहरने नहीं देते। शुभ विचारों के प्रति उसके मन में अनेक प्रकार के संदेह उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक इन सन्देहों को नहीं रोका जाता और एक ही विचार को उसके मन में नहीं बैठाया जाता तब तक रोगी को लाभ पहुँचाना कठिन है। सम्मोहन के द्वारा रोगी के विकृत विचारों को अलग किया जाता है, तदनंतर उसके मन में भले विचार दूसरे निर्देशों के द्वारा डाले जाते हैं।

सम्मोहन की अवस्था में जब मनुष्य की सामान्य चेतना अलग हो जाती है तब रोगी की प्रबल भावना को निर्देश के द्वारा जाना जा

सकता है। । रोग का कारण किसी प्रकार की दबी भावना में रहता है। यह भावना एक ओर चेतना की सतह पर नहीं आती, और दूसरी ओर यही अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करती है। अर्थात् यह मनुष्य के अचेतन मन में सदा क्रियमाण रहती है। जब सम्मोहन के द्वारा चेतना को अलग कर दिया जाता है तो थोड़े से निर्देश पाने पर ही व्यक्ति की दलित भावना और उससे सम्बन्धित स्मृति सहज में व्यक्ति को स्मरण होने लगती है। इस प्रकार संमोहन और निर्देश के द्वारा मनुष्य के मन के दलित भावों और उसकी मानसिक ग्रन्थियों को खोजा जा सकता है।

निर्देशन की अवस्था सम्मोहन से अधिक व्यापक मानसिक अवस्था है। निर्देश के द्वारा ही सम्मोहन की उत्पत्ति होती है। उसी के द्वारा मनुष्य की सामान्य चेतना सुप्तावस्था में लाई जाती है और दूसरी चेतना के द्वारा निर्देशक के अनुसार उसकी क्रियाएँ संचालित होने लगती हैं। निर्देश जाग्रतावस्था में भी कार्य करता है। निर्देश के द्वारा मनुष्य के अचेतन मन पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है। जब मनुष्य के अचेतन मन पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है तो उससे जिस प्रकार चिन्तन कराया जाता है वह उसी प्रकार का चिन्तन करने लगता है। वह इस प्रकार के चिन्तन को अपना ही चिन्तन समझता है। किसी प्रकार के निर्देश के सफल होने के लिये मनुष्य की तर्क-बुद्धि को शान्त करना आवश्यक होता है। तर्क-बुद्धि कुछ तो स्वयं निर्देशक के व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण शान्त हो जाती है और कुछ बाहरी उपकरणों के द्वारा शान्त की जाती है। बड़ी-बड़ी सभाओं में मनुष्य में तार्किक विचार की जितनी कमी हो जाती है उतनी अकेले में नहीं होती। किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार बड़ी-बड़ी सभाओं के द्वारा किया जा सकता है। यहाँ वक्ता का वैयक्तिक निर्देश, सभा-मंच, मनुष्यों का समूह आदि विरोधी विचारों को मनुष्य के मन में नहीं आने देता। दूसरे, स्वयं श्रोता ग्रहण की स्थिति में रहता है। वह सुदूर स्थित वक्ता से किसी बात पर बहस कर ही नहीं सकता। जब उसका काम सुनने भर

का रह जाता है तो वह और भी निर्देशित होने की अवस्था में हो जाता है। इसलिये जिस प्रकार का विचार सभाओं में मनुष्यों को दिया जाता है वह क्रियाशील हो जाता है।

प्रार्थना-सभाओं में प्रकाशित विचार सामान्य विचारों की अपेक्षा और भी प्रभावकारी होते हैं। प्रार्थना-सभा में मनुष्य की तर्क-बुद्धि और भी शान्त हो जाती है। मनुष्य उस समय प्रमुख वक्ताओं के प्रति ग्रहणात्मक मनोवृत्ति धारण करता है। अतएव प्रार्थना-सभाओं में व्यक्ति के निर्देश का बल जितना बढ़ जाता है सामान्यतः उतना बल बढ़ना संभव नहीं। प्रार्थना सभाओं में श्रोताओं की तार्किक बुद्धि एक प्रकार की सम्मोहित अवस्था में रहती है। वह वक्ता के विरुद्ध कुछ भी नहीं सोच सकता। अतएव प्रार्थना के बाद जो कुछ सभा में उपस्थित व्यक्तियों से कहा जाता है, वे उससे बहुत ही प्रभावित होते हैं।

निर्देश का प्रभाव तर्क-बुद्धि के जागने पर समाप्त हो जाता है। यदि सभा में एक व्यक्ति ऐसा हो जो सभा के वक्ता के मत की सब लोगों के समक्ष आलोचना करने लगे तो वह सभी लोगों की तार्किक बुद्धि को जगा देता है, फिर वक्ता चाहे जैसा उपदेश क्यों न दे उसका कोई मौलिक प्रभाव सुननेवालों के मन पर नहीं पड़ता। तार्किक विचारों का उदय आंशिक सम्मोहन की स्थिति का अन्त कर देता है। प्रत्येक प्रकार की सत्ता का आधार मनुष्यों के मन पर उस सत्ता के अधिकारी का प्रभाव होता है। जब किसी सत्ता की आलोचना होना प्रारंभ होता है तो थोड़े ही काल में उसके प्रभाव का अन्त हो जाता है। इस आलोचना को पहले-पहल कोई एक व्यक्ति करता है, पीछे उसी के विचार तेजी के साथ दूसरे लोगों में फैल जाते हैं और वे भी आलोचक का अनुकरण करने लगते हैं। इस प्रकार आलोचक संमोहक के प्रभाव का अन्त कर देता है।

मनुष्य के जीवन में तर्क और निर्देश दोनों का स्थान है। निर्देश के द्वारा मानसिक रोगों की चिकित्सा में बहुत कुछ लाभ होता है। फ्रायड महाशय ने अपनी चिकित्सा विधि में निर्देश विधि का प्रयोग

करना इसलिए छोड़ दिया था कि इससे व्यक्ति की दलित भावना का रेचन न होकर उसका और भी दमन होता है। इससे रोगी को कुछ समय के लिए भले ही लाभ हो, परन्तु यह लाभ स्थायी नहीं होता। निर्देश विधि से रोगी की चिकित्सा करना रोग को नष्ट करना नहीं, वरन् उसे दबाना है। रोग को उसका वास्तविक कारण जाने बिना नष्ट नहीं किया जा सकता। इसके लिए रोगी से अधिक सम्पर्क स्थापित करना, उसके स्वप्नों का अध्ययन करना, उसके आचरण को देखना, तथा उसकी अनेक प्रकार की बातचीत सुनना आवश्यक है। इस प्रकार रोगी और चिकित्सक के प्रति आत्मीयता का भाव स्थापित हो जाता है और रोगी की प्रेम भावना, जो अवरुद्ध होने के कारण रोग का कारण बनी हुई थी—चिकित्सक के प्रति आरोपित हो जाती है। इससे एक ओर दलित भावना की प्रबलता कम होती है और दूसरी ओर उसका स्मृति पटल पर आकर सरलता से रेचन हो जाता है। संमोहन की अवस्था में जो भावना स्मृति-पटल पर आती है उससे भी दलित भावों का चिकित्सक के प्रति आरोपण होता है। पर यह भावों का आरोपण फिर चिकित्सक के ऊपर ही रह जाता है, वह उसके उचित पात्र के ऊपर नहीं जाता। इससे नई मानसिक झंझट उत्पन्न हो जाने की संभावना होती है। परन्तु निर्देश विधि से चिकित्सा करनेवाले व्यक्ति पहले तो संमोहन का उपयोग रोग का कारण खोजने के लिए करते ही नहीं और यदि वे उसका उपयोग इसके लिए करें तो भी वह उतना लाभकारी नहीं होता।

फ्रायड महाशय की निर्देश के प्रति आपत्तियों का उत्तर हम मेकडूगल महाशय के उन विचारों में पाते हैं जिनमें उन्होंने मानसिक चिकित्सा के रहस्य को समझाया है। मेकडूगल महाशय का कथन है कि रोगी को स्वास्थ्य-लाभ चिकित्सक के शुभ निर्देश से ही होता है। रोगी के रोग का कारण खोजने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उससे रोगी और चिकित्सक में घनिष्ठता बढ़ जाती है। यही घनिष्ठता दलित भावों के आरोपण का कारण बनती है और इसी के कारण रोगी

चिकित्सक के प्रति अपनी आत्म-स्वीकृति भी करता है। जब रोगी चिकित्सक को अपना घनिष्ट मित्र समझ लेता है तो वह अपने आपको उसके प्रति समर्पित भी कर देता है। यह समर्पण करना प्रेम-समर्पण है। इस समर्पण के कारण उसके लिए चिकित्सक से स्वास्थ्य के निर्देश ग्रहण करना सरल हो जाता है और रोग का अन्त इन्हीं सन्निर्देशों से होता हैं। स्वयं डा० फ्रायड ने मनोविश्लेषण के साथ-साथ निर्देश की उपयोगिता स्वीकार की है। उनका कथन है कि जब हम अपनी मानसिक चिकित्सा को जनसाधारण के रोगों के उपचार में काम में लाने लगेंगे तो हमें अपने मनोविश्लेषण के साथ-साथ कुछ दूर तक सीधे निर्देश से भी काम लेना पड़ेगा।† वास्तव में मनोविश्लेषक अपने अन-जाने ही मानसिक चिकित्सा में निर्देश-विधि का प्रयोग करता रहता है।

---

† It is impossible, it may be urged, for a patient to spend many hours, day after day through many months, in intimate discussion of his personal problems with his physician, without his discovering much of the latter's opinion and attitude towards his symptoms and problems; and, this being so, it is equally inevitable that unless the physician (who by the very nature of the case occupies an initial position of great advantage, as well as having the advantage of being a healthy man over against a sick man) is a very poor creature, the patient shall become in some degree suggestible to him, and be influenced in corrsesponding degree by suggestion.

Mcdougall 'An outline of Abnormal Psychology' p- 427

"In all probability the application of our therapy to numbers will compel us to alloy the pure gold of analysis with a plentiful admixture of the copper of direct suggestion; indeed, just as in the treatment of war-neuroses, hypnotic influence might be included"

Freud, Wege der psychoanalytizchen Therapic'1919. Quoted dy Mcdougall in An Outline of Abnormal Psychology

आत्म-निर्देश

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य दूसरे मनुष्य के निर्देश से सम्मोहित अवस्था में हो जाता है, अथवा अपने अचेतन मनके द्वारा ऐसा काम कर सकता है जो उसकी चेतना को ज्ञात न हो, इसी प्रकार वह अपने ही आत्म-निर्देश से सम्मोहित अवस्था में हो सकता है और अपने अचेतन मन से ऐसे काम करा सकता है जो उसकी चेतना को ज्ञात न हो, अथवा जिन्हें चेतन मन के द्वारा करना अत्यंत कठिन हो। आत्म-निर्देश द्वारा समय पर जाग जाना, उसके द्वारा उचित समय पर ठीक काम करना, भूली हुई अनुभूति को याद कर लेना, स्वगत लेख लिखना, किसी प्रकार का शारीरिक परिवर्तन करना, नाड़ीका चलना बंद कर देना, फोड़ों को अच्छा कर लेना, साँस बंद करके कुछ दिनों तक पड़े रहना, आदि काम सम्भव तो हैं ही, इसके द्वारा मानसिक और शारीरिक रोग भी अच्छे किये जा सकते हैं।

मनुष्य की चेतना की शक्तिसीमित है, परंतु उसके अचेतन मन की शक्ति बहुत ही अधिक है। हम अचेतन मन की शक्ति का अनुमान उसी प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार एक पदार्थविज्ञान-वेत्ता एटम (परमाणु) की शक्ति का अनुमान नहीं लगा सकता। मन की शक्ति एक मुखी न होने के कारण वह सीमित दिखाई देती है। हमारे मन में परस्पर विरोधी विचार और इच्छाएँ पड़ी रहती हैं। इनके कारण हमारे मन की कार्य-शक्ति बहुत ही सीमित हो जाती है। अचेतन मन की शक्ति को उद्बोधित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विरोधी विचार को उसके भीतर न जाने दें। यदि कोई मनुष्य सदा एक ही प्रकार के सुझाव अपने अचेतन मन को देता रहता है, और विरोधी विचार को मन में घुसने नहीं देता, तो उसका मन एक दिन उसके सुझाव के अनुसार अपने में शक्ति पाता है और वह जो कुछ करना चाहता है, कर डालता है।

आत्म-निर्देश के साधारण प्रयोग कोई भी व्यक्ति कर सकता है। मान लीजिये, हमें दो बजे रात को स्टेशन जाने के लिए जागना है।

हम १० बजे सो जाते हैं तो ठीक समय पर अपने दिये हुये सोते समय के आत्म-निर्देश के अनुसार जाग जाते हैं। इसी प्रकार यदि हम किसी व्यक्ति के नाम को स्मरण करना चाहते हैं, किन्तु स्मरण करने में असमर्थ हैं, तो यदि हम अपने आपको स्मरण होने का आत्म-निर्देश देकर कुछ काल के लिये छोड़ दें तो कुछ समय के पश्चात् अपने आप ही भूला नाम याद आ जायगा। कुछ लोग कहा करते हैं कि उन्हें नाम स्मरण नहीं रहते। उनके मन में विशेष प्रकार की मानसिक ग्रन्थि के रहने के कारण उनका यह कथन सत्य होता है। परन्तु बहुत से लोग नाम भूलने के आत्म-निर्देश के कारण ही नाम भूल जाते हैं। जब वे किसी नाम को स्मरण करने लगते हैं तो उनका वह आत्म-निर्देश जो उनके पूर्वाभ्यास से बन जाता है, बीच में आ जाता है। वे पहले ही अपने आपसे कह देते हैं कि हमें नाम स्मरण न होगा, अतएव उन्हें नाम की स्मृति नहीं होती। इसी प्रकार कितने ही लोगों को समय पर काम भूल जाने का भय लगा रहता है। इस भय के कारण वे निश्चित समय पर इच्छित बात भूल जाते हैं।

आत्म-निर्देश के द्वारा मनुष्य स्वगत लेख लिखकर अनेक ऐसी बातें जान लेता है जो उसकी साधारण चेतना को ज्ञात नही हैं। जिन लोगों के बाहरी और भीतरी मन में विषमता है वे अपने आप स्वगत लेख लिखने में समर्थ होते हैं। बे अपने हाथ में पेन्सिल पकड़कर किसी भूत-प्रेत का आवाहन करते हैं। उस समय उनकी चेतना अलग-सी हो जाती है, और मानो वे भूतों के वश में होकर अपने ही हाथ से अनेक बातें लिखते जाते हैं। इसी प्रकार ओझा लोग अपने आत्मनिर्देश से देवी-देवताओं को बुलाकर और उनके वश में होकर अनेक बातें कहते हैं। इनका ज्ञान उनकी साधारण चेतना को नहीं रहता। देवता के सिर से उतरने पर अपनी असाधारण अवस्था के कामों का अथवा कथन का उन्हें स्मरण नहीं रहता। उन्होंने उस समय क्या कहा अथवा किया इसका उनको कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। कभी-कभी उन्हें कुछ धुँधला-सा ज्ञान रहता है। लेखक के एक सुशिक्षित मित्र जो दर्शनशास्त्र

के पंडित हैं, कभी-कभी हनुमान के वश में होकर अनेक काम कर डालते हैं। उनका विश्वास है कि उनके सिर हनुमान आते हैं। वास्तव में उनके चेतन और अचेतन मन में भारी मानसिक अन्तर्द्वन्द्व रहता है और वे किसी विशेष प्रकार के वातावरण में आत्म-निर्देश के द्वारा दबे व्यक्तित्व के वश आ जाते हैं।

आत्म-निर्देश के द्वारा उसी प्रकार शारीरिक क्रियाओं पर प्रभाव डाला जा सकता है जिस प्रकार पर-निर्देश के द्वारा प्रभाव डाला जा सकता है। पर-निर्देश के द्वारा शरीर अथवा शरीर के विशेष अंग का ताप बढ़ाया जा सकता है। कुछ सम्मोहक पात्र के शरीर के एक भाग का ताप इतना बढ़ा देते हैं कि वहाँ आग में जलने की-सी जलन पैदा होने लगती है और फफोला उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह शरीर पर पड़े हुए फफोलों को मनोवैज्ञानिक निर्देश देकर अल्प काल में मिटा दिया जा सकता है। कूये महाशय हिस्टीरिया का बाध्य विचार, अकारण भय आदि मानसिक रोगों को आत्म-निर्देश विधि से ठीक करते ही थे, वे सामान्य शारीरिक रोगों को भी आत्म-निर्देश की विधि से नष्ट कर देते थे। दमा, पेट का दर्द; एक्जिमा आदि रोग आत्म-निर्देश की विधि से अच्छे कर दिये गये हैं। कूये महाशय का कथन है कि जो व्यक्ति सोते समय अपने आप यह कहकर सोता है कि मैं प्रति दिन सब प्रकार से अच्छा होता जा रहा हूँ, वह अपने आपमें आश्चर्यजनक परिवर्तन कर डालता है। इस प्रकार का आत्म-निर्देश कोई भी व्यक्ति अपने आपको दे सकता है इससे न केवल स्वास्थ्य-लाभ होगा, वरन् उसके चरित्र का भी सुधार होगा। वह अपने आपमें नई शक्ति संचार पावेगा।

कूये महाशय का कथन है कि सभी प्रकार के निर्देश आत्म-निर्देश बनने पर ही अपना प्रभाव किसी व्यक्ति पर डालते हैं। अतएव जो कुछ मानसिक रोगी को लाभ होता है वह आत्म-निर्देश के कारण ही होता है। जिस प्रकार दूसरे के निर्देश के द्वारा किसी भी व्यक्ति की चेतना सुप्तावस्था में हो जाती है, इसी प्रकार आत्म-निर्देश के द्वारा भी हम अपनी चेतना को अलग कर सकते हैं। विस्तर पर लेटकर अथवा

आरामकुर्सी पर बैठकर प्रत्येक व्यक्ति अपने अंग को एक - एक करके शिथिल करने का अभ्यास कर सकता है। इस शैथिलीकरण के पश्चात् वह किसी एक बात पर ध्यान को एकाग्र कर सकता है, उदाहरणार्थ श्वास का चलना। इससे उसे सुप्तावस्था हो जाती है। फिर जिस समस्या का विचार लेकर मनुष्य इस अवस्था में जाता है वह जागने पर सुलझ जाती है। इससे मानसिक झंझटें अपने आप दूर हो जाती हैं, शारीरिक रोग नष्ट हो जाते हैं तथा शरीर की पीड़ा चली जाती है। लेखक ने इस विधि का प्रयोग, सभी प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों को नष्ट करने में किया है। अकारण भय, बाध्य विचार, न्यूरेस्थेनियाँ, सिर-दर्द, पेट का दर्द और चेहरे का लकवा आदि सभी प्रकार के रोगों के नष्ट करने में इसका सफल प्रयोग किया है। इसकी सफलता रोगी की मानसिक चिकित्सक के प्रति धारणा के ऊपर निर्भर करती है।

मेकडूगल महाशय का कथन है कि आत्म-निर्देश कोई निर्देश नहीं। जिस निर्देश को कूये महाशय आत्म-निर्देश कहते हैं वह भी पर-निर्देश ही है। जिस प्रकार पर-निर्देश निर्देश का पात्र अपने सामने रहनेवाले दूसरे व्यक्ति से ग्रहण करता है, इसी प्रकार उसकी अनुपस्थिति में भी वह अपनी कल्पना में उसकी क्रियाकलापों का चित्रण करके निर्देशक से निर्देश ग्रहण करता है। उनका कथन है कि आत्म-निर्देश का प्रयोग करने के पूर्व स्वयं कूये महाशय अपने रोगियों से कहते थे कि तुम मेरा स्मरण करना। उनका इस प्रकार अपने मन पर निर्देश का जो प्रभाव होता था, वह वास्तव में पर-निर्देश का ही प्रभाव था। मेकडूगल महाशय निर्देश में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के वश में होना आवश्यक समझते हैं। जहाँ दूसरे व्यक्ति के प्रभाव का अभाव है वह निर्देश की क्रिया है ही नहीं।*

*without taking up an attitude of dogmatic negation, I am strongly inclined to invert the formula of this school and to assert that all so called autosuggestion is in reality heterosuggestion, and for the following reasons in the first place, the term 'suggestion' essentialy im-

मेकडूगल का कथन है कि यह बात संभव है कि अपने मन और शरीर की शिथिलता की अवस्था में कुछ कल्याणकारी विचारों को दुहराने से मनुष्य को कुछ मानसिक और शारीरिक लाभ हो सकते हैं। परंतु इस प्रकार के लाभ एक प्रकार के ऐच्छिक लाभ हैं। इन्हें निर्देश के द्वारा प्राप्त नहीं समझा जा सकता है। †

यह बात सत्य है कि साधारण निर्देश में दो व्यक्तियों का सम्बन्ध रहता है जिसमें एक का व्यक्तित्व प्रबल होता है और दूसरे का निर्बल।

---

plies the influence of one person upon another and it is a misuse of the term to apply it to any process in which no such influence is exercised. Secondly, it is clear, from the published accounts ot Coue's procedure, that he begins by exercising suggestion; by means of such demonstrations before a group of patients he increases his prestige, already great by reason of his fame. lt is probable that he even induces a light stage of hypnosis in many of them. Further, according to his own account he instructs his patient to think of him (Coue) when he repeats night and morning, the prescribed formulae. This is a method that I have myself used with success more especially in case of insomnia. But it seems obvious that in such cases the so-called autosuggesion is, in reality suggestion from the operator, renewed in his absence by the repetition of his words accompanied by the imagination of his personality--Ibid. P. 123- 124.

† It is, I think, probable that, apart from all suggestion, some individuals may secure beneficial results by repeating suitable verbal formulae during moments of relaxation of mind and body. But,if so the process would seem to be more properly regarded as a subtle form of volition rather than of suggestion—Mc-Dougall : *An Introduction to Abnormal Psychology*. P. 124.

निर्देश के प्रभाव में आने से निर्बल मनुष्य की इच्छा-शक्ति और भी निर्बल होती जाती है। जितने अधिक लोगों को निर्देशक अपने प्रभाव में ले आता है उतना ही उसके व्यक्तित्व का बल बढ़ता है। परन्तु एक के लाभ से दूसरे की हानि होती है। ऐसी अवस्था में मानसिक चिकित्सा के कार्य में पर-निर्देश का जितना कम प्रयोग किया जाय उतना ही अच्छा है। परंतु यह बात आत्म-निर्देश के विषयमें, जिसे मेकडूगल महाशय ने एक विशेष प्रकार की ऐच्छिक क्रिया कहा है, सत्य नहीं है। कूये महाशय ने न केवल शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के सुधारने के लिए इसके प्रयोग करने की सलाह दी है वरन् अपने चरित्र को सुधारने के लिये भी इसके प्रयोग की सलाह दी है। चरित्र का सुधार इच्छा-शक्ति के बली होने से ही होता है। अतएव यदि आत्म-निर्देश का सच्चा कार्य इच्छा-शक्ति को बली बनाना माना जाय, तो अत्युक्ति न होगी। आत्म-निर्देश से मनुष्य आत्मविश्वास और नई कार्य-शक्ति को प्राप्त करता है, पर-निर्देश इनके उदय में बाधक है।

हम मेकडूगल महाशय के इस कथन से सहमत नहीं हैं कि कूये का बताया हुआ आत्म-निर्देश का अभ्यास पर-निर्देश के अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। हम इसे एक विशेष प्रकार की मानसिक क्रिया मानते हैं, जिसे मेकडूगल महाशय ने ऐच्छिक क्रिया कहा है। इसके द्वारा हमारी ही आध्यात्मिक शक्तियाँ हमारे जीवनोपयोगी कामों में काम करने लगती हैं। मनुष्य की अन्तिम भलाई की दृष्टि से उसके प्रति वही मनोवैज्ञानिक प्रयोग करना उचित है, जिससे उसकी इच्छाशक्ति दृढ़ हो। किसी भी व्यक्ति के अज्ञान से लाभ उठाकर, उसे अपने कामों का कुछ चमत्कार दिखाकर जो भी प्रभाव एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर डालता है, उसका अन्तिम मानसिक परिणाम अच्छा नहीं होता। प्रभाव डालनेवाला अपने विचारों का अनुकरण करनेवाले पात्र में स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न न कर मानसिक दासता का भाव उत्पन्न करता है।

इस प्रसंग में डा० विलियम ब्राऊन के अपनी साइकोलाजी एण्ड

साइकोथ्रेपी नामक पुस्तक में प्रकाशित विचार उल्लेखनीय है।* डा० ब्राउन का कथन है कि हम आत्म-निर्देश के द्वारा चित्त की एकाग्रता स्मरणशक्ति का बल और आत्म-विश्वास को बढ़ा सकते हैं और किसी प्रकार की कुटेव से मुक्त हो सकते हैं। इससे मनुष्य के मन में अलौकिक शक्तियों की जाग्रति होती है। यह सामान्य स्वस्थ्य व्यक्तियों के लिये भी उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार रोगियों के लिये।



* If he makes calm affirmations to himself while lying on a couch in a state of mental and muscular relaxation, such affirmations may be realized by subconscious mental activity and in this way he may improve his powers of mental concentration, his memory, and his mental aptitude along special lines. He may also correct bad habits and increase self-confidence and self control.

"*Brown, Psychology and Psychotherapy*, P. 137"

अठारहवाँ प्रकरण

अपराध की मनोवृत्ति क्या है ?

आधुनिक युगमें जिस प्रकार मानसिक और शारीरिक रोगों का मनोवैज्ञानिक कारण खोजने की चेष्टा की जा रही है, इसी प्रकार अपराध की भावना का मनोवैज्ञानिक कारण खोजने की चेष्टा की जा रही है। समाज के अधिकतर लोग अपराध की मनोवृत्ति के नहीं होते, जिस प्रकार समाज के अधिक लोगों को मानसिक रोग नहीं होता। अपराध की मनोवृत्ति मनुष्य की उसी प्रकार की मानसिक असाधारणता है जिस प्रकार रोग की। समाज के कुछ लोग अपराध किये बिना उसी तरह नहीं रह सकते जिस प्रकार वे रोग के बिना नहीं रह सकते।

मनुष्य का जब विकास ठीक तरह से होता है तो वह दूसरों के सुख में अपने सुख को देखने लगता है। बिना दूसरों का भला किये उसे अपना जीवन भाररूप हो जाता है। बच्चोंका सुख अपने शारीरिक सुखों की प्राप्ति तक सीमित रहता है। एक परिवार की जिम्मेदारी लिये हुए व्यक्ति का सुख परिवार भर के लोगों को सुखी देखने में होता है। इससे चलकर मनुष्य अपना आत्म-सात एक समस्त सम्प्रदाय, जाति, राष्ट्र अथवा वर्ग से करता है। यह मनुष्य की जन्म जात प्रेम-शक्ति का सहज प्रसार है। जिस व्यक्ति की प्रेम शक्ति (लिविडो) का प्रसार बाहर की ओर न होकर अपने पर ही केन्द्रित हो जाता है वह मानसिक रोगी अथवा अपराधी बन जाता है। इस प्रकार की असाधारता का कारण उचित शिक्षा का अभाव होता है। बचपन से बहुत लाड़ में रखे गये व्यक्ति प्रायः अपराधी हो जाते हैं। उनकी सभी मांगों की पूर्ति होती रहती है अतएव उन्हें स्वार्थ परायणता अथवा शारीरिक सुखों को छोड़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती। अपनी इच्छा शक्ति बलवान बनाने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता। स्वार्थ परायणता के, जो अपराध का मूल कारण है, छोड़ने के लिये मनुष्य को इच्छा शक्ति को बलवान बनाना पड़ता है। लाड़ला बालक दुर्बल इच्छा शक्ति

का, विषयलोलुप, डरपोक, ईर्ष्यालु और क्रोधी बन जाता है। इस प्रकार धनी घर में पैदा हुए अभागे ही हैं। ये लोग स्वार्थवश जान-बूझकर अपराध करते हैं। उनमें नैतिकता का बीजारोपण ही नहीं होता। दूसरे अधिक नैतिक वातावरण में पले लोग भी मानसिक रोगी अथवा अपराधी बन जाते हैं। इनका चेतन जीवन उच्च होता है पर अचेतन में वे अविकसित ही बने रहते हैं।

कोई भी मनुष्य अपराधी बनकर सुखी नहीं रह सकता। अपराध का प्रतिकार किसी न किसी प्रकार होता है। जिस व्यक्ति का स्वत्व विकसित है उसकी अन्तरात्मा ही उसे अपराध के लिये दण्ड देती है। यह दण्ड कभी-कभी शारीरिक अथवा मानसिक रोग का रूप ले लेता है। जिसका स्वत्व विकसित नहीं होता उसका सुधार प्रकृति अथवा समाज करता है। इस प्रकार उसकी मानसिक असाधारणता समाप्त होती है।

मनुष्य के सभी अपराध एक-से नहीं होते—कुछ अपराध वह जान बूझकर अपने लाभ के लिये करता है और कुछ अपराध उसके अनजाने अथवा उसकी इच्छा के प्रतिकूल होते है। कुछ अपराधों को करने के लिये मनुष्य विवश होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि यदि मनुष्य की कोई प्रबल वासना का कठोरता से दमन किया जाय तो यह वासना अपने प्रकाशन के लिये अनेक गुप्त मार्ग निकालती है। कभी-कभी वह मनुष्य के सामान्य विचार को ही बदल देती है। जो बात भीतरी मन से हमें करना है उसे हम अपना धर्म मानने लगते हैं। दूसरे का विनाश करना ही नैतिक कार्य बन जाता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति हेत्वारोपण † से हो जाती है। अधिक अपराधों के साथ इस प्रकार के झूठे बहाने रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य की दमित भावना नैतिक बुद्धि को धोखा देकर अपनी तृप्ति पाती है। जिस समय व्यक्ति की नैतिक बुद्धि परिवर्तन के लिये तैयार नहीं रहती उस समय मनुष्य सामान्य चेतना खोकर अपराध करता है। इस प्रकार स्वप्न में हम सभी अपराध करते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की एक प्रमुख देन अपराध

† Rationalization

के उन कारणों की खोज है जो सामान्यतः दृष्टि-ओझल रहते हैं और जिनमें मनुष्य की दमित वासना उसी प्रकार प्रकाशित होती है जिस प्रकार वह रोग में प्रकाशित होती है। जब मनुष्य की दमित अनैतिक भावना मनुष्य की चेतना को अपनी तृति का साधन बनाने में समर्थ होती है तो मनुष्य अपराधी बनता है, अन्यथा मानसिक रोगी।

अपराध की मनोवृत्ति के कारण

अपराध की मनोवृत्ति रोग की मनोवृत्ति के समान मानसिक दुर्बलता है। मनुष्य की स्वस्थावस्था में दोनों का अभाव रहता है। जिसका व्यक्तित्व संगठित नहीं हुआ, जिसमें या तो नैतिक आदर्शों का विकास ही नहीं हुआ अथवा उन आदर्शों का व्यक्ति की इच्छाओं से समन्वय स्थापित नहीं हुआ ऐसा व्यक्ति अपराधी बनता है। जिन लोगों की सामाजिक भावनाएँ विकसित नहीं हुई, जिनके सुख शारीरिक भोग तक अथवा व्यक्तिगत लाभ तक ही सीमित हैं, उन्हें अपराध करने में कोई हिचक नहीं होती। सभ्यता का विकास मनुष्य में आदर्शों का उदय करता और आत्म-नियंत्रण की क्षमता प्रदान करता है। परन्तु जब ये आदर्श बालक के मन में अनुभव के आधार पर विकसित न होकर ऊपर से लाद दिये जाते हैं तब व्यक्ति अपराधी अथवा रोगी बन जाता है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि अपराध के कारण दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन मन में उपस्थित और दूसरे अचेतन मन में। आदर्श-हीनता उन अपराधों को उत्पन्न करती है जिन्हें विचार अथवा दण्ड के द्वारा सुधारा जा सकता है। शिक्षा मनुष्य में नैतिक आदर्शों का विकास करती है। शिक्षा का साधन स्नेह और दण्ड दोनों हैं। जो अपराध मनुष्य के अचेतन मन में उपस्थित कारणों से उत्पन्न होते हैं उन्हें विचार और साधारण शिक्षा के द्वारा नहीं सुधारा जा सकता। आधुनिक मनोविज्ञान ने यह बताया है कि मनुष्य के अधिक अपराधों का कारण उसके चेतन मन में न रहकर अचेतन मन में रहता है। इस प्रकार के अपराधों पर उसके विवेक का नियंत्रण नहीं रहता। इस

प्रकार की मनोवृत्ति जटिल मानसिक रोग है। इसके लिये मानसिक उपचार की आवश्यकता होती है।

मनुष्य के नैतिक विकास में उसकी जन्मजात प्रवृत्ति और वातावरण के संस्कार दोनों ही काम करते हैं। अतएव अपराध में भी दोनों का हाथ रहता है।

कितने ही विद्वानों का कथन है कि जिन बालकों के माता-पिता दुराचारी होते हैं, उनके बालक भी जन्म से दुराचारी होते हैं। जिस प्रकार वंशपरम्परा के नियम के अनुसार मानसिक रोग एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक जाते हैं, इसी प्रकार अच्छे अथवा बुरे आचरण की प्रवृत्ति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी पर जाती है। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक गोडार्ड महाशय ने जूक वंश का अध्ययन करके पता चलाया कि उस वंश के तीन हजार व्यक्तियों में से किसी में भी सदाचार की प्रवृत्ति नहीं पायी गयी। उस वंश के सभी लोग समाज के द्वारा निन्दित कामों को करते हुए पाये गये।

अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक टरमेन महाशय का कथन है कि जिन लोगों में बुद्धि की कमी होती है, उनमें अपराध से अपने आपको रोकने की शक्ति भी कम होती है *। अमेरिका के जेलों के अनेक कैदियों की बुद्धि की जाँच करके यह पता लगाया गया कि अपराधियों में से सत्तर प्रतिशत न्यून बुद्धि के लोग होते हैं, बाकी तीस प्रतिशत सामान्य बुद्धि के होते हैं। कोई बिरला ही अपराधी प्रखर बुद्धि का व्यक्ति होता है। टरमेन महाशय के कथनानुसार बुद्धि की कमी और अपराध की मनोवृत्ति का सहयोग रहना स्वाभाविक है। मनुष्य किसी वर्जित काम को इसलिए ही करता है कि वह उसके सुदूर परिणाम को अपनी कल्पना में नहीं लाता। प्रत्येक व्यक्ति किसी भी काम को अपने सुख के लिए ही करता है। परन्तु प्रत्येक सुख के लिए उसे कुछ त्याग भी करना पड़ता है और अनुचित सुख की प्राप्ति के लिए उसे पीछे दुःख उठाना पड़ता है। जो व्यक्ति अपनी कल्पना में भली प्रकार से प्रत्येक सुख के साथ

* *Measurement of Intelligence*, Chap. I.

रहनेवाले दुःख को देख लेता है, वह किसी अनुचित काम को नहीं करता। यह सुख में छिपे दुःख को देखने की शक्ति प्रखर बुद्धिवाले व्यक्तियों में होती है पर यह मंद बुद्धि के लोगों में नहीं होती।

टरमेन महाशय के उक्त निष्कर्ष से इङ्गलैंड के बाल-मनोविज्ञान के विशेषज्ञ सिरिलबर्ट महाशय सहमत नहीं हैं। अपनी 'दि यंग डिलेन-क्वेण्ट' नामक पुस्तक में उन्होंने दिखाया है कि अपराध की मनोवृत्ति और बुद्धि की न्यूनता में उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है, जितना कि टरमेन महाशय ने बताया है।

इंग्लैंड के जेलों के अपराधियों की बुद्धि की जाँच करने से पता चला है कि उनमें पचपन प्रतिशत ही न्यून बुद्धि के हैं। अपराधियों में सामान्य बुद्धि के लोग भी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं और कुछ प्रखर बुद्धि के लोग भी पाये जाते हैं। राष्ट्र की सामान्य जनता में जैसा बुद्धि का वितरण है उससे थोड़ा ही अन्तर जेल के निवासियों के बुद्धि-वितरण में देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्धि की कमी ही अपराध की मनोवृत्ति का एकमात्र कारण नहीं; उसका कारण दूसरी बातें भी हैं।

मनोविश्लेषण - विज्ञान के कथनानुसार अपराध की मनोवृत्ति का प्रधान कारण व्यक्ति के बाल्यकाल के संस्कार और उचित शिक्षा का अभाव ही है। जिस व्यक्ति का बाल्यकाल सहृदय और सुशिक्षित माता-पिता तथा शिक्षकों के साथ व्यतीत होता है, उसमें भले कामों के करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, और जिसका बचपन अभिमानी, क्रोधी और मूर्ख माता-पिता अथवा शिक्षकों की अभिभावकता में व्यतीत होता है, उसमें अपराध की मनोवृत्ति की प्रबलता पाई जाती है। जटिल बालकों की समस्याओं के विशेषज्ञ नील महाशय का कथन है कि जटिल माता-पिता के बालक जटिल होते हैं। माता-पिता ही अपने चरित्र के दोष बालकों में डाल देते हैं। माता-पिता अपने बालक को सुयोग्य बनाने के लिए जितने अधिक चिन्तित रहते हैं, वे उनको उतना ही अधिक बिगाड़ देते हैं। उनके अचेतन मन में अनेक प्रकार की दमित भावनाएँ उप-

स्थित रहती हैं। वे जिस प्रकार इन्हें अपने जीवन में प्रकाशित होने से रोकते हैं, उसी प्रकार वे उन्हें बालकों में प्रकाशित होने से रोकते हैं। जब वे किसी प्रकार की आचरण की त्रुटि बालक में देखते हैं, जो कि बालक के लिए स्वाभाविक है तो वे एकाएक परेशान हो जाते हैं। यह परेशानी वास्तव में अपनी परेशानी का बालक के आचरण पर आरोपण मात्र है। वे बालक को सुधारने के लिए अब कटिबद्ध हो जाते हैं। परन्तु अपनी समस्या हल किये बिना जो माता-पिता अपने बालक का आचरण सुधारने की चेष्टा करते हैं, वे उसके आचरण को और भी बिगाड़ देते हैं। ऐसे माता-पिता अथवा शिक्षक के हाथ में कुछ ही दिन रहने के पश्चात् बालक या तो निकम्मा और रोगी हो जाता है, अथवा वह अपराधी मनोवृत्ति का बन जाता है।

जब बालक के आचरण की बात-बात में नुक्ताचीनी की जाती है तब वह नुक्ताचीनी करनेवाले व्यक्ति के प्रति अपने मन में क्रोध की अनुभूति करता है। परन्तु उसे क्रोध को प्रकाशित करने का अवसर नहीं मिलता। इसके कारण बालक के मन में आत्मश्लाघा की मानसिक ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। यह आत्मश्लाघा की ग्रन्थि बालक के मन में उद्दण्डता की प्रेरणा उत्पन्न करती है और इसी के कारण वह आगे चलकर अपराधी मनोवृत्ति का बन जाता है।

माता-पिता का किसी विशेष बालक के प्रति अधिक ध्यान देना दूसरे बालकों के मन में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न करता है। इसके कारण उसके मन में अपराध की मनोवृत्ति का उदय हो जाता है। अपने बचपन में ऐसा बालक अधिक प्यार किये जानेवाले बालक को दुःख पहुँचाने की चेष्टा करता है। यही प्रवृत्ति आलोचना की तथा समाज के प्रतिष्ठित लोगों को दुःख पहुँचाने के कार्यों में प्रकाशित होती है। नेपोलियन बोनापार्ट को अपने बचपन में उसके साथ पढ़नेवाले धनी घर के बालक चिढ़ाया करते थे। उसने अपनी युवावस्था में इसका खूब बदला लिया। वह लार्ड घराने के लोगों के विनाश करने में अगुआ रहता था।

जिन बालकों को सौतेली माँ की अभिभावकता में रहना पड़ता है,

उनमें स्वभावतः अपराध की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वे चाहे कितनी ही प्रखर बुद्धि के क्यों न हों, कुछ ऐसे काम करते रहते हैं जिससे उनके पिता-माता को दुःख हो। माता-पिता उन्हें जितनी ही अधिक ताड़ना देते हैं उनमें अपराध की मनोवृत्ति उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। अपराध की मनोवृत्ति माता-पिता के अभाव में माता-पिता के प्रतीक के ऊपर आरोपित हो जाती है। इसके कारण ऐसा बालक अपनी प्रौढ़ावस्था में समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का अपमान करता है और राज्याधिकारियों को अपना शत्रु मानता है। वह समाज अथवा राज्य के नियमों को तोड़ने में एक विशेष प्रकार के संतोष की अनुभूति करता है। उक्त कथन एक नवयुवक के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होता है—

हाल में लेखक के पास एक बीस वर्ष का कालेज का छात्र रहता था। यह एक ऐसी संस्था का सदस्य था जो राष्ट्रीय सरकार के द्वारा गैरकानूनी घोषित की जा चुकी है। वह इस संस्था के उद्देश्यों की अपने साथियों से बार-बार चर्चा किया करता था। उसके साथी चाहते थे कि वह उस संस्था को छोड़ दे क्योंकि उसके उद्देश्य राष्ट्र के वास्तविक हितों के विरोधी हैं। वह इन छात्रों से सदा बहस करता रहता था और उनके बार-बार समझाने पर भी वह समझता न था। कभी-कभी लेखक भी इस छात्र को उक्त संस्था के उद्देश्यों की संकीर्णता को समझाता था। वह समझाने के समय लेखक से सहमत हो जाता था, परन्तु पीछे फिर जहाँ का तहाँ ही रह जाता था। वह छात्र प्रखर बुद्धि का है और ठीक से समझ सकता है कि अपने तथा राष्ट्र के लिए क्या भला है और क्या बुरा है। परन्तु जान पड़ता था कि उसकी बुद्धि स्वतंत्र नहीं है, वह किसी प्रकार की कैद में पड़ी हुई है।

इस छात्र में अनेक प्रकार की निराशावादिता भी थी। वह गत वर्ष एक परीक्षा में फेल हो चुका था। उसे विश्वास न था कि इस वर्ष वह अपनी परीक्षा में पास हो जावेगा। उसका मन पढ़ाई में नहीं लगता था। यदि वह पुस्तक हाथ में लेता तो उसका मन इधर उधर भागने

लगता था। इस छात्र ने लेखक से पढ़ने में चित्त एकाग्र करने का उपाय पूछा। इससे लेखक को छात्र की मानसिक झंझटों को अध्ययन करने का अवसर मिला।

उक्त छात्र की मानसिक दशा का अध्ययन करने से पता चला कि वह सदा अपने माता-पिता के प्रति द्वेष-भावना से पीड़ित रहता है। वह पिता का अकेला ही लड़का है, परन्तु उसे पिता का उस प्रकार का प्रेम प्राप्त नहीं है, जिस प्रकार का प्रेम घर के अकेले लड़के को प्राप्त होता है। इसका कारण उसकी सौतेली माँ है। जब वह लड़का पाँच वर्ष का था तभी उसकी माँ मर गई थी। माँ के मरने के एक साल बाद घर में सौतेली माँ आ गई। इसने बालक को अनेक प्रकार की ताड़ना देना प्रारंभ किया। बालक इसके कारण मन ही मन कुढ़ता, पर बेचारा क्या करे। एक बार वह घर से भागकर अपने ननिहाल गया। पर वहाँ से पकड़कर बुलवा लिया गया। फिर तो सौतेली माँ तथा पिता की ताड़ना और भी अधिक हो गई।

उसने इस प्रकार अपना बाल्यकाल और किशोरावस्था बिताया। अब माता-पिता के प्रति अप्रकाशित क्रोध ने एक विशेष रूप धारण कर लिया। एक ओर उसका मन पढ़ाई में न लगता और दूसरी ओर वह माता-पिता द्वारा वर्जित कामों को करने की अपने आपमें प्रबल उत्तेजना पाता है और इसके परिणाम-स्वरूप वह वैसे ही काम करता है, जिससे माता-पिता को अधिक से अधिक दुःख हो। उसके पिता जेल के अधिकारी हैं। उसने इस समय जेल जाना ही अपना कर्त्तव्य समझा है। उसने अधिकार के सभी प्रतीकों के प्रति विद्रोह करना आचरण का ध्येय बना लिया है।

किसी प्रकार के प्रबल आवेग के दमन से मनुष्य में इच्छा के प्रतिकूल अपराध करने की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। एक महिला को अपने पुत्र की हत्या करने की ही प्रबल इच्छा होती थी। इसे वह प्यार करती थी और वह हत्या के विचार से परेशान हो गई। इसका कारण खोजने पर पता चला कि वह पुत्र सन्तान-निग्रह के उपायों के काम

में लाते हुए पैदा हुआ था। कभी-कभी किसी मानसिक ग्रन्थि के परिणाम स्वरूप अपराध की भावना पैदा हो जाती है। हेडफील्ड महाशय का 'साइकालोजी एण्ड मारल्स' नामक अपनी पुस्तक में दिया हुआ निम्न-लिखित उदाहरण इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

एक दवाखाने का कर्मचारी एक बार उस दवाखाने में काम करनेवाली नर्स के प्रेम में पड़ गया। यह नर्स भी उसे प्यार करती थी। परन्तु उनके प्रेम-संबंध में एक विशेष प्रकार की झक बाधक बन गई। यह कर्मचारी जब भी इस महिला के समक्ष बातचीत करने आता तो वह अपने मन में उसके गाल में एक तमाचा मार देने की प्रबल उत्तेजना का अनुभव करता था। कहीं वह उक्त महिला को तमाचा मार ही न दे, इसलिए वह उसके पास जाने में भी डरता था। वह अपनी इस झक से परेशान हो गया। कुछ दिन इस बात से परेशान रहने पर उसने एक मनोवैज्ञानिक से सलाह ली। उसके मनोविश्लेषण से पता चला कि झक के उदय होने के चार-पाँच वर्ष पूर्व वह एक दूसरे दवाखाने में अस्थायी रूप से काम करता था। जो काम वह करता था, वह वास्तव में नर्स का काम था। उसे आशा थी कि वह इस स्थान को स्थायी रूप से पा लेगा। परंतु इसी बीच एक सुन्दर नर्स उस दवाखाने में आ गई और अधिकारियों ने उसकी सेवा को भुलाकर, उसे दवाखाने से छुड़ाकर उसी नर्स को उसके स्थान पर रख लिया। जब इस नर्स को उसने पहली बार देखा तो उसके मन में क्रोध आया और यह विचार आया कि उसके गाल पर जोर से तमाचा जड़ दे। परन्तु उसने शिष्टता-वश ऐसा नहीं किया। उसने उसके साथ सौजन्यता का ही व्यवहार किया। इस प्रकार क्रोध की उत्तेजना का दमन हो गया। यह व्यक्ति अपनी इस कटु अनुभूति को भूल भी गया। आत्मसम्मान के भाव के प्रतिकूल होने के कारण यह अनुभव प्रयत्न करने पर भी उसके स्मृति-पटल पर नहीं आता था। बड़े प्रयत्न के पश्चात् ही मनोवैज्ञानिक ने इसका पता चलाया। परन्तु यह दलित भाव अज्ञातरूप से पुरानी परिस्थिति से मिलती-जुलती परिस्थिति आने पर उत्तेजित हो जाता था और वह व्यक्ति अपने में अनुचित काम करने की प्रबल उत्तेजना की अनुभूति करता था।

इस तरह हम देखते हैं कि मनुष्य की दबी हुई भावना उसके विवेक के प्रतिकूल उससे काम कराती है। यह देखने में अकस्मात् उत्तेजित होती है, परन्तु वास्तव में इसकी उत्तेजना का कारण पुराने अनुभव के संस्कारों को जगानेवाली कोई वर्तमान समय की घटना ही होती है। जब जब ये संस्कार जाग जाते हैं तो मनुष्य में अपराध करने की प्रबल प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है।

यदि हम संसार के उन प्रमुख व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन करें जिन्होंने समाज में कोई भारी ध्वंसात्मक काम किया है, तो हम देखेंगे कि उनका यह काम उनके मन में आत्मश्लाघा की मानसिक ग्रन्थि की उपस्थिति का परिणाम था। ऐसे लोगों का बाल्यकाल मानसिक क्लेश में व्यतीत होता है उनके भीतर क्रोध के प्रबल भाव रहते हैं। ये भाव अपने ही भीतर रहने पर स्वयं उस व्यक्ति का विनाश करते हैं। वे अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग तथा निराशावाद के कारण बनते हैं। जब वे भाव बाहर आते हैं तो एक भारी विध्वंसकारी विस्फोटक रूप धारण कर लेते हैं। ऐसे लोग समाज में भारी उथल-पुथल मचा देते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की खोजों से पता चला है कि कुछ लोग किसी प्रकार के लोभ के कारण अथवा किसी स्वार्थ के हेतु अपराध नहीं करते वरन् अपराध किये बिना उनसे रहा नहीं जाता इसलिये ही वे अपराध करते हैं। जिन लोगों में पेरानोइया की मनोवृत्ति का विकास हो गया है वे अपराध किये बिना रह नहीं सकते। इस प्रकार वे एक विकृत मार्ग से समाज में महान बनने की आन्तरिक मन की इच्छा को तृप्त करते हैं। यदि ऐसे लोगों को अपराध न करने दिया जाय तो वे आत्म-हत्या ही कर लेंगे। पेरानोइया के रोगी इसी प्रकार मरते हैं। वे अपने सम्बन्धियों को पीटने लगते हैं और जब उन्हें त्याग दिया जाता है अथवा बन्धन में रखा जाता है तो वे मृत्यु का आवाहन करने लगते हैं।

विलियम ब्राउन ने बताया है कि जिन लोगों में समलिंगी प्रेम वासना का दमन होता है उनमें मानव मात्र को घृणा करने की, उन्हें नुकसान

पहुँचाने अर्थात् अपराध की मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जिस व्यक्ति को बचपन में पिता का प्रेम नहीं मिलता, वह किशोरावस्था में समलिंगी प्रेम का इच्छुक बन जाता है। इसके कारण वह कभी-कभी अपनी नैतिक बुद्धि अथवा सुसत्व के प्रतिकूल समलिंगी काम चेष्टाओं में भाग लेने लगता है। पीछे इसके लिये उसे आत्म-भर्त्सना होती है। फिर वह उसी व्यक्ति से घृणा करने लगता है, जिससे उसे घनिष्ट प्रेम मिला और जिससे उसने प्रेम किया। वह उसका विनाश चाहने लगता है।* उस व्यक्ति के अभाव में वह किसी भी ऐसे व्यक्ति के प्रति शत्रु भाव रखने लगता है जो उस व्यक्तिके समान हो। वह एक ओर अपनी आत्म-ग्लानिकी पूर्ति महान बनने के यत्न से करता है और दूसरी ओर वह किसी भी बड़े व्यक्ति से ईर्ष्या करने लगता है। इस ईर्ष्यावश वह अनेक ध्वसांत्मक कार्य करता है। डाक्टर विलियम ब्राउन ने पिछली लड़ाई के मूल में पेरानाइया की मनोवृत्ति पाई। हिटलर में यह सबसे अधिक थी। बचपन में माता-पिता के प्रेम का अभाव इस मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति मारपीट से नहीं सुधारी जा सकती। यह विकृत कामवासना का परिणाम है, जो बचपन के प्रेमाभाव के कारण उत्पन्न होती है।

कितने ही लोगों को मार खाने की आन्तरिक इच्छा होती है। इसे

---

* इस प्रकार के एक रोगी का उदाहरण डा० फ्रायड ने अपनी 'इन्ट्रोडक्ट्री लेक्चर्स आन साइकोएनालेसिस' नामक पुस्तक में दिया है। यह व्यक्ति तीस वर्षीय अविवाहित डाक्टर था। वह अपने पुराने मित्र को जो फौजी अफसर था मारने का यत्न करता रहता था। इसी यत्न में उसे हाथ का लकवा हो गया था। इस प्रकार की मनोवृत्ति का कारण उनका आपस का किशोरावस्था का समलिंगी प्रेम तथा समागम था। स्वाभिमान की भावना प्रबल होने पर प्रेम ने घृणा का रूप ले लिया और मित्र को प्रसन्न करने की इच्छा ने उसके विनाश का। रोगी के मनोविश्लेषण के परिणाम-स्वरूप एक ओर उसका लकवा का रोग और दूसरी ओर उसकी घृणा की मनोवृत्ति समाप्त हुई।

डाक्टर फ्रायड ने मेसोकिज्म की मनोवृत्ति कहा है। इस प्रकार की मनोवृत्ति का व्यक्ति इसलिये ही अपराध करता है कि वह दण्ड पावे। दण्ड पाते समय उसे विशेष प्रकार की आन्तरिक राहत मिलती है। कितने ही किशोर बालकों की कामवासना की सन्तुष्टि दण्ड पाने से होती है। कुछ लोगों को दूसरों को दण्ड देते हुए देखने से अपना वीर्य पात होता है। बालकों को बार बार झिड़कने तथा पीटने से उनकी कामवासना में उपर्युक्त विकार उत्पन्न हो जाता है। फिर जब तक वे ऐसा काम न करें जिससे उन्हें दूसरों की गाली-गलौज, झिड़क अथवा मार न मिले तब तक उन्हें मानसिक बेचैनी बनी रहती है। उनका जीवन भार रूप हो जाता है। अतएव उन्हें बाध्य होकर अपराध करना पड़ता है।

अपराध और मानसिक रोग

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मानसिक रोग और अपराध की मनोवृत्ति के कारण एक से ही होते हैं। मानसिक रोग की मनोवृत्ति में दूसरे प्रकार की भी समानता होती है। जिस प्रकार मानसिक रोगी के मन में अन्तर्द्वंद्व की उपस्थिति रहती है, उसी प्रकार अपराधी के मन में भी अन्तर्द्वंन्द्व की उपस्थिति रहती है। अपराधी अपने मन में उसी प्रकार दुःखी रहता है जिस प्रकार मानसिक रोगी का मन दुःखी रहता है। मानसिक रोगी का भीतरी दुःख जब बाहर आता है तो वह अपने आपको ही उसका आश्रय बना लेता है, अर्थात् वह किसी प्रकार के शारीरिक अथवा मानसिक रोग में प्रकाशित हो जाता है। इसके कारण रोगी को भारी क्लेश होता है। पर इस क्लेश के द्वारा उसके आन्तरिक विकार का रेचन होता है। जब अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्ति का मानसिक विकार किसी बाहरी व्यक्ति पर आरोपित होता है तो वह अपने आपको कष्ट न देकर दूसरों को कष्ट देता है। अपराध और मानसिक रोग, दोनों प्रकार की मानसिक अवस्था में व्यक्ति की इच्छा-शक्ति निर्बल होती है। रोगी की अपेक्षा अपराधी की इच्छा-शक्ति अधिक प्रबल होती है, अतएव वह दूसरों को दुःख देने में समर्थ होता है।

इस प्रकार अपराधी के दूसरों को दुःख देने का अन्तिम लक्ष्य वही

होता है, जो रोगी के रोग-ग्रस्त होने का लक्ष्य होता है—वह है अपने आपको दुःख देना। अपने आपको दुःख देने से मनुष्य के दूषित भावों का रेचन होता है। रोगी सीधे ही अपने आपको ताड़ना दे लेता है और अपराधी दूषित काम करके दूसरों की ताड़ना का पात्र बनता है और फिर उनकी ताड़ना को सहता है। जिस प्रकार रोगी रोग को प्रकृति द्वारा अपने पर किया अत्याचार मानता है और उसका कारण अपने आपमें खोजने की चेष्टा नहीं करता, इसी प्रकार अपराधी दण्ड को समाज का अपने के प्रति अत्याचार मानता है और उसका कारण अपने आपमें नहीं खोजता। वह अपने आचरण को भला ही आचरण मानता है। यदि वह अपने आचरण को बुरा मानने लग जाय तो उसे आत्म-भर्त्सना की अनुभूति होने लगे। फिर उसका अपराध करना बंद हो जाय; पर मानसिक विकार के अवरुद्ध रहने के कारण अब उसे मानसिक रोग हो जाता है, अर्थात् अब मानसिक विकार दूसरे रूप से प्रकाशित होने लगता है।

जब किसी मानसिक रोगी का मानसिक रोग कम होता है और यदि उसकी मानसिक शक्ति का शोध न हुआ तो वह अपराधी आचरण का रूप धारण कर लेता है। कभी-कभी मानसिक रोगी अनायास अपराध का काम करने लगता है, इससे उसका मानसिक रोग कम हो जाता है अथवा मानसिक रोग के कम होने की अवस्था में रोगी दूसरों को कष्ट पहुँचाने-वाला आचरण करने लगता है।

हमारी चिकित्सा में आई एक महिला को विषाद का रोग हो गया था। इस रोग की अवस्था में वह सदा दुःखी मन बनी रहती थी। यह स्वार्थी स्वभाव की थी। परन्तु घर के लोगों ने उसको अपनी मनमानी करने दिया। कुछ दिन तक उसके मन की बात होती रही। परन्तु यह निभ नहीं सका। वह ऊपर से बड़ी शिष्ट थी, अतएव उसका अपने घर के लोगों के प्रति क्रोध दब गया। उसने अक्रियता और विषाद का रूप ले लिया। उसका उपचार स्नेह के द्वारा हुआ। जब वह अच्छी हो रही थी तब वह अपने घर के लोगों के प्रति क्रोध प्रगट करने लगी और एक

बार बहुत बुरे शब्दों में अपने सम्बन्धी को डांटा। क्रोध के इस प्रकार प्रगट होने पर वह रोग हलका हुआ। एक दूसरे धनी घर के लड़के को हृदय का रोग हो गया था। जब इसका रोग अच्छा हो रहा था तब वह अपने घर के लोगों से ही शत्रु जैसा आचरण करने लगा। उसका सामाजिक आचरण भी अनैतिक हो गया। वह किसी से पैसा लेता तो देने का विचार ही नहीं करता था। सदा उसके माता-पिता को यह कर्ज पटाना पड़ता। एक दूसरे प्रौढ़ व्यक्ति को, जो बहुत ही नैतिक थे हृदय का रोग हो गया। इस रोग का मूल कारण दाम्पत्य-प्रेम की अतृप्ति थी। जब उनका रोग अच्छा हो रहा था तब वे काम वासना की प्रबलता का अनुभव करने लगे। रोग अच्छे होने के अन्तिम काल में उनका प्रेम एक युवती महिला से हो गया। इससे उनकी पर्याप्त बदनामी हुई। इस प्रकार रोगी का दमित अनैतिक भाव जो रोग का कारण होता है, यदि रचनात्मक कार्य में न लग पाया, तो वह अपराध का कारण बन जाता है। अपराधी मन का व्यक्ति दूसरों को त्रास देने में, अत्यधिक पैसा लाभ करने में, किसी सुन्दरी का प्रेम पाने में जब असफल होता है, तो रोगी बन जाता है जब वह रोग मुक्त होने लगता है तो अपराध की प्रेरणा अपने में पाता है। रोग और अपराध की जड़ में एक ही वस्तु रहती है, वह है मनुष्य की अविकसित वासना। जब ऊपरी नैतिकता प्रबल होती है तो उसकी यह वासना अर्थात् स्वार्थपरायणता रोग का रूप लेती है और जब पुनः शिक्षा अथवा मानसोपचार के परिणाम-स्वरूप यह कम हो जाती है तब वह अपराध के रूप में प्रगट होती है।

किसी प्रकार का प्रबल मनोभाव अपराध का कारण होता है। इसके प्रकाशन से अपराध की उत्पत्ति होती है और दमन से मानसिक रोग की। एक बार लेखक की एक छात्रा को क्षय रोग होने की झक उत्पन्न हो गई थी। उसे बीच-बीच में मूर्छा भी हो जाती थी। इस रोग से मुक्त होने के लिये वह लेखक से सलाह लेने आई। उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन से पता चला कि उसके मन में अनेक प्रकार की अपने सम्बन्धियों के प्रति असंतोष की भावनाएँ उपस्थित थीं। इसे सभ्यता

की अच्छी शिक्षा मिली थी, अतएव इस असंतोष ने आत्म-भर्त्सना का रूप ले लिया। वह बात-बात में अपने को कोसा करती थी। उसने अपनी एक सहपाठी महिला से झगड़ा हो जाने की बात सुनाई। उक्त महिला ने उसे व्यर्थ ही बुरा-भला सुनाया था। इससे उसे क्रोध हुआ था, पर वह इस क्रोध को पीकर रह गई। क्रोध का प्रकाशन करना उसके आत्म-सम्मान की भावना के प्रतिकूल था। पीछे उक्त महिला का झगड़ा किसी दूसरी महिला से हुआ तब उसे खूब खरी-खोटी सुननी पड़ी। इससे उक्त छात्रा को क्षणिक आत्मसंतोष हुआ, पर उसके बाद से उसे यह आत्म-भर्त्सना होने लगी कि वह ऐसा नीच भाव मन में क्यों लाई।

इस महिला के मनोविश्लेषण से पता चला कि वह अपनी सास और पति के व्यवहार से बहुत ही असंतुष्ट है। यह असंतोष नैतिक प्रतिबंधों के कारण बाहर नहीं आ सका। अतएव उसने आत्म-त्रास का रूप धारण कर लिया। दमित भावों के रेचन से अर्थात् महिला की असंतोष की बातों को सुनने से उसका रोग समाप्त हुआ। रोगी मनुष्य में आत्म-विश्वास का अभाव होता है। वह अपने आपको ही कोसता है। जब उसमें आत्म-विश्वास आने लगता है तो वह आत्म-त्रास न देकर दूसरों को त्रास देता है। नैतिक संस्कारों की अत्यधिक प्रबलता रोग उत्पन्न करती है और उनकी न्यूनता अपराध। अधिक मानसिक रोगियों में कामवासना ही दमित रूप में रहती है। यह दमन अपने सुसत्व द्वारा होता है। जब इसमें परिवर्तन होता है तो अपराध की उत्पत्ति होती है। सामाजिक प्रतिबंधों के कारण, लोक-लाज के कारण जिन लोगों की वासना तृप्त नहीं होती, वे कभी कभी बुढ़ापे में नैतिकता के प्रतिकूल युवतियों से प्रेम करने लगते हैं। इसका एक उदाहरण पीछे दिया जा चुका है। एक दूसरे साठ वर्षीय दर्शनशास्त्र के विद्वान् अपनी ही कक्षा की युवती को भगा कर दूर देश ले गये। उनकी विद्वत्ता के लिये अच्छी ख्याति थी और एक अच्छे पद पर वे नियुक्त थे। उनके बाल-बच्चे भी थे। वे इन सभी बातों को भूल गये। एक दूसरे व्यक्ति, जो बचपन से ही संन्यासी हो गये थे और जिन्होंने राजनीति में

काम किया था और पीछे एक औघड़ के शिष्य हो गये थे एक युवती के प्रेम में इस प्रकार फँसे कि उनकी सभी जगह निंदा हुई। वे उससे विवाह करना चाहते थे, पर यह न हो सका। इसके कारण उन्हें बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। वे बहुत विद्वान थे पर उनकी विद्या और विवेक व्यर्थ सिद्ध हुए।

मानसिक रोगों को सभ्यता के विकास का परिणाम कहा जाता है। कुछ दूर तक हम अपराध के विषय में भी यही कह सकते हैं। सभ्यता के विकास का एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य को पर्याप्त समय व्यर्थ खर्च करने के लिये मिल जाता है। यदि मनुष्य चाहे तो वह अपने इस फुरसत के समय को अपनी आध्यात्मिक उन्नति में लगावे और इससे समाज में सुख और आनन्द की वृद्धि करे। परन्तु साधारणतः वह अपने फुरसत के समय को कुचिन्तन में ही लगाता है। कहा जाता है कि खाली मन शैतान की नाट्य-शाला है। जिन लोगों को सभी समय अपनी आजीविका उपार्जन के लिए तथा बाल-बच्चों के पालने के लिये काम में लगा रहना पड़ता है; उन्हें किसी प्रकार के चिन्तन के लिये अधिक समय नहीं मिलता। ऐसे लोगों को एक ओर आध्यात्मिक उन्नति करने की सुविधा नहीं रहती, पर दूसरी ओर उन्हें अपने मन में बुरे विचारों को देर तक ठहराने का भी अवसर नहीं मिलता। उनका मन बहती हुई सरिता के समान निर्मल रहता है। धनी और निकम्मे लोगों में ही मानसिक रोगों का बाहुल्य पाया जाता है। इन्हें अपने आपको सुधारने का जितना अवसर मिलता है उतना अपने आपको बिगाड़ने का भी अवसर मिलता है। अधिक मनुष्य जीवन की सुविधाएँ पा लेने पर अपने आपको सुधारने की अपेक्षा बिगाड़ते ही हैं। धन की वृद्धि मनुष्य को विषय-लोलुप और स्वार्थी बनाती है। उसमें अभिमान, कायरता और क्रूरता के भाव अपने आप आ जाते हैं। धनी लोगों में त्याग और परिश्रम का अभ्यास न रहने के कारण उनके भावों का विकास नहीं होता। वे समाज द्वारा भले भी समझे जाना चाहते हैं अतएव वे ऊपर से शिष्ट और भीतर से बर्बर बन जाते हैं। यही कारण है कि धनी लोगों में मानसिक रोगों और अपराध की जितनी अधिकता रहती है उतनी देहात के अपढ़ लोगों में नहीं रहती।

परन्तु यह अपराध की मनोवृत्ति छिपी हुई रहती है। रोगी बनना शिष्टता के विरुद्ध नहीं है परन्तु अपराधी बनना है। अतएव यह मानसिक रोग का रूप धारण कर ही प्रगट होती है। परन्तु कभी-कभी वह भारी सामाजिक विस्फोट का रूप धारण कर लेती है। पुराने समय में बर्बर जाति के लोग आपस में लड़ते थे, पर उनकी लड़ाइयाँ इतनी व्यापक नहीं होती थीं जितनी वर्तमान समय के सभ्य कहलानेवाले लोगों की लड़ाइयाँ व्यापक होती हैं। युद्ध के समय जितनी बर्बरता का व्यवहार वर्तमान समय की सभ्य कहलानेवाली जातियाँ एक दूसरे के प्रति करती हैं, उतनी बर्बरता का व्यवहार पुराने समय के असभ्य लोग नहीं करते थे। इसका कारण यह है कि वर्तमान समय के सभ्य कहलानेवाले लोगों के मन में ईर्ष्या और द्वेष के विनाशकारी विचार आते हैं पर उनका प्रकाशन वे अपने दैनिक आचरण में नहीं करते। अतः उनका यह मानसिक विष एकत्रित होता जाता है और वह पीछे भारी विनाश का रूप धारण कर लेता है। उनकी दिखाऊ सभ्यता के पीछे कपट छिपा रहता है। यह कपट बहुत दिन तक छिपा नहीं रहता। मनुष्य के अचेतन मन के भाव जब अत्यधिक प्रबल हो जाते हैं तो वे सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़कर बाहर आ ही जाते हैं। इसी कारण विश्व-युद्ध के रोकने के जितने प्रयास मनुष्य करता है सभी व्यर्थ सिद्ध होते हैं। धनी लोगों की दूसरों को नैतिकता की शिक्षा भी स्वार्थपरायणता और द्वेष के भाव से प्रेरित रहती है। जब तक मनुष्य को प्रतिदिन के अभ्यास के द्वारा सच्चा त्यागी और मानव-सेवक बनाने की चेष्टा नहीं की जाती संसार के विश्व युद्ध होते ही रहेंगे।

मनुष्य की सभी प्रकार की उन्नति उसकी अतिरिक्त शक्ति के संचय का परिणाम है। यह अतिरिक्त शक्ति उसे एक ओर देवता बना देती है तो दूसरी ओर वह उसे राक्षस से भी नीच बना देती है। इसका सदुपयोग दूसरों की सेवा में होता है। इसके सदुपयोग से मनुष्य अपने आपको और दूसरों को परमानंद का लाभ कराता है और इसी के दुरुपयोग से वह जेल अथवा पागलखाने का निवासी बन जाता है।

अपराध और दण्ड

दण्ड अपराध की मनोवृत्ति की औषधि मानी जाती है। दण्ड की उपयोगिता के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दण्ड के भय से अपराध की मनोवृत्ति दबी रहती है, पर यह अपराध की मनोवृत्ति का बाहरी उपचार है। इससे हम अपराधी को अपराध करने से तुरन्त के लिये रोक लेते हैं, पर इससे उसकी अपराध की मनोवृत्ति का अन्त नहीं होता। जिस प्रकार बाहरी औषधि से कोई भी मानसिक रोग नष्ट नहीं होता वरन् थोड़े समय के लिये वह अन्तर्ध्यान हो जाता है, इसी प्रकार दण्ड के भय से अपराध की मनोवृत्ति लुप्तप्राय हो जाती है पर वह नष्ट नहीं होती। इससे कभी-कभी अपराधकी मनोवृत्ति और भी जटिल हो जाती है। कोई भी मानसिक उत्तेजना उसके दमन से और बली हो जाती है; इसी प्रकार अपराध की मनोवृत्ति अपने प्रकाशन का अवसर न पाने से बली हो जाती है। जिन बालकों को मार-पीटकर अथवा डरा-धमकाकर शिष्टाचार की शिक्षा दी जाती है, वे प्रौढ़ होने पर या तो दुराचारी बन जाते हैं अथवा मानसिक रोगी बनते हैं। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को किसी प्रकार के अपराध से डरा-धमकाकर रोका जाता है वह जटिल अपराधी अथवा मानसिक रोगी बन जाता है।

अपराध की मनोवृत्ति का प्रधान कारण व्यक्ति के मन में दूसरों के प्रति घृणा की भावना होता है। जब उसे अपराध करने पर दण्ड दिया जाता है तो यह घृणा का भाव और भी प्रबल हो जाता है। यदि दण्ड सफल हुआ तो ऐसा व्यक्ति दूसरों के प्रति अपराध न करके अपने प्रति ही अपराध करने लगता है। वह निराशावादी बन जाता है और अपने आपको अनेक प्रकार से कोसा करता है। इससे यह स्पष्ट है कि अपराधी को प्रत्येक परिस्थिति में दण्ड देना अपराध की मनोवृत्ति का उचित उपचार नहीं है।

दण्ड के द्वारा अपराध की मनोवृत्ति कैसे बढ़ जाती है इसका एक सुन्दर उदाहरण हम विक्टर ह्यूगो के "ला मिजरेबिल्स" नामक उपन्यास में पाते हैं। इस उपन्यास में बताया गया है कि समाज की कठोरता के

कारण एक साधारण व्यक्ति भयानक डाकू बन जाता है। वह जितना ही अधिक दण्ड पाता है, उतना ही अधिक समाज का शत्रु बनता जाता है। हमारे देश में टंटैया भील जो मध्यप्रान्त का निवासी था इसी प्रकार राज्य के द्वारा किसी सामान्य अपराध के लिये कठोर दण्ड पाने पर एक भारी डाकू बन गया था। इस डाकू के विनाश करने में बृटिश सरकार को करोड़ों रुपया खर्च करना पड़ा और दस बारह वर्ष के पश्चात् वह उसका विनाश कर सकी। जो शिक्षकगण अपने छात्रों को केवल दण्ड के द्वारा सदाचारी बनाने की चेष्टा करते हैं वे प्राय: उनके चरित्र का सुधार न कर उसे और भी बिगाड़ देते हैं। वे उनकी इच्छा-शक्ति को निर्बल बना देतें हैं। इसके कारण या तो बालक उद्दण्ड और दुराचारी हो जाता है अथवा वह निराशावादी और निकम्मा हो जाता है।

मनुष्य कभी-कभी कामवासना के विकार के कारण अपराध करता है। प्रेम की कभी भी अपराध की मनोवृत्ति उत्पन्न करती है। ऐसी अवस्था में दण्ड अपराध को कम न कर बढ़ाता है। विकृत काम वासना का व्यक्ति दण्ड भीतरी मन से चाहता है और जब यह उसे मिल जाता है तो उसे विशेष प्रकार का आत्म-संतोष होता है। ऐसे व्यक्तियों के आचरण का सुधार दण्ड से न होकर मनोविश्लेषण से होता है। उद्दण्ड बालकों के सुधार में मानसिक चिकित्सा के सिद्धान्त काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इन्हीं से प्रेरित होकर हमारे देश में अनेक प्रकार के जेल सुधार हो रहे हैं।

अपराध की मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक उपचार

डाक्टर होमरलेन के कथनानुसार अपराध की मनोवृत्ति का सर्वोत्तम उपचार अपराधी के मन में प्रेम के भावों को उत्पन्न करना है। प्रेम की कमी से ही मनुष्य में अपराध की मनोवृत्ति का उदय होता है और प्राय: इसी के कारण उसे अनेक मानसिक रोग भी होते हैं। यदि हम अपराधी के मन में प्रेम भावना का जागरण कर सकें तो उसकी गुप्त मानसिक ग्रन्थि का निराकरण हो जाय। मनुष्य के मन में उपस्थित किसी भी बुरी भावना का विनाश प्रति-भावना के अभ्यास से होता है। छिपी हुई द्वेष-भावना का विनाश मैत्री-भावना के अभ्यास से होता है। किसी भी व्यक्ति के मन में

द्वेष-भावना की वृद्धि प्रतिकूल वातावरण की उपस्थिति के कारण होती है। जब कोई व्यक्ति बचपन से प्रेमहीन वातावरण में रहता है तो उसके मन में जटिल घृणा की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसके कारण वह न किसी व्यक्ति से प्रेम करता है और न वह उनका विश्वास करता है। वह बार-बार दण्डित होने से मनुष्य मात्र से घृणा करने लगता है और मानव समाज के विनाश की चेष्टा करता है। वह सहज में ही ऐसे काम करता है जिससे उससे सम्बन्धित दूसरे लोगों को मानसिक क्लेश हो।

अब यदि हम ऐसे व्यक्ति को उसकी दूषित मनोवृत्ति से वास्तव में मुक्त करना चाहते हैं तो हमें उसको ऐसे वातावरण में रखना होगा जहाँ उसकी घृणा की मनोवृत्ति प्रबल न होकर शिथिल हो जावे। उसे उसके दोषों को देखनेवालों के पास से हटाकर ऐसे लोगों के पास रखना चाहिये जो उसके गुणों को देखें। जब कोई व्यक्ति दुराचार के लिये प्रसिद्ध हो जाता है तो उसका सुधार करना असंभव हो जाता है। कोई भी व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का नैतिक-सुधार नहीं कर सकता, प्रत्येक व्यक्ति अपना नैतिक सुधार अपने आप ही करता है। पर यह सुधार तभी तक हो सकता है जब तक किसी व्यक्ति के मन में इस प्रकार के सुधार कर सकने की हिम्मत रहती है। यह हिम्मत दूसरे लोगों के प्रोत्साहन से बढ़ जाती हैं। जो व्यक्ति आत्म-सुधार से निराश हो जाता है और जिसका इस विषय में आत्म-विश्वास खो जाता है उसका नैतिक सुधार होना कठिन है। जब कोई व्यक्ति दूषित वातावरण में रहता है तो उसे चारों ओर से आत्म-सुधार के निर्देश न मिलकर आत्म-विनाश के ही निर्देश मिलते हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी व्यक्ति की कोई अवांछनीय मनोवृत्ति निर्बल न होकर और भी प्रबल हो जाती है।

जब हम अपराधी को घृणा के वातावरण से निकालकर प्रेम के वातावरण में रखते हैं तो हम उसके मन में प्रेम के भावों को प्रबल कर देते हैं। इससे उसके आत्म-सुधार के विचार और दूसरों का कल्याण करने के विचार प्रबल हो जाते हैं। उसका खोया हुआ आत्म-विश्वास फिर वापस आ जाता है। वह फिर अपना सुधार स्वयं करने की चेष्टा करता है। यदि

इस सुधार के काम को सहानुभूतिपूर्वक देखा गया तो अपराधी की मनोवृत्ति का शीघ्र ही अन्त हो जाता है। कभी-कभी प्रेम का बर्ताव मिलने पर अपराधी व्यक्ति ही सन्त और महात्मा बन जाता है। महात्मा बुद्ध के प्रेम-व्यवहार से अंगुलिमाल डाकू इस प्रकार अरहत (सन्त) बन गया और सप्तरिषि के प्रेम-व्यवहार से एक डाकू वाल्मीकि ऋषि बन गया।

प्रेम के व्यवहार का प्रभाव अपराधी बालक के चरित्र पर चमत्कारिक होता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण हम इङ्गलैण्ड के डाक्टर होमरलेन के एक प्रयोग में पाते हैं। डाक्टर होमरलेन प्रेम के द्वारा अपराध की मनोवृत्ति में सुधार हो जाने के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। उनके प्रयोग के लिये इङ्गलैंड की उस समय की सरकार ने उन्हें एक सरकारी सुधार-गृह (रिफार्मेटरी) का प्रबंधक बना दिया। उस संस्था में अपने इच्छानुसार प्रयोग करने की उन्हें स्वतंत्रता दे दी गई।

होमरलेन महाशय ने पहला सुधार इस सुधार-गृह में जो किया वह उसके नाम बदलने का था। उसने इस सुधारगृह का नाम रिफार्मेटरी से बदलकर 'दी न्यू कामन वेल्थ' (नया प्रजातन्त्र) रखा। रिफार्मेटरी नाम ही एक घृणित नाम बन गया है। सामान्य बालक इसे जेल के रूप में देखता है। वह जानता है कि इसमें अपराधी बालक भेजे जाते हैं और उसमें उन्हें अनेक प्रकार की ताड़ना दी जाती है। अतएव जब कोई बालक इस सुधार-गृह में पहुँच जाता है तो वह अपने आपमें नैतिक सुधार कर सकने की हिम्मत हार जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सुधार-गृह अपराधी बालक के अपने आपमें सुधार कर सकने के आत्म-विश्वास का हरण कर लेता है। अतएव डाक्टर होमरलेन ने इस घृणित नाम को बदल कर अपनी संस्था का नाम नया प्रजातन्त्र रखा। यह नाम बालक में आत्म-सुधार की नई भावनाओं को जाग्रत करता है और उन्हें स्वावलम्बी बनने के लिये प्रोत्साहित करता है।

डाक्टर होमरलेन ने अपने सुधार-घर का नाम ही नहीं बदला, वरन् उसका सम्पूर्ण प्रबंध बदल डाला और जैसा उसका नाम था उसी प्रकार उसे छोटी जन-संचालित संस्था बना दिया। नये प्रजातन्त्र के प्रत्येक नाग-

रिक को समान अधिकार होते थे। उसके प्रबंधक को भी वही अधिकार होते थे जो एक साधारण नागरिक अर्थात् उसमें भर्ती हुए बालक को होते थे। बालक ही अपने प्रजातन्त्र के संचालन के नियम बनाते थे। वे आपस में प्रजातन्त्र के विभिन्न कामों को बाँटते थे। न्यायाधीश, पुलिस सफाई आदि के काम वे आपस में बाँट लेते थे। जिस प्रकार सामान्य प्रजातन्त्र में धारासभा के द्वारा राज्य-नियम बनाये जाते हैं इसी प्रकार इस नये प्रजातन्त्र में भी बालकगण मिलकर राज्य-नियम बनाते थे। प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के उपार्जन के लिये काम करना पड़ता है। वैसे ही इस प्रजातन्त्र में उसे काम करना पड़ता था। अपने आत्म-सम्मान की रक्षा के लिये ही प्रत्येक बालक प्रजातन्त्र के काम करता था। थोड़े में यह कहा जा सकता है कि उस संस्था का पूरा वातावरण बालकों में आपस में प्रेमभाव और आत्म-विश्वास बढ़ानेवाला था। यह स्वावलम्बन का भाव ही तो नैतिकता का आधार है।

अपराधी बालक की मनोवृत्ति में डाक्टर होमरलेन अपने प्रेम-व्यवहार से किस प्रकार चमत्कारिक परिवर्तन कर देते थे, इसका उदाहरण एक अपराधी बालक से सम्बन्धित निम्नलिखित घटना में देखा जाता है—

एक बार सरकारी कचहरी ने डाक्टर होमरलेन को एक ऐसा अपराधी बालक सौंपा जिसे चोरी आदि अपराध के लिये एक साल की सजा दी गई थी। जब बालक को जज ने डाक्टर होमरलेन को सौंपा तो उसने उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा। इस बालक की पहले भी सजा हो चुकी थी। वह जानता था कि सुधार-गृह में बालकों पर क्या क्या अत्याचार किये जाते हैं। वह डाक्टर होमरलेन के सुपुर्द होने पर उनके साथ सुधार-गृह की ओर चला। डाक्टर होमरलेन ने उसे खुला छोड़ दिया था। वह आगे-आगे था और डाक्टर होमरलेन उसके पीछे थे। वह एकाएक दौड़ पड़ा और तेजीसे भागने लगा। उसे भय था कि यदि वह पकड़ जायगा तो वह बहुत पीटा जायगा। परन्तु डाक्टर होमरलेन उसके पीछे दौड़ते ही गए। इस प्रकार दोनों व्यक्ति एक मील तक दौड़े। अन्त में बालक

थक गया। वह हताश होकर खड़ा हो गया। उसने अपने दोनों हाथ डाक्टर होमरलेन के सामने कर दिये। वह जानता था कि डाक्टर होमरलेन अब उसके हाथ में हथकड़ी डालकर उसे सुधारगृह में ले जायँगे।

बालक ने ज्योंही अपने हाथ डाक्टर होमरलेन की ओर बढ़ाए, डा० होमरलेन ने उसके हाथों में अपने जेब से निकाल कर एक गिन्नी थमा दी। वह बालक चकित हो गया। वह समझा डाक्टर होमरलेन उसके साथ मजाक कर रहे हैं। क्योंकि वे पीछे जाकर तो अवश्य ही बदला लेंगे। वह चुप ही था, इतने में डाक्टर होमरलेन ने उससे कहा 'बच्चे इस गिन्नीको लो और स्टेशन पर टिकट खरीदकर रेल से घर चले जाओ।' तुम घर पैदल कैसे पहुँचोगे, मैं इस गिन्नी को देने के लिए ही तुम्हारे पीछे दौड़ा था।'

बालक डाक्टर होमरलेन की यह बात सुनकर अवाक् रह गया। उसे अब भी विश्वास न हुआ कि डाक्टर होमरलेन जो कुछ कहते हैं वही उनकी वास्तविक इच्छा है। डाक्टर होमरलेन इतना कहकर अपने सुधार-गृह की ओर लौट पड़े। बालक भी चिन्तित सा होकर स्टेशन की ओर बढ़ा। यह घटना दिन को तीन बजे हुई। वह बालक आठ बजे रात तक स्टेशन पर इधर-उधर घूमता रहा। उसके हृदय ने फिर उसे घर की ओर जाने को न कहा। वह आठ बजे रातको सुधार-गृह के पास आया और उसने डाक्टर होमरलेन की खोज की। उसने डाक्टर होमरलेन से कहा कि मैं अपने घर में रहने के बदले आपके पास ही रहना पसन्द करता हूँ।

यह बालक उस सुधार-गृह का योग्य नागरिक बन गया। वह सदा डाक्टर होमरलेन के काम में सहायता पहुँचाता था। जब वह सुधार-गृह से छूटा तो उसने पहले एक व्यापारी की नौकरी कर ली। उसका आचरण इतना भला था कि उसके सभी अधिकारी उससे प्रसन्न रहते थे। वह अपने काम को बड़े मनोयोग के साथ करता था। धीरे-धीरे यही बालक इङ्गलैंड की सरकार का एक उच्च आफिसर बन गया।

उपयुक्त उदाहरण से प्रेम के द्वारा अपराध की मनोवृत्ति के सुधार का परिचय मिलता है। अपराधी का स्थायी सुधार प्रेम के कारण ही

होता है। जो व्यक्ति अपराधी के साथ जितनी अधिक सहानुभूति दर्शाता है वह उसमें उतना ही अधिक सुधार करता है। यदि किसी प्रकार के अपराध के लिये उससे सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति उसे दण्ड भी देता है तो इस दण्ड से अपराधी का नैतिक लाभ होता है। सहानुभूति के अभाव में दण्ड अपराधी का नैतिक पतन करता है। जो दण्ड बालकों को सौतेली माँ के द्वारा मिलता है उससे उनके चरित्र में कोई सुधार न होकर उसका ह्रास ही होता है। इसी प्रकार सुधार-गृह में जो बालकों को कठोरता दिखाई जाती है उससे बालक अपराधी आचरण से केवल रुक जाते हैं, परन्तु उनकी मनोवृत्ति में कोई सुधार नहीं होता। वे जब इन सुधार गृहों से निकलते हैं तो और भी पक्के अपराधी बनकर निकलते हैं। इनमें स्थायी सुधार लाने के लिये उन्हें रचनात्मक कार्यों में लगाना और उनका आत्म-विश्वास बढ़ाना नितांत आवश्यक है।

अपराधी बालक की मनोवृत्ति में सुधार का प्रयोग स्वतन्त्र भारत के अनेक सुधार-गृहों में हो रहा है। हाल ही में लेखक ने मध्य-प्रांत की सरकार द्वारा आयोजित सुधार-गृह की व्यवस्था को जबलपुर में कार्यान्वित होते देखा। वहाँ के सुधार-गृह में अब सरकार ने सामान्य प्रबंधकों को बदलकर उसके प्रवंधकर्त्ता दो शिक्षकों को रखा है। इनका सुधार-गृह के बालकों के प्रति उसी प्रकार का व्यवहार है जिस प्रकार का व्यवहार हमारे सामान्य पाठशाला के शिक्षकों का अपने बालकों के प्रति रहता है। वे ऐसी कोई बात उनसे नहीं कहते और न उनके साथ कोई ऐसा व्यवहार होने देते हैं, जिससे उनके आत्म-सम्मान को ठेस लगे। वे उनकी शिक्षा-दीक्षा की परवाह करते हैं। उनके खाने-पीने, सोने, उठने-बैठने और खेलने-कूदने का ध्यान उसी प्रकार रखा जाता है जिस प्रकार छात्रावास के बालकों का ध्यान उसके अध्यक्ष रखते हैं। यह एक बड़े महत्व का प्रयोग है और यह अन्त तक सफल रहा तो अपराधी बालकों के सुधार के लिए एक नया मार्ग खुल जायगा।

दण्ड की अनिवार्यता

उपर्युक्त कथन से यह न मान लिया जाय कि मानव जीवन के विकास

के लिये दण्ड सर्वथा अनुपयोगी है। मानव समाज में होनेवाले अधिक अपराध दण्ड से ही रोके जा सकते हैं। जिन बालकों को अनैतिक आचरण के लिये दण्ड नहीं मिलता वे स्वार्थी, विषय लोलुप और क्रूर कर्मा हो जाते हैं। लाड़ला लड़का अपराधी अथवा मानसिक रोगी बनता है। जिस बालक को अनैतिक आचरण के लिये उसके माता-पिता दण्ड नहीं देते, उसे समाज अथवा प्रकृतिदण्ड देती है। राजनैतिक दण्ड विधान, मानसिक और राजनीतिक रोग ऐसे लोगों के सुधार के साधन हैं। यह दण्ड-व्यवस्था बचपन से ही रहना आवश्यक है परन्तु, दण्ड उपयोगी तभी सिद्ध होता है जब दण्ड पाने वाला व्यक्ति उसकी अनिवार्यता पहचान लेता है।

मनुष्य को प्रत्येक प्रकार के अपराध के लिये दण्ड अवश्य मिलता है। यह दण्ड चाहे अपने आपसे मिले अथवा किसी दूसरे व्यक्ति से। दण्ड अपराध का प्रायश्चित है। प्रायश्चित्त से अपराध की मनोवृत्ति का सुधार होता है। परन्तु जब किसी व्यक्ति को दंड अत्यधिक अथवा अनुचित ढंग से मिलता है तो उससे अपराधी व्यक्ति का नैतिक सुधार नहीं होता। इससे उसके मन में भय की भावना का ही संचार होता है। भय मनुष्य के मन को स्वावलम्बी न बनाकर निर्बल ही बनाता है। जब मनुष्य को दण्ड इस प्रकार दिया जाता है कि वह इस दण्ड को न्यायोचित समझे तब उसका सुधार होता है। अब दण्ड पाप के प्रायश्चित का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रायश्चित्त करने से मनुष्य की इच्छा-शक्ति बली बनती है और उसमें अपने को वश में रखने की शक्ति आती है। पाप का प्रायश्चित्त कर लेने पर मनुष्य को पाप को छिपाने की आवश्यकता नहीं रहती, वह आत्म-शुद्धि को अनुभूति करता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार दंड दिया जाता है कि वह उसे बाहर से आया हुआ मानता है तो वह उस दण्ड को या तो भाग्य के सिर मढ़ देता है, या विधाता का कोप समझता है अथवा किसी दुष्ट व्यक्ति की दुर्भावना का परिणाम मानता है। वह अपने आपको उसका कारण नहीं मानता। अतएव ऐसी अवस्था में उसका नैतिक सुधार नहीं होता।

कितने ही अपराधियों को अपराध करने के बाद आत्म-भर्त्सना होती है। यह अपराध के लिये अपने आपको दिया गया दण्ड है। परन्तु इस अत्यधिक आत्म-भर्त्सना का मानसिक परिणाम वही होता है जो अधिक बाहरी दण्ड का होता है। * निरन्तर आत्म-भर्त्सना करनेवाला व्यक्ति अपने आपसे ही घृणा करने लगता है। जब कोई व्यक्ति अपने आपसे घृणा करने लगता है तो उसके बाहरी और भीतरी मन में विरोध की स्थिति उत्पन्न करती है। उसका अपराधी स्वत्व फिर उससे बचने की चेष्टा करने लगता है। मन के दोनों भागों में फिर लुका-छिपी का खेल होने लगता है। जब तक बाहरी मन प्रबल रहता है तब तक भीतरी मन दबा हुआ रहता है, परन्तु जब बाहरी मन की शक्ति किसी कारण वश कम हो जाती है तो अपराधी भावना अनेक रूप से चेतना की सतह पर आने लगती है। यह बाध्य विचार, त्तय, इल्लत अथवा शारीरिक रोग का रूप धारण कर लेता है। अतएव अपराध के लिये सामान्य पश्चात्ताप करना उचित है परन्तु उसके लिये अत्यधिक भर्त्सना करना चरित्र का विनाशक होता है।

किसी व्यक्ति के अपराध की मनोवृत्ति का संपूर्ण उपचार न पश्चात्ताप से होता है और न प्रायश्चित्त से। इसका उपचार उसे नये भले कामों में लगाने से होता है। इमरसन के इस कथन में मौलिक सत्य है कि भले कामों में दत्तचित्त हो जाना ही सभी प्रकार के अपराधों का उचित प्रायश्चित है। † भगवान बुद्ध ने बुरे कामों के लिये सदा पश्चाताप करते रहना बुरा कहा है।

जब मनुष्य अपने अपराध के लिये केवल पश्चात्ताप ही करता है। और अपनी शक्ति को सन्मार्ग पर लगाने का प्रयत्न नहीं करता तो उसकी

---

* 'Repentance is doubly bad, it shows a weakness of will and it weakens the will'—Spinoza.

† New actions are the only apologies and explanations of the old which the noble can bear to receive or to offer —Emerson, Essays.

मानसिक शक्ति प्रतिगामिनी बन जाती है। इससे वह मानसिक रोग की उपस्थिति करती है। बाहरी अथवा भीतरी दण्ड से मनुष्य में आत्म-विश्वास की वृद्धि नहीं होती। यह रचनात्मक काम के करने से होती है। जब मनुष्य में आत्म-विश्वास उत्पन्न हो जाता है तो वह अपने आपको भुलाने की चेष्टा न कर अपनी शक्ति का सदुपयोग करने लगता है। अपराधी के प्रति सहानुभूति का भाव उसमें आत्मोन्नति की प्रेरणा उत्पन्न करता है और उसमें आत्म-विश्वास लाने में समर्थ होता है। अपने आपको कोसनेवाले व्यक्ति के प्रति सहानुभूति दिखाने से भी उसकी शक्ति आत्म-भर्त्सना के व्यर्थ कार्य में खर्च न होकर रचनात्मक मार्ग को ग्रहण कर लेती है। उसमें आत्मोत्कर्ष कर सकने का विश्वास आ जाता है।

उन्नीसवाँ प्रकरण

मानसिक शक्ति * का उदात्तीकरण †

मानसिक शक्ति का नैसर्गिक प्रकाशन

जब तक कोई प्राणी जीता है, वह एक ओर शक्ति का संचय करता है और दूसरी ओर उसका प्रकाशन करता है। यही जीवन है। हमारी शारीरिक शक्ति अन्न खाने से बढ़ती है, और उसका प्रकाशन अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक क्रियाओं में होता है। इसी प्रकार मानसिक शक्तिकी वृद्धि अनेक प्रकार के विचारों से होती है और उसका प्रकाशन अनेक प्रकार की मानसिक तथा शारीरिक क्रियाओं में होता है। शरीर और मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव शरीर जब बलवान होता है तो मन भी बलवान होता है, इसी प्रकार जब मन बलवान होता है तो शरीर भी आरोग्यवान और बली होता है। जिस समय मनुष्य का शरीर और मन बली होता है, उस समय उसे अपनी शक्ति के प्रकाशन की भी बड़ी आवश्यकता होती है। यह शक्ति का प्रकाशन नैसर्गिक रूप से होता रहता है।

मानसिकशक्ति का स्वाभाविक प्रकाशन आजीविका उपार्जन के कामों, प्राण-रक्षा की क्रियाओं, काम-क्रीड़ाओं तथा दूसरों पर अपना अधिकार जमाने में होता है। पशु और मनुष्य दोनों ही उक्त प्रकार के व्यापारों में लगे रहते हैं। नैसर्गिक रूप से होनेवाले कामों में मनुष्य और पशु की समानता है। यदि मनुष्य इन नैसर्गिक कामों में ही अपनी शक्ति का प्रकाशन करता रहे तो वह पशु जैसा ही बना रहेगा। वास्तव में संसार के अधिक लोगों का जीवन उनकी नैसर्गिक क्रियाओं के करने में ही व्यतीत होता है। वे अपने ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण लगाकर इन क्रियाओं से अपने आपको नहीं रोकते। जिधर उनकी मूल-

---

* Libido, Mental Energy † Sublimation.

प्रवृत्तियाँ ले जाती हैं, वे उधर ही चले जाते हैं। ऐसे मनुष्यों के जीवन का कोई विकास नहीं होता। वे पशु के समान ही बने रहते हैं।

मानसिक शक्ति का नियन्त्रण

मानव-जीवन का विकास अपनी नैसर्गिक क्रियाओं के नियंत्रण से होता है। जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता है, मनुष्य अपनी नैसर्गिक क्रियाओं को रोकने की अधिकाधिक चेष्टा करता हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के विचार की शक्ति बढ़ती है। विचार मनुष्य को प्राकृतिक जीवन से मुक्त करने की चेष्टा करता है। प्राकृतिक जीवन में मनुष्य को अस्थायी सुख और दुःख मिला करते हैं। विचार मनुष्य में अस्थायी सुख के स्थान पर स्थायी सुख प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। इसके लिए पहले तो व्यक्ति अपने भावी सुख के लिए क्षणिक सुख का त्याग करता है। इस प्रकार उसमें स्वार्थवश ही आत्म-संयम की योग्यता आती है पीछे वह दूसरों के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करना सीख जाता है। इससे उसे स्थायी आनन्द की अनुभूति होती है।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति अपने आपका नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है। जिस व्यक्ति में जितनी ही विचार की वृद्धि होती है वह उतना ही अधिक आत्म-नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है। पहले तो मनुष्य की परिस्थितियाँ ही मनुष्य को आत्म-नियन्त्रण करने के लिए बाध्य करती हैं। मनुष्य का जीवन जंगली पशु के समान प्राकृतिक जीवन नहीं है। जंगली पशु अपनी मूल प्रवृत्तियों के द्वारा संचालित क्रियाओं को करके ही जीवन-यापन कर सकता है। परन्तु मनुष्य वैसा नहीं कर सकता। मनुष्य का वातावरण कृत्रिम है और यदि कोई मनुष्य नैसर्गिक रूप से ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे शीघ्र ही अपने जीवन का अन्त कर देना होगा। इस कृत्रिम वातावरण में रहने की योग्यता प्राप्त करने के लिए मनुष्यों को अपने आप पर अनेक प्रकार का नियन्त्रण करना पड़ता है। वह अपनी प्राकृतिक शक्ति को नैसर्गिक रूप से प्रकाशित नहीं कर पाता। बालक की शिक्षा का एक ध्येय यही है कि वह

वर्तमान वातावरण में रह सकने योग्य अपने आपको बनावे और इस वातावरण में आत्म-प्रकाशन की क्षमता प्राप्त करे।

जहाँ मनुष्य की परिस्थितियाँ उसे बाहर से आत्म-नियन्त्रण की प्रेरणा देती हैं, वहाँ नैतिक बुद्धि उसे भीतर से आत्मनियन्त्रण की प्रेरणा देती है। पहले-पहल मनुष्य स्वार्थवश ही अपने आप पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करता है, पीछे वह दूसरों के हित के लिए अपने आप पर नियन्त्रण करता है। दूसरों के हित का विचार करने से अपने आपका भी लाभ होता है। परन्तु जब तक इस लाभ का ध्यान मनुष्य के मन में रहता है तब तक उसमें वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता। जब मनुष्य में वास्तविक नैतिकता का उदय होता है तब वह अपने आचरण की उसी प्रकार आलोचना करने लगता है जिस प्रकार दूसरे लोग उसके आचरण की आलोचना करते हैं। जब मनुष्य की नैतिक बुद्धि प्रबल हो जाती है तो उसकी नैसर्गिक क्रियाओं का उसी प्रकार से नियन्त्रण होने लगता है जिस प्रकार उनका नियन्त्रण परिस्थितियों के द्वारा होता है।

इस नैतिक बुद्धि के उदय होने में बालक के माता-पिता और शिक्षकों का प्रमुख हाथ होता है। बालक के माता-पिता जैसे होते हैं, उसकी नैतिक बुद्धि भी उसी प्रकार की बन जाती है। लापरवाह माता-पिता की संतान की नैतिक बुद्धि लापरवाह होती है, कठोर माता-पिता की बुद्धि कठोर होती है, जटिल माता-पिता की संतान की नैतिक बुद्धि मानसिक जटिलता उत्पन्न करनेवाली होती है और विवेकशील माता-पिता की संतान की नैतिक बुद्धि विवेकयुक्त होती है। सुयोग्य नैतिक बुद्धि वह है जिससे एक ओर मनुष्य की मानसिक शक्ति का नियन्त्रण होता है और दूसरी ओर उसका उचित मार्ग से प्रकाशन होता है। अर्थात् उसका प्रकाशन इस तरह होता है कि मनुष्य को तथा समाज को उससे कोई स्थायी लाभ हो।

• मानसिक शक्ति का असफल नियन्त्रण

ऊपर कहा जा चुका है कि मानसिक शक्ति का नियन्त्रण उसके जीवन के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है। बिना इस प्रकार के

नियन्त्रण के मनुष्य बर्बर अवस्था में ही सना रहता है। मानव सभ्यता का विकास तथा मनुष्य की आध्यात्मिकता का विकास उसकी नैसर्गिक मानसिक शक्ति के नियन्त्रण से होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति में जितनी ही अपने आपको नियन्त्रित करने की शक्ति है उसका जीवन उतना ही उच्चकोटि का है। परन्तु नैसर्गिक मानसिक शक्ति के नियन्त्रण में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य अपने आप पर नियन्त्रण करने की चेष्टा करता रहता है और उसे अपने प्रयास में बार-बार असफलता भी मिलती रहती है। नैसर्गिक मानसिक शक्ति के नियन्त्रण में किसी व्यक्ति के जीवन में जितनी ही सफलता की संभावना रहती है उतनी ही उसके जीवन में असफल होने की संभावना रहती है। अतएव अनेक प्रकार के मानसिक रोग उन्हीं लोगों के जीवन में पाये जाते हैं जो अपने आपको संसार का विशेष व्यक्ति बनाने की चेष्टा करते हैं। यदि वे अपनी मानसिक शक्ति का सफल नियंत्रण कर सके तो वास्तव में महान व्यक्ति बनने में समर्थ होते हैं, अन्यथा वे अनेक प्रकार के मानसिक क्लेश और रोगों के शिकार बन जाते हैं।

मानसिक शक्ति का असफल नियंत्रण ही मनुष्य के असाधारण व्यवहारों, उसकी सांकेतिक चेष्टाओं, स्वप्न और मनोराज्य की क्रियाओं, अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोगों तथा अपराध की क्रियाओं में प्रकाशित होता है। इस पुस्तक के पिछले प्रकरणों में इन बातों पर प्रकाश डाला जा चुका है। आधुनिक मनोविज्ञान का एक प्रधान कार्य मनुष्य की मानसिक शक्ति के असफल नियंत्रण के परिणाम को अध्ययन करना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक चिकित्सा का उद्देश्य मानसिक शक्ति के असफल नियंत्रण से उत्पन्न होनेवाले रोगों को नष्ट करना है। जब अपनी शक्ति के असफल नियंत्रण के परिणाम-स्वरूप मनुष्य की शक्ति पुरोगामी[1] न बनकर प्रतिगामी[2] बन जाती है तो मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग होते हैं और उसके आचरण में अनेक प्रकार की असा-

1. Progressive. 2. Regressive.

धारणता और विकार आते हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मानसिक शक्ति के नियंत्रण का प्रयास करना ही व्यर्थ है। वास्तव में मनुष्य के जीवन की सफलता उसकी शक्ति के नियन्त्रण में ही है, यही उसके जीवन का प्रथम पुरुषार्थ है। बिना इस पुरुषार्थ के अन्य प्रकार का पुरुषार्थ करना संभव ही नहीं।

मानसिक शक्ति का सफल नियंत्रण

मानसिक शक्ति का सफल नियंत्रण उसका शोध (सबलीमेशन) कहलाता है। जब मानसिक शक्ति का सफल नियंत्रण होता है तो शक्ति एक ओर नैसर्गिक मार्ग से प्रकाशित होने से रुकती है और दूसरी ओर वह ऊर्ध्वगामी बन जाती है। उसके प्रकाशन से मानव जाति का कल्याण होता है। जिस व्यक्ति की शक्ति का शोध होता है वह स्वयं अपने आपको बली और सुखी होने का अनुभव करता है। मानसिक शक्ति के शोध से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का बल बढ़ता है, उसमें चमत्कारिक कार्य करने की क्षमता आती है और वह अपने आपमें स्थायी शान्ति तथा आत्म-विश्वास की अनुभूति करता है। जिस व्यक्ति की मानसिक शक्ति का जितना ही अधिक शोध होता है, उसमें मानसिक उद्विग्नता उतनी ही कम होती है। निर्बल मन के व्यक्तियों में ही मानसिक उद्विग्नता पाई जाती है। जिन व्यक्तियों का मन बली होता है वे इस प्रकार की परिस्थितियों से नहीं डरते; न उन्हें जल्दी से क्रोध आता है और न वे जल्दी से किसी प्रकार के प्रलोभन में पड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति ही समाज के नेता होते हैं। जहाँ समाज के साधारण लोग परिस्थितियों के दास बन-कर रहते हैं, वे परिस्थितियों के स्वामी बनने की चेष्टा करते हैं। अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों प्रकार की परिस्थितियों में वे समभाव से व्यवहार करते हैं।

जिन लोगों को अपनी आजीविका चलाने के लिए तथा अपने बाल-बच्चों के पालन में अपनी सारी शक्ति खर्च नहीं कर देनी पड़ती, उन्हें ही मानसिक शक्ति के शोध करने की आवश्यकता होती है। जो लोग धन संचय करने में, तथा काम-क्रीड़ाओं में अपनी शक्ति को खर्च

नहीं करते, जो आजीवन विवाह नहीं करते, उन्हें अपनी शक्ति का शोध करने के उपायों को जानना नितांत आवश्यक होता है। मानसिक शक्ति के उपस्थित रहते हुए उसके शोध की चेष्टा न करने से वह शक्ति स्वभावतः प्रतिगामिनी बन जाती है। इससे मनुष्य को अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं और उसमें दुराचरण की भी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। प्रकृति मनुष्य को सदा चलायमान रखती है। वह प्रत्येक व्यक्ति से आशा करती है कि वह आगे बढ़े, यदि वह आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं करता तो स्वयं प्रकृति उसे पीछे ढकेल देती हैं। यही कारण है कि जिन व्यक्तियों को अपने आपको ऊँचा उठाने का अर्थात् अपनी मानसिक शक्ति के शोध करने का जितना ही अधिक अवसर मिलता है, उनकी नीचे गिरने की सम्भावना भी उतनी ही अधिक होती। जिन व्यक्तियों को प्रकृति प्रतिभा देती है और उसके विकास के लिए फुरसत भी देती है, वे जब उसका सदुपयोग नहीं करते तो उन्हें वह अधिक से अधिक दण्ड भी देती है अर्थात् वह उनमें किसी प्रकार के दुराचरण की लत डाल देती है अथवा मानसिक रोग को उत्पन्न कर देती है। प्रतिभा और विक्षिप्तता इस प्रकार एक दूसरे के पूरक हैं।

मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण अथवा शोध अनेक प्रकार से होता है। अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का उचित मार्ग ढूँढ़ निकालता है। मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण पहले तो अनेक प्रकार के लोकोपकारी कार्यों में होता है। बच्चों का लालन-पालन करना; उन्हें शिक्षा देना, रोगियों की सेवा करना, दीन-दुखियों और गरीबों की सहायता करना इत्यादि काम मनुष्य की मानसिक शक्ति का शोध करते हैं। मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का दूसरा उपाय कला में लगन होता है। धार्मिक चर्चा और धार्मिक कार्य मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का तीसरा उपाय है। आगे चलकर विभिन्न प्रकार के उपायों की और मनुष्य के मानसिक विकास की उपयोगिता पर विचार करेंगे।

लोकोपकारी कार्य द्वारा उदात्तीकरण

मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको लोकोपकारी कार्यों में लगाना है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि वह शक्ति अपने चेतन मन की सतह पर नहीं आ जाती। ज्ञात शक्ति का उदात्तीकरण किया जा सकता है, अज्ञात मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण करना संभव नहीं। जब कोई व्यक्ति अपनी मानसिक झंझट में ही पड़ा रहता है और वह उसका कारण नहीं जानता तो उसकी शक्ति विनाशकारी काम में ही लगी रहती है। ऐसी अवस्था में उसकी शक्ति का उदात्तीकरण होना सम्भव नहीं। मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का प्रश्न तभी आता है जब वह शक्ति ज्ञात हो जाती है और उसके प्रवाहित होने का उचित मार्ग खोजने की आवश्यकता होती है।

मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण होने से रोगी का रोग स्थायी रूप से अच्छा हो जाता है। इसके अभाव में रोगी एक बार रोग से मुक्त होने पर फिर से रोगी बन जाता है अथवा उसमें अनैतिक काम करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। सामान्य और स्वस्थ लोगोंके लिये भी मानसिक शक्ति का शोध आवश्यक है। प्रत्येक साधारण व्यक्ति को भी किसी न किसी प्रकार की मानसिक झंझटें रहती हैं। यदि ऐसा व्यक्ति अपनी शक्ति के शोध का मार्ग खोज ले तो उसकी मानसिक झंझटें विकराल रूप धारण नहीं करतीं। शक्ति के शोध के अभाव में मानसिक झंझटें विकराल रूप धारण कर लेती हैं।

प्रत्येक व्यक्ति लोकोपकारी काम में अपने आपको लगाकर अपनी मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण कर सकता है। परन्तु जिस प्रकार की शक्ति किसी व्यक्ति के पास एकत्र रहती है, उसी के अनुकूल अपने आप को काम में लगाना अच्छा है। यदि किसी व्यक्ति की दबी हुई शक्ति काम-शक्ति है तो उसे दूसरों के प्रति प्रेम बढ़ानेवाले कामों को करना चाहिए। बालकों के लालन-पालन से और उनकी शिक्षा के कार्य से मनुष्य की काम-शक्ति का सबसे अधिक शोध होता है। विधवा महि-

लाओं को बालकों के शिक्षण का भार अपने ऊपर लेना उनकी काम-वासना का उदात्तीकरण करना है। प्रत्येक स्त्री में पुरुष की अपेक्षा वात्सल्य भाव अधिक होता है। जिन विधवाओं के सन्तान नहीं होती, उनके वात्सल्य भाव का दमन होता है। इसके कारण उन्हें अनेक प्रकार के मानसिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। जब ऐसी महिलाओं को बालकों की शिक्षा का कार्य मिल जाता है तो एक ओर उनके काम से लोक-कल्याण होता है और दूसरी ओर उनकी मानसिक शक्ति भले काम में खर्च हो जाती है। इससे उन्हें मानसिक रोग होने की सम्भावना नहीं रहती।

बालकों के प्रति प्रेम दिखाकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी काम-शक्ति का शोध करता है। काम-शक्ति तीन रूप से प्रकाशित होती है—एक काम-क्रीड़ाओं में, दूसरे प्रेमी के प्रति प्रेम-प्रदर्शन में और तीसरे वात्सल्य भाव में। काम-शक्ति के प्रकाशन का पहला रूप शारीरिक है, दूसरा मानसिक और तीसरा आध्यात्मिक। अतएव हम कह सकते हैं कि वात्सल्य-भाव काम-वासना का परिष्कृत रूप है, अर्थात् वह उसका शोध है। जो व्यक्ति बालकों के प्रति जितना ही अधिक प्रेम दिखाता है और उनकी सेवा में अपना अधिक समय लगाता है उसे प्रबल काम-उत्तेजना उतनी ही कम होती है।

जिस प्रकार अपनी मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण बालकों की सेवा से होता है, इसी प्रकार इसका उदात्तीकरण रोगियों की सेवा से भी होता है। रोगियों की सेवा से एक और लाभ होता है। शरीर की अस्थिरता और उससे होनेवाले क्लेशों पर बार बार विचार करने से शरीर के प्रति मनुष्य का मोह चला जाता है और इसके कारण उसकी काम-वासना शिथिल हो जाती है। दूसरे रोगियों की सेवा मनुष्य के मन में ऐसे विचारों का संचार करती है जिससे मनुष्य की द्वेष भावनाओं की शक्ति नष्ट हो जाती है। भगवान बुद्ध का कथन है कि जो रोगियों की सेवा करता है वह मेरी ही सेवा करता है। जब कोई मनुष्य रोगी की सेवा करता है तो वह उसकी अनुभूति को अपनी अनुभूति बना लेता है।

इस प्रकार दूसरे की अनुभूति को अपनी अनुभूति बनाने से मनुष्य का मन शुद्ध होता है। फिर वह अपने ही कष्टों में नहीं पड़ा रह जाता।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के कष्टों से दुःखी रहता है। वह विचार करता है कि संसार का सबसे दुःखी व्यक्ति वही है। जब तक मनुष्य अपने ही बारे में सोचता रहता है और अपने दुःखों को निवारण करने की चेष्टा करता रहता है, तब तक उसके दुःखों का अन्त नहीं होता। जब वह दूसरे दुःखी लोगों से सहानुभूति दर्शाने लगता है तब वह जान जाता है कि उसके दुःख दूसरों के दुखों की अपेक्षा नगण्य हैं, अपने आपको दूसरे लोगों की सेवा में लगा देने से व्यक्ति अपने दुःखों को भूल जाता है। अपने दुखों पर विचार करने से दुख बढ़ते हैं, और उनके विषय में चिन्ता न करने से वे नष्ट हो जाते हैं। जो व्यक्ति अपने दुखों को जितना अधिक याद करता है, वह उन्हें उतना ही बढ़ाता है और जो उनको जितना ही भुलाता है वह उन्हें उतना ही कम करता है। रोग के विषय में भी यही बात सत्य है। प्रत्येक रोग उसके विषय में बार बार सोचने से बढ़ता है और दूसरों के उसी प्रकार के रोगों को अच्छा करने की चेष्टा करने से अपना रोग कम हो जाता है।

सभी प्रकार के रोगियों की सेवा करना मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का सर्वोत्तम मार्ग है। यदि किसी व्यक्ति को अपने आप कभी मानसिक रोग हुआ हो तो उस रोग से सभी समय के लिये मुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि वह उसी प्रकार के रोग पीड़ित लोगों को रोग से मुक्त होने में सहायता दे। जितना ही हम दूसरे लोगों को अपने रोगों से मुक्त होने में सहायता देते हैं हम अपने विषय में भी उतना ही अधिक ज्ञान प्राप्त करते हैं। मानसिक रोगों का अध्ययन आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है।

संसार के दीन-दुखियों की सेवा करना भी मानसिक शक्ति के शोध का उपाय है। सभी प्रकार के प्रेम-दर्शन के कार्य मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण करते है। जो शक्ति अवरुद्ध होने की अवस्था में अनेक प्रकार के मानसिक रोगों का कारण बन जाती है वही उदात्त अवस्था

में संसार का भारी कल्याण करती है। संसार के महान पुरुषों के जीवन को यदि हम देखें तो हम एक ओर उनके जीवन में किसी न किसी प्रकार की असाधारणता पावेंगे और दूसरी ओर उनमें भारी आत्म-नियंत्रण की प्रवृत्ति भी पावेंगे। वे अपनी संचित शक्ति को सदा समाज-कल्याण के कार्य में लगाते रहते थे। इससे मनुष्य के जीवन में साम्य भाव आता है और उसकी एकाएक उद्विग्नता और उतावलापन समाप्त हो जाते हैं। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं से कहा है कि राष्ट्र की सेवा किये बिना उसका अन्न खाना लोहे के गोलों के खाने से अधिक बुरा है। उन्होंने जीवन भर समाज की सेवा की। इस प्रकार अपने जीवन की विषमता को हटाया और अपनी मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण किया।

मानसिक शक्ति का सहज उदात्तीकरण

डाक्टर फ्रायड के कथनानुसार मनुष्य की मूल मानसिक शक्ति काम-शक्ति है। इसका बहुत कुछ उदात्तीकरण हमारे अनजाने ही होता रहता है। वास्तव में उदात्तीकरण की मानसिक प्रक्रिया अचेतन मन की प्रक्रिया है। जिस प्रकार दूसरी मानसिक क्रियाएँ रोग का रूप धारण कर प्रकाश में आती हैं, इसी प्रकार यह प्रक्रिया मनुष्य की प्रतिभा के कार्यों में प्रकाशित होती है। कला, कविता संगीत आदि मनुष्य की मानसिक शक्ति के सहज उदात्तीकरण के परिणाम हैं। इन कार्यों का स्रोत मनुष्य के अचेतन मन में रहता है। अर्थात् अपने अनजाने ही वह इनमें लग जाता है। जहाँ शिशुपालन, रोगियों अथवा दीन दुखियों की सेवा में नैतिक बुद्धि की अर्थात् विचार की प्रधानता रहती है, कला संगीत कविता आदि में सहज स्फूर्ति की प्रधानता होती है। मनुष्य कला में किसी दबी भावना को सुन्दर लोकोपकारी ढंग से अपने अनजाने सहज रूप से प्रकाशित करता है। हम यहाँ कला के मनोविज्ञान पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

कला का स्रोत

कला मनुष्य के अचेतन मन का कार्य है। यह सहज में होता है अतएव इसे एक प्रकार का खेल कहा गया है। जो काम बालक के जीवन के विकास में खेल करता है, वही काम प्रौढ़ व्यक्तियों के जीवन के

विकास में कला करती है। जिस प्रकार बालक की अतिरिक्त शक्ति का प्रकाशन खेल है, इसी प्रकार मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति का प्रकाशन कला है। बालक की स्वतन्त्र स्फूर्ति खेल का रूप लेती है और प्रौढ़ व्यक्तियों की स्वतन्त्र स्फूर्ति कला का रूप लेती है। जिस प्रकार बालक के खेल का उद्देश्य खेल के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता, इसी प्रकार कलाकार का उद्देश्य कला निर्माण के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता।

बालक गोली खेलता है। इसमें उसे आनन्द की अनुभूति होती है। इसलिये वह इस खेल को खेलता रहता है। परन्तु जब वह पैसा प्राप्त करने के लिये खेल खेलने लगता है तो उसका खेल खेल नहीं रहता, वह एक भ्रष्ट वस्तु हो जाती है। इसी प्रकार जब कोई कलाकार रुपया कमाने के लिये, सम्मान पाने के लिये अपनी कला की रचना करने लगता है तब वह अपने ऊँचे लक्ष्य से गिर जाता है। फिर उसकी कला उसका मानसिक विकास न करके उसे नीचे गिराने लगती है। ज्ञान लक्ष्य की प्राप्ति से प्रेरित कला मनुष्य के दबे भावों का उदात्तीकरण अथवा रेचन नहीं करती। वह गुण का दमन करती है। वह मनुष्य के व्यक्तित्व से सम्बन्ध नहीं रखती और इसलिये कलाकार का मानसिक लाभ नहीं करती। इससे दूसरों का भी स्थायी लाभ नहीं होता।

जान-बूझकर कलाकृतियों को उपयोगी बनाना उन्हें कलाहीन बनाना है। इसीलिये कला के उच्चतम आलोचक उच्च कलाकार नहीं होते। जब उत्तम कलाकार आलोचक बन जाता है तो वह अपनी विशेष प्रतिभा को खो देता है।

उपर्युक्त कथन की वास्तविकता समझने के लिये हमें मनुष्य के स्वभाव की बनावट को ध्यान में रखना होगा। मनुष्य के स्वभाव के दो प्रधान अंग हैं—एक विचार और दूसरा भाव। विचार मनुष्य के चेतन मन की वस्तु है और भाव उसके अचेतन मन की। जब मनुष्य सोचता है तो वह अपने चेतन मन के व्यापार में लगता है और जब वह किसी भाव की अनुभूति करता है तो वह अपने अचेतन मन के वश में हो हो जाता है। संसार में मनुष्य के सफल बनने के कार्यों का संचालन

उसका चेतन मन करता है और उसकी आत्म-स्फूर्ति के कार्य प्रधानतः उसके अचेतन मन के द्वारा होते हैं। कला मनुष्य की आत्मस्फूर्ति की कृति है। यह भावमय पदार्थ है, और उसका स्रोत मनुष्य का चेतन मन न होकर उसका अचेतन मन होता है। कला के द्वारा मनुष्य के अनेक प्रकार के दबे हुए मानसिक भावों का परिष्कृत रूप में प्रकाशन होता है। कला उन भावों का उदात्तीकरण है। इस प्रकाशन से मनुष्य का हृदय हलका होता है, वह अपने आपमें आनन्द की अनुभूति करता है और अपने आपको धन्य मानता है अचेतन मन अपनी कृति की उपयोगिता के विषय में विचार नहीं करता। किसी वस्तु की उपयोगिता पर विचार करना चेतन मन का कार्य है। जो मनुष्य अपनी कलामय रचना की उपयोगिता के विषय में जितना ही अधिक चिन्तन करता है वह अपनी रचना को उतनी ही निम्न कोटि का बना लेता है।

कलाकार की क्रिया की प्रेरक उसके अचेतन मन में उपस्थित भावमय अनुभूतियाँ होती हैं। कला की सृष्टि होने के लिये दो बातों की आवश्यकता है। पहला अचेतन मन में वेदनापूर्ण अनुभूतियाँ जो प्रकाशित हुए बिना रह न सकें और दूसरे इन अनुभूतियों में व्यापकता देखना। अपनी व्यक्तिगत वेदना का प्रकाशन कला नहीं है। वह प्रकाशन कला तभी बनता है जब इसका साधारणीकरण होता है। इस प्रकार के साधारणीकरण से मनुष्य अपनी वेदना से मुक्त हो जाता है। युंग महाशय का कथन है कि कला का कारण मनुष्य की दबी भावनाएँ मात्र नहीं हैं। यदि दबी हुई अनुभूतियों के आकर्षक रूप से प्रकाशित होने को ही हम कला कहते तो कला और मानसिक रोग में कोई भी भेद न होता। फिर हमें कलाकार को एक प्रकार का विक्षिप्त व्यक्ति मानना पड़ता। फ्रायड के सिद्धान्त को माननेवाले लोगों ने कला को उसी प्रकार समझाने की चेष्टा की है जिस प्रकार वे मानसिक रोग को समझाते हैं। परन्तु कला की समानता मानसिक रोग से करना कला का रूप वीभत्स बनाना है। यह बात सत्य है कि हर एक प्रकार की कला के निर्माण में मनुष्य की दबी हुई भावनाएँ प्रकाशित होती हैं। यदि ये

भावनाएँ साधारण रूप से प्रकाशित हों तो मनुष्य के जीवन में विक्षिप्तता अथवा दुराचरण आ जाय। परन्तु कला के रूप में इनके प्रकाशित होने से ये न केवल कलाकार के व्यक्तित्व को ऊँचा बना देती हैं वरन् समाज का भी महान कल्याण करती हैं। कला समाज के लोगों को अनेक प्रकार की विक्षिप्तता और दुराचरण से, बिना इसका ज्ञान कराये, रोकती है। कला का मूल्य उसकी उपयोगिता पर विचार करके नहीं आँका जा सकता। कला मनुष्य को आनन्द देती है और आनन्द की अनुभूति में मनुष्य के अनेक प्रकार के मानसिक रोग तथा उनकी दुराचरण की प्रवृत्तियाँ अपने आप ही शान्त हो जाती हैं। जिस प्रकार कला कवि का लाभ करती है, उसे विक्षिप्तता और अनैतिक आचरण से बचाती है, उसी प्रकार वह समाज का भी लाभ करती है। वह समाज के लोगों का मन परिष्कृत करती है। जब कोई कलाकार कला की सृष्टि करना बंद कर देता है तो उसका जीवन वीभत्स हो जाता है, इसी प्रकार जब समाज भी कला का आदर करना और उसके रस का आस्वादन करना छोड़ देता है तो समाज का जीवन भी वीभत्स हो जाता है। कला के द्वारा मनुष्य की वैयक्तिक अनुभूतियाँ दैवी रूप धारण कर लेती हैं। कला के बनने में सचमुच में वही सामग्री काम करती है जो रोग के बनने में काम करती है। परन्तु यह सामग्री कला के रूप में प्रकाशित होने से मनुष्य को रोग से बचाती है। इससे दूसरे लोग भी अपने उसी प्रकार के रोग से मुक्त होते हैं। कविवर 'बच्चन' ने निमंत्रण लिखकर न केवल अपने आपको वरन् विरह की पीड़ा से व्याकुल अनेक दूसरे युवकों को पागल होने से बचाया।

युंग महाशय का कथन है कि कलाकार की सृष्टि तभी उच्चकोटि की होती है जब वह अपने आपको समष्टि अचेतन मन के प्रति समर्पित कर देता है। जैसा पहले कहा गया है मनुष्य के चेतन मन के परे मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन है। यह मन मनुष्य की दबी हुई पुरानी अनुभूतियों का आधार है। इसमें ही मनुष्य की अनेक प्रकार की अनैतिक भावनाएँ रहती हैं, जो प्रकाशित न होने के कारण मानसिक ग्रन्थियों का रूप धारण कर लेती हैं और अनेक प्रकार के मानसिक रोग, स्वप्न, मनोराज्य और

असाधारण आचरण में प्रकाशित होती हैं। इस मन के परे मनुष्य का समष्टि अचेतन मन है। यह मन एक ओर प्रत्येक व्यक्ति की सबसे समीप की अनुभूति है और दूसरी ओर वह व्यापक भी है। जो व्यक्ति इस मन तक पहुँचने की चेष्टा करता है वही सच्चा कलाकार बनता है। अपने आपको इस मन से मिला देने पर मनुष्य का वैयक्तिक अचेतन मन का भंडार नया रूप ही धारण कर लेता है। ये अनुभूतियाँ आनन्ददायिनी बनकर प्रकाशित होती हैं।

मनुष्य के मन में जब किसी प्रकार की प्रबल मानसिक ग्रन्थि रहती है तब उसका अभिमान भी बढ़ा चढ़ा रहता है। वह अपने आपको संसार का असामान्य व्यक्ति मानता है। परन्तु कला की सृष्टि इस प्रकार की मानसिक स्थिति में नहीं होती। अभिमानी पुरुष कलाकार न बनकर विक्षिप्त बनता है। कला की सृष्टि तभी होती है जब मनुष्य अपने अभिमान का सम्पूर्ण त्याग कर देता है और अपने आपको विश्वात्मा का यंत्र मात्र मान लेता है। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को जितना ही भुला देता है वह उतना ही अच्छा कलाकार होता है। लौकिक सफलता के लिये मनुष्य को अपने व्यक्तित्व को सदा स्मरण रखने की आवश्यकता होती है, परन्तु कला में सफलता के लिये अपने व्यक्तित्व को भुला देना ही श्रेयस्कर होता है। जब तक कलाकार अपने व्यक्तित्व को तुच्छ मानकर अपने आपको किसी विशेष सत्ता का यंत्र मात्र नहीं मान लेता तब तक उसकी कला सफल नहीं होती। जिस कलाकार में जितना अधिक अभिमान होता है वह उतना ही अपनी कला में विफल होता है। जो अपने अभिमान से मुक्त होकर रचना करने की क्षमता रखता है वही सच्चा कलाकार है। इस प्रकार कलाकार संसार का अलौकिक व्यक्ति है। वह सहज भाव से आत्म-प्रकाशन करता है। इससे संसार का लाभ भले ही हो परन्तु उसका उसे अभिमान नहीं होता। जिस हेतु से जो व्यक्ति काम करता है उसका उसे अभिमान होता है। कलाकार की रचना का हेतु कोई बाहरी लाभ न होने के कारण उसका उसे अभिमान भी नहीं होता।

चार्ल्स युंग का कला-सिद्धान्त

युंग महाशय के कथनानुसार कला की रचना में न तो कलाकार की अपनी बुद्धि की प्रधानता रहती है और न उसकी अपनी वैयक्तिक सांसारिक अनुभूतियों की। जो लोग कला के मूल स्रोत की खोज मनुष्य की दबी भावनाओं में करते हैं और जो कला की सुन्दरता का श्रेय कलाकार की वैयक्तिक प्रतिभा को देते हैं वे दोनों ही कला के वास्तविक रहस्य को प्रकट नहीं करते। यदि हम कला को केवल दबी भावनाओं का प्रकाशन मानें तो इससे संसार का क्या कल्याण हो सकता है? कला को दबी भावनाओं का प्रकाशन कहना उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार किसी पौधे अथवा फूल का गोबर के खाद से निकलना सत्य है। बिना खाद के पौधे और फूल के होने की सम्भावना नहीं है, परन्तु उसे खाद का रूपान्तरण मात्र मानना भी असत्य है। कला को समझने के लिये हमें मानसिक चिकित्सक की मनोवृत्ति से भिन्न मनोवृत्ति से काम लेना पड़ेगा। मानसिक चिकित्सक मनुष्य की सभी प्रकार की असाधारणता का कारण उसकी दबी हुई नैसर्गिक प्रवृत्तियों में देखता है, कला का विश्लेषण इसी दृष्टिकोण से करने से कला का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। फिर हम उसे दैविक वस्तु न मानकर एक निम्न कोटि की अभिव्यक्ति ही मानेंगे। इस प्रसंग में युंग महाशय के अपनी 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू एनालैटिक साइकालोजी नामक पुस्तक में दिये हुये निम्नलिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं—

'विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान कला के रहस्य को तब तक नहीं समझ सकता जब तक कि वह चिकित्सक की बुद्धि से मुक्त नहीं होता। कला की कृति मानसिक रोग नहीं है अतएव इसे समझने के लिये चिकित्सक की दृष्टि से भिन्न दृष्टि से काम लेना होगा। चिकित्सक मानसिक रोग की जड़ की खोज करता है, वह उसके कारण को जानने की चेष्टा करता है जिससे कि वह उसे नष्ट कर सके; परन्तु कला के समझने का प्रयत्न करनेवाले मनोवैज्ञानिक को इससे भिन्न दृष्टि से काम लेना होगा। उसके लिये कला का प्रयोजन मुख्य वस्तु है क्योंकि किसी वस्तु का प्रयोजन

ही उसके सच्चे अर्थ को व्यक्त करता है। वह कला के विषय में व्यक्ति के पूर्व अनुभवों के प्रश्नों को नहीं उठायेगा, क्योंकि ये प्रश्न कला के निर्माण में कोई महत्व नहीं रखते, वह इन प्रश्नों को वहीं तक उठावेगा 'जहाँ तक वे कला के अर्थ को समझने में सहायक होते हैं। उसका कला अध्ययन का प्रधान उद्देश्य कला के अर्थ अर्थात् उसके लक्ष्य को समझना होगा। कला के निर्माण में मनुष्य के वैयक्तिक एवं लौकिक अनुभव वैसाही नगण्य स्थान रखते हैं जैसा कि पौधे के निर्माण में मिट्टी उपजाने वाली भूमि के विषय में जानने से पौधे की विशेषता कुछ हद तक जानी जा सकती है और यह ज्ञान बनस्पति-शास्त्रज्ञ के लिये उपयोगी भी है, पर यह ज्ञान पौधे के जीवन-तत्व समझने के लिये पर्याप्त नहीं। कला के विषय में भी यही सत्य है। कला के कार्य को वैयक्तिक कारणों के द्वारा समझने की चेष्टा करना असंगत है क्योंकि कला वैयक्तिक वस्तु नहीं, वह इससे ऊँचे स्तर की वस्तु है। वह शक्ति नहीं है अतएव व्यक्ति की विशेषताएँ कला की विशेषताएँ नहीं बनतीं। वास्तव में सच्ची कला का मूल्य कलाकार की वैयक्तिक सीमाओं के ऊपर उठ जाने में है। कला सामयिक और संकीर्ण वैयक्तिक भावों से उठकर अनंत के स्वतंत्र वातावरण में विचरण करती है।'*

---

* Before analytical psychology can do justice to the work of art it must entirely rid itself of medical prejudice; for the art work is not a morbidity, and therefore demands a wholly different orientation from the medical. The physician must naturally seek the prime cause of a sickness in order to eradicate it, if possible, by the roots; but just as naturally must the psychologist adopt an exactly opposite attitude towards the work of art. He will not raise the question, which for the art-work is quite superfluous, concerning its undoubted general antecedents, its basic human determinants; but he will inquire into the meaning of the work, and will be concerned with

आगे चलकर युंग महाशय अपने उक्त कथन का अर्थ और भी स्पष्ट करते हैं—पौधा केवल विशेष प्रकार की मिट्टी की उपज नहीं है, वह एक जीवन-शक्ति का प्रकाशन है, जिसका अर्थ अपने ही अन्दर है और मिट्टी के गुणों से जिसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार कला की कृति रचनात्मक शक्ति का स्फुरण है। कला अपनी शक्ति को स्वतंत्रता के अनुसार कवि के वैयक्तिक अनुभवों को काम में लाती है। इसका अर्थ व्यक्ति के पुरोगामी अनुभवों में नहीं, स्वयं कला में ही पाया जा सकता है। कला वास्तव में स्वयं एक सजीव शक्ति है, जो मनुष्य को और उसकी वैयक्तिक विशेषताओं तथा संस्कारों को अपने प्रकाशन के लिये माध्यम

---

its preconditions only in so far as they are necessary for the understanding of its meaning. Personal causality has as much and as little to do with the work of art, as the soil with the plant that springs from it. Doubtless we may learn to understand some peculiarities of the plant by becoming familiar with the character of its habitat. And for the botanist this is, of course, an important component of his knowledge. But nobody will maintain that he has thereby recognized all the essentials relating to the plant itself. The personal orientation that is demanded by the problem of personal causality, is out of place in the presence of the work of art, just because the work of art is not a human being, but essentially supra-personal. It is a thing and not a personality; hence the personal is no criterion for it. Indeed the special significance of the genuine art-work lies in the fact, that it has successfully rid itself of the restraints and blind alleys of the personal and breathes an air infinitely remote from the transitoriness and short-winded excursion of the merely personal.

Contributions to Analytic Psychology, P. 233-234.

बनाती है और उन्हें अपने रचनात्मक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये ही नियम के अनुसार चलाती है।†

युंग महाशय ने सभी प्रकार की कला कृतियों को दो प्रकारों में विभक्त किया है—कुछ कला की कृतियों में व्यक्ति के चेतन मन का कार्य ही अधिक देखा जाता है और कुछ में उनके अचेतन मन का। जब कोई कलाकार अपनी रचना में चेतन मन से काम लेता है तो वह कला के प्रत्येक अवयव को ठीक ढंग से सजाता है। वह देश, काल और परिस्थिति का ध्यान रखता है। वह बार-बार अपने आपको सुधारता है और जबतक उसकी कृति उसकी दृष्टि में सभी दोषों से मुक्त नहीं हो जाती, तब तक वह उसे नहीं छोड़ता। किसी विशेष प्रकार के लक्ष्य के साधन के हेतु जो कला का निर्माण होता है वह इसी प्रकार का होता है। ऐसा कवि कभी समाज के नैतिक निर्माण के लिये, कभी राष्ट्र के निवासियों में देशभक्ति के जागरण के लिए, कभी विशेष प्रकार के सामाजिक विप्लव के लिए कविताओं की सृष्टि करता है। इस प्रकार की सृष्टि का विशेष उद्देश्य रहता है। इसमें कोई अप्रासंगिक बात नहीं आने दी जाती। वह अपने शब्दों का, शैली का और गति-लय आदि का चुनाव जान-बूझकर ठीक ढंग से करता है। इस प्रकार की कला चेतन मन की

† "The plant is not a mere product of the soil; but a living creative process centred in itself, the essence of which has nothing to do with the character of the soil, in the same way the art-work must be regarded as a creative formation, freely, making use of every precondition. Its meaning and its own individual prticularity rests in itself, and not in its precondition. In fact one might almost describe it as a being that uses man and his personal dispositions merely as a cultural medium or soil- disposing his powers according to its own laws, while shaping itself to the fulfilment of its own creative purpose'—*Contributions to Analytic Psychology.*

कृति होती है। इसमें विचार की प्रधानता होती है। यह मनुष्य के विचार को बढ़ाती और उन्हें विशेष लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करती है। ऐसी कला का स्वागत किसी विशेष परिस्थिति में, किसी विशेष देश और काल में खूब होता है। परन्तु उस परिस्थिति के अन्त होने पर उसका अन्त हो जाता है। उसका प्रभाव विशेष देश-काल से सीमित रहता है। इस कला में कलाकार अपने अनुभवों को जानबूझकर काम में लाता है।

इस कला से भिन्न वह कला है जिसमें मनुष्य की वैयक्तिक बुद्धि और विचार अनंत शक्ति के हाथ में यंत्र मात्र बन जाते हैं। वह उन्हें जिधर ले जाती हैं वे उधर को जाते और उसी का काम करते हैं। जहाँ पहले प्रकार की कला में कलाकार के जाने-बूझे उद्देश्य से आगे कला नहीं जाती, वहाँ दूसरे प्रकार की कला का कहाँ तक प्रभाव पड़ेगा, यह स्वयं कलाकार ही नहीं जानता। जिस प्रकार उसकी रचना में व्यक्ति की चेतना अपने स्वेच्छानुसार काम करने से रोक दी जाती है इसी तरह उसके प्रभाव का अन्दाज लगाना भी व्यक्ति की बुद्धि के बाहर होता है। ऐसे कलाकार की कृतियों में भाव, भाषा और शैली की अकथनीय विलक्षणता होती है। कवि के भाव यहाँ उसकी अपरोक्ष अनुभूति से आते हैं, उसकी भाषा के शब्द अकथनीय तत्व के प्रतीक मात्र होते हैं। वे मनुष्य को सीमित जगत से उठाकर असीम की ओर ले जाने के साधन होते हैं। उनका अर्थ बुद्धि के प्रयास से नहीं जाना जा सकता।*

---

* युंग महाशय के निम्नलिखित वाक्य उक्त दो प्रकार की कलाओं के विषय में उल्लेखनीय हैं—

Thus we should expect in the former case, that nowhere would the work of art transcend the limits of couscious understanding, that its effect would, as it were, be spent within the framework of the anthor's intention, and that in no way would its expression exceed the author's deliberate purpose. In the latter case we should have to conceive of something of a supra-personal

उच्च कोटि की कला एक विशेष प्रकार का नशा है। जब कलाकार अपनी कला के नशे में आता है तो वह अपनी सुध भूल जाता है। यदि वह कवि हो तो वह अपनी कविता की रचना में ही तल्लीन हो जाता है, यदि वह चित्रकार है तो वह चित्रकारी में अपने आपको खो देता है। उच्च कोटि की कला मनुष्य के मन को इस प्रकार अपने वश में कर लेती है कि मनुष्य केवल कला के लक्ष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचता। उसका काम जब तक पूरा नहीं होता तब तक उसे कुछ नहीं भाता। वह अपने सम्पति, परिवार और स्वास्थ्य का ध्यान नहीं रखता। इसके कारण कलाकारों का स्वास्थ्य बिगड़ भी जाता है। पर प्रकृति को इसकी क्या परवाह; वह जिस व्यक्ति से जो काम कराना चाहती है, वह उससे वह काम कराकर रहती है। जब तक अपने सर्वस्व को कोई व्यक्ति समर्पित नहीं कर देता तब तक वह सच्चा कलाकार नहीं बनता। कलाकार अपनी सामान्य सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति भी उदासीन हो जाते हैं। यदि वे समाज की बातों पर सदा विचार करें और समाज की रूढ़ियों के अनुसार ही अपने आपको चलाते रहें तो वे कला के लक्ष्य को प्राप्त न करें।

कभी-कभी उच्च कोटि का कलाकार अपने आप सोच-विचार कर कला का निर्माण करता है। वह समझता है कि वह कला के निर्माण में अपने ही विचार से काम ले रहा है। परन्तु यदि उसके द्वारा उच्चकोटि की कला का निर्माण हुआ तो यह अवश्य ही आत्म-समर्पण का परिणाम

---

character that transcends the range of conscious understanding in the same degree as the author's consciousness is withheld from the development of his work. We should expect a certain strangeness of form and shape, thoughts that can only be apprehended by intuition, a language pregnant. with meaning, expressions that would have the value of genuine symbols because they are the best possible expressions of something yet unknown—bridges thrown out towards an invisible shore—Ibid P. 239.

होता है। प्रकृति कलाकार के विचारों को भीतर से ही अपना यंत्र बना लेती है। कलाकार सोचता है कि वह अपनी ही बुद्धि से सोचता है, परन्तु वह वास्तव में समष्टि मन के द्वारा सोचता है। कलाकार का समष्टि मन के प्रति आत्म-समर्पण कभी-कभी जान-बूझकर होता है और कभी अनजाने। कला के निर्माण में ही अपने आपको भुला देनेवाला व्यक्ति विश्वात्मा (अर्थात् उसके वैयक्तिक अचेतन मन) के प्रति अपने आपको अनजाने ही समर्पित कर देता है। ऊँची कोटि की कला समाधि स्थिति का परिणाम है। इस स्थिति में मनुष्य अपने व्यक्तित्व और उससे सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को भूल जाता है।

कला का अर्थ कला के प्रकाशन में ही है। जब कला किसी विशेष प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति करने लगती है तो वह कला नहीं रह जाती। चार्ल्सयुङ्ग के कथनानुसार कला का कोई अर्थ नहीं होता। जब कला प्रकाशित हो जाती है तो पीछे उसका अर्थ लगाया जाता है। कला का ध्येय उसके प्रकाशन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कला सौंदर्य का मूर्तिकरण मात्र है। सौंदर्य के मूर्तिकरण मात्र में कला का अर्थ है। सौंदर्य की उपस्थिति के लिये कोई दूसरा कारण देने की आवश्यकता नहीं है।† कला किसी का भला करे अथवा न करे, वह अपने आपमें भली वस्तु है। उसका अर्थ इतने में ही है। इस प्रसंग में युङ्ग महाशय के निम्न-लिखित वाक्य उल्लेखनीय हैं—संभवतः कला का मतलब कुछ नहीं रहता, कला का प्रयोजन किसी अर्थ को व्यक्त करना नहीं है। यह प्रकृति के समान अपने आपके लिये ही है। जब हम कला का अर्थ खोजते हैं तो हम केवल अपनी बुद्धि की भूख को संतुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। कला सौंदर्य है और इतने में ही कला का अर्थ समाप्त होता है। कला के लिए अर्थ की आवश्यकता नहीं। अर्थ का प्रश्न कला के लिए निरर्थक है।‡

---

† If eyes are meant for seeing,
Beauty is its own excuse for being—*Emerson*

‡ Perhaps art itself does not intend to signify it contains no sort of meaning, at least not in the sense in which we

कला के संबंध में यह तो आधुनिक मनोविज्ञान का सर्वमान्य सिद्धांत है कि कला अचेतन मन का कार्य है। कला के प्रभाव में आकर जो कुछ कलाकार करता है उसका कारण स्वयं कलाकार भी नहीं जानता। जो अनुभूतियाँ कला की सृष्टि करती हैं वे कलाकार की चेतना को ज्ञात नहीं रहतीं। परन्तु इस बात पर फ्रायड और युङ्ग महाशय में मतभेद है कि कला केवल व्यक्तिगत अनुभूति को व्यक्त करती है अथवा इसके अतिरिक्त भी किसी दूसरे तत्व को व्यक्त करती है। फ्रायड महाशय के कथनानुसार कला में प्रदर्शित सभी भाव व्यक्तिगत अनुभूति के होते हैं। उन्होंने समष्टि मन की कल्पना नहीं की। युङ्ग के कथनानुसार जब किसी व्यक्ति की अचेतन अनभूतियों का मिलान समष्टि अचेतन अनुभूतियों से होता है तभी कला का जन्म होता है। अचेतन मन में संचित व्यक्तिगत अनुभूतियों का समष्टि अचेतन मनमें घुलमिल जाना ही मानसिक शक्ति का उदात्तीकरण है। समष्टि अचेतन मन की कल्पना के अभाव में मानसिक शक्ति के उदात्तीकरण का सिद्धान्त अर्थहीन हो जाता है। जानबूझकर मानसिक शक्ति को समाजोपयोगी कार्य में लगाना उसका श्रेष्ठतम उदात्तीकरण नहीं है। प्रयत्नपूर्वक किया गया काम नैतिक अवश्य होता है, परन्तु उनमें सहजानंद का अभाव रहता है। अतएव उदात्त अवस्था से गिरने की संभावना हर समय बनी रहती है। जबतक मनुष्य का जीवन कलामय नहीं हो जाता अर्थात् जबतक उसके भले कार्य सहज प्रेरणा से नहीं होते उसका मन खिंचाव की अवस्था में ही बना रहता है। सच्चे उदात्तीकरण से यह खिंचाव की अवस्था नष्ट हो जाती है।

---

are now speaking of meaning, perhaps it is like nature, which simply is, without any intention to signify is meaning necessarily more than more interpretation secreted, into it by the need of an intellect hungry for meaning ? Art one might say is beauty, and there in it finds its true aim and fulfilment. It has no meaning. The question of meaning holds nothing productive for art'—
Contributions to Analytic psychology, P. 242

इसमें भले काम अपने अनजाने स्वस्फूर्ति से होते हैं।

कलाकार का व्यक्तित्व

कलाकार सामान्य पुरुषों से उच्च कोटि का व्यक्ति होता है। मानसिक शक्तियों के उदात्तीकरण का वह मूर्तिमान रूप है। उसमें अपने आपको भूल जाने की जितनी क्षमता होती है उतनी दूसरे लोगों में नहीं होती। कलाकार अपने आपको कला के प्रकाशन का माध्यम मात्र बनाता है। वह कला को स्वतन्त्रता दे देता है कि वह जिस प्रकार से चाहे उस प्रकार से उसके द्वारा प्रकाशित हो। अर्थात् वह अचेतन मन को प्रकाशन की स्वतंत्रता देता है। यदि कलाकार अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं को जान-बूझकर अपनी कला पर लादे तो उसकी कला ऊपर से भले ही रोचक बन जाय, परन्तु भीतर से वह निर्जीव बन जायगी। कला का अपना ही व्यक्तित्व होता है और इस व्यक्तित्व के प्रति कलाकार अपना व्यक्तित्व समर्पित करता है। जिस व्यक्ति में इस प्रकार के आत्म-समर्पण की क्षमता है वही सच्चा कलाकार है।

कलाकार सामान्य पुरुषों की तरह व्यावहारिक बुद्धि में कुशल नहीं होता। उसकी बुद्धि कुशाग्र होते हुए भी वह साधारण-सी भूलें अपने जीवन में कर डालता है। जहाँ एक ओर संसार के लोग उसकी कला में प्रदर्शित प्रतिभा की प्रशंसा करते हैं वहाँ उसकी व्यावहारिक अकुशलता पर हँसते भी हैं। अपने ध्येय के प्रति लगन ही कलाकार को अद्भुत व्यक्ति बना देती है। कलाकार एक विलक्षण व्यक्ति है। वह एक ओर प्रतिभावान होता है और दूसरी ओर वह अशिक्षित-सा भी होता है। वह पैसा नहीं कमा सकता और उसे ठग लेना सरल होता है। कलाकार का धन उसके विचार ही रहते हैं। अतएव जब संसार के लोग उसे ठगते हैं तब वह इस प्रकार ठगे जाने की परवाह भी नहीं करता।

बड़े-बड़े प्रतिभावान कलाकारों में कुछ झक्कीपन भी पाया जाता है। यह स्वाभाविक भी है। कला के लिए अपने आपको भूलना आवश्यक है। कलाकार अपने व्यक्तित्व को किसी महान विचार के लिए समर्पित करता है। इसके कारण उसका व्यक्तित्व कभी किसी झक के वश में भी आ

जाता है। जो व्यक्ति अपने कामों के विषय में सदा सचेत रहता है वह कलाकार नहीं बन सकता और जो अपने को भूल जाने का अभ्यास डाल लेता है वह कभी झक का भी शिकार बन जाता है।

कलाकार में नैतिक प्रतिबन्धों की शिथिलता पाया जाना अस्वाभाविक नहीं। वह किसी भी भाव के आवेश में आकर निन्दनीय कार्य कर बैठता है। यह स्वाभाविक भी है। प्रकृति मनुष्य के जीवन में सदा संतुलन रखने की चेष्टा करती रहती है। वह जहाँ एक ओर व्यक्ति को बहुत ऊँचा उठा देती है वहाँ वह उसे नीचे भी गिरा देती है। इसलिए जब हम किसी कलाकार की कृति पर विचार करें तो हमें उसके व्यक्तित्व को उसकी कृति का मूल्य आँकते समय मिला न देना चाहिए।

कलाकार प्रतिभावान व्यक्ति होता है। प्रत्येक प्रतिभावान व्यक्ति का जीवन एकांगी होता है। यदि किसी व्यक्ति के जीवन के सभी अंग सम्पूर्ण रूप से विकसित हों तो वह अपने जीवन में किसी विशेष प्रतिभा को प्रदर्शित नहीं कर सकेगा। प्रतिभा की वृद्धि तभी होती है जब मनुष्य संसार के सभी कामों में हाथ नहीं डालता और अपनी शक्ति को एक ही ओर ले जाता है। परन्तु जहाँ शक्ति के एक ही मार्ग से प्रकाशित होते हुए मनुष्य संसार में कुछ विशेष कार्य को कर दिखाता है, वहाँ उसके विक्षिप्त होने की संभावना रहती है। अतएव बड़े-बड़े कलाकारों में किसी प्रकार की विक्षिप्तता का आ जाना भी स्वाभाविक होता है। कलाकारों के अचेतन मन में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति संचित रहती है। जहाँ तक कलाकार इस शक्ति का शोध कर पाता है अर्थात् जहाँ तक वह अपने आपका आत्म-समर्पण एक विशेष प्रयोजन के लिये कर देता है, वहाँ तक वह सौन्दर्य की सृष्टि करता है, परन्तु जब वह अपने आपको इस प्रकार लगाये रखने में असमर्थ होता है तब वह मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। उसके आवेग फिर उससे नहीं सम्हलते और उसकी चेतना असामान्य अवस्था में आ जाती है। अतएव प्रत्येक कलाकार के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह सदा कला की सृष्टि में ही अपना समय देता रहे। जो कलाकार आगे की

ओर नहीं जाता उसे नीचे गिरना पड़ता है।

कला और मानसिक रोग

कला मानसिक रोगों की समाप्ति का साधन है। संसार में जैसे-जैसे कला की कमी होती जाती है मानसिक रोगों की वृद्धि होती जाती है। विज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ मानसिक रोगों को भी वृद्धि होती है। विज्ञान मनुष्य की सोचने की शक्ति को बढ़ाता है परन्तु उसके भावों का उदात्तीकरण अथवा परिष्कार नहीं करता। अतएव मनुष्य के अपरिष्कृत भाव दमित होकर रोग का रूप ले लेते हैं। कला द्वारा इन भावों का परिष्कार होता है और इस प्रकार कला मानव मात्र को जीवन प्रदान करती है। साहित्य और कला बिना मानव मानव ही नहीं बनता।

कितने ही कवियों और कलाकारों को मानसिक रोग हो जाता है, अतएव कुछ लोग यह सोचने लगे हैं कि कला का मानसिक रोग से विशेष सम्बन्ध है। उनके इस विचार में कुछ सत्य अवश्य है। कला की सृष्टि मनुष्य के दबे आवेगों के प्रकाशन से होती है और मानसिक रोग भी दबे आवेगों के परिणाम हैं। परन्तु जहाँ कला उन आवेगों का परिष्कृत रूप है, वहाँ मानसिक रोग उनका विकृत रूप है। जब तक आवेग कला के रूप में अर्थात् अपने परिष्कृत रूप में प्रकाशित होते रहते हैं तब तक मानसिक रोग का उदय नहीं होता, परन्तु जब वे कला के रूप में प्रकाशित नहीं होते तब मानसिक रोगों की अपने आप सृष्टि हो जाती है।

कभी-कभी कलाकार को अपनी कला के बेचने से मानसिक रोग उत्पन्न हो जाता है। कला मनुष्य के आत्म-प्रकाशन का साधन है। इसके निर्माण का प्रधान ध्येय स्वान्तः सुखाय है। परन्तु जब किसी व्यक्ति को अपनी आजीवका कमाने के लिये कला का निर्माण करना पड़ता है तब उसे मानसिक रोग उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार एक साध्वी महिला को यदि वेश्या का पेशा करना पड़े तो वह अधिक दिन तक नहीं जीवित रहेगी, इसी प्रकार यदि किसी कलाकार को अपनी आजीविका कमाने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति के इच्छानुसार कला की

रचना करनी पड़े तो वह अधिक दिन तक स्वस्थ न रह सकेगा।

कला मानसिक रोग का हरण करती है। रोग की समाप्ति के समय रोगी कला में रुचि रखने लगता है। कुशल मानसिक चिकित्सक रोगी के अच्छे होने के पश्चात् उसे किसी विशेष प्रकार की कला में लगा देते हैं। कभी-कभी स्वयं रोगी ही किसी विशेष प्रकार की कला को अपने मनबहलाव के लिये खोज लेता है। डाक्टर युङ्ग अपने रोगियों को आत्म-प्रकाशन के लिए कला का काम देते हैं। उनकी इस समय की कृतियाँ उनके मानसिक रोग पर प्रकाश डालती हैं और वे मनुष्य के वैयक्तिक अचेतन मन का समष्टि अचेतन मन के प्रति संबंध दर्शाती हैं। हाल में ही एक विधवा युवती को बेहोशी और अनिद्रा का रोग हो गया था। जब वह कुछ अच्छी हो रही थी तब उसने सुंदर सुंदर कविताएँ रचनी प्रारम्भ कीं। इससे उसके भावों का उदात्तीकरण होकर रोग की समाप्ति हो गई। एक दूसरी युवती को कुछ दिन पूर्व हिस्टीरिया का रोग हो गया था। इसके कारण उसके हाथ-पैर ठंढे हो जाते थे। जब उसका रोग कुछ कम हो रहा था तब वह अपना समय चित्रकारी बनाने में खर्च करने लगी। मानसिक रोग की समाप्ति और स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिये सभी मानसिक चिकित्सकों ने कला की उपयोगिता बताई है। किसी भी प्रकार के भाव के दमन से मानसिक खिंचाव बढ़ता है। यदि यह खिंचाव रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाप्त हुआ तो कला का जन्म होता है अन्यथा रोग का। किशोर पुत्र के घर से भाग जाने से व्यासजी को जो दुःख हुआ उससे भागवत का जन्म हुआ। इस दुःख को व्यासजी भुलाये रहे। परन्तु इससे उनकी मानसिक बेचैनी बढ़ी। नारद ऋषि ने इस दमित भाव के उदात्तीकरण का उचित मार्ग बताया। इसी प्रकार कालिदास के दमित प्रेम-भाव का उदात्तीकरण शकुन्तला आदि नाटक लिखकर हुआ।

बीसवाँ प्रकरण

मानव-जीवन की सफलता

मानव-जीवन की चार अवस्थाएँ

इस पुस्तक के चौथे प्रकरण में हमने डाक्टर फ्रायड के मानसिक विकास के सिद्धान्त को थोड़े में बताया है। सिद्धान्त की मौलिकता और उसकी त्रुटियों पर भी वहाँ विचार किया गया है। जब मनुष्य की शिक्षा-दीक्षा मानसिक विकास की अवस्थाओं के अनुरूप होती है तब मनुष्य का जीवन प्रगतिशील और सफल होता है। जब व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा और आचरण अपनी मानसिक अवस्था के अनुरूप नहीं होते तब मनुष्य जीवन में प्रगति न कर प्रतिगमन करने लगता है। समय के पूर्व किसी प्रकार का उच्च आचरण मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं करता। इसी प्रकार सदा बाल्यावस्था में बने रहना और स्वार्थपरायणता में पड़े रहना मानव-जीवन को असफल बनाना है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव-जीवन को मनु भगवान ने चार अवस्थाओं में विभक्त किया है—बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। मनुष्य की शारीरिक और मानसिक स्थिति में इन चारों अवस्थाओं में मौलिक भेद रहता है। जब मनुष्य अपनी अवस्था के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करता है तो उसका जीवन सुखी और शान्त रहता है। सफल जीवन के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनी अवस्था का ध्यान रखे और अपने आचरण को ऐसा बनावे जिससे कि उसकी मानसिक परिस्थिति और कार्यों में विरोध न उत्पन्न हो।

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रमुख पंडित युंग महाशय हैं। अपने कर्तव्यों को पहिचानने के लिये, अपने आपको समझने के लिये तथा अपने जीवन को सुखी और सफल बनाने के लिये युंग महाशय के मनुष्य के मानसिक विकास सम्बन्धी विचार जानना परमावश्यक है। मनुष्य

सत्य को स्वीकार करके ही अपने आपको सुखी बना सकता है। सत्य को ओझल करके वह कदापि अपने आपको सुखी नहीं बना सकता। वर्तमान समय में प्रत्येक मनुष्य, उसकी अवस्था चाहे जो कुछ हो, एक-सा ही व्यवहार करने की चेष्टा करता है। वृद्ध व्यक्ति भी उसी प्रकार धन और मान के पीछे पड़ा रहता है जिस प्रकार कि एक नवयुवक पड़ा रहता है। यही कारण है कि संसार में इतनी बड़ी अशान्ति है और इतने बड़े विनाशकारी युद्ध होते हैं। ये युद्ध मनुष्य को उसके मानसिक बचपन अर्थात् स्वार्थीपन से निकालने के साधन हैं। जो मनुष्य अपने आपका सुधार स्वयं नहीं करता उसका सुधार प्रकृति दण्ड द्वारा करती है। अतएव संसार के विश्वयुद्ध मानव-समाज की आध्यात्मिक आवश्यकताएँ हैं। ये मनुष्य को स्वार्थपरायणता छोड़ने के लिये बाध्य करते हैं।

चेतना और सूर्य की गति

युंग महाशय मानव-जीवन को सूर्य के समान उदय और अस्त होनेवाला मानते हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति और आकांक्षाएँ जो जीवन की प्रथम अवस्था में होती हैं वे उसकी अन्तिम अवस्था में नहीं होतीं। स्वयं प्रकृति मनुष्य के स्वभाव में उसकी अवस्था के अनुसार परिवर्तन करती जाती है। कभी-कभी मनुष्य की आकांक्षाएँ उसकी अवस्था के अनुसार परिवर्तित नहीं होतीं। वे जीवन के विकास में रुकावटें दर्शाती हैं और इसका व्यक्ति के लिए भला परिणाम नहीं होता। जब मनुष्य अपनी इच्छाओं को अपनी अवस्था के अनुसार बनाता रहता है तभी उसका जीवन सुखी रहता है और उसे किसी प्रकार की चिन्ताएँ और मानसिक रोग उत्पन्न नहीं होते। ऐसा ही व्यक्ति समाज का सच्चा कल्याण करता है। समाज की मौलिक सेवा तभी हो सकती है जब मनुष्य अपने स्वभाव और गुणों के अनुसार अपना आचरण बनावे, और उन्हें ध्यान में रखते हुए समाज का कल्याण करने की चेष्टा करे।

जब हम मानसिक विकास की बात करते हैं तो उससे मनुष्य की चेतना के उदय और उसमें वृद्धि का बोध होता है। जब बालक जन्म लेता है तो वह प्रायः चेतनाहीन होता है। उसे न तो सांसारिक पदार्थों

का ज्ञान होता है और न अपने आपका। वह सभी बातों में दूसरों पर आश्रित रहता है। जैसे जैसे आयु में बालक बढ़ता जाता है वैसे वैसे उसे अपने वातावरण का ज्ञान होता है, वह अपने आस-पास रहनेवाली अनेक वस्तुओं को पहिचानने लगता है। उसकी वस्तुओं की जानकारी उतनी ही अधिक बढ़ती है जितनी कि वह बाहरी वस्तुओं पर अधिकार करने की चेष्टा करता है। जो बालक जितना ही अधिक चंचल होता है उसका सांसारिक ज्ञान उतना ही अधिक हो जाता है। सांसारिक ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ बालक को अपने आपका भी ज्ञान होता है। पहले वह अपने आपको बाहरी वस्तुओं से पृथक् नहीं समझता। किन्तु पीछे वह अपने आप बाहरी जड़ पदार्थों से पृथक् चेतन स्वत्व को पहचानने लगता है। जो व्यक्ति अपने वातावरण से जितना ही लड़ता है, उसकी चेतना का उतना ही अधिक विकास होता है। मानव-जीवन का विकास समस्याओं के सामने आने और उन्हें हल करने के प्रयत्न से ही होता है। जिस मनुष्य के जीवन में जितनी अधिक जटिल समस्याएँ आती हैं, उसकी चेतना उतनी ही अधिक विकासमय होती है।

बाल्यकाल की सफलता

बाल्यकाल में व्यक्ति को बाहरी समस्याएँ ही रहती हैं। उसकी समस्याएँ खाने-खेलने, पहनने-ओढ़ने, दूसरे लोगों के साथ व्यवहार करने तक सीमित रहती हैं। जब बालक किशोरावस्था में पहुँचता है तो उसकी बाहरी समस्याओं के अतिरिक्त उसके सामने आन्तरिक समस्याएँ आती हैं। इनके उदय होते ही बालक के मन में अनेक प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाते हैं। एक ओर बालक अपने को आदर्श व्यक्ति बनाना चाहता है (उसे इस काल में नैतिकता का ज्ञान हो जाता है) और दूसरी ओर वह अपने भीतर एक ऐसी प्रेरणा को देखता है जो उसे जबरन नीचे गिराने की चेष्टा करती रहती है। किशोर बालक का प्रेम भी बड़ा प्रबल होता है, और इस प्रेम के भुलावे में आकर कभी-कभी बालक नैतिकता के विरुद्ध आचरण कर बैठता है। ऐसी अवस्था में उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न होता है। यह अन्तर्द्वन्द्व किशोर बालक के समक्ष अनेक नई

समस्याएँ उत्पन्न कर देता है। इस काल का सबसे महत्व का कार्य इन समस्याओं को हल करना होता है।

जब व्यक्ति की आन्तरिक समस्याओं की वृद्धि होती है तो उसकी बाहरी समस्याएँ अपने आप हलकी हो जाती हैं। मन के बाहर से उत्पन्न और भीतर से उत्पन्न समस्याएँ एक दूसरे की पूरक हैं। जब एक प्रकार की समस्याओं की वृद्धि होती है तो दूसरे प्रकार की समस्याओं की अपने आप कमी हो जाती है। इसी प्रकार जब एक प्रकार की समस्याएँ निर्बल होती हैं तो दूसरे प्रकार की समस्याएँ अपने आप प्रबल हो जाती हैं। मनुष्य का मन कभी भी समस्याओं से मुक्त नहीं होता। समस्याओं से मुक्त होना न तो मानव-स्वभाव के लिए संभव है और न लाभकर। समस्याओं के भुलाने में नहीं, वरन् उनके हल करने से चेतना की शक्ति बढ़ती है और उसके प्रकाश का विस्तार होता है। अन्त में मनुष्य की सभी समस्याओं का मूल आधार उसकी समझ ही है। मानसिक उलझनें ही समस्याओं के रूप में उपस्थित होती हैं। जब मनुष्य की समझ ठीक हो जाती है तो समस्याओं का अन्त हो जाता है। अपनी समझ को ठीक करने के लिए ही मनुष्य के सामने समस्याएँ आती हैं।

किशोर बालक अपनी आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में अधिक शक्ति खर्च करता है। वह स्वभावतः अकेला रहना और अपने आपके विषय में सोचना ही पसंद करता है। कभी-कभी इस प्रकार की मनोवृत्ति के कारण उसकी समस्याएँ और भी जटिल हो जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी बाह्य समस्याओं को सुलझाने में ही लग जाता है, वह न अपनी आन्तरिक समस्याओं को सुलझा पाता है और न जीवन में सफल होता है। किशोर बालक को उसकी आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने के लिए विचारों के द्वारा उचित सलाह देना आवश्यक है। जब बालक को रुचि बाहरी कामों में हो जाती है तो उसकी बाह्य जगत सम्बन्धी समस्याओं की वृद्धि हो जाती है। इसके कारण आन्तरिक समस्याएँ शिथिल हो जाती हैं और उनका हल होना सरल हो जाता है। किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी समस्याओं को हल करना आवश्यक है, चाहे

वे समस्याएँ बाह्य जगत से सम्बन्ध रखती हों अथवा आन्तरिक जीवन से। इनके हल करने के प्रयत्न से ही मनुष्य की चेतना स्वच्छ और प्रकाशपूर्ण हो जाती है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति का बल समस्याओं को दृष्टि से ओझल करने में नहीं वरन् उनको हल करने से ही बढ़ता है।

युवावस्था की सफलता

जब मनुष्य की युवावस्था आती है तो उसकी समस्याओं की संख्या और भी बढ़ जाती है। उसी तरह उसकी चिन्ताएँ भी बढ़ती हैं। युवावस्था में मनुष्य अपनी मानसिक स्थिति सम्बन्धी उलझनों में उतना नहीं लगा रहता जितना कि वह अपनी किशोरावस्था में लगा रहता है। उसकी अधिक महत्व की समस्याएँ बाह्य जगत से सम्बन्ध रखती हैं। युवक बहिर्मुखी होता है। वह संसार में अनेक तरह की विजय करना पसंद करता है। उसे धन, मान और ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छाएँ रहती हैं। सन्तान की वृद्धि, उनका लालन-पालन एवं अनेक प्रकार की समस्याएँ उसके सामने आती हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा की तृप्ति में उसका सारा समय जाता है। युवावस्था में मनुष्य को आध्यात्मिक चिन्तन में लगना लाभप्रद नहीं, वरन् अधिकतर हानिप्रद ही होता है। अधिक लोगों में यह मानसिक रोग का सूचक होता है। इस काल में मनुष्य की रुचि पैसा कमाने, प्रेम प्राप्त करने और समाज में ख्याति प्राप्त करने में होना अच्छा है। भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है कि इस प्रकार के लोगों में आध्यात्मिक चर्चा करके बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं करना चाहिये। ज्ञानी पुरुष को इन्हें अपने काम में लगे रहने के लिये ही प्रोत्साहित करना चाहिये। इन कामों से मनुष्य में आत्म - नियंत्रण की शक्ति आती है। बाहरी जगत में असफल व्यक्ति जब आध्यात्मिक यत्न करते हैं तो वे वहाँ भी असफल रहते हैं। जो स्थूल जगत में असफल रहा वह सूक्ष्म जगत में कैसे सफल हो सकता है। बाहरी जगत की सफलता अन्तर्जगत की सफलता का साधन बन जाती है। सामान्य युवक को अपने विषय में सोचने की फुरसत नहीं मिलती। वह संसार में जितनी ही अधिक सफलता पाता है वह उतना ही उसमें लिप्त होता जाता है। कभी ऐसा

व्यक्ति धन कमाने अथवा यश और कीर्ति बढ़ाने के काम में ऐसा मग्न हो जाता है कि उसे अपने शरीर के विषय में सोचने और उसका ठीक तरह से पोषण करने की फुरसत तक नहीं मिलती। किसी प्रकार की अधिकता हानिप्रद होती है। संसार के कामों में व्यस्त लोग ठीक तरह से भोजन भी नहीं कर पाते। ऐसे लोग जब अपनी शारीरिक या मानसिक शक्ति सांसारिक कामों में खर्च कर देते हैं तो बीमार पड़ जाते हैं। बीमारी उन्हें अपने सांसारिक व्यवसायों के विषय में उदासीन होने के लिये बाध्य करती है। इस प्रकार उनके जीवन में समता आती है। कभी-कभी संसार में अपने आपको भूले हुए लोग इसलिये मानसिक रोग के शिकार दीख पड़ते हैं। जब मनुष्य अपनी विचार - शक्ति को सांसारिक कामों में खर्च कर डालता है और उसका कुछ भी हिस्सा अपनी आन्तरिक समस्याओं को सुलझाने में नहीं लगाता तो ये आन्तरिक समस्याएँ प्रबल हो जाती हैं। सांसारिक कामों में अपने मन को लगाकर मनुष्य अपनी आन्तरिक समस्याओं को अपनी दृष्टि से ओझल कर देता है, परन्तु उनसे वह मुक्त नहीं होता। यदि युवावस्था में मनुष्य अपना थोड़ा-बहुत समय प्रतिदिन आध्यात्मिक चिन्तन में दे तो उसकी मानसिक झंझटें सरलता से ही नष्ट हो जावें। अतएव सांसारिक काम करते हुए अपने मन के विषय में ज्ञान बढ़ाना प्रत्येक शिक्षित युवक के लिये नितांत आवश्यक है। जो युवक जितना ही होनहार और प्रतिभावान होता है उसे मनोविज्ञान और आध्यात्मिक चिन्तन की उतनी ही आवश्यकता होती है। परन्तु सभी लोगों में इसकी क्षमता नहीं होती, अतएव बहुत से लोग जीवन में बहुत दुःखी हैं।

प्रौढ़ावस्था की सफलता

युवावस्था के पश्चात् प्रौढ़ावस्था आती है। यह अवस्था जीवन के दोपहर के बाद की अवस्था है। जब मनुष्य पैंतालिस वर्ष का हो जाता है तो स्वभावतः उसका मन विषय-सुख से विरत हो जाता है। उसका

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

संसार के प्रति उत्सुकता का भाव नष्ट हो जाता है। अब वह जल्दी से किसी काम में नहीं लगता। यदि उसका मानसिक विकास ठीक तरह से हुआ है तो वह अपने आपको आत्मज्ञान में लगाता है। प्रौढ़ावस्था में आध्यात्मिक चिन्तन करना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि युवावस्था में धन एवं यश कमाना। इस समय जो सामाजिक कार्य करता है वह यश कमाने की दृष्टि से नहीं करता, वरन् निःस्वार्थ भाव से सेवा करने की दृष्टि से करता है। उसके जीवन का मुख्य कार्य आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना और उसे दूसरों में वितरण करना होता है। यह काल निष्काम कर्म का काल है। जब मनुष्य समाज की सेवा निर्लिप्त भाव से करता है, तब उसे फल प्राप्त करने की कोई इच्छा नहीं रहती। उसका मन सफलता और असफलता में उद्विग्न नहीं होता। आत्मज्ञान बढ़ाने के निमित्त किया गया कर्म लोक का कल्याण करता और मनुष्य की इच्छाओं का विकास करता है। यह काल योगाभ्यास का काल है। इस समय काम करने का हेतु आत्मशुद्धि अथवा आत्मज्ञान ही होता है। इस प्रकार लोक-हितार्थ काम करना ही इस अवस्था की सफलता है।*

वृद्धावस्था की सफलता

प्रौढ़ावस्था के पश्चात् मनुष्य की वृद्धावस्था आती है। इस अवस्था में मनुष्य का मन शक्तिहीन हो जाता है। वह न तो कोई बाहर की और न भीतर की समस्या का हल कर सकता है। यदि मनुष्य के जीवन का विकास ठीक तरह से हुआ है तो वृद्धावस्था में मनुष्य शान्त मन होकर बैठता है। वह मृत्यु के स्वागत के लिये तैयार रहता है। उसे मृत्यु से भय नहीं होता। जिन व्यक्तियों को दृढ़ विश्वास रहता है कि मृत्यु के पश्चात भी जीवन है, वे बड़े शान्त भाव से मृत्यु का सामना करते हैं, और जिस प्रकार मनुष्य नये कपड़े पहनने के लिये पुराने कपड़े को उतार कर अलग रख देता है, उसी प्रकार अपनी अवस्था के अनुसार

---

* कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।

काम करनेवाला व्यक्ति, जिसका दृढ़ विश्वास आत्मा के अमरत्व में हो गया है, शरीर को छोड़ देता है। इसका स्वरूप हम भगवान बुद्ध के जीवन में देखते हैं। शरीर छोड़ने के तीन महीना पूर्व ही उन्हें अपनी मृत्यु का ज्ञान हो गया था। उन्होंने अपने सभी शिष्यों को दूर दूर से बुलाया और सबकी शंकाओं का निवारण कर शांति से शरीर छोड़ दिया।

मानसिक विकास की रुकावट

मनुष्य कभी-कभी आयु में बढ़ जाता है तथा शारीरिक दशा भी बदल जाती है, परन्तु वह मन से पीछे की अवस्था में ही पड़ा रह जाता है। कितने ही लोग युवावस्था में भी बालक ही बने रहते हैं, और कितने ही लोग वृद्धावस्था में युवावस्था की आकांक्षाओं को मन में रखते हैं। उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकती हैं, शरीर निर्बल हो चुका रहता है, मृत्यु उनके दरवाजे पर खटखटाती रहती है परन्तु वे सांसारिक लिप्साओं में पड़े ही रहते हैं। वे अपने मान और पद को छोड़ने की इच्छा ही नहीं करते। वे संसार के बाहर जबरन ही ढकेले जाते हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार के लोगों की बहुतायत हो गई है। इस कारण समाज में भारी अशान्ति है। जब समाज के बड़े-बड़े लोग इन्द्रिय सुखों के इच्छुक रहते हैं तो नवयुवकों को उन्हीं भोगों से विरक्ति कैसे हो सकती है? संसार में भोग की वस्तुएँ सीमित हैं और उनके भोग करनेवाले अधिक हैं। यदि संसार के सभी लोग भोगों के इच्छुक रहें तो संसार में छीनाझपटी अवश्य हो जावेगी। इसके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े युद्ध होना अनिवार्य है। संसार में शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब संसार के कुछ लोग भोगों के प्रति उदासीन हो जायँ और दूसरे लोगों को शिक्षा दें कि वे आपस में प्रेम-भाव से रहें और संसार के धन का उचित बँटवारा करके उसका उपभोग करें। मनुष्य को अपनी अवस्था के तीसरे पहर में यही काम करना चाहिये। उसे अपना सारा समय संसार में सद्भावना फैलाने में तथा अपनी आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिए। परन्तु संसार में प्रौढ़ावस्था के लोग अपने स्वार्थ-साधन में ही लगे रहते हैं। यदि वे लोक-सेवा करते हैं तो यह दिखावा मात्र होता है। वे दूसरों पर अपना अधि-

कार सदा जमाये ही रहते हैं। अधिकार के लोलुप व्यक्ति कहाँ तक सच्ची लोकसेवा कर सकते हैं।*

मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी ढलती हुई अवस्था में संसार के भोगों और उसके कार्यों से विरक्त हो जावे और अपना समय आध्यात्मिक उन्नति में देवे। जिस प्रकार वाह्य जगत में विजय प्राप्त करना युवक के लिए स्वाभाविक है, उसी प्रकार अपनी आत्मा का चिन्तन करना एक ढलती हुई उमरवाले व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है। जब वह ऐसा नहीं करता तो प्राकृतिक नियम की अवहेलना करता है। इसके कारण वह अपने आपको दुःखी बनाता है और अपने कृत्यों से संसार को भी दुःखी करता है।

प्रौढ़-शिक्षा की आवश्यकता

इस प्रकार की परिस्थिति का एक कारण उचित शिक्षा का अभाव है। शिक्षा मनुष्य को भावी जीवन के लिए तैयार करती है। व्यक्ति को जो शिक्षा बाल्यावस्था अथवा किशोरावस्था में मिलती है उसके कारण मनुष्य अपनी युवावस्था की जिम्मेदारियों के लिए तैयार होता है। जब तक मनुष्य को ढलती उमर के पहले ही उसमें प्रवेश करने की शिक्षा न

---

* Aging people should know that their lives are not mounting and unfolding, but that an inexorable inner process forces the extinction of life. For a young person it is almost a sin—and certainly a danger—to be too much occupied with himself; but for the aging person it is a duty and a necessity to give serious attention to himself. After having lavished its light upon the world, the sun withdraws its ray in order to illumine itself. Instead of doing likewise, many old people prefer to be hypochandrics, niggards, doctrinaires, appendixes of the past or eternal adolescents—all lamentable substitutes for the illumination of the self, but inevitable consequences of the delusion that the second half of life must be governed by the principles of the first.

Jung—*The Modern Man in Search of a Soul*, P. 125.

मिले तबतक वह उसके लिए कैसे तैयार हो सकता है ? अपने जीवन के पिछले आधे भाग को ठीक से बिताने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को उसकी युवावस्था में ही उचित शिक्षा मिले। पुराने समय में अपने जीवन के पहिले भाग को व्यतीत करने के लिए मनुष्य को धार्मिक शिक्षा मिलती थी। धार्मिक शिक्षा का प्रधान ध्येय मनुष्य को आगे आनेवाले जीवन के लिए तैयार करना है। पर अब यह काम धर्म नहीं कर रहा है। धर्म मनुष्य की भोगेच्छा का साधन बन गया है। इसके कारण संसार के चिन्तनशील व्यक्ति धर्म के प्रति उदासीन हो गये हैं। कहीं-कहीं धर्म के कारण समाज में अनेक प्रकार की लड़ाइयाँ और कलह उत्पन्न हो गए हैं। इसलिए धर्म को नष्ट करने के लिए कुछ लोग तुल गये हैं।

धर्म के अभाव में मनुष्य कैसे अपने जीवन के पिछले भाग को ठीक से व्यतीत करेगा इस प्रश्न का हल अभी तक नहीं हुआ। कितने लोगों के सामने यह प्रश्न आता ही नहीं। वे अगले जीवन या मृत्यु के विषय में लोगों को चिन्ता ही नहीं करने देना चाहते। उनके विचार से सभी समय सांसारिक व्यवसायों में लगे रहने से मनुष्य सुखी रह सकता है। पर अब मनुष्य का अनुभव बता रहा है कि यदि मनुष्य सदा संसार के व्यापारों में लगा रहे तो उसकी मानसिक शक्ति का सर्वथा ह्रास हो जाता है और वह अपना अन्तिम समय शहद में फँसी हुई मक्खी के समान व्यतीत करता है। वह संसार से अलग होने की हजार चेष्टा करता है परन्तु अपने आपको उसी में फँसा हुआ पाता है।

मनुष्य की प्रत्येक अवस्था की कुछ खूबियाँ हैं। जो खूबियाँ किशोरावस्था में रहती हैं, वे युवावस्था में नहीं रहतीं और जो किशोरावस्था में रहतीं हैं वे ढलती अवस्था में नहीं रहतीं। प्रौढ़ावस्था की अपनी ही खूबियाँ हैं। मनुष्य को चाहिए कि प्रौढ़ावस्था की खूबियों को पहचाने और अपने कार्यों को उसके अनुकूल बनावे। मनुष्य का मन जितना शान्त आधे जीवन के बाद रहता है, उतना शांत युवावस्था में नहीं रहता। उसे संसार का अनुभव हो चुकता है। विद्यार्थी काल में जो ज्ञान मनुष्य प्राप्त करता है, इस समय वह दृढ़ हो जाता है। मनुष्य इस काल में सहज से अन्तर्मुखी

हो सकता है। उसमें स्वभावतः अपने आपके विषय में चिन्तन करने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। यदि मनुष्य इस प्रेरणा के अनुसार कार्य करे तो वह अपने जीवन को अवश्य सफल बना सकता है।

मानव जीवन की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने आप पर नियन्त्रण रखे। मानसिक रोगी में यह शक्ति नहीं होती। यदि वह भली प्रकार सोच भी ले तो भी उसकी इच्छाशक्ति इतनी दुर्बल होती है कि वह अपनी कल्पनाओं तथा इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता। यदि हम अपने मन को वश में करना चाहते हैं तो इसके लिये हमें मन के रोकने का अभ्यास अवश्य करना होगा। इस प्रकार आदत और चरित्र का निर्माण होता है। परन्तु मन के नियमों को जाने बिना उस पर विजय प्राप्त करना संभव नहीं है। अतएव संसार में जितना मनोविज्ञान का ज्ञान बढ़ेगा, मनुष्य को उतनी ही सुख-शान्ति प्राप्त होगी और उसका जीवन सफल होगा। मानव-जीवन की सफलता अन्ततोगत्वा आत्म-ज्ञान पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति और समाज में इसकी जितनी वृद्धि होती है वह सभी प्रकार से उतना ही प्रगतशील और सफल बनता है।

मनोविज्ञान और दर्शन

मनोविज्ञान आधुनिक युग में प्रयोगात्मक विज्ञान माना गया है। अब यह विश्वविद्यालयों में धीरे-धीरे दर्शन विभाग से हटकर शुद्ध विज्ञान के विभाग में जा रहा है। विज्ञान में जिस प्रकार सभी घटनाएँ कार्यकारण की प्रणाली से समझी जाती हैं, इसी प्रकार सभी मानसिक घटनाओं को भी समझाया जाता है। परन्तु इस प्रकार मन की क्रियाओं को समझाने की चेष्टा करना जड़ और चेतन का भेद ही मिटा देना है। जड़ पदार्थों में स्वयं को जानने की शक्ति नहीं रहती, अतएव न जड़ पदार्थ स्वचालित होता है और न उसमें अपनी क्रियाओं पर नियंत्रण प्राप्त करने की क्षमता रहती है। जड़ पदार्थ नियतिवाद के नियम से बँधा है। यदि यही बात मानसिक क्रियाओं के विषय में भी सत्य हो तो मनोविज्ञान का अध्ययन ही व्यर्थ हो जाय। मन को जानने से मन पर नियंत्रण करना संभव है। मनुष्य के भाव उनका ज्ञान कर लेने से परिवर्तित हो जाते हैं। हम अपने

प्रयत्न से अपने अचेतन मन के भावों को चेतना के स्तर पर ले आ सकते हैं तथा दूसरों की भी इस कार्य में सहायता कर सकते हैं। इनके चेतना के स्तर पर आने मात्र से अर्थात् उनके ज्ञानमात्र से वे शक्तिहीन हो जाते हैं और सरलता से वश में आ जाते हैं। फिर भावों की शक्ति ज्ञानकर्ता की बन जाती है।

मनुष्य स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति सहित प्राणी है। इसलिए उसकी क्रियाएँ जड़ प्रेरकों मात्र से संचालित न होकर अपने स्वतंत्र निर्णयों से सञ्चालित होती हैं। उसमें अपना लक्ष्य और मूल्य निश्चय करने की शक्ति है। इनके विचार मात्र ही उसके कार्यों के हेतु बन जाते हैं। अतएव जब हम मनोविज्ञान को अपने लिये उपयोगी बनाने की चेष्टा करते हैं तब वह दर्शन बन जाता है। मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता देनेवाली विद्या दर्शन कहलाती है। गंभीर मनोविज्ञान और दर्शन एक ही वस्तु के दो नाम हैं।
